

GL H 294.5926

TUL



120891
LBSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

120891

12728

294.5926

तुलसी Tui

अवार्डित मर्या

Accession No.

वर्ग संख्या

Class No.

पुस्तक मर्या

Book No.

ओऽम्

भास्करप्रकाश

भाषात्

दयानन्द तिमिरभास्कर का, उत्तर

तुलसीराम स्वामी

सामवेदज्ञात्यकार, व्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग
वैदिक-गीता-मनुस्मृति जावि के अनुवादक
और जाग्यकार ने रचा, लिपाया और

प्रकाशित किया

संवत् १९३० ज्येष्ठ

PRINTED and Published by

Tulsi RAM Swami,

at the Swami Machine Press

Meerut

1913

मूल्य १।)

ओ३म्

भास्करप्रकाश

अर्णव

दयानन्द तिमिरभास्कर का उत्तर

तुलसीराम स्वामी

सामवेदभाष्यकार, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग
वेदान्त-गीता-मनुस्मृति आदि के अनुवादक
और भाष्यकार ने रचा, लिपाया और

प्रकाशित किया

संवत् १९१० ज्येष्ठ

PRINTED and Published by

Tulsi RAM Swami,

at the Swami Machine Press

Meerut

1913

मूल्य १।)

भास्करप्रकाश

तृतीय संस्करण

(दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर)

इसमें नीचे लिखे गये ग्रन्थों
के प्रमाण दिये गये हैं

विषयानुक्रम

- १-वेद=ऋग्, यजुः, साम, अथर्व
- २-ब्राह्मण=साम, गोपथ
शतपथ, ऐतरेय, ताप्त्य, षड्विंशि
- ३-उपनिषद्=वाजसनेय, तल-
वकार, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डू-
क्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दो-
ग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर,
मैत्र्युपनिषद्, कैवल्योपनिषद्
- ४-स्मृति=मनु, याज्ञवल्क्य,
पराशर, नारद, वसिष्ठ ॥
- ५-वेदाङ्ग=अष्टाध्यायी, महाभा-
ष्य, निरुक्त, सिद्धान्तशिरोमणि
- ६-दर्शन=गोतम, कणाद, कपिल
पतञ्जलि, जैमिनि और व्यासके
- ७-इतिहास=महाभारत
- ८-पुराणाऽऽभास=भागवत
- ९-वाल्मीकीयरामायण
- १०-सुग्रुत
- ११-चरक
- १२-भगवन्कोश

- | सं० | विषय | पृष्ठ नं. |
|-----|---|-----------|
| | * प्रथमसमुल्लासमण्डन ६ | |
| १- | शतगामप्रकरण में ब्रह्मादि
पदों से परमेश्वरार्थ व्रह्मा का
मण्डन किया गया है ॥ ११ | |
| २- | मङ्गलाचरणप्रकरण-इसमें “दु-
दुर्गायैनमः” इत्यमृदि अवैदिपा
मङ्गलाऽऽसाम का मण्डन और
ओ३३३ भादि शब्दों से ऋषि-
संसत मङ्गलाचरण का मण्डन
किया गया है ॥ १२ | |
| ३- | बोद्धारप्रकरण-इसमें बोद्धार
के स्वामी जी लिखित शब्दों का
मावृक्ष्योपनिषद् में कहे प्रभा-
दानुसार मण्डन किया गया है।
निरुक्त और ऋग्वेदवचन
का स्त्र्यार्थ करके ३० तिथि
भास्कर का अन्नान दिखाया है ॥ | |
| | * द्वितीयसमुल्लासमण्डन १८ | |
| ४- | बालशिक्षाप्रकरण में-गर्भ से ही
शिक्षा का मण्डन, भूतप्रेनादि
तथा फलितज्योतिषादि यह-
भयमण्डन किया गया है ॥ १९ | |

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
५-अस्तिथादनप्रकरण-	में समस्ते आदि व्यवहार को वेदोक्त रीति से मणिषत और वृथाऽप्तिमान की अवश्यका खण्डन किया गया है॥३		११-स्त्रीशूद्राध्ययनसगडन,	(यथेसांवाचम्) का टीक वर्ण, क्लियों के वैदिकसंस्कार का सरहन किया गया है ॥	५२
* तृतीयसमुल्लासमण्डन	३२		१२-हृष्टिकप्रकरण—		६३
६-लाल्हकी लाल्हकोंके ब्रह्मचर्यादि में आति और राजव्यवस्था-इसमें शास्त्रानुसार राजा का धर्म, फैल्याओं के भी ब्रह्मचर्य, वेदपाठ, आदि मिथु करके शङ्कुराचार्य एक शास्त्रार्थ में शङ्कुरविविधानुनार भारती के विदुपी दोनों का प्रसादा देकर ऋग्विज्ञान का सरहन किया गया है ॥ ३४		१३-पठनपाठनप्रकरण-इसमें पुराणों वे विषयक्त होने का समाधान, मुहूर्त दिखाने का खण्डन किया गया है ॥	६४		
७-गायत्रीप्रकरण में -स्वामी औ लिखित गायत्री के वर्ण की पुष्टि, भद्रैष्वर्षण, और कुकृतिपतार्थ का खण्डन है ॥	३८		१४-पुराणेतिहासप्रकरण—		७३
८-आगमगप्रकरण में वेदानुसार आचमन का गणहन, फकादि नियुक्ति का समाधान किया है ४३			१५-तिलकादि औवैदिक चिन्हखण्डन		८०
९-द्विपाल सम्प्रदायसगडन, त्रिकाल सन्ध्या का आधुनिकपन ॥ ४५			१६-विवाहप्रकरण—		८१
१०-स्वाहार्थसगडन, हवन से वायु-शुद्धि का वेदमन्त्रों से समाधान, सद्य मांस के हवन का खण्डन और पञ्चवस्त्र ॥	४५		१७-नियोगनिन्दा पर-उत्तर की महाभारतोक्त निन्दितकथा १०९		
			१८-वर्णव्यवस्था-में गुणकर्मस्वभावानुसार व्यवस्थापन और जन्ममात्र की वर्णव्यवस्था दिखाने वाले वाक्यों का टीक टीक वर्ण करके, वेदा मानने का खण्डन किया गया है ॥	११३	
			१९-निन्दास्तुतिप्रकरण		११९
			२०-देवता, ऋषि, पितर, इत्यादि संतान का प्रकरण ॥		१२५
			२१-आद्वप्रकरण-में २५ वेदमन्त्रों का वर्ण करके तथा अन्य प्रमाणों का भी टीक २ वर्ण करके, ब्राह्मणादि को कराया भोजन		

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
	मृतपितरों को पहुंचने का खण्डन किया गया है	१३८		दयालुता, जीरों के कर्मानुसार छोने का खण्डन है	१८८
२२	नियोगप्रकारण-इस में मन्, ऋग्वेद, निरुक्त, भगवेद, कुम्भक भट्टकी टीका, पाराशरीसमृति, यश्वरत्करमसमृति, वसिष्ठसमृति, नारदसमृति, कात्यायनसमृति, अग्रकीष और उम की टीका, इन सब प्रसारों में नियोग-गण्डन और राजा बैन से प्राचीन काल में भी नियोगप्रधार की मिट्ठि (अन्यमिच्छात्म सुगमे पति गत) इस बेदवाक्य का वेद और निरुक्त से स्वामी की लिखित अर्थ मिट्ठि किया गया है। ५८		२७-निराकारता और अजग्गा होना, जीव का देह के साथ बन्धन, अद्वैतवाद का खण्डन, निरुक्त से ऋग्वेद में प्रित की कथा की आनित का निवारण, दधीचिकथाभ्रान्तिनिवारण कर के ग्रावतारवाद का खण्डन किया गया है। १९२	१८८	
२३	* पञ्चमसमुल्लासमण्डन इस में सन्यासधर्म पर किये गा- क्षेपों का उत्तर (विक्षिधानिच रक्षानि) इस का समाधान है १८१		२८-सर्वशक्तिमन्त्रप्रकारण—	२१९	
२४	* पष्टसमुल्लासमण्डन	१८४	३०-पापनाशनाऽसंभवत्वप्रकारण—	२२३	
२५	* सप्तमसमुल्लासमण्डन १८५	१८५	३१-जीवात्मस्वातःऽप्रकारण—	२३०	
२६	-देवताप्रकारण-इस में वेदोक्त ३२-देवों का उत्तर विविधानिच रक्षानि) इस का समाधान है १८५	१८५	३२-जीवात्मलक्षणप्रकारण—	२३१	
२७	* अष्टमसमुल्लासमण्डन २८१	१८५	३३-जीवात्मा की एकदेशीयता—	२४२	
२८	३४-उपादानप्रकारण—	२४४			
२९	* महावाक्याऽभासप्रकारण—	२४७			
३०	३५-बेदप्राप्तिप्रकारण—	२४५			
३१	३६-सन्त्रब्धात्मणप्रकारण—	२६१			
३२	* अष्टमसमुल्लासमण्डन २८१	१८५			
३३	३८-आदिद्विष्टस्थानप्रकारण-इस में तिथिवत में आदि सन्तुष्ट्यस्त्रिका समाधान किया है=२८८	१८१			
३४	४०-(ब्राह्मगोस्य मुख्याद्वीत०) इस	१८५			

सं०	विषय	पृष्ठ से	सं०	विषय	पृष्ठ से
	मन्त्र पर विस्तारपूर्वक व्याख्या करके भाधुनिक अर्थ के दोष दिखलाये हैं ॥	३०४		५८-वाग्मार्गप्रकरण	३८५
४१-	पृथिव्यादि लोकों का घूमना, पं० ज्वालाप्रमाद की गणितादि-नभिज्ञता और विस्तारपूर्वक वेदों और प्राचीन उद्योगिताएँ ग्रनाणों से पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना आदि ॥	३०९	५०-ज्ञालिदासप्रकरण	३८६	
* ४२-	मन्त्रमसमुल्लासमण्डन ३१८		५१-रुद्राक्षप्रकरण	३८८	
४३-	इस में गद्वैतखण्डन, साक्षोव्यादि फूँक प्रकार की सुक्तिका खण्डन सुक्ति से पुनराद्वितीका मण्डन है ३१८		५२-सहायात्र में मिलावट	३८९	
* ४४-	दशमसमुल्लासमण्डन ३२५		५३-पुराणों के देवतों में विरोध ३१०		
४५-	इस में आचाराद्वारा विषय में छूतपात खण्डन और शूद्राद्वारा पाकाद्विकार का मण्डन सूत्रों से किया गया है ॥		५४-सूर्तिपूजासहायप्रकरण	३११	
	उत्तरार्थ		५५-देवतों के आकार पर निरुक्त का विचार	३११	
४६-	एकादशसमुल्लासमण्डन ३४५		५६-सूर्तिपूजापराध्युक्तियोंका ख० ३८५		
४७-	अनुसूमिका ३४५		५७-(दैवतप्रतिभावसन्ति)कारत्तर ३८७		
४८-	मन्त्र पढ़ने से द्रव्योदयति नहीं होती ॥	३४८	५८-जहोपासना के दोष ३८३		
४९-	शङ्कुरदिव्यजय से शैव शक्तादि मतखण्डन ३५०		५९-शुद्धप्रथमहाऽकी शङ्काकारत्तर ३८८		
५०-	शङ्कुराचार्यको विषयियाज्ञाना ३५१		६०-वाह्नीकीयरामायण में प्रक्ते ३८०९		
५१-	जीव ब्रह्म का भैरु ३५३		६१—तीर्थप्रकरण ४११		
			६२—गुम्फप्रकरण ४११		
			६३—पुराणप्रकरण ४११		
			६४—रथेनवायुवेगेन० का समाधान ४११		
			६५—शुकदेवगीनेपागवतनहींसुवाहृ४२७		
			६६—ग्रहणप्रकरण ४२३		
			६७—गुहापुराणप्रकरण ४२७		
			६८—ब्रह्मप्रकरण ४३२		
			६९—ब्रह्मायडप्रकरण ४३३		
			७०—उपसंहार ४३४		

ओ३म्

इरं ५ उन्नों को विदित हो कि संक्षत् १५१ में मुम्बई वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय में “दधानन्दतिमिरपार तर” नामक पुस्तक, मुरादाबाद निवासी प० जयाला० प्रमाद मिश्र ने मुद्रित कराया है, जिस में उन्होंने श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराजकृत “सत्यार्थप्रकाश” के प्रकाश पर धूल फैकर कर आन्य-कार फैलाने का चयोग किया है परन्तु जिन लोगों को मगम है और जिन्होंने मे स्वामी जी का दर्शन किया है, उन से धर्मविषयक शङ्का निवात की हैं, उन के रचे “सत्यार्थप्रकाश” आदि ग्रन्थ सत्यासत्य की खोज करने के लिये पढ़े हैं और उन के उपदेशों तथा पुस्तकों द्वारा सत्य वेदोक्त धर्म का स्वरूप जाग लिया है, वे निःसन्देह प्रचलित ईश्वर की मूर्त्तिपूजा आदि वेदविद्वान् व्यवहारों को छोड़ छके और इस प्रकार के लेखों से इस के अतिरिक्त और कुछ फल भी ही कि ग्रन्थकर्ता, एक धार्मिक भावात्मा के लेखों में द्वेषभाव से ब्रह्म दोषारोपण करके अपने आप को बुराई का भागी बनाते। अथवा एक मसिद्दु पुरुष का प्रतिदून्ही बन कर केवल अनजान भनुष्यों में नाममात्र को प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले। यद्यपि ऐसे लाघवमूर्चक पुस्तक कई बन चुके और सर्वसाधारण में उन का कुछ भी मान्य नहीं हुआ, ऐसी ही दशा इस की भी होती परन्तु मुम्बई के मसिद्दु पुस्तकविक्रीता “खेमराज श्रीकृष्णदास” के यहां मुद्रित होने और उन्हीं को विक्रय का अधिकार देदेने से एक बार भारतवर्ष और उस के आस पास के ब्रह्मा, आसाम और बिलोधिस्तान आदि देशों तक मैं इस का प्रचार होगया है, जिस से योही समझके पुरुष खस में पड़ जाते हैं और संस्कृत न जानने वाले भार्या भी प्रायः संशयनिष्टयर्थ इस को पत्र लिखते हैं कि इस का खण्डन अवश्य शीघ्र लिपना चाहिये ॥

यद्यपि इस को इस बात का कोई दुराघट नहीं है कि सत्यार्थप्रकाशादि स्वामी जी कृत पुस्तकों में भूल हो ही नहीं सकती। परन्तु जब तक यथार्थ में कोई भूल चिन्ह न हो जावे तब तक गनमाने अनुचित असत्य आक्षर्यों का उत्तर देना आवश्यक जागते हैं। इसी कारण इस इस पुस्तक का खण्डन करते हुए भी यदि कहीं कोई सत्य आक्षेप देखेंगे तो उस पर लेखनों गहरी छठावेंगे। परन्तु इस पुस्तक में ऐसी आशा न्यून ही है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने अत्यन्त ही पक्षपातपूर्वक पुस्तक लिखा है, जिस की भूलक तो पुस्तक के

नाम ने भी सर्वसाधारण को आत्मी होगी। भला ऐसे सामाजिक पुनर्जीवों को और ने एम् भूताङ्गत में विल्यात महात्मा के नाम “दयानन्दतिमिरपाहरा” नामक पुस्तक लिखा जाना और उन का ऐसा उद्घाटन गान रखा। क्या योड़े हैं पको सूचित करता है? यदि पं० उत्ताल प्रभाद जो सीधे सादे जाने गत-सम्बन्धी विश्वास से विरोध के कारण पुस्तक बनाते ती दैरबन्धामश्चाल्य, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ब्रह्मवर्य आदि विषय से लेखन पर तो लेखनी न चलाते क्योंकि ऐसे २ विषयों को ती सर्वसाधारण द्विन्दू मानते ही हैं। परन्तु उन को ती यह कहायत चरितार्थ करनी पो कि—

येन केन प्रकारेण कुर्यात्सर्वस्य खण्डनम्

जैसे बने वैसे सब का खण्डन करगा। च है सत्य ही चाहे गमत्य परन्तु संपार यह ती जाने हींगा कि स्वामी दयानन्दस्त्वं ती जी इतने बड़े विद्वान् प्रभिद्विष्टे, उन का खण्डन पं० उत्तालप्रभाद जो ने किया ती यह भी कोई बड़े विद्वान् हींगे। अन ऐसे ही कारणों से प्रभिद्विष्टे का उत्ताप निहाला गया है—अस्तु। हम को इस से प्रयोगन गहीं। पं० उत्तालप्रभाद जी ने ११८ मुञ्जसों का खण्डन किया है। हम अगशः उग की समीक्षा करेंगे, अर्थात् यदि यथार्थ में कोई भूल सत्यार्थप्रकाश में होगी ती स्वीकार करेंगे और तिथा शङ्कामां का निराप करेंगे, जिस से सर्वसाधारण को सत्यार्थप्रकाश के निरापता ला शुद्ध धर्मसाधन प्रकट होकर वैदिकधर्म से का प्रकाश होंगे। इति ॥

मेरठ ९। ६। ९५

तुलसीराम स्वामी

द्विरावृत्ति का निवेदन

हम इस के प्रथम मुद्रित पुस्तक निकल जाने से ग्राहकवर्ग की सुचि जानकर आज दूसरी बार छापना आरम्भ करते हैं, जिस में अवकाश कम होने पर भी जहाँ तहाँ नवीन संस्कार और शोधन भी करते जाते हैं ॥

तुलसीराम स्वामी

२०। १२। ६४

त्रिरावृत्ति

मेरठ तिथि भाठ त्रिरावृत्ति के ६४ पृष्ठों तक की नीदृस का उत्तर बढ़ाया गया है ॥

तुलसीराम स्वामी

१५। ६। ९३

ओऽम्

अथ भास्करप्रकाशः

ज्ञानालाभासोपशमनं वा

ओऽम् । शन्मो मित्रः शं वहणः शन्मो भवत्वर्यमा । शन्म
इन्द्रो वृहस्पतिः शन्मो विरणुरुस्त्रकमः । नमो ग्रहणे नमस्ते
वायो त्वमेव प्रस्त्यक्षं ग्रहणासित्वामेव प्रस्त्यक्षं ग्रहण वदिष्यामि
ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारम-
वतु । अवतु भास्म् । अवतु वक्तारम् । अर्हं शान्तिः ३ ॥ १ ॥

ग्राणवृत्ति का और दिवस का जाभिमानी देवता जो मित्र सो हम को
खुलकारी हो इत्यादि अपना मनमाना अर्थे करके ३० तिं ३० भा० पृष्ठ २ पं०
३ । ४ में पं० उवालाप्नाद जी लिखते हैं कि “दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश
में इस का जन्मया व्याख्यान किया है सो स्यात्य है” ॥ २ । ५

प्रस्तुतर—स्वा० दया० जी ने जितने हेतु आपने आर्थे को पुष्टि में दिये हैं
उग का खण्डन किये विना, केवल “स्यात्य है” कहने से स्यात्य नहीं हो
सकता । स्वामी जी ने प्रकरण का बल दिया है कि स्तुति प्रार्थना उपासना
के प्रकरण में मित्रादि ॥ नामों से हृष्टवर ही का ग्रहण योग्य है, जिस को

॥ ३० तिं ३० भा० पृष्ठ २ ने यजुः ३ । ११ वे ५३ के प्रगाण से गित्रादि
॥ देवता लिये हैं, सो ती ब्रकरण में स्वामी जी भी प्रार्थादि का नाम सा-
गते हैं, किन्तु स्वामी जी कुन हृष्टवरार्थे में शङ्करभाष्यसहित वेदान्त सूत्र १ ।
१ । २२, २३, २५ तथा १ । २ । ९, २४, २६ तथा १ । ३ । ८, १० और इन का
शारीरकभाष्य, भास्ती, रक्तप्रभा और न्यायनिर्णय सब एक स्वर से “ न
देवतभूतं च ” का व्याख्यान करके देवतार्थे का निषेध करते हैं । विस्तार वे
हमारा बनाया वेदान्तसाध्य देखिये ॥

उन्होंने विश्वारेपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में लिख किया है और उस का उत्तर आप ने कुछ भी नहीं लिखा। यदि ऐसा ही खण्डन आगे २ भी चला तो “दाता बेली” है॥

३० तिं ज्ञात पृष्ठ २ पं० १७ से—समीक्षा—इस लेख (सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के) से पहिला सत्यार्थप० गुजराती भाषा मिश्रित विदित होता है किन्तु इस में कोई गुजराती भाषा का शब्द पाया नहीं जाता। भला वह तो अशुद्ध होचुका पर अब यह तो आप के लेख। नुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध है क्योंकि इस के बनाने के पूर्व न तो आप को लिखना ही भाता था न शुद्ध भाषा ही बोलनी आती थी, इस से यह भी लिख भोता है कि इस सत्यार्थ से पूर्वरचित वेदभाष्यभूमिका तथा यजुर्वेदादि भाष्यों की भाषा भी अशुद्ध होगी इत्यादि॥ २। २५॥

मत्युत्तर स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि जन्मभूमि की गुजराती भाषा होने से इस में उस का भेल होगया किन्तु वे स्पष्ट लिखते हैं कि जान्मभाषा गुजराती थी और सम्प्रति संस्कृत ही बोलने आदि का काम था क्योंकि इस देश के लोगों के साथ (जहां लेखकों को सत्यार्थप्रकाश बोल कर तात्पर्य समझा कर लिखवाया) संस्कृत ही में काम चलाया जाता था, अतः समझने समझाने में भूल होकर तात्पर्य ढीक २ न रहा। बहुत लोगों ने देखा है, वे अब तक वर्तमान हैं कि स्वामी जी महाराज आर्यप्रसादों के स्थापन से पूर्व दिग्मिश्र हो गङ्गातट पर विचरा करते और संस्कृत का ही भाषण करते तथा संस्कृत में ही सेवा रुपङ्गादि करने वालों को वैदिकधर्म का उपदेश तथा वेदविज्ञु मर्तों का खण्डन भी किया करते थे। उसी समय राजा जयकृष्णदाम जी ने यह समझ कर कि इन के पवित्र विचार से लेख-द्वारा दृर्देशवर्ती लोगों का भी उपकार हो सकता है, प्रथम सत्यार्थप्रकाश काशी में उपवाया था। उस समय तक स्वामी जी गङ्गातटादि विविक्षस्थानों में ही प्रायः रहते थे यही कारण था कि भाषादि को शब्दे प्रकार न जाँच पाये। और यह भी विदित रहे कि प्रथम का सत्यार्थप्रकाश लेख के समय से बहुत पीछे था। और भूमिका वा वेदभाष्य एक तो लिखने के घोड़े ही काल पीछे छूटे और वे पुस्तक (असिल) मूल संस्कृत में स्वामी जी ने बोल २ कर लेखकों को लिखाये फिर उन की भाषा नीकर परिवर्तों ने की। इस लिये ऊर लिखा जाकर निमूल है॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोक्ष्मरः स परमः द्वराट् ।
स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ॥ कैवल्योपनिषद् ॥

इम प्रगाण से जो स्वामी जी ने ब्रह्मा विष्णु आदि परमात्मा के नाम मिहु किये हैं इस पर पं० जवालामण्ड जी द० ति० ५०७ पृष्ठ ३ पं० ५ से लिखते हैं कि—“धन्य है स्वामी जी आप तौ दश ही उपनिषद् मानते थे आज मतलब पहा नी कैवल्य भी मान बैठे । और विना प्रमाण फिर ब्रह्मा विष्णु आदि को पूर्वज विद्वान् मताया । और आप का यह अर्थ भी अगुहु है कि वही ब्रह्मा वही विष्णु आदि है, ” हुदु अर्थे यह है कि “वह ब्रह्मा रूप होकर जगत् की रचना करता, विशुद्धप हो पालन करता” इत्यादि । और ब्रह्मा शिव आदि पूर्वज विद्वान् थे तो किस के पुत्र थे ? यदि कहाँ कि स्वयं उत्पन्न हो गये तौ आप का स्मृष्टिक्रम जाता रहेगा कि विना पिता के मनुष्य नहीं उत्पन्न होता इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- कैवल्य उपनिषद् क्या । आप के सम्मुख तौ अज्ञोपनिषद् का भी प्रगाण दिया जा सकता है ज्योंकि आप उपको मानते हैं । जब कि “इन्द्रं गित्रं वसुमणिमाहुः” इत्यादि वेदगन्त्रों से स्वामी जी मिहु कर चुके कि ये सब नाम प्रार्थनोपासनग्रकरण में ईश्वर के हैं तौ फिर वेद के अनुकूल चाहे जिस उपनिषद् वा गन्य किमी गन्य का प्रमाण भगान्य नहीं होसका । और आप का तौ सत्त्व ही नहीं है कि जिन पुस्तकों को आप मानते हैं उन में से किसी के बाक्य को भी न माने । क्योंकि आपके सत में तौ “संस्कृतं प्रमाणम्” है । दूसरी बात का समाधान यह है कि ब्रह्मा विष्णु आदि पूर्वज पुरुषविशेष देहधारी थे, यह बात तौ सब हिन्दू मानते ही हैं, पुराणों और इतिहासों में उन के जन्मादि चरित्र वर्णित ही हैं, इन विषय में स्वामी जी को प्रमाण देने की आवश्यकता न थी क्योंकि मिहु को सिहु करना विष्टपेषण है । ब्रह्मा जी आदि को देहधारी तौ स्वयं ही लोग मानते हैं, हाँ, ब्रह्मा आदि नाम परमात्मा के भी हैं, इस विषय को लोग नहीं मानते थे, शतः स्वामी जी ने बैरों, सनुस्मृति और लोगों के माने हुवे कैवल्योपनिषद् से भी यह सिहु कर दिया कि ये नाम परमात्मा के भी हैं । आप जो अर्थ करते हैं कि “वह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है” इत्यादि, यह आप का अर्थ जास्तराख्य में नहीं मिलता क्योंकि “स ब्रह्मा

म विष्णुः” इत्यादि का सीधा अक्षरार्थ यह है कि सः=यह, ब्रह्मा=ब्रह्म है। मः=वह, विष्णुः=विष्णु है। इत्यादि। आप ब्रातादिये कि “म ब्रह्म” का यह अर्थ कैसे हो गया कि “योह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है” क्योंकि मूल में ‘रूप होकर’ यह अर्थ किसी पद से नहीं निकलता, अतः स्वामी जी का अर्थ ठीक और आप ही का बेटोंक है और विग्रहिता के पुत्र नहीं होता, यह नियम सृष्टि की उत्पत्तिके पश्चात् का है किन्तु सृष्टि के भारमध में परमात्मा ही सृष्टि के विता होते हैं और भारमध का वही नियम है। स्वामी जी का ऐसे भक्त की राह पर्याप्त नहीं है किन्तु जीवनचरित्र में यदि ब्राह्म्यावस्था का भक्त पीड़ि का कृतान्त लिखा होगा तो वह आप ही के माननीय भोक्तानाथ पार्वतीश की सामयिक उपसना का फल होगा, जिस के लिये पार्वती १२ वर्ष तक घोटती है, तब भी फोट अवश्य रहता है। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो भाग चरस भादि पीड़ि वाले गपने पौराणिकों से पूछ लीजिये ॥

८० तिं भा० पृ० ३ प० १८ से पृ० ५ प० १३ तक स्वामी जी के सूत्यार्थ-प्रकाश से नारायणादि परमेश्वर के १०० नामों में की व्याख्या उद्घृत की है जिन पर प० ३वाला प्रसाद जी ने कुछ उत्तर स्वयं ही नहीं लिखा, मानो उच्छकों स्वीकार ही कर लिया है इस लिये प्रत्युत्तर की आवश्यकता ही नहीं ॥

—:—:—:—

मङ्गलाचरण

मङ्गलाचरण में ८० तिं भा० पृ० ५ से ३ तक इतने तर्क हैं:—

१-मङ्गलाचरण को आप नहीं मानते तो स्वयं “शक्तीमित्रादि” से मङ्गलाचरण क्यों किया ?

प्रथुत्तर-स्वामी जी तान्त्रिकादि लोगों की परिपाटी “भैरवाय गमः, दुर्गायै नगः, हनुमते नमः।” इत्यादि का खबड़न करते हैं। क्षणि लोगों की परिपाटी “अथ” भादि से मङ्गलाचरण करना अच्छा मानते हैं, अतः क्षणिपरिपाटी से उन्होंने मङ्गलाचरण किया ॥

२-यदि आप भादि मध्य अन्त में मङ्गलाचरण करने से श्रीच मेंके भाग को अमङ्गलाचरण समझते हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाश वेदभाष्यादि पुस्तकों में श्रो मङ्गलाचरण भादि मध्य अन्त में आप ने किया थो क्या आप के पुस्तकों

का शेष भाग भी महाकृताचरण है ? सत्य है । अपने जो पोष आदि दुर्बल चरण लिखे हैं वे लेद में कहीं विहित नहीं हैं से भगवान् ही हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने अधिदि गच्छ भन्त में कृष्णपरिपाटी से महालाचरण किया और बीच २ में भी भवत्र भासत्यस्थान और सरयमहागद्य भगवान् भगवान् भी किया है । उन्होंने जो पोषादि शब्दों का प्रयोग भी सर्वसाधारण को धंके में बचाने के लिये किया है, अतः वह भी महालाचरण ही है ॥

३—क्ष्या स्वामी जी को परमेश्वर के कुछ नाम विषय धीर कुछ भमिय हैं ? जो “नारायणाय नमः । शिवाय नमः । सरस्वत्यै नमः” इत्यादि नामों को परमेश्वर का नाम बता कर भी इन नामों से महालाचरण का तिवेद करते हैं ?

प्रत्युत्तर—निश्चन्देह ये नाम परमेश्वर के भी हैं परन्तु स्वामी जी के सुपर्य में लोक में इन नामों से किञ्चित् कर के पूर्वज पूर्वविशेषों का और वेदविरुद्ध अवतारों का यहण करने का बहुत प्रचार था और है । अतः स्वामी जी ने यह समझ कर इन नामों से महालाचरण को रोका कि लोक में कृष्ण-रादि की कथा प्रस्तुत होकर वेदविरुद्ध तत्त्वाक्तर बैतते क्ये और फैलते जाते हैं, जहाँ तक होसके महालाचरणादि से भी वैष्ण भग्नद्वयस्तारों की पुष्टि न हो, इस लिये ऐपर किया । उन को सरमाला का कोई भमिय नाम न या ॥

४—क्ष्या “स्मृतीहायाम् धातु से “राम” और “ह” धातु से हरि शब्द मिहु नहीं होता ? फिर व्याख्यानों राम और हरि शब्दों को भुषा समझते हो ? और “कृष्णभूवाचकः शब्दोऽस्य निर्दितिवाचकः । सर्वोरैवं परंपराम कृष्ण वृत्त्यनिधीयते” इस प्रकार कृष्ण के अर्थ भी तो ईश्वर ही को हैं जिर इन दो क्षयों महालाचरणादि न किये जावें ॥

प्रत्युत्तर—राम, कृष्ण, हरि आदि शब्द चाहे व्याकरण से किसी प्रकार लेंवात्तान्ते करके ईश्वरार्थवाचक सिहु भी होजायें परन्तु इन शब्दों से वेदादि ग्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर का यहण नहीं करते जाये हैं, इस लिये स्वामी जी ने ऐसा किया और “कृष्ण” शब्द की ठयुत्पत्ति तौ आपने किसी व्याकरण से की भी नहीं ? क्ष्या आप किसी व्याकरण वा निष्क्र के “कृष्णभूवाचकः” अधिदि अपनी लिखी कारिका को दिखा सकते हैं ?

५—स्वामी जी ने ग्राचीनग्रन्थों से ही विद्युसहस्रनामादि द्वारा ईश्वर

के १००० नाम क्यों न लेलिये, अपने १० नामों की ड्याख्या भिन्न क्यों की ? हम जिये कि हमारे सत में आर्यलोग इसी गई रीति पर चले ॥

प्रत्युत्तर-विष्णुमहस्तनाम के साथ गोपालसहस्रनाम भी ती है, उसे क्यों छोड़ते हो ? व्या इस लिये कि उम में ती-

“चोरजारशिखामणि:”

यह भी परमेश्वर का नाम है । वन रहने दीजिये, विष्णुसहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम, गीतगोविन्द आदि का भेद न खलवाइये और विदेशियों से हमनी न कराइये । स्वामी जी ती आप के घर का भेद सूच जानते थे और आप की शुभचिन्तकता से केवल दिव्यर्थनमात्र ही पोल खोती है । यदि स्वामी जी वा हम लोग आप की तरह करते वा करें तो वही दशा हो जो “स्वर्ग में सठजेक्टकमेटी” से भले कार भलकती है । बस इन्हीं बखेड़ों को स्वामी जी उघाहना नहीं चाहते थे, अतएव उन्होंने गोपालसहस्रनामादि पर उपेक्षा ही की ॥

६-ऋषि पुस्तकों में के “ ओ३म् ” वा “ अष ” शब्द वेद के अनुकूल किये हैं ?

प्रत्युत्तर-यह आप का काम है कि आप इन शब्दों को वेदविरुद्ध सिद्ध करें । और खफ्फ़स्त । यजुः अध्याय ४० भादि शतशः प्रकरणों में भीमादि नाम जो आर्य ग्रन्थों में आये हैं, उपस्थित हैं । नहीं ती आप बतलाइये किराम कृष्ण हरि भादि नाम वेद में कहां ईश्वरवाचक आये हैं ?

७-जीवनचरित्र में भालू मिला था इत्यादि ठठोल का प्रत्युत्तर देना असम्भवा है अतः तूष्णीभाव ठीक है ॥

ओङ्कारप्रकरण-

४० तिथि भादि पृष्ठ ७ पं० २६ से लिखा है कि ओङ्कार की ३ मात्राओं से जो जाये स्वामी जी ने लिये हैं वे किसी मन्त्र, ब्राह्मण, शास्त्र, पुराण से नहीं मिलते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-हम जन्य प्रमाण के लिखने की आवश्यकता नहीं समझते किन्तु जो मन्त्र आप ने प्रगाढ़ा दिया है और उस का निरुक्त परिचय तथा भाष्य लिखा है, वही स्वामी जी के जर्थों की पुष्टि करता है । आप ने ती केवल मन्त्र, निरुक्त, भाष्य लिख दिया परन्तु यह न विचारा कि यह ती सब स्वामी जी के जर्थ की पुष्टि करता है । यथा-

मन्त्र-

ऋचो अक्षरे परमे व्यामन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तत्र वेद किमूचा करिष्यति य इत्तद्विदुषाइमे समाप्तते ॥

(क्र० मं० १ मू० १६४ म० ३९)

निरुक्त-परिशिष्ट

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषणाः सर्वा।
यस्तत्र वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तद्विमे समा-
प्तते इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरमित्येषा
वागिंते शाकपूणिऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते
नानादेवतेषु च मन्त्रेषु । एतद्वा एतदक्षरं यत्सर्वां ग्रन्थो
विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् । निर० अ० १३ ख० १० ॥

परं उत्तराप्रभाद् जी ने जहां से हम मन्त्र का निरुक्त भारम्भ हुआ
है वहां से कुछ छोड़ कर “इति विदुषउपदिशति” यहां से ही लिखा है
तथापि इस से उन की प्रयोगनसिद्धि न हुई, प्रत्युत स्वामी जी का ही
तात्पर्य चिह्न होता है ॥

मन्त्र का निरुक्तस्य अर्थ-

यद्यपि गिरुक्तकारने इस का दूसरा अर्थ आगे सूर्यविषयक भी किया है
परन्तु हम प्रथम जिस ओङ्कारविषयक अर्थ को निरुक्तकार ने ब्रह्मण का
प्रभाण देकर लिखा है उसी को पाठकों के अवलोकनार्थे लिखते हैं:-

(ऋचः) ऋचायें, (अक्षरे परमे व्यवने) अविनाशी परम रक्त में (य-
स्मिन्मवेदेवाः [अधिनिषणाः] जिस में सब दिव्यगुण स्थित हैं, [उसी में
स्थित हैं] (यस्तत्र वेद) जो उस को नहीं कानता । (स ऋचा किं करिष्यति
वह ऋचा से क्या करेगा (यह इत्तद्विदुस्तद्विमे समाप्तते इति विदुष उपदिशति)
‘यइत्तद्विदु०’ इस से विद्वानों को उपदेश करता है फि—(कतमत्तदेतदक्षरम्)
कौनसा वह अक्षर ? (ओमित्येषा वागिंति शाकपूणिः) शाकपूणि आधार्य
हस्तर देते हैं कि “ओ३म्” यह वाणी है । (क्रष्ण च श्वसरे परमे व्यवने

धीयन्ते) और अचार्ये निष्ठव्य अविभागी परम रक्षक में धारित हैं (नाना देवतेषु च मन्त्रेषु) अनेक [आग्न्यादि] देवता वाले मन्त्रों में (एतहुवाए-तदस्तरम्) यही है वह यही शक्तर है (यत्सर्वा त्रयोः विद्यां प्रति प्रतीनि आश्लेषम्) जो सम्पूर्ण प्रथीष्ठिद्वारा के प्रति (वैरावर) है, ऐसा आश्लेष में लिखा है ॥

ऊपर लिखे निहक्त के (नाना देवतेषु मन्त्रेषु एतहुवाऽ) अर्थात् अनेक देवता वाले मन्त्रों में यही ओङ्कार शक्तर है । इस से स्पष्ट है कि वेद में जो “अग्निमांडे पुरोहितम्” इत्यादि अग्निदेवत मन्त्र हैं वा वायु आदि देवता वाले गत्वा हैं उन बा मुख्य तात्पर्य आग्न्यादि पदों से ओङ्कार ही है अर्थात् आग्न्यादि पदों से ब्रुतिप्रार्थनोपासना प्रकरणों में वेद, परमेश्वर ही को बोधित फरता है ॥

बाध इस मन्त्र और निहक्त से इतना सी मिहु ही ही गया कि वेदों में आग्न्यादि नाना देवता का तात्पर्य ओङ्कम् है इस लिये आग्न्यादि बहुत से अर्थ जो स्वामी जी ने ओङ्कम् से लिये हैं, वे युक्त हैं । अब हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि ३० तिं० भा० पृष्ठ० ८ संस्कृतभाष्य पं० १२ में “अग्निः पं० १३ में “वायुः” और पं० १३—१४ में “गादित्यः” ये अर्थे स्वयं पं० ६ ज्वाला प्रसाद लिखते हैं और भाषा पृष्ठ० ९ पं० ६ में वही “अग्निः” पं० ९ में “वायुः” और पं० ८ में “गादित्य” शब्द ओङ्कार की व्याख्या में उपस्थित है तब सत्यार्थप्रकाश में लिखे अ, उ, थ, के अग्निं, वायु, आदित्य अर्थों में क्या भुन मिल गया और स्वामी जी ने जो भक्तार से विराट् अग्नि विश्वादि, उकार ले हिन्दूपर्यगम्भ वायु ते जसादि और मकार से हृष्वर आदित्य प्राज्ञादि अर्थ लिये हैं से ही गायकूल उपनिषद् के गिर्भा लिखित वाक्यों से स्पष्ट निकलते हैं ॥ यथा—

जागरितस्थानोवैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा० ॥

जागरितस्थान=विराट् । वैश्वानर=अग्नि अकार पहली मात्रा ॥

स्वग्रस्थानस्तैजसउकारो द्वितीया मात्रा० ॥

स्वग्रस्थान=हिरण्यगम्भ । तैजस=तैजस उकार दूसरी मात्रा ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा० ॥

सुषुप्तस्थान=हृष्वर । प्राज्ञः=प्राज्ञ अकार तीसरी मात्रा ॥

देखना आहिये कि सायद्गुर्क के ऊपर लिखे वाक्यों में बैवानर तैजस और प्राज्ञ ये तीन अर्थ कम से ज, उ, म, के बैते ही लिखे हैं जैसे स्वामी जी ने लिखा है। और स्वयं पं० उत्रालाला जी ही जो ज्ञरा ठायारुपा बढ़ाकर पा.यिहत्य में गणना होने के लिये ८० तिं० भा० प० १० वा ११ में इन्हीं सायद्गुर्कवाक्यों का अर्थ कुठंक घपले से में गिलाकर वही शग्नि तैजस और प्राज्ञ अर्थे करते हैं और करें केवे ना ! मूल में वे शब्द उपस्थित हैं ॥

इम प्रकार यह ओ३८ का व्याख्यान स्वामी जी कृत और गायद्गुर्क स्था ८० तिं० भा० में एकमाही होने से बादी शापने शाप ही परास्त होता है । हाँ एक बात शेष है, यद्यपि वह बात सत्यार्थप्रकाश के खण्डन मण्डन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती तथापि ओ३८ की चतुर्यमात्रा जो ज, उ, म, का शब्दान है, उस पर गरणद्गुर्क का वाक्य और गद्वारगतानुसार अर्थ कर के पं० उत्रालाला जी ने जो कुछ लिखा है उस से पाठकों यो गद्वैतवाद के भलक आवेगी, जो गद्वैतवाद (चीव ब्रह्म की एकता) हमारी समझ में खेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है, अतः इस भी पाठकों के चरणनिरामार्थ गीचे वह मायद्गुर्कवाक्य और उस का स्पष्ट अवधारणे किये देते हैं । यथा—

अमात्रश्रुतुर्थेऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

मायद्गुर्कोपशम ॥

(अमात्रश्रुतुर्थेऽव्यवहार्यः) विना साक्षा चौपा [शब्दान] किसी शब्द से व्यवहार में नहीं आमत्का (प्रपञ्चोपशमः) उस में प्रपञ्च=जगत् का उपशम=लप है (यिवः) वह कल्पाणमय है (अद्वैतः) वह अद्वितीय है अर्थात् उस के सदृश कोई नहीं । (एवमोङ्कारः) इस प्रकार का ओ३८ है । (य एवं वेद) जो ऐसे जानता है वह (आत्मैव आत्मनात्मानं संविशति) शाप हीं अपने स्वरूप से परमात्मा को संवेद करता है—ब्रह्म को मास हो सुरक्ष हो जाता है ॥

विना खेदात्मानी के सीधा अवधारणे यही है, परन्तु केवल “अद्वैतः” के भासे ही पं० उत्रालामप्रवाद जी खिंच गये । आद्वैत शब्द का सुगम अर्थ सब कोई समझ सकता है कि “ जिस के सदृश कोई न हो ” । यह तात्पर्य नहीं निकल सकता वा खेद ताम से निकलता है कि “ उस के अतिरिक्त कुछ न हो ” ॥

यह ओङ्कार की व्याख्या और द१० तिं० भा० के प्रथम समुक्तास का स्वरूप समाप्त हुआ ॥

ओ३ष

अथ द० तिं० भास्करस्य द्वितीयसमुद्भासखण्डनम्

द० तिं० भा० पृ० १३ पं० ३ से स्वामी जी के लेख (धन्य वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, सुशीलता का उपदेश करे) पर आक्षेप करते हैं यि गर्भाधान से सुशीलता का उपदेश अपमत्त है ॥

प्रत्युत्तर-क्षण आप नहीं जानते कि—

आहारशुद्धौः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा रमृतिः

आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि और सत्त्व की शुद्धि में स्मृति निश्चल होती है । अर्थात् खाने पीने आदि व्यक्तिगतों का प्रभाव, शील आदि पर प्रहस्ता है और माता के अङ्गों से सत्तान के अङ्ग बनते हैं । यथा—

अङ्गादङ्गात्संख्यसि हृदयादधि जायसे ॥

हे पुत्र ! तू अङ्ग २ से टपकता और हृदय से अधिकत हो नहरन होता है । जब कि माता के अङ्ग २ से सत्तान के अङ्ग बनते और माता की भोजनादि व्यवस्था का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है तब गर्भाधन में ही लेहर माता के अच्छे व्यवहारों का प्रभाव होकर मन्तान अवश्य सुगील हो सकती है । दूसरी बात यह है कि जब आप पुराणों को मानते हैं और उनमें नारद ने अपनी गर्भावस्था में ज्ञानोपदेश पाने का वृत्तान्त कहा है तो आप किस मुंह से इस विषय में शङ्का करते हैं ?

मत्पाठेप्र० पृ० ८८ पं० १६ जैपा क्रतुगमन की विधि का समय है, रजोदर्शन के ५ वें दिन से १६ वें तक क्रतुदान का समय है । प्रथग ४ दिन त्याज्य है शेष १२ में एकादशी त्रयोदशी छोह शेष दिनों में क्रतुदान दे । इस पर—

द० तिं० भा० पृ० १३ पं० १३ से लिखा है कि क्षण यह लेख ज्योतिष-विद्या से सम्बन्ध रखता है वा नहीं ? मनु ने त्याज्य रात्रियों में दुष्टमन्तान और श्रेष्ठरात्रियों में श्रेष्ठ तथा युग्म में पुत्र भायशम में पुत्रों का जन्म लिखा है तिसे आप फल को नहीं मानते तो भी गुप्त २ लिखते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस गम्भु और स्वामी जी के लेख का फलित ज्योतिष के माध्यम सम्बन्ध नहीं । रजोदर्शन से १३ वीं ११ वीं १० वीं रात्रियों और युग्मायुग्म रात्रियों तथा प्रथग की ४ रात्रियों का विचार पदार्थविद्या से सम्बन्ध है । फलित ज्योतिष तौ बहुधा गणितगात्र तथा पदार्थविद्या का विरोधी होने से त्य ज्य द्दो है । जैसा कि “जातकामरण” में—

पञ्चाशीतिर्भवेदायुर्वेशाखस्याद्यपक्षके ।

सार्पेऽपृष्ठ्यां भृगोर्वारि निभनं पूर्वयोगके ॥

मेष-दि राशि में जन्मने वालों की आयु बताते हुए कहते हैं कि “तुला राशि वाले की मृत्यु ४५ वर्ष में वैशाख कृष्णा द भगुवार अश्लेषा नक्षत्र पूर्वप्रहर में हो ” । अब इस फलित वालों में पूँछता चाहिये कि ममस्त उयोगित्य (गणित) का मिट्टान्त यह है और ऐसः ही तिथिपत्रों में होता है और नक्षत्रों के नाम पर सहीनों के नाम का कारण यही है कि वह नक्षत्र उस महानि को पौर्ण नासी वा उम के एक दिन आगे पीछे आता है । इसी आशय पर पाणिनि सुनि का सूत्र भी है । यथा-सास्मिन्नपौर्णमासीति ४ । २ । २१ जैसे कि चित्रानक्षत्र की पौर्णमासी वाला “ चैत्र ” कहाता है इसी प्रकार विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से उद्येष्ठ, भाषाढा से आषाढ़ और अवण से आवणादि जानो । विचारना चाहिये कि जब चैत्र की पौर्णमासी की चित्रा हो तो वैशाख कृष्णा द की अभिजित् वा अवण हो सकता है जो चित्रा में ९ वां है, परन्तु ऊपर के लिखे इलोक में अश्लेषा लिखा है जो चित्रा में २२ वां है जो कहीं वैशाख कृ० द में आवेगा ही नहीं । जब इस प्रकार का अन्धेर असंख्य जगहों में नवीनकलिपत फलितग्रन्थों में उपस्थित है तो भला इन के रथने वालों को पदार्थविद्या और गणित उयोगित्य कहाँ भाता था ? और इन के मानने वाले दिन धीर्ली शन्यकार तीर्थों नहीं जा रहे हैं ? अवश्य जा रहे हैं ॥

सत्यार्थप्र० में जो सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् स्त्री को मङ्गोच और पुरुष को स्तम्भन का उपदेश है जिस से दूसरे सन्तान हृष्ट पुष्ट होकर आरोग्य रह कर धर्म अर्थ दाम गोक्ष की प्राप्ति कर सकें । इस परः-

द० तिनि ज्ञात ए० १३ पं० २१ से ठठोलवाजी वी है जो यन्यगत्ता का स्वमाव है कि-आप ने कोई धौषध न बता दिया जिस से विषयी स्त्री उपुष आप में प्रसक्त होते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी महाराज ने तो उपुष लिख सी दिया है कि -“पुरुष सन्तान जितने होंगे वे सब उत्तम होंगे” सत्यार्थप्र० ए० २५ पं० २१ में, परन्तु आपने पं० २० लिख २१ को जान बूक कर छोड़ दिया और उलटा फूल निकालने लगे कि “विषयी लोग प्रसक्त होते” । धौषध वैद्युक्तशस्त्र में लिखे ही हैं उस के लिखने की आवश्यकता न थी, अतः स्वामी जी ने शिक्षागात्र करदी ॥

सत्पार्थेष्ठ पृ० ३० में जो “उपस्थितिय के इर्थं और मर्दन से वीर्य-
क्षीणतादि होते हैं” लिखा है। इस परः -

द० निः० भा० पृ० १३ पं० २५ से लिखा है कि-जब भाता पुत्र को यह
शिशा करेगी तब निर्लज्जता होगी इत्यादि ॥

ग्रन्थुत्तर-जो २ बातें सन्तानों की हानिकारक हों उन २ से मर्चेत करना
बहुं का ही काग है। यदि इस प्रकार हितकारक उपदेशों में मङ्गोष छिया
आने से यन्तानों की बड़ी दुर्दशा हो। जैसी कि आज कल हो भी रही
है। परन्तु आप को इस से क्या प्रयोजन! आप तो “गणानां स्वा” आदि
के सौधर्य भाष्य * को सुना का रक्षण समझते हैं ॥

द० निः० भा० पृ० १४ पं० ३ से लिखते हैं कि-स्वामी जी ने जो भूत
प्रेतादि का खण्डन करने से ननु का यह श्लोक लिखा है कि--

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्धयति ॥ मनुः ॥

अर्थात् जब गुरु मर जावे तो शिष्य, मृतक के चटाने वालों के साथ दृश्य
दिन में शुद्ध होता है। इस पर पं० ७ उद्यालाप्रसाद जी लिखते हैं कि-स्वामीजी
जब कोई बात बनाते हैं तो कोई शोष लिख कर उस का गर्थ बलाता कर
देते हैं। इस श्लोक में (पितृमेधं समाचरन्) का अर्थ ही नहीं किया इस
का यह अर्थ है कि- जब गुरुजा शरीर छुट जावे तो शिष्य गुरु की अन्तिमेष्टि
क्रिया पिण्डादि विधान करता हुवा मृतक के चटाने वालों के साथ १० बे
दिन शुद्ध होता है इत्यादि ॥

ग्रन्थुत्तर- दुष्ट ध्यान देकर पढ़िये, स्वामीजी ने (पितृमेधं समाचरन्)
का अर्थ “ दाह करनेहारा शिष्य ” यह स्पष्ट लिखा है और दाहक्रिया ही
पितृमेध है। पिण्डादिका नाम पितृमेध तो आपने लेलिया, अक्षरार्थ
वहाँ है जो स्वामी जी ने लिखा है। और भूत बात तो यह थी कि स्वामी
जो इस श्लोक से यह दिखलाते हैं कि यदि प्रेत कोई ऐसी वस्तु होती जैसी
आज कल लोग मानते हैं तो इस श्लोक में माये “प्रेतहारैः” पद से विरोध

*इस का उत्तर न देकर “वाचते शुन्धाति” इस मन्त्र के स्वामिभाष्य
का उपालम्भ दिया है, जो निर्मूल है। उस भाष्य में श्लोक शब्द स्वामी
जी ने मूलविरुद्ध कुछ नहीं बढ़ाया ॥

आता है “ प्रेतहारैः ” का अर्थ यह है कि “ प्रेत-भूतक (लाभ) के उठाने वालों के साथ ” और यही वर्ष आप करते हैं, तो आपने जी मिठु हौं भाना फिप्रेत (नाश) को उठाने वाले “ प्रेतहारैः ” का अर्थ है। वार्षात् मनु के इस श्लोक में आये हुवे ‘प्रेत’ गढ़ का अर्थ तो आप ही स्वामीजी के समान “ मृतक शरीर ” ही सातसे हैं तब स्वामी जी पर आपका कोई व्याक्षेप नहीं हो पाया। यह दूसरी बात है कि आप भूत प्रेतादि की मिठु जी कोई अन्य प्रमाण देवें। आगे जो प्रमाण आप ने दिये हैं हम उनका प्रतिवाद करेंगे और स्वामी जी ने जो “ भूत ” का अर्थ “ होचुका ” किया है सो तो निर्विवाद ही है। परन्तु स्वामी जी ने प्रकरणविरुद्ध कालवाचक “ भूत ” का अर्थ नहीं किया किन्तु भूतकाल में वह ग्राही देहधारी था, ऐसा मान कर जो एक समय जीवित था वह मरने पर “ भूत ”-“ होचुका ” कहाता है। कोई योनिविशेष, जैसी कि पीराणिक मानते हैं, नहीं है। और यह कि स्वामी जी मरणे अब उनके पीछे आर्य लोग परमहंस के साथ “ भूत ” पदबो लगाया दर्ते। इसलिये ठियर्थ है कि जैसे मनुष्यमात्र के साथ मनुष्यपद लगा कर छोलना ठियर्थ है, इसी प्रकार गरे हुए सभी जब भूत कहाते हैं, चाहे स्वामी जी हों चाहे हमारे आप के और संसार भरके भूग-पूर्व बड़े हों, तब उनके पीछे भूत पदवी लगाना ठियर्थ है। क्योंकि वह मनुष्य विशेष के ऊपर मनुष्यपद सामान्य लगाने के समान कुछ अर्थसाधक नहीं ॥

३० तिठ भा० पृ० १४ यं० २३ से लिखते हैं कि-देखिये गतु वेद चरकु सुअत् आदि से आप को दिखाते हैं ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्

सर्पांसुपर्णांश्च पितृणां च पृथक् गणान् ॥ मनु० १ ॥ ३७

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणों को भी ब्रह्मा ने उठावा किया ॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके इस श्लोक से पूर्व के ४ श्लोकों को और उन लोंजिये तब आपको विदित हो जायगा कि यह श्लोक और इस का अर्थ क्या हुवा यथा-

तपस्तप्त्वासृजद्यन्तु स स्वर्यं पुरुषीविराट् ।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य लष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अहं प्रजा: सिसृक्षुस्तु तपस्तपूत्वा सुदुश्चरम् ।
 पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनार्दतोदश ॥ ३४ ॥
 मरीचिमब्रथङ्गिरसी पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
 प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥
 एते मनूस्तु सप्तान्यानसृजनभूरितेजसः ।
 देवान्देवनिकायांश्च महर्षीश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥
 यक्षरक्षपिशाचांश्चेत्यादि ॥ ३७ ॥

पाठे—परन्तु उम विराट् पुष्य ने स्वयं तप करके जिसे उत्पन्न किया, हे द्विजो । वह इस सब का स्लष्टा मैं हूं, यह जानो (स्वायंभुव मनु का वचन छपियों से) ॥३३॥ जब मैंने सुदृश तप कर के प्रजा रचनी चाही तौ आदि मैं दश गर्हण प्रजापतियों को रचा ॥३४॥ मरीचि भत्रि भङ्गिरा पुलस्त्य पुलह क्षतु एवेता वसिष्ठ भृगु और नारद को ॥३५॥ इन्होंने बन्य सात वर्षे तेजस्वी मनुओं को रचा और देवतों, देवस्यानों और तेजस्विमहर्षियों को ॥३६॥ यक्ष राक्षसपिशाचादि को भी ॥३७॥

प्रकरण का पूर्ण विचार करने से इन श्लोकों के अनुसार यह नहीं सिद्ध होता कि यक्ष राक्षसादिकों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, किन्तु विराट् ने स्वायम्भुव मनु को, उम ने मरीच्यादि १० प्रजापतियों को और उन्होंने सब स्लष्ट यक्ष राक्षसादि को रचा । आपने ऊपर यह गर्थ प्रकरणविहृदु किया कि ब्रह्मा ने इन्हें रचा । इससे क्या निश्चय हुवा कि परमेश्वर ने ती यक्ष राक्षस पिशाच योनि (मनुष्य के अतिरिक्त) नहीं रचीं, किन्तु उम के विहृदु १० प्रजापतियों ने रच डालीं । इन गनुस्मृति के श्लोकों में इतनी विप्रतिपत्ति है १—जगत् का स्लष्टा परमात्मा है वा १० क्षणि ? २—श्लोक ३३ में मनु आप को सब जगत् का स्लष्टा बताता है फिर आगे श्लोक ३६ में क्षणियों को । ३—स्वायंभुव ती कहता ही है कि मेरे पुत्र मरीच्यादि १० हुवे फिर उन पुत्रों ने बन्य ७ मनुओं को रचा (देखो श्लोक ३६) सात मनुओं के नाम मनुस्मृति अ० १ श्लोक ६२ । ६३ में इस प्रकार लिखे हैं:-

स्वारोचिपश्चोत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा ।

चाक्षुपरच महातेजाविवस्वत्सुतएव च ॥ ६२ ॥

स्वायम्भुवादाः सप्तैते मनवोभूरितेजसः ॥ ६३ ॥

अर्थ—स्वायम्भुवा दि तंजस्वी ७ मनु ये हैं कि—स्वाय भुव स्वर्णरेतिष उत्तम तामम रेवत चक्षुष और विवस्वान् ॥

अब बताइये तो मही कि मरीचयादि का पुत्र स्वायम्भुव ७ मनुओं के शत्तर्गत (देखो छोक ३६) है ? वा मनु के पुत्र मरीचया १७ (देखो छोक ३५) हैं ? अलांक के घटने वालों ! और प्रमाण देने वालों को तो बता बहु हूँ । जींद में छोक बनाकर मनु में मिलाये । और इस गारते हैं । । चलो चुन्धाद बेटे रहिये ॥

भला ऐसे परस्पर विरुद्ध बुद्धिविरुद्ध बेदविरुद्ध छोक से प्रेत मिठु होते हैं ? क्यों न हो, आप के भाई प० अलदेवप्रमाद तो भून प्रतीं को गानो मुद्दी ही में लिये रहते हैं उन की धियासोफी तो प्रमिठु ही है तब आप क्या इतने में भी जाते ! ॥ द० तिं० भा० प० १५ प० १ से—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजुः । ३ । ३० ॥

पितरों का अक्ष आहु में भक्षण करने की इच्छा से अपने द्वयों को पितरों की समान करते हुवे जो देवकिरोधी असुर पितृस्यान में फिरते हैं तथा जो असुर स्यूल और सूक्ष्म देहों को अपना २ असुरात्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उलझुक रूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयज्ञस्यान से इटाता है ॥

प्रत्युत्तर-आप तो कहा करते हैं कि स्वामी जो उलटा अर्थ करते हैं । आप स्वयं क्यों मीधा अर्थ लोड खेंचातागी करते हैं ? भला मन्त्र में पितरों और आहुओं का वानक कोई शब्द है ? नहीं है तो आप कहां से लाये ? मन्त्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार है:-

अन्वयः—ये असुराः रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः सन्तः स्वधया चरन्ति, ये परापुरो निपुरो भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्माति ॥

(ये असुराः) जो स्वार्थी जन (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः) वेष बदलते हुए (स्वधया चरन्ति) पृथिवी भाकाश में घूमते हैं (ये परापुरो निपुरो भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्माति) जो पराये से और निकलता से अपने को पुरने धाले अपना पोषण फरते हैं (तान्तिरसाङ्गोकात्प्रणुदाति) उन्हें अग्नि इस लोक से खेद देते । स्वधा

शब्द निघण्टु ३ । ३० में द्यावापरिवी के नामों से पढ़ा है । तात्पर्य यह है कि जो पुष्प, खोर उच्चक बहुद्वये हाँक गादि वेष बदल कर संमार को उत्थाने विश्वासित (परमेश्वर) उन्हें दूर करेवा अवित्त=सौतिक। इस के प्रकाश से उन धन्यकारियों को पकड़ना और दण्ड देना चाहिये । इस मन्त्र में भूत मेतादि का कथन सात्र पीले नहीं । शयवा शतपथानुसार कर्मकाण्डपरक यह अर्थ है कि “देवि वा पृथिवी के रहने वाले प्राणनाशक दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थे दूर हों” । अब दृश्य मन्त्र में आगे परमात्मा ने यह बताया है कि अवित्त उन दुष्ट प्राणियों वा पदार्थों को दूर करता है । ज्ञात रहे कि बासुर वा राक्षस शब्द से यहाँ उन वायु में रहने वाले दुष्ट पदार्थी वा कोइहों से तात्पर्य है, जो रोगों को उत्पन्न करके प्राणनाश वा मृत्यु का कारण बनते हैं और अवित्त में होग करने से वे दूर होते हैं ।

गन्त्रार्थः—(ये) जो (भासुरा:) असुर (रूपाणि) दूर्पां को (प्रतिमुक्तचमानाः) बदलते (मन्तः) हुंते (स्वधया) अज्ञ [निधं२ २ । ९] के साथ (चरन्ति) वायु में घूमते फिरते हैं और (ये) जो (परापुरः) भूते शरीरों को और (तिपुरः) निकृष्ट सूक्ष्म दुर्गम्भिनय शरीरों को (भरन्ति) चारण फरते हैं (तान्) उन सब को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से [जहां यह होता है] (अग्निः) अग्नि (प्रणदाति) दूर कर देता है ॥

कैगा स्पष्ट वायुगत दुष्टकीहों का वर्णन है कि जिन का रूप शीघ्र २ बदल जाता है, जो बुरे और सूक्ष्म शरीरों वाले हैं और वे अचिन के सेज से दूर होते हैं। शतपथ ब्राह्मण २। ४। ५ में लिखा है कि असुरों और राक्षसों को परमात्मा ने तमम् अन्धकार वा तमोगुण वश्तु खाने को दी है, जिस अन्ध=मयनी खुराक के साथ वे घूमते हैं॥ ३० तिं० भा० प० १५ प० ९ से लिखा है कि—
भूतविद्यानामदेवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितॄपिशाचनागग्रहाद्युप
सृष्टचेतसांशान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् उ० सूतस्यान ११

अर्थ-भूतविद्या जो आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में चतुर्थ है उन को कहते हैं कि देव, भासुर, गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस, पितर, पिशाच और नाग आदि यहीं करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को ग्रहशान्ति करने से आरोग्य होता है। आशय यह है कि सुश्रुतकार ने भी भूत, प्रेतादि योनि जारी हैं॥

प्रत्युत्तर-सत्याधिपकाश पृष्ठ ३० पं २२ में जो लिखा है कि—“जिस को शङ्का, कुमङ्ग, कुसंस्कार होता है उस को भय और शङ्कारूप भूत, ग्रेत, शाकिरी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुखदायक होती है।” इस से स्वास्थी

जी का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भूत प्रेतादि योनिविशेष के नहीं तथा पि-
जिन के चित्त में जविद्या से उन को गङ्गा वा भय जान गया है उन को
अवश्य वह भय वा शङ्का ही तदूप बनकर दुःख रेखे लगते हैं। इसी प्रकार
यहां सुश्रुत में भी जो कुछ सुश्रुतकार वा उन के नाम से अन्य किसी ने लिखा
है उम से यह ती गहीं निदु होता कि भूत प्रेतादि योनिविशेष है, किन्तु
यह विहित होता है कि “उपस्थृचेतसा” जिन के चित्त में भूत प्रेतादि का
भूगाल जान गया है उनकी चिकित्सा आन्तिकर्म और बलि देगा आदि जो भू-
तत्त्वद्या कहाती है, उससे होती है। जैवे इन्द्रजालविद्या एक प्रकार यों छल-
विद्या है जैसी ही यह भूतविद्या भी रहे, इतने से भूत प्रेतादि योनिविशेष
नहीं निदु होती। यदि कहाँ कि योनिविशेष गहीं हैं तो उनकी बलि देने
से प्रायः रोग दूर कर्यां हों जाते हैं ? तो उत्तर यह है कि जिन लोगों के
हृत्य में ये कुसंस्कार नहीं जाएं उन्हें न तो ये रोग हीं और यदि उन्मादादि
फोड़े रोगविशेष हो भां जिस में कुसंस्कारी पड़ीसियां को भूत प्रेतादि का
भय हो, तो किसी गन्त्र यन्त्र बलि आदि से कुछ भी लाभ नहीं होता।
हां खांतियुक्त पुरुषों को भ्रांति से भूत प्रेत हाकिनी शाकिनी आदि की
पीड़ा होती हैं और उन्हीं की भ्रांति इन्द्रजाल के समान भूतविद्या माम
छलविद्या से दूर करके प्रायः आरोग्य हो जाता है। इस में भी इन्द्रजाल
के समान भौषणोपचार करते हैं, परन्तु रोगी को यही निचश्य फरासे हैं कि
भासुक प्रेतादि की आसुक प्रकार बलि आदि जो जाती है, देखो आगे तुम्हें
आराम हुवा जाता है। बात यह है कि उस रोगी को जैसे केवल अपने गन-
ष्टी भ्रांति में रोग हो गया वैसे ही सन को संतोष दिलानेवाली बहकायट
से आराम भी हो जाता है। क्योंगे “मन एव गन्ध्याणं कारणं बन्यतोदयोः”
मन की कल्पना का बड़ा सामर्थ्य है। सुना है कि अमेरिका देश में मन वीं
भ्रांति के फल की परीक्षा के लिये एक पुष्ट प्रिस का माण किसी कारण लेना
ही था उस को विद्वान् दिलाया कि तुम्हारे शरीर के आसुक स्थान को नम-
धाट दी जावेगी उस में खून (रक्त) निकलते २ तुम्हारा प्राण लिया जावेगा,
तुम्हारे माथे और आंखों पर पहुँची बंधी रहेगी। जब उस पुष्ट को ऐसा निश्चय
दिला कर आंख बन्द करके विठा कर उस के रक्त की नाड़ी के स्थान से उसे
न काट कर अन्य नाड़ी का छेदन किया जिस से रक्त एक विन्दु भी न निकला
किन्तु रक्त के बराबर गरमी वृत्ता पानी बून्द २ करके नाड़ीछेदन के स्थान

पर टपकाते गये जिस से वह पुरुष समझता रहा कि मेरे देह से रक्तबिन्दु टपकती है। बस उसके इस निश्चय से कि मेरा रक्त निकलता है, थोड़े ही भिन्नटों में उसका प्राणान्त हो गया। किसी गनुण्य को जो भूत प्रेतादि नहीं मानता। आ कहागया कि अरुद्धा तुम अर्धेरात्रि में अमुक लहूल में अमुक पीपल के छास के नीचे कील गाढ़ आओ जब उम ने कील गढ़ी, दैवयोग से उम के अहूरखे का मिरा कील में इलम्फकर गढ़ गया। जब वह वहां से चला तो उमने रुकने से समझा कि भूत अवश्य है उसी ने मेरा पङ्खा पकड़ा है, अस्तु खेंच ताग कर अहूरखा फाढ़ तोड़ कर भाग आया परन्तु आते ही प्रेतज्वर (आन्तुक) घड़ा और उसी से भर भी गया। आशय यह है कि स्वासी जी के लेखानुमार प्रेतादियोनि न होने पर भी छृष्टा अम से शाकिनी, हाकिनी आदि का रोग हो जाता है उसी की निवृत्ति के लिये बुश्रुत में वह प्रतीकार लिखा है कि शान्ति और बलि जादि कराने से भारोग्य होता है किन्तु जिनको श्रान्ति नहीं उठते न यह रोग हों और न बलि जादि से भारोग्य होता है ॥

४० तिं० भा० प० १५ पं० १९ में लिखा है कि—निश्चय जानिये कि देवतों ने छी आप का प्राण शरीर से निर्गत कर दिया, नहीं तो ब्रह्मचर्य बालों की तो आप के कथनानुमार बही उमर होती इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-निश्चय जानिये कि देवतों का काम किसी का प्रण लेना नहीं किन्तु उन के लेखानुमार किसी राक्षस ने अवश्य उन का प्राण लिया, नहीं तो आप भी जिन के ब्रह्मचर्यबन को खीकार करते हैं ऐसे पूर्ण यती की अवस्था अवश्य बहुत होती परन्तु राक्षसों से उन की लोकोपकारक देवचेष्टा सही न गई और सुनते हैं कि उनका प्राण विषद्वारा ले लिया ॥

५० तिं० भा० प० १५ प० २६ से लिखा है कि यदि फलितज्योतिष भूंठा है तो आपने ही “कारकीये” में “उत्पातेन ज्ञाप्यमाने” इस वातिक पर नीचे लिखा महाभाष्य है। यथा—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।

कृष्णा सर्वविनाश्य दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥

पीली विजुली चमके तौ वायु चलि, लोहित से धूप, कृष्ण से सर्वगाश और इवेत से दुर्भिक्ष । कहिये यह फलित नहीं तो क्या है ? जन्मपत्र शोक

पत्र है तो कहिये आप के जन्म का दिन संवत् भाष्टको उत्तपत्त होने ही से
याद है ? और कोई प्रमाण भी है ? इत्यादि ॥

प्रथ्युत्तर-सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि वे सूर्योदि यह प्रकाश भीर
गरमी भावि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सके । बन भहाभाष्य में जो
बिजुली का फल लिखा है वह भी गरमी की न्यूनाधिकता भीर उससे होने
वाला चाहे ही है, अधिक कुछ नहीं । और जन्मपत्र का फल आप के लेखा-
नुसार यदि जन्मसमय का स्परण रहना है तो यह हम भी खोकार करते
हैं परन्तु उस से धन धान्य छो पुन्र जीविकादि का चान साध्य या जिस की
सिद्धि में आप को वेदादि का प्रमाण देना या सो आप ने कुछ नहीं लिखा ।
जीर भागेः -८० तिं० भा० प० १६ प० २० में लिखा है कि:-

शंनोग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्चराहुणा ॥ अथर्ववेद ॥

अर्णोत्स अन्द्रमा राहु आदित्यादि प्रह शुखदायक हर्षो इत्यादि ॥

प्रथ्युत्तर-जैसे कोई यह प्रारंभना करे कि हम को पानी, पवन, अम भावि
शुखदायक हर्षों, क्या उस का यह तात्पर्य होता है कि ये पदार्थ चेतन हैं ?
नहीं, केवल यह कि हमको इन पदार्थों से शुख मिले ऐसा चाहते हैं ॥ और
रामचन्द्र जी के जन्मसमय यहर्षों के लिखे जाने का कारण यह है कि यहर्षों
से ऐतिहासिकमहायता भविष्यत् के लिये बड़ी पुष्ट मिलती है । यदि भाज
फल उन यहर्षों के गणित से भाजकल के ग्रहरों का गणितफल निकाला जाय
तो गतसमय का निश्चित चान हो सका है ॥

८० तिं० भा० प० १६ प० २० होरा बान्धने से और सन्त्र पढ़के रक्षा नहीं
होती तो आपने संध्या में गायत्री मन्त्र चे शिखाबन्धन और रक्षा करों लिखी
है और शिखा बान्धने से रक्षा होजाय तो तलवार, तमंचा भावि ठर्ये
हो जावें इत्यादि ॥

प्रथ्युत्तर-प्रथम तो कृपा करके देने कुतर्क न कीजिये जिन से आपके गर्भ
सम्मत विषयों में भावेष हो । नहाश्य । सन्ध्या में शिखाबन्धन और रक्षा
को तो आप और समस्त हिन्दु नामधारी मानते हैं उस में आप को शङ्का
न करनी चाहिये, क्यों कि उस के खण्डन से आप का भी खण्डन होता है
परन्तु यदि आप को यही हट है कि “ नेरी जाय सो जाय पर पढ़ौसी की
क्षणों रहे ” तो उत्तर यह है कि गायत्री मन्त्र परमेश्वर की सुति प्रार्थना का है
प्रसादमा अवश्य रुम जे रक्षा है । भानी तो ने आप के कलिपत देवतों जे

शुग्रीर्थ पर धाक्षेप किया है। गिखा बान्धने का फल-बालों की ओर मे सावधानता हीनाहव दी लिखा है। रक्षा के उपायों में एक उगाय परमेश्वर मे प्रार्थना रही है। यदि कोई किसी रोग की एह श्रीष्टिय लिखे तौ क्या उस मे अन्य कीदर्थियों की भिटफलता मिट्ठु हो जाती है? नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर मे शुभ दी प्रार्थना, तलवार आदि द्वारा रक्षाभीं को ठर्थ नहीं करती। इसी अद्यतय है कि हम प्रार्थी लोग इन योग्य परमात्मा की दृष्टि मे ठहरे कि वह प्रार्थना स्वीकार करे तो इस मे भी सन्देह नहीं कि तलवार आदि उस की यानने कुछ वरन् नहीं। द० ति० शा० प० १७ प० ५ मे लिखा है कि:-

सहस्रकृत्यरस्त्रस्य वहिरेतत्त्विकं द्विजः ।

महसोपेनसोमात्सात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ मनु २ । २९

ओ३३३, व्याहृति और गायत्री को नगर मे बाहर १००० एक गाम पर्यन्त बाये सौ द्विज महान् पाप मे छूटे। देखो यह मनु ने मन्त्र का फल लिखा है तथा आवश्यण पाप दूर करने के निमित्त जपा जाता है। कीशस्त्रा ने राम-चन्द्र के बनवारम होते समय मन्त्र पढ़कर रक्षा की ऐसा बाल्मीकीयरामायण मे लिखा है। और ग्रीनरक्षत ऋषिधान मे वेदगन्त्र जप मे रोगादि शान्ति कियी है गया-

३७१३ रात्रिसूक्तं जपेद्रावी त्रिवारन्तु दिने दिने ।

भूत्प्रताहृच्चीरादिव्याद्वादीनां च नाशनम् ॥ १ ॥

३८२३ कृष्णप्वेति जपेत्सूक्तं श्रादुकाले प्रशस्तकम् ।

रक्षीतृं पितृतुष्टुयं पूर्णं भवति सर्वतः ॥ २ ॥

३९२४ येवामावधमन्त्रं च जपेत्तु अयुतं जले ।

बालग्रहान पीड्यन्ते भून्प्रतादयस्तथा ॥ ३ ॥

तात्पर्य यह है कि रात्रिसूक्त, काश्चेति सूक्त और “येवामावध” मन्त्र को ३००० जपने से भूत प्रतादि शान्ति, वितरों की तुष्टि आदि फल होता है इत्यादि

ग्रन्थज्ञर-गायत्री भो३३३ व्याहृति के जप का फल प्रापनिवृत्ति इस लिये ठीक है कि उस मे ईश्वर की स्तुतिपूर्वक उत्तम बुद्धि की प्रार्थना है। और बुद्धि उत्तम होने से पाप मे प्रवृत्ति नहीं होती, यह प्रपनिवृत्ति है। परन्तु यह ही ननु ने नहीं लिखा कि ‘पुरोहितादि लोग दक्षिणा लें और जपकर-

के पाप उतार दें। स्तुति प्रार्थना का फल (अमर) करने पर उत्तर विषय प्रहता है, यदि यह जो लगा कर करे परन्तु अस्य के फिर अपाठ पुरश्चरणादि से यजमानादि अन्य को फल पाठादि का नहीं होता। हाँ, यह ठीक है कि वेदाभ्यासादि करने वाले जागिकार्थे अन्य उद्योग गिन गा नहीं उन सांगां की जीविकार्थे दक्षिणा देने से दाता को शुभम् रुक्ष की प्रवृत्ति में हेतुना आता है इसलिये उसे कुछ पुराय हो परन्तु कर लिख सत् के शोक वामन्य किमी रीति में यह नहीं आता कि अन्यकृत अपादि का फल साधात् अन्य को हो। कैश्लया ने भी वेदगन्त्रों द्वारा परमात्मा से रामचन्द्र की रक्षा-प्रार्थना की हो ती इन से मन्त्र यन्त्र तन्त्रों की वर्त्तमान रीति की पुष्टि नहीं होती और शैवानकृत ऋग्विद्यान का जो आप प्रसाण देते हैं उन में इतनी बतां का प्रथम उत्तर दीशिये १-यदि यह अन्य प्राभीन ही तो इस के पाठ की शैली न तन क्यों है । २ चौरादि व्याघ्रादि पद में दो तार आदि शब्द का प्रयोग क्यों है । ३-ऋग्वेद के कण्ठवपा ज०सूक्त और येवागावाय०गन्त्र में ती भूत प्रेत का वर्णन है ही नहीं उन में अग्नि का वर्णन है। सायणाधार्य भी इन का अग्नि देवता लिखते हैं, भूतप्रेत नहीं । ४-शयुतं का अर्थ ३००० आप कीन लेते हैं । ५-“मन्त्रं च जपेच्च”ये दो चकार ठप्पय क्यों आये हैं । ६-“जपेच्च शयुतं” में स्वर्ण दीर्घ की सम्भव न करने का क्या कारण है, यदि करो तो विवक्षाधीन है तो क्या किसी कवि का लौकिक शिष्ट प्रयोग ऐसा अन्यतरीक ही है वा नहीं यदि ही तो कहाँ और गहीं ती इन में ही ऐसा क्यों हुआ । ७-पीड्यन्ति के स्वान में पीड्यन्ते कैसे हुए । यदि पीड्यन्ते ठीक है तो “य नहीं पीड्हित किये जाते हैं” यह अर्थ होगा, गिकि “यह नहीं पीड्हा करते हैं” ८-भूत प्रेतादि पद (१) में आया है पुगः (१) में क्यों दुबारा आया ॥ मयम तो इन स्थोरों में से इन दोषों का इटाना असंभव है दूनरे यदि शयुद्धसूक्त मान भी लिये जायें तो क्या वेदमन्त्र वा सूक्त किसी को मना करते कि इस को जप करके भूत प्रेतादि की छलविद्यान करो, पूर्व प्रकार सुश्रुत के प्रगाण पर भूत प्रेतादि विषय में जो उत्तर दिया गया वही यहाँ जानिये ॥

८० तिं भात् प॒ ए॑ पं॒ ४ से लिखा है कि-सत्यार्थप्रः पृष्ठ ३३ में तो नति ठिकाने शिर है जो द्विजशब्द ब्राह्मण सत्रिय वैष्णव और जाति ही सिद्ध रक्षी है । परन्तु तीसरे समुद्धाप में इस के विरह है सो उस का खण्डन नहीं होगा ॥

प्रत्युत्तर—द्विं शब्द से अन्यत्र भी तो ब्राह्मणादि ३ वर्णों ही का चहण किया है। रहीं यह बात कि यहाँ तो जाति ही मिहु रखली है—सो नहीं, किन्तु विद्यारम्भ करने वाले सन्तानों के माता पिता का वर्ण गुण कर्म स्वभा वानुमार ही यहाँ भी अभिवेत है और आगे जैसा आप खण्डन करेंगे उस का प्रत्युत्तर यहीं दिया जायगा ॥

३० तिं ० भा० ए० १८ पं० ८ में लिखा है कि=पत्यर्थप्र० प० ३५ बड़ों का मान्य दे उठ के सामने उठ कर जाकर उच्चामन पर बैठा प्रथम नमस्ते करे, इत्यादि पर मर्मोक्ता की है कि—यह नमस्ते की परिपाटी भी अजब ढङ्ग की चलाई है और परस्पर नमस्ते करने का प्रगाण कोई नहीं लिखा। छुटाई बड़ाई नीच ऊंच को कुछ न रही, और बुद्धि को तिल झुलि देकर कहते हैं कि [गमः ज्येष्ठाप च कनिष्ठाप] यजु १६। ३२ में छोटे बड़े को नमस्कार लिखा है। यह मन्त्र रुद्राध्याय का है जिस में ज्येष्ठ का अर्थ ठप्टि शब्द तथा कनिष्ठ के अर्थ नमस्किप शिव के हैं। छोटे बड़े गन्धों को नमस्ते का विधान इस में नहीं है। आगे ठववहार की प्राचीन रीति लिखते हैं:-

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेवच ॥

आददीत यतोज्ञानं तं पूर्वमभिश्रादयेत् ॥ ११७ ॥

शश्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥

शश्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११८ ॥

इत्यादि १२० से १२१ तक मनु भ० २ के इलोक और उन का अर्थ लिखा है और यह भी लिखा है कि स्वामी जी इस स्थान पर ननुस्मृति देखते २ कंच गये। मगाजियों यो क्या सूफ़ी है कि छोटा बड़ा भाई बैटा शूद्र वा गुह मब्द में नमस्ते ही करते हैं। जो समाजों परिवहत वैश्य शूद्रादि को नमस्ते करते हैं वे (योनवेन्पभिवादस्य०) के अनुमार शूद्रस्त ही हैं। ये का लोक करो तो तुम्हारे पुरुषा तुम से चौगुणा धन कमाते हैं। तथा विदेश में कहते हैं कि हमारा नमुक्त में नमस्ते कह देगा। भला परोक्ष में नमस्ते प्रयोग कम घटता है। चिट्ठी में यह बात नहीं बत सकी इससे नमस्ते कर्ता न करे, प्रणाम दगड़वत् इत्यादि करे ॥

प्रत्युत्तर—आपने सत्यार्थप्र० प० ३५ से जो लेख उद्भूत किया है उस में आनंद कर वा भूल से एक भ्रेद कर दिया जिस से अर्थ पलट गया। वह

यह है जि " उच्चासन पर बैठावे " ऐसा चाहिये परन्तु आपने २० तिं० भात
पृ० १८ पं० ८ में " उच्चासन पर बैठा " प्रथम नमस्ते करे, यह लिख दिया जिस
से शब्द में यह भारी अन्तर हो गया, क्योंकि स्वामी जी का नामशब्द भी इस
शिक्षा से है कि छोटा बड़े को उच्चासन पर बैठावे शर्थोत्तम शब्द नोंच बैठे
और आपके उद्धृत अशुद्ध पाठमें उलटा यह तात्पर्य भगवत्तर त्रै त्रि छोटा
उच्चासन पर बैठा हुआ बड़े से नमस्ते करे । स्वामी जी का तात्पर्य मनु के
इति इत्योक्ता से मिलता है, जिन्हें आप पृष्ठ १८ व १९ में लिखते हैं जि-

तं पूर्वमभिवादयेत् । प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ।

शर्थोत्तम प्रथम अभिवादन करे और उठकर करे । यही स्वामी जी ने पृ०
१५ पं० २ में लिखा है। रही यह शब्द कि स्वामी जी ने नमस्ते लिखा है, अभिवा-
दन नहीं लिखा । अभिवादन, बन्दना, प्रणाम, प्रणाति, नति ये एकार्थ
हैं इस लिये इस में कुछ भेद नहीं । कुटाई उठने, हाथ गोहफर करने, प्रथम करने
आदि से भले प्रकार सूचित होती है । यदि आप का यह पक्ष हो कि अभिवा-
दन शब्द शब्दों से न किया जावेती आप ने जो अल्प में दशहवत्त प्रणा-
मादि लिखे हैं, वे भी असत्य हैं । और वर्तमान में ब्रह्मण आपस में नम-
स्कार करते हैं और उनमें आपसमें गुह शिव, पिता पुत्र आदि मन्त्रन्धर के
कारण छुटाई बढ़ाई रहने पर भी नमस्कार शब्द के प्रयोग वा राम २ तथा
यहाँ तक कि हिन्दू लोग मुमलमानादि से क्या भवने आपस तक में भलाम
करने लगे हैं तथापि आप उनपर कुछ नहीं कहते लिखते । " नमोऽप्येष्टायच्च "
इस मंत्र में ज्येष्ठ कनिष्ठ शब्द स्पष्ट लाटे बड़ेके बाचक हैं और इसके बागे
इसी १६ वें अध्याय में " स्तेनानांपतये " इत्यादि शब्द भी आते हैं जो शिव
वा हेश्वर पक्षमें सर्वथा नहीं लग सके । यदि इसका विशेष ठ्यारुप्यान देखता
आहो तो " शाश्वार्थखुरजा " गामक पुस्तक में देख लीजिये । स्वामी जी ती
मनुस्मृति को देखते २ नहीं ऊंचे परन्तु आप की समझ निराली है जो आप
अभिवादन प्रणाम नमस्ते आदि में भेद समझते हैं । स्वामी जी को अभि-
वादनादि शब्दोंका ठपवहार ज्ञान पा, यह तो संस्कारविधि के बेदारम्भ
संस्कारप्रकरण से अच्छे प्रकार विदित हो सकता है जहाँ ठोक यही मनु के
अनुमार अभिवादनका विधान लिखा है (देखो संस्कारविधि बेदारम्भ पं० ४८
पं० ६९) जो समाजी पश्चिम वैश्य आदि का नमस्ते करते हैं । वे अभिवादन
मत्यं भवादगंते तात्पर्य को ठीक २ ज्ञानते हैं और आपके समान अभिमान

में नहीं देंठते हैं। वे योग्यतानुसार वर्तीव करते हैं। वे हर समय बड़े भी नहीं बनते। वे साधस्यं और विधर्म्यं तथा सामान्यं और विशेष का तात्पर्य समझते हैं। ध्यान देकर सुनिये। एक सनुष्य दूसरे सनुष्य से सनुष्यत्व साधस्यमें में समान है, फिर एकही धर्मका अवलम्बनी होनेमें समान है, एक ही ईश्वर का उपायक होनेमें समान है, एक ही देश में रहने वाला होने में भी समान है, लोक में जाति भाई, देश भाई, धर्म भाई आदि व्यवहार हैं। प्रगति यह सामान्य उस विशेष का बाधक नहीं जो विशेष लुटाई बहुत रागा प्रजा, गुण शिष्य, पिता पुत्र, सेठी सेवकादि सम्बन्ध विशेषों से होती है। इस लिये आर्य परिषद सामान्य और विशेष का ठीक तात्पर्य समझकर हुस्त धर्मभाई, देशीभाई आदि व्यवहार को जाग कर अग्रिमान में पूर नहीं होते। और आप लुटाई बहुत का क्यों इतना विवार करते हैं, आप के यहाँ नो मूर्ख परिषद भावि में कुछ विवेक ही नहीं “वाचिकोना भविद्यावा ब्राह्मणोपासको तनुः” मूर्ख हो वा विद्वान् ब्राह्मण ऐरा देह है, यह भगवान् का वाक्य है। आपके यहाँ तो ब्राह्मणों ने विद्वन् भगवान् की लाती में लात मारी है, भला फिर ब्राह्मण सनुष्य को सनुष्य क्यों गिनने लगे हैं? और परिषद्वारा का तो कहना ही क्या है। और आप ती मृत्यु ने मृत्यु ब्राह्मण को भी शूद्रवत् नहीं कह मर्के क्योंकि वह भगव न् था स्वतप्त है। फिर आप के मतानुसार प्रत्यक्षिवादन न जानने वाले परिषद शूद्रवत् क्यों हैं? और पैसे का लोम ती आर्यपरिषद्वारों को नहीं है, यह तो आप के लंख से भी मिहु है क्योंकि आप ने भी लिखा है कि “तुम्हारे बड़े धीरुणी जीविका करते थे” और सचमुच करते हैं। ठीक है, यह धीरुणों जीविका ही पौराणिक पाखण्डों को नहीं छोड़ते देती और आर्यधर्म के विरह दृष्टिभाव जैसे पोषे लिखा रही है। और विदेश में जो नगस्ते काहला कर भेजते हैं या पत्र में लिखते हैं वह प्रत्यक्ष का अनुकरण लिखा जाता है इस लिये नगस्ते, अभिवादये आदि करना और जहवत् दशहवत् गाडीपङ्क आदि त्याज्य हैं॥

द० तिथि ३० ए० २० २० २० से लिखते हैं कि “वाह बड़ी बुन्दर शिक्षा लिखो। येद दा प्रगाण नहीं यह शिक्षा स्वतः प्रगाण है वा परतः प्रगाण ? योगि गंकोचन, उपस्थेन्द्रियस्पर्शं न करना आदि शिक्षा नहीं किन्तु सत्या गाय राने, भास्तिक बनाने और वर्णमङ्कर करने की है॥

प्रत्यक्षर-इस शिक्षा में इतने प्रमाण दिये गये हैं, दखो सत्यार्थप्रकाश
पृ० २८ पं० ३ में:-

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोबदः शतपथ ।

फिर पृ० ३० पं० १५ में:-

गुरोःप्रेतस्यशिष्यस्तुपितृमेधं समाप्तमनु और पृ० ३४ पं० ५ में
सामृतैःपाणिभिर्दनन्तिगुरवोऽमहाभाष्य । पुनःपृ० ३५ पं० ७ में
यान्वरुमा कक्षुं सुवरितानित्वयोऽतैक्ति० अपरज्ञपं० २३ में
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं
मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनु ॥ और वही पं० २७ में:-

माता शश्रुः पिता वैरी, येन वालोन पाठिनः । चाणक्य ।

इन के अतिरिक्त पुस्तक बढ़ने के भय ने भाषा में जितनी बात है
कि प्रायः शास्त्रों का मार है, परन्तु आप को ती योनिसंकोष का द्वेष उप-
स्थेन्द्रियस्पर्शत्याग का द्वेष है, किर भला आप की शिक्षा के होने हुवे स्थिरों
को प्रदादि रोग और पुष्यों को स्पर्शांविशय से प्रमोहादि रोग क्यों न हों ।
आप ने तो देश को रमातल पुहुंचाने में अपनी शक्ति भर उद्योग करना ही,
इतने पर भी यदि इस देश के लोग वैदिकधर्म की आर प्रतिदिन उत्तमाह
को छढ़ाते ही जावें, जनायों का पाँलन, ब्रह्म चर्य की प्रणाली का सुधारा,
संस्कृत की शिक्षा भीर देशहितैपिता फेलती ही जावें तो आपका एवा दोष ।
आप ने ती अपनी करना में कमर न की भीर न करोगे परन्तु इतने पर भी
यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सत्यमङ्गलप सुफन होते ही जावें तो
आप तो अन्त में कहियेगा ही कि शाहौ युग का प्रसाव है ॥ ॥ ॥ परन्तु न
जाने जो वैदिकगार्ग के प्रचार में बाधा डालते हैं वह युग का प्रसाव है वा
वैदिकधर्म का प्रचार और उस की दिनांदिन उत्तरियुग का प्रसाव है ? मस्तु

**यह दयानन्द तिं० भा० का खण्डन और सत्यार्थप्रकाश
के द्वितीय समुल्लास का मण्डन समाप्त हुवा ॥**

गोदम्

अथ तृतीयसमुल्लासखण्डनम् ॥

द० तिं शा० प० २१ पं० ४ में सत्यार्थप्रकाश के प० ३८ पं० १२ से उद्धृत करके लिखा है कि—

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् । मन०

स्वामी जी लिखते हैं कि द बैंवर्ष उपरान्त लड़के लड़की घर में गरहैं पाठशाला में जाते, यह जातिनियम और राजनियम होना चाहिये, जो इस के विरुद्ध कर्तव्यान्य हों इत्यादि । इस पर समीक्षा करते हुवे पं० जवालाम्प्रसाद जी लिखते हैं कि इतना लम्बा छोड़ा अभिप्राय कौन से भक्तों में निरालुता है ? इन्हों अभिप्रायों ने नवधिक्षितों की बुद्धि पर परदाहाला है किर “मध्यनिदनेऽर्थरात्रे वा” इत्यादि मन० ७ छांक १५१ । १५२ लिख कर कहते हैं कि यह राजप्रसरण है, राजा को योग्य है कि अद्वैतात्रि वा दोपहर को विश्रामयुक्त हो गम्भिर्यों सदित धर्मे अर्थे काम का विचार करे वा आप ही । अपने कुल की कन्याओं के विवाह और कुमारों के विनायादिरक्षण का विचार करे । स्वामी जी का तात्पर्य इस में किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता । स्त्रियों का यज्ञोपवीत गहीं होता तब ग.यत्री का अधिनार क्षम है ? आप ने गायत्री पढ़ना लिख दिया तो यज्ञोपवी । भी क्यों न लिख दिया, सप्तांशी तो आप के लेख को पत्थर की लहाने सज्जे हो इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह छांक राजप्रकरण का है और यथा यथा में है ही, तो राजा को अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा का विशेष विधान करना किम लिये लिखा, जबकि प्रत्येक प्रजा गणस्य पुरुष का भी कर्तव्य है कि वह अपनी कन्याओं के सम्प्रदान कीर कुमारों की रक्षा करें । तात्पर्य यथार्थ में यही है कि राजा आनंद प्रजा का पितृतुल्य रक्षण है, इसी लिये आप की विवहाद्वितीयों में कन्यादान के पूर्व, यिस को कन्यादान करना चर्चित है, यह निश्चय करते हुवे लिखा है कि—

“अथ कन्यादानं कुर्यात्पिता तदभावे माता

तदभावे भ्राता तदभावे राजा इत्यादि” ॥

अर्थात् कन्यादान में पिता उपरान्त के भ्राताव में गाता उपरान्त के भ्राताव में भ्राता उपरान्त के भी भ्राताव में राजा इत्यादि का भ्रष्टिकार है । इस से यह

उत्तरि स्पष्ट निकलता है कि यदि कोई भपनी सन्तान के विषय में अपने कर्त्तव्य को पूर्ण न करे, तो करने वाला न रहे तो वह कार्यराजा करे। बन यहाँ तात्पर्य लेने राजा को विशेष आज्ञा है कि वह प्रजावर्ग के पुन पुत्रियाँ के रक्षणाग्रिक्षणादि का प्रबन्ध करे। वह प्रबन्ध दो प्रकार से हो सकता है १-पितृवर्ग जीवित और योग्य हों तो जाति वा राजा का नियम रहे जिसे वे उल्लङ्घु । न करें और २-दूसरा यह कि उन के अभाव में राजा व्यवधान करे। अब बताइये स्वामी जी ने इस में क्या मिला दिधा । ८ वर्ष का तात्पर्य मनु के उन श्लोकों से निकल आता है जो उपग्रहण की अवस्था बताते हुवे मनु ने लिखा है कि:-

गर्भाद्युमेऽद्वे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनाशनम् । इत्यादि मनु २।३६

कन्याओं को यज्ञोपवीत न होने से गायत्रीमन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं तो लाजाहोम के समय “यथं नार्युऽब्रुते लाजानावपन्तिका आयु-
ठमानश्च मे पतिरेखतां ज्ञायतोमम् स्वाहा” । और प्रतिज्ञा के समय विवाह में “ममज्ञान्तु विश्वेदेवाः” इत्यादि वेदमन्त्रों के पाठ का अधिकार कहाँ से आ जायगा और ऐसी पुरुष की सहधर्मिणी कीने मानी जायगी और:-

ब्रह्मवर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अथर्वा०

के अनुसार कन्या ब्रह्मचारिणी होवे यह पाया जाता है, तब आप कन्याओं के ब्रह्मवर्य वेदाध्ययन से ऐसे काँचों चौंकते हैं। क्या आप के पास कोई वेद का प्रमाण है कि स्त्रियों को ब्रह्मवर्य और वेदपाठ का अधिकार नहीं? द्विज काहने से जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का आप भी यहण करते हैं और द्विज का वर्धे दो जन्म वाला है अर्थात् एक जाता के उद्दर से प्रकट होना दूसरा गुरुकुल में प्रकट होना, तो इस पूछते हैं कि जब जन्म और संस्कार इन दोनों से द्विज बनता है और आप के मत में कन्या कम द्विजत्रिमस्पादक संस्कार नहीं होता तो:-

उद्वहेत द्विजोभार्या० सवर्णा० लक्षणान्विताम् ॥

जिस का अर्थ स्पष्ट है कि द्विज, लक्षणवती रुक्णी भार्या से विवाह करे। सवर्णों का अर्थ समानवर्षा वाली है। वर्ण ४ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं जिनमें से पहले ३ द्विज इस लिये हैं कि उन के दो जन्म होते हैं तो बताइये तो सही कि कन्या के दो जन्म नहीं हुवे और जन्मी और

गायत्री इन दो मात्राओं को जो कन्या प्राप्त नहीं हुई वह द्वितीय के बोगी और जो कन्या द्वितीय नहीं वह द्वितीयों की सवणार्ह के से हो सकती है और सवणार्ह से द्वितीयों को विवाह विहित है गौ आप के गत में द्वितीयों को कन्या छो न भिलेगी। अब खियों के वेदपाठाधिकार में प्रमाण सुनिये:-

१-इमं मन्त्रं पत्रा पठेत् ॥ श्रौतसूत्र ॥

इम मन्त्र को पट्टी पढ़े ॥

२-वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत् ॥ श्रौतसूत्र ॥

खी को पुस्तक देकर वेद बैचवावे ॥

**३-अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुमैत्रेयी च
कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी व्रह्मवादिनी वभूष ।**

द्वादशारण्यक । याज्ञवल्क्य की दो खी थीं मैत्रेयी और कात्यायनी इन में मैत्रेयी व्रह्मवादिनी थीं । यदि खियों को वेदपाठ का धायिकार नहीं तो मैत्रेयी व्रह्मवादिनी के से हुई ॥

**४- शङ्कुरदिग्बिजय में मण्डनमित्र की खी ने शङ्कुराचार्य से कहा कि-
अपि तु त्वयादा न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पति-
र्यदहम् । वपुरद्वृमस्य न जिता मतिमन् अपि मां वि-
जित्य कुरु शिष्यमिमम् ॥ ५६ ॥**

हे शङ्कुराचार्य ! आपने मेरे प्रसिद्धायणी पति को अप्ती पूर्णे नहीं जीता क्योंकि उम का अर्धदेह में हूं गब सुके भी आप जीत लें तब मेरे पति को शिष्य करें ॥

शङ्कुराचार्य ने उत्तर दिया कि:-

**यदवादिवादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यवले । तद-
सामप्रतं न हि महायशसोमहिलाजने नकथयन्तिकथाम् ॥५८॥**

तुम शास्त्रार्थ करने को चाहती हो परन्तु महायशस्वी लोग खी से शास्त्रार्थ नहीं करते ॥

उम ने उत्तर दिया कि- .

स्वमतं प्रभेत्तुमिह योग्यते सवधूजनोस्तुयदिवास्तिवतरः ।

यतितत्यमेष खलु तस्यजये निजपक्षरक्षणपरैर्भगवन् ॥५९॥

भगवन् ! जो अपने मत का गणहन वरे आहे खी हो वा पुढी, अपने पक्ष वीरक में तत्परों को भवश्य उसके विजय करने में प्रयत्न करना उचित है।

इस के अतिरिक्त उस समय विद्याधरी ने ब्राह्मीन उपर में ती खी पुरुषों में शास्त्रार्थ होने का प्रमाण दिया कि-

अनुग्रहगार्यमिधय कलहं सहयाज्ञवल्क्यमुनिराङ्करोत् । जन-
कस्तथा सुलभयाऽनलयाकिममीभवन्ति न यशोनिधयः ॥६१॥

इसी लिये यज्ञवल्क्य ने गार्भी से और जनक ने सुलभा से शास्त्रार्थ किया था। क्या ये लोग यशस्वी न हो ? ॥६१॥

इस पर शङ्काचार्य को चत्तर न आया और शास्त्रार्थ स्वीकार करना पड़ा। और उस शास्त्रार्थ में श्रुति (बैद) के वाक्यों पर विवाद हुआ। परा-
अयसाकथा प्रवत्तेस्मतयोरुभयोः परस्परजयोत्सुकयोः। मति
चातुरी रचितशद्वभरी श्रुतिविस्मयी कृतविचक्षणयोः ॥६३॥

तब वह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ जिस में एक दूसरे के विजय करने को उत्सुक था। और बुद्धिवातुर्य, शठदगारभीय और श्रुतिप्रमाण आश्वर्य दायक थे। ६३।

अब बताइये कि खी को बेद पाठाधिकार न पाती बेदविषयक शास्त्रार्थ विद्याधरी गार्भी और सुलभा ने कैसे किया। परन्तु हाँ, इतना पना भवश्य लगता है कि शङ्काचार्य जो प्रथम शास्त्रार्थ करने में हिचकिचाये और टालना चाहा, इस से प्रतीत होता है कि उस समय जब कि शङ्काचार्य हुए तब भी खी जाति की अपतिष्ठा आरम्भ हुई थी, परन्तु जब का विद्याधरी ने प्रमाण दिया कि जनक और यज्ञवल्क्य ने खीयों से शास्त्रार्थ किया उस उसम समय में निस्सन्देह आप जैसे लङ्घीर्णहृदयों का जन्म न होने से देश का सौभाग्य पा कि खीयों को भी बेदपाठाद्याधिकार समान ही प्राप्त थे।

५-इडश्च । अष्टाध्यायी ३ । ३ । ११ महाभाष्यम्-इडश्चे-
त्यपादाने स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम् । इडश्चेत्यत्रापादाने
स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यं तदन्ताच्च वा ढीष्वक्तव्यः ।
उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी, उपाध्याया ॥

देखिये इस उदाहरण में उपाध्यायी वा उपाध्याया उपर खी का नाम है

जिस के पास जाहर (नडितियां) बैद पढ़ें। यदि इसी को पढ़ते का अधिकार नहीं तो पढ़ने का अधिकार कहां से होगया। और यदि कत्य पाठशाला की उपाध्याया वा उपाध्यायी से कन्यायें पढ़ने को जावें तो क्या लड़के उन से पढ़ने को जावें? क्या कहीं यह लेख है कि लड़के लोग उपाध्याय से न पढ़ कर उपाध्यायी से पढ़ा करें? यदि नहीं तो कन्या ही “रवेत्याधीयते” गर्षात् उपनीत होकर पढ़े, यह तत्त्व दुवा और यह पाया गया कि कन्यायें भी उपाध्यायी के पास जाने हों उपनीत होती थीं जैसे लड़के उपाध्याय के पास॥

६-अनुपर्जनात् । अष्टा ४ । १ । १४ ॥

महाभाष्यम्-आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ॥

इस से सिद्ध है कि ख्यायां भी गुदकुल में जाकर वेदगाखा आदि पढ़ती थीं। इस मूल पर दूसरा चक्रहरण है यिः -

७-काश्कृत्सनना प्रोक्ता मीमांसा काश्कृत्सनी । काश- कृत्सनीमधीते काश्कृत्सना ब्राह्मणी ॥

इस से भी सिद्ध है कि काश्कृत्सन ऋषिकृत मीमांसा को पढ़ने वाली ब्राह्मणी का नाम काश्कृत्सना होता था। मीमांसा शास्त्र में वैदिकसन्त्रो वा कर्मों को मीमांसा होती है॥

इस प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि भार्या सप्तम में कन्यायें उपाध्यायी के पास उपनीत होती थीं और उपाध्यायी उन्हें पढ़ाती थीं। पत्नी यज्ञ में गन्त्रपाठ करती थीं। वधु विवाह में गन्त्रपाठपूर्वक लाजाहोम करती है। तो भवश्य है कि उन का उपनयन मन्त्रोपदेश और स्वाध्यायादि होता था जैसा कि स्वामी जी ने वेदशाखानकूल लिखा है॥

गायत्रीप्रकरण

सत्यार्थप० प० ३८ प० १२ स्वामी जी ने गायत्री और अर्थ संक्षेप से लिखे हैं और वहां “सूरिनि वै प्राणः” इत्यादि तैत्तिरीय के प्रमाण दिये हैं उस पर-

द० तिं भा० प० २२ प० २१ मे—समीक्षा-दयानन्द जी ने गहाव्याहतियों के अर्थ में भी गोलमाल करा है। तैत्ति० के नाम से स्वयं कल्पना की है इत्यादि

मत्युत्तर-स्वामी जी ने कुछ गोलमाल नहीं किया। आप को “कुर्यात्मवैश्य खस्तनम्” का व्याप्त हो गया है। इस प्रसङ्ग में तो आप बड़े ही चक्र ने

गाये हैं। जो गर्थ स्वामी जी ने किये हैं वही आपने भी तो किये हैं किरणालमाल उच्छवेने की है वा आपने। देखो ३० तिथि भा० ४० २४ पं० १। २ “मूरिति वे प्राणः भुव इत्यपान्” तैत्ति० अनु० ५ फिर आप केने करते हैं कि स्वामीजी ने स्वयं कलाना की है। “सति॒तु” का अर्थ स्वामी जी ने “सर्व॑
रूपादक” किया है वही आप ने ३० तिथि भा० ४० २५ पं० २० में लिखा है कि “सवभात्सविता” रूपादक होने में “सविता”। “विषः” का अर्थ स्वामी जी ने “बुद्धियोव॑त्ति॒” किया है वही आप ने ३० तिथि भा० ४० २५ पं० ९ में “बुद्धियोवैधियः” बुद्धियों धी है, ऐसा लिखा है। आप सविता शब्द से अपने दिये प्रमाण के विषद्व सूर्यलोक का यहण करेंगे और गायत्री से सूर्य देव की भौतिक उपासना मिहु करेंगे तौ आपने ही जो विश्वारपूर्वक गायत्री मन्त्र में भाये “भर्गः” पद का अर्थ लिखा है कि-

**भद्रतिभासयतीमान् लोकान् । रङ्गतिरञ्ज्यत्यर्थं मातिभतानि ।
गङ्गतिगच्छन्त्यासमन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः ॥**

इस का अर्थ भी आपने ४० २५ पं० ५ में लिखा है कि—“सुपुस्तिप्रबोध वा महाप्रलय, उत्पत्ति काल से गर्थ प्रजा, परमात्मा में लीन होकर उत्पन्न होनी है”॥

देखिये आपने भी यहाँ “भर्गः” शब्द के अर्थ में परमात्मा का यहण किया है। इस से मिहु बृह्या ति स्वामी जी ने जो अर्थ किया है वह मङ्गत और शाश्वतकून होने के अतिरिक्त आप के पुस्तक से भी पुष्ट होता है। यह दूसरी बात है कि आप ने पा॑र्यगडत्यपकाशन॑र्थे व्याहृतयों का अर्थ करते हुए तैत्तिरीय का पाठ बहुत सा भरदिया और आचिनीतिक आधिदेविक आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ लिख दिये और स्वामी जीने वे मन अर्थ न लिखकर संक्षेप से एक अर्थ लिख दिया जो ब्रह्मस्थ में चरयोगीय। और उन्होंने सत्यार्थप० ४० ३८ पं० २२ में ग्रथम ही लिख दिया है कि अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ “संक्षेप” से लिखते हैं। इस लिये उपर पहले तूकान गच्छाना और तैत्ति० का अहृत पाठ लिख गारना और वृथा लिखना कि रव. सी जी ने अपनी कहणना तैत्ति० के नाम से की है, सब अनर्थ और अनत्य है। और आपने जो:-

**खल ॥ तमनोत्मा नेत॑ मृताश्वश्रेता मन्ता गन्तोत्सुष्टानन्द-
यिता कर्त्ता वक्ता रसयिता द्वाता द्रष्टा श्रोता सप्तशति॒ च ॥**

शीर

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह । इत्यादि-

लेख ने बृहदारण्यक के इस पाठ को गोड़ दिया है कि:-

आत्मेत्ये रोपानीतात्र ह्येते सर्वएकं भर्वान्ति । बृह० अ०३ ब्रा० ४४ ॥

सो आपने चातुर्य नहीं किया जिन्तु खुम्ल खुम्ला भूत लिया है । भला पूर्वोक्त पाठ का इस से क्या सम्बन्ध । धन्य ! महाराज ! आपने इसी वास्ते अपने पूर्वलेख (खर्वात्मगात्मा नेता) का पता जान बूझ कर नहीं लिखा जिस से कोई पता न चला । लेवे, भला इस प्रकार के चातुर्य ने कभी सत्यार्थप्राप्ता शका खण्डन वा विद्वानों की आखों पर धूजफें ह दर कार्यविद्विहोमकती है ? वा अद्वैतपक्ष सिद्ध हो मरना है ? कभी नहीं । तथा पि हम आप के बेपते लेख का गर्य फरके भाषप को दिखाते हैं कि इस में अद्वैत का क्या वर्णन है :-

(भास्मनः भास्मा नेता) भाषप के ही लेखनुसार भास्मा अर्थात् शरीरे निष्पसंधात का जो नेता आत्मा है वही चेता मन्ता गन्ता चतुर्लष्टा भानन्दः पिता कर्ता वक्ता रमपति भ्राता द्रष्टा श्रोता और स्पष्टा है । भला इस से द्वैत अद्वैत का क्या भिन्न हुआ ? शीर दूषरे वाक्य:-

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह । अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिप्रति रसयति चैत्र स्पर्शयति सर्वमात्मा जानोतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्नक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किंतद्वाच्यम् ॥

का अर्थ यह है कि-व्यापक आत्मा देह में घुमा है, यह कहते हैं । जब द्वैतीभूत ज्ञान होता है तब समझा जाता है कि आत्मा सुनता, देखना, संघना, चखना और लूना है तथा सर्व को जानता है, परन्तु जब अद्वैत अर्थात् देहादि द्वैतीय पदार्थों से सम्बन्ध छूट जाता है तब कार्य कारण कर्म से निरुक्त, यचन उपमा और नाम से रहित किम् और तद् शब्द का जो वाच्य नहीं होता । तात्पर्य यह है कि आत्मा में देखना, सुनना शादि व्यवहार, निर्देश, देवदत्तादि नाम-शरीरसम्बन्ध से बनते हैं, केवल में नहीं । भला इस से जीव ब्रह्म की एतता जानेकता क्या निकलती है ? कुछ नहीं ॥

द० तिद० भा० १० ए० २३ प० २५ दयानन्द जी ने सत्यार्थप० प० ६०१ में बढ़ों

को ११२७ शाखा व्याख्यानकृत बताई हैं, परन्तु गायत्रीमन्त्र के अर्थे करने में किसी भी व्याख्यान को रीति से न लिखा। तथा वेदों की शाखा ११३१ है उन्होंने महाभाष्य के विस्तृत व्यूत लिखी है ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने संक्षेप के कारण आप के मध्याग तेतिरोय शाखा का पाठ नहीं जारा पान्तु जितना लिखा है वह सब तेतिरीग के अनुकूल है। इस ऊंच वर्णन कर कुक्कुट है कि जो भर्त्य स्वामी जी न लिखे हैं वही आपने भी लिखे हैं। हाँ, उन्होंने यकरणमुकूल संक्षेप से और आप ने प्रकरणविस्तृत विस्तार में लिखा है। तेर्तीयों की ११३१ शाखा भी भी ४८ महाता मूल वेद भी भास्तर्गत गिना है उन का प्रश्न करके स्वामी जी ने ११२७ गिना है है, मगाक एवं देखिये ॥

४० तिं० भा० प० २० प० १ स्वामी जी ने मवितृपद का दयाख्यान यह लिखा है जो (सुनोस्युत्पादयति सर्वं जगत् म मविता) दयानन्द जी ती आपने को निघण्टु निरुक्त का परिवृत जानते हैं फिर यह विस्तृत अर्थ यों लिखा। क्योंकि निरुक्त अ० ५ खं० ४८ में मवितृपद का दय ख्यान यह है ४८ (मविता पु प्रमवैष्यर्ययोः भू० ५० तु चिं मविता सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना अभ्यनुज्ञाता ।) पु भातु प्रमव और ऐश्वर्य अर्थ में है। प्रमव नाम अभ्यनुज्ञान का है अर्थात् फल देने वाले कर्म का स्वीकार करना। सो मविता देव वृष्टिरूप फल देने वास्ते यावत् प्राणीवर्ग के कर्म को स्वीकार करता है और ऐश्वर्य नाम प्रेरणा का है मो मविता देव सर्वजग्मुसात्र को कर्म में प्रवृत्त करता है। तब निरुक्त के मत में “सुनातीति मविता” होता जाहिये और दयानन्द जी ने “सुनाति” यह प्रयोग रख कर “चतुपादयति” अर्थ लिखा है जो पाणिनिलिखित धातुर्थे में विस्तृत है क्योंकि “सुनाति” धातु का अर्थ भविष्यत है। “भविष्यत” नाम कशडन का है मोमवस्त्रो का रम निकालने में उम का भविष्यत नाम कशडन होता है। स्वादिगणी पुञ्च धातु का अर्थ उत्पादन नहीं। इस से पाणिन के भी विस्तृत है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप ने जो पाठ निरुक्त अ० ५ खं० ४ का लिखा है वह न तो निगमकाशङ्का अ० ५ खं० ४ में है और न देवतकाशङ्का अ० ५ खं० ४ में लिखा है। अतः या तौ आप पता भूले या अन्य कुछ कारण हो इस लिये जब तक निरुक्त में इस पाठ का पता प० उच्चालाप्रसाद न लगायें तब तक उत्तर देना डर्यहै। रहीं यह बहत कि निरुक्तकार के मतागुमार भवादिगणी औ प्रवृत्तर्थयोः धातु का प्रयोग “सुवति” होता है “सुनाति” तहीं, इस का उत्तर

यह है कि प्रगत तौ आप का लिखा गिरफ्त का पाठ उस पते पर भूल में उपस्थित नहीं जो पता आपने छापा है, इस के अतिरिक्त गिरफ्तकार ने कहीं धातुओं के गण भी नहीं बताये हैं कि ऋषादि आदि में से अमुकगणी धातु का प्रयोग है इस लिये आप का (भू० प०) लिखा अमङ्गत है । निरुक्त में केवल प्रयोग से गण पहचाना जाता है जो आप के असत्यपते के निरुक्त में भी सुनोलि वा शुवति इन दोनों में से कोई प्रयोग भी नहीं है ती आप के लेखानुसार भी स्वामी जी का "सुनोति" प्रयोग निरुक्त के विरुद्ध नहीं प्रभीत होता । और पाणिनि का जो आप प्रमाण देते हैं कि पाणिनि ने स्वादिगणी युज्ञ धातु का अर्थ अभियव लिखा है, तत्पादन नहीं, इसका उत्तर यह है कि सहात्मा जी पाणिनि जी ने अभियव अर्थ तौ लिखा है परन्तु यह ती नहीं लिखा कि अभियव का अर्थ तत्पादन नहीं वा कुछ अन्य अमुक अर्थ है अर्थ समझना हमारा आप का काम है । जो सबस्त्री के रस निकालने में इस धातु का प्रयोग होता है ती यह ती समझिये कि रस निकालना वा रस उत्पन्न करना इस में क्या भेद है ? कुछ नहीं । रस निकालने का तात्पर्य भी तौ यही है कि जो सोमरम का उत्पन्न करना । इस लिये स्वामी जी का लेख पाणिनि के विरुद्ध नहीं और आप ने जो " सुप्रसबैश्वर्ययोः " धातु को भू० प० लिखा क्या यह अदादि गण में नहीं है ? जब यु धातु ऋषादि अदादि और स्वादि तीनों गणों में है ती स्वादिगण में गण का आदि होने से मुख्य है । ती "मुख्यमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंग्रहयः" के अनुसार स्वादिगणी का ही यह शब्द भी चाहिये, जैसा कि स्वामी जी ने किया है ॥

४० तिं भा० ए० २८ पं० १६ से लिखा है कि स्वामी जी ने देहगद की उपत्यक्ति में "दीव्यति दीव्यते वा" यह दो प्रयोग लिखे हैं, परन्तु दिव धातु परस्मैपदी है उस का दीव्यति प्रयोग होता है किन्तु आत्मनेपदी न होने से "दीव्यते" प्रलाप है । यदि कहो कि कर्म में प्रत्यय मान कर आत्मनेपद दीप है जो भी नहीं क्योंकि ऐसा होता तौ स्वामी जी को "यः" के स्थान में कर्तृपद "येन" लिखना था । यदि कहो कि उस पक्ष में यः यह कर्मपद परमात्मा का वाचक है जो प्रकाश्य जड़ जगत् है जो ऐसा करने से प्रकाश्यता में जश्ना है इवर में आवेगी क्योंकि ईश्वर प्रनाय का कर्ता है न कि प्रकाशित कर्म । और देवप० कर्तृप्रकरणस्थपत्ति दिगण में पहा है कर्मवाच्य में नहीं और (सब सुधाँ का देने हारा) यह देवप० का अर्थ नहीं हो

सकता क्योंकि दिवु धातु के १० अर्थों से सुख देना अर्थ नहीं है । दयानन्द जी ने यह अर्थ वस्त्रना कर लिया इत्यादि ॥

द्रष्टुत्तर-दीव्यते प्रयोग यथार्थ में कर्मवाच्य है और यहो भारण भास्मने पद लिखने का है और प्रकाश “प्रकट होने” को भी कहते हैं क्योंकि परमात्मा भक्तों के छृदय में प्रकट होते हैं, इस लिये प्रकाश फिया के कर्म भी कहे जा सके हैं, इस में कुछ दोष नहीं । पचास दिगण में कर्तृवाच्य लिखने से हमारी इन नहीं क्योंकि स्वरामी जी ने कर्तृवाच्य अर्थ भी तौलिखा ही है । कर्तृवाच्य अर्थ में “यः” है ही कर्मवाच्य में कर्तृपद अप्रयुक्त “येन” का अध्याहार हो-जायगा । “मब सुखों का देने वाला” यह पदार्थ नहीं किन्तु भावार्थ है । दिवु धातु का “सोद-भागन्द” अर्थ है ही, बस स्वरूप भागन्दस्त्ररूप है वही अपने भक्तों को सब सुख दे सकता है । इस लिये स्वामी जी का तास्पर्य गिर्दीप है ॥

अथाचमनप्रकरणम्

स्वामी जी ने जो आचमन का फल कथात्स्यकफ़ और पित्त की निवृत्ति लिखा है और जलाभाव में आचमन की उपेक्षा की है, मार्कन से भालस्य दूर होना लिखा है उस पर ८० तिं ८० भा० पृष्ठ २८ पं० ९ से लिखा है कि ‘यदि आचमन का प्रयोगन यह है तौ क्या सभी लोग सन्ध्याकाल में कफ़पित्त घमित होते हैं ? और सब को भालस्य और निद्रा ही दबाये रहती है ? यह निद्रा का समय नहीं और जल से कफ़ की निवृत्ति नहीं किन्तु बुद्धि होती है और ऐसा ही है तौहाथ में जल लेकर ब्राह्मतीर्थ से ही आचमन की क्या भावश्यकता है । और भालस्य दूर करने को हुलास की चुटकी ही क्यों न सूंघ ली जावे ? गथवा चायवा काफ़ी पीलें, वा एमोनियर्स की शीशी पास रखें और स्नान करने से ही भालस्य न गया तो मार्कन से क्या होना है । इस ऐ स्वामी जी का लिखना मिश्या है । मनु के शनुमारआचमन की विधि गीचे लिखते हैं कि आचमन से आभ्यन्तरशुद्धि होती है । यथा—८० २

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेननित्यकालमुपसृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ४८ ॥

अहगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमहगुनिमूलेऽग्ने दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ४९ ॥

इत्यादि ६०। ६१ और ६२ तक पलोंक हैं जिनका तात्पर्य यह है कि विष्र
का ब्राह्मणाय वा देवतीय में आचमन करना, इत्य में नहीं। ५८। अङ्गुष्ठ
मूल में ब्राह्म, अङ्गुष्ठमूल में ब्राय, अङ्गुष्ठल्यों के अय भाग में दैव और
उन के नीचे पितृ सीधे हैं। ५९। प्रथम तीन आचमन करे फिर दोबार मुख
धोंवे और जल में इन्द्रियां देह और शिर को लुबे। ६०। फेन और रुद्धाता
रहित जल में उचित तीर्थ में धर्मसंज्ञा शौच चाहने वाले को मदा एकान्त में
नज़र मुख्य स्थ होकर आचमन करना चाहिये। ६१। ब्राह्मण मुख्यत जल में,
शक्तिय कश्टगत, धैश्य जिह्वागत और शूद्र स्पर्श में शुद्ध होता है। ६२। आप
के चेले ती कोट पलून पहर कर मन्त्र्या करेंगे फिर स्नान कौन करेगा और
मन्त्रा परिक्षण किस को करे आप को वा मन्त्रार्थप्रकाश को ? क्योंकि
परिक्षार इंश्वर की परिक्षणा आसंभव है। (अपां सार्पीये) मनु में लिखा है कि
जलाशय पर गायत्री जपे, परन्तु आप के मत में ती कफने घेरा हुवा पुरुष
कोठी बहुले हीं ये करेगा इत्यादि ॥

मन्त्रुत्तर-कगठस्यकफ की निवृत्तिक्षण में घोड़ा जल पहुंचने से अवश्य
होती है। स्वर स्पष्ट हो जाता है। जल कफरोग को बढ़ाता है परन्तु यह
किसी रोग का ती हलाज नहीं किन्तु सामान्य प्रकार से कगठ में कफ रहता
और गल्जोंचारणादि में वहां का कफ बाधक होता है। वह निवृत्त हो
जाता है। यदि जल तरहोने से कफरोग को उत्पन्न करता है यह नियम हो
ती जितने वेद्या के प्रयोगों में गिंग्री, गुड़, शहद, गुडूची आदि तरथस्तु खांसी
के रोग में प्रयुक्त की हैं, सब व्यर्थ हो जावें। यथार्थ में तरी के द्वारा दोषका
नाश नहीं करना है किन्तु उसे शान्त रखना आभीष्ट है और आप ने जो
मनु के ल्लोक लिख दिये उन से स्वामी जी के लिखे फल का निषेध तौ नहीं
आया किन्तु आचमन के प्रकार का वर्णन है और ब्राह्मणादि वर्णों की
नजररोत्तर न्यून जल में शुद्धि का प्रयोगन यह है कि आपने २ वर्णानुमार
उन को उत्तरो २ शुद्धि भी न्यूनाधिक ही अपेक्षित है। ब्राह्मण को उत्तर
होने से जितनी शुद्धि अपेक्षित है अन्यों को क्रमशः उस से न्यून अपेक्षित
है, इत्यादि प्रकार से कारणवाद सर्वत्र खोजा जासकता है। हम आप से
यह पूछते हैं कि स्वामी जी ने कर्म तो वे २ लिखे ही जिह्वे आप भी मानते
हैं परन्तु उस को पुष्टि के लिये यदि स्वामी जी ने कुछ युक्ति भी लिखदीं तौ
क्षमा दीय हो गया ? और स्वामी जी के लिखने को तो आप न मानियेगा

परम्पु वेदवचन को कैसे न गानियेगा । देखिये यजुर्वेद । ३६ । १२ ॥

शक्तो दंत्वा राभष्टु आपोभवन्तु पातये । शंयोरभिस्त्रन्तु नः

इस का आध्यात्मिक अर्थ तो पञ्चमहायज्ञविधि के लिखे अनुसार है पात्तु शाखिदैविक और भौतिक अर्थ पर दृष्टिपात कीजिये-देव्य आपः नः पीनये शं तवन्तु । नोऽस्मान् भभिष्टुये शंयोरभिस्त्रवः तु । अर्थात् दिव्यजग्न हमारे पीने के जिये सुखदायक हो और वह हम को मनोवाचिदित सुख को वर्धावे । तात्पर्य यह है कि उत्तम दिव्य जल से (जैसा कि मनु श० २ छोड़ ६१ में स्वच्छ जल से आच्छन लिखा है) आच्छनादि करने से सुख को प्रसंहोती है । अर्थात् शारीरिक सुख त्रृप्ति शान्ति आदि के लिये जल को प्रयोग में लाना चाहिये । यही कारण इस मन्त्र के आच्छन करने से विनियोग होने का है और आलस्यर्तवृत्त्यर्थ मार्जन पर जो आप ने लिखा कि क्या सब को आलस्य दबाये रहता है ? और स्नान में आलस्य दूर न हुआ तो मार्जन में क्या होगा । महाशय ! प्रथम तौ यह बात है कि जल के छोटा पहने से जैसी चेतनता होती है उम प्रकार की स्नान में नहीं होती दूसरी बात यह भी है कि भलो प्रातः सन्ध्या में तो स्नान करके बैठते हैं परन्तु मार्यमन्द्या में स्नान का गियर नहीं देखा जाता और तीसरी बात यह है कि जाड़े में भी एक बार नित्य स्नान करना उत्तम कर्म है और गरमी आदि में दो बार वा जितने बार में देह शुद्ध रहे । परन्तु स्नान की कर्तव्यता, मन्द्याकी कर्तव्यता के बराबर नहीं रखी गई । जिस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में-

नतिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमाम् ।

सशूद्रवद्विष्टकार्यः सर्वेस्माद्विजकर्मणः २ । १०३ ॥

दोष लिखा है कि “प्रातः सायं सन्ध्या न करे उसे शूद्र तुल्य बाहर किया जावे” इस प्रकार मन्त्रादि किसी धर्मशास्त्रकार ने प्रातःसायं स्नान न कर सकने वा न करने वालों को अस्त्व करना नहीं लिखा इस में इमारा यह तात्पर्य नहीं है कि स्नान कर्तव्य नहीं किन्तु सन्ध्या के बराबर नहीं । अर्थात् स्नान १ के स्थान में १० बार भी करे और सन्ध्या न करे तो पतित ही हो जायगा । परन्तु स्नान न करके भी सन्ध्यापासन कर लेने बाल्फर पतित नहीं हो सका तौ सन्ध्या के अङ्ग आच्छन मार्जनादि में स्नान से व्यर्थता लिखना ठीक नहीं । ब्राह्मतीर्थ से सुगम और उत्तम रीति से आच्छन हो

मक्ता है भीर धर्मशास्त्र ने भेद भी भिन्न २ कर्गों के करदिये हैं इस लिप्तात्मा तीर्थ से आधमन करना अन्य रीति की अपेक्षा उत्तम है। हुलाम की चुटकी से आलस्य दूर करने की विधि सन्ध्याकाल में सड़छाल्हों में होती तौ वह पां याननीय होती। परन्तु स्वामी जी का तौ प्रयोगन यह था कि जो कुछ विधि शास्त्रानुकूल हैं उनको अनुकूल तर्क से पुष्ट किया जावे, न कि नई बात चलावें स्वामी जी के चेले कोट पतलून पहर कर तौ सन्ध्या कर लेंगे परन्तु आप के चेले तौ बेद शास्त्र सन्ध्या आवृत्ति सभी से छुट्टी पा गये और पाते जाते हैं। यदि स्वामी जी महाराज का पुष्टपार्थ न होता तौ अंगेजी शिक्षा के फैलते ही सब कर्म धर्म दूर हुवा था। धन्य है स्वामी जी को जो कोट पतलून वालों को गिरजों से बचाकर सन्ध्या सिखाएँ। परिक्रमा मन से परमात्मा की हो सकती है। परिक्रमा का वइ भर्णे नहीं जो आप ठाकुर जी की परिक्रमा रुमफते हैं कि बीच में ठाकुर जी को करके उनके चारों ओर घूमना। किन्तु परि=मव ओर, क्रम=चूमना अर्थात् मध्य ओर मग जावे और जहां जावे वहां परमात्मा को ही पावे, पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर ऊपर नीचे सर्वत्र परमात्मा को ही पावे। यह परिक्रमा है। (अपां मर्गीयेऽजलाशयों के किनारे हरिन शूक्ष पत्र पुष्टादि से रम्यस्थान में सन्ध्या करे और आप कोठीं बंगलों पर क्षों चिढ़े हैं। यदि कोठीं बंगलों में सुन्दर फठवःरे लगे हों, एकान्त हो, पुष्टादि के गमलों से सुसज्जित हो तौ क्या हानि है। इस प्रमङ्ग में शास्त्रीय प्रमाणों से कामन लेकर आपने ठठोलबाजी बहुत की है, अतः इस को अधिक लिखने की आवश्यता नहीं ॥

३० तिं भा० पृ० ३० पं० २२ से लिखा है कि स्वामी जी ने जो दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करना लिखा है सो क्या अधिक करने में कोई पाप है? परमेश्वर का नाम जितना अधिक लिया जाय श्रेवश्वर है इसलिये स्वामी जी का दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र का विधान ठीक नहीं ॥

प्रत्युत्तर-जब आप को त्रिकाल सन्ध्या का कोई प्रमाण न मिला तौ धन्य ! यही लिख दिया कि परमेश्वर का नाम श्रेवश्वर है। इस भी तौ कहते हैं कि परमेश्वर का ग्रितना अधिक रमरण करो अठड़ा है परन्तु प्रमङ्ग तौ यह है कि जिस सन्ध्योपासन के बिना किये द्विंश पतित हो जाता है उस का विधान तौ स्वामी जी के लेखानुसार ही शास्त्र से केवल दो काल में मिहु है। यूं तौ “ अधिकस्याधिकं फलम् ” के अनुमात्र त्रिकाल सन्ध्या की

अपेक्षा भी समस्त दिन उसकी उपासना करो तो क्या पाप है ? तब आप को श्रिकाल मन्त्र्या जो वेद और धर्मे श ख की मर्यादा से जिक्र आप में प्रवरित है उम को निर्मूलता स्वामी जी ने जिखी भी ठीक ही है ॥

३० तिं ३० चाठ० ए० ३० पं० २६ से लिखा है कि सन्ध्या ए० ४२ पं० १५ स्वाहा शठ॑ का यह अर्थ है कि जैसा ज्ञान आत्मा में विसा ही बोले । मनीक्षा-यह स्वाहा शठ॑ का अर्थ कीत से निहक्त से निकाला भला ऊपर जो आप ने लिखा है कि “माणाय स्वाहा” तो इसका यह अर्थ हुवा कि प्राण अर्थात् परमेश्वर के अर्थे जैसा ज्ञान आत्मा में होकर विसा बोले । भला यह क्या बात हुई इसमे हथन की कीत सी कला सिद्ध होती है । सुनिये स्वाहा अव्यय है जिस के अर्थ हवित्यागन करने के लिं जो देवगा के उद्देश से जग्नि में हवि दिया जाता है उम में स्वाहा शठ॑ का प्रयोग होता है जैसे “माणाय स्वाहा” प्राणों के अर्थ हवि दिया वा प्राणों के अर्थ श्रेष्ठ होन हो ॥

प्रत्युत्तर-स्वाहा शठ॑ के रूप स्वामी जी कृत अर्थ में प्रमाण सुनिये जो उन्होंने “पञ्चमहायज्ञविधि” में लिखा भी है:-

स्वाहा कृतयः स्वाहेत्येत्सुआहेतिवा स्वावागाहेतिवा स्वं प्राहेतिवा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा तिसामेषा भवति ॥

तिन्ह० देवत कां० चाठ० ८ खं० २० ॥

इस में से “स्वा वागाहेति” का अर्थ भी “पञ्चमहाय०” में लिख दिया है कि “यास्त्वकीया वाग्हानमध्ये वर्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रयेण सर्वदा वाच्यम्” । अर्थात् जैसा ज्ञान मन में हो दैसा कहे किन्तु बाहर भीतर में भी द करके कपट व्यवहार न करे । यह सी प्रामण हुवा । अब यह भी सुनिये कि प्राण मान परमेश्वर का है तो “माणायस्वाहा” का क्या अर्थ हुवा । इस का यह अर्थ हुवा कि परमेश्वर के लिये अर्थात् उम की प्रसन्नता के स्त्रिये सत्यही बोलना कपट न करना और उपने जो भावुति देना अर्थ लिखा है वह भी ठीक है जीर वह स्वामी जो ने भी “पञ्चमहायज्ञविधि” में निहक्त के “स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा” इस वाक्य का प्रमाण देकर लिखा है परन्तु यहां सत्यार्थप्रकाश में यह समझ कर कि पञ्चयज्ञ का विधिपूर्वक लेख नहीं पञ्चमहायज्ञविधि में है ही वहां सब लोग पढ़ कर जानलेंगे कि इसलिये अंक्षेप से सन्ध्योपासनादि की शिक्षा के प्रमङ्ग में थोड़ा सा लिख दिया । संक्षेप के

के कारण जैसा "पञ्चमहाऽ" में स्वाहा शब्द के कई अर्थ निरुक्त के प्रमाण मे लिखे हैं वे विस्तारभय मे यहाँ गहरी लिखे। और "स्वाहा अव्यय है" यह जो आप मे लिखा तौ क्या स्वामी भी मे इस के अव्यपत्ति का निषेध किया है? यदि गहरी किया तौ व्यर्थ आप क्यों पुस्तक बढ़ाते हैं?

८० तिं० भा० पृ० ११ पं० ८ से अग्निहोत्रविषयक सत्यार्थप० के लेख पर इतने आत्मेप हैं—

१-पञ्चपात्रों की आकृति वेद विनष्ट है ॥

प्रत्युत्तर-आप कृपा करके वेदोक्त आकृति लिखते तौ जाना जाता कि स्वामी जीने वेदविनष्ट लिखा। परन्तु आप के प्रमाणशून्य कथनगात्र मे कोई नहीं मान सका ॥

२-यदि अग्निहोत्र का फल जग वायु की शुद्धि है तौ घोड़ीमी जाहु-तियाँ मे क्या होगा किमी जादृतिये की दृकान मे आग लगाने जाहिये जल वायु की शुद्धि तौ प्राकृत नियम मे ही होती है बन मे आनेक सुग न्य पुष्ट वायु मे प्रसरण को स्वयं ही प्राप्त होते हैं। वायुशुद्धि गन्ध मे हो सकती है। जलशुद्धि निर्मली के बीज मे हो सकती है ॥

प्रत्युत्तर-इस भी आप मे कहै मक्ते हैं कि यदि अक्ष से सुधागिवृत्ति होती है तौ क्या किमी हलवाई की दृकान लूट खाहयेगा वा जानाजामश्छी का घर्षण करलेना उचित होगा? जैसे आप किमी की घृत की दृकान मे आग लगाने मे कहते हैं। प्राकृत नियम से जैः दुर्गन्धमुक्त पदार्थों के बदले सुगन्ध का प्रमाद परमात्मा करते हैं वे सेही गनुओं के उत्तरज किये गये दुर्गत फैलाना रूप पाप की निवृत्ति के लिये वा अग्नि वायु जल जादिमीतिकर्दवक्षण की निवृत्ति करने आरोप्त जलादि अशुद्धों को शुद्ध करने के लिये परमात्मा ने वेद मे हम का फल बताया है। यथा—

वसोः पवित्रमसिद्धौ रस पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि० ।

इत्यादि । यजुः अ० १ सं० २

"यज्ञो वै वसुः" शतपथ १।५।४।६। वसु जो यज्ञ है वह पवित्र है। पित्युग्यागुक्त है। विस्तार युक्त है, वायुगोधक है। मूल मन्त्र मे मात-रिश्व शब्द वायु के लिये है। "मातरिश्वा के वायुः" निः० ३ । २६ ॥ इत्यादि शतपथः प्रमाण वेदों मे यज्ञफल सूचक हैं जिन्हें विस्तारभय मे यहाँ कहाँ तक उद्धृत करें। गन्धक मे सुगन्ध है वा दुर्गन्ध जो यह भी नहीं जानता उस से

गम्भीर को गम्भीर हो जावेगी। निर्मली में जल की गहरी ही केवल नींदे थेठ सकता है, अम्बरीयकारक वस्तु गहरी। परन्तु वायु और जल तक की शुद्धि करके वज्र संपाद भर का उपकार करता है। यदि प्रत्येक सुख पूर्वार्द्धलक्षणियों के समान गी आदि पाले और नित्य हवन यज्ञ बरेती थोड़ा आहुति न रहे तिन्हीं ज रत के २० बारोड आर्यवंशियों की १०। १० आहुति मिल जाए २ अरब प्रतिशत की आहुतियों से समस्त देश में आगम्द मङ्गल ही जावे। पान्तु ब्रेद में तो देवताओं (जल वायु आदियों का दृत “अग्नि” लिखा है, जैसा कि हम ने ये लिखे गए और आप स्वयं देवदृत बगाकर सूर्य चम्भा आदि भौतिकदेवों के नाम की सामग्री पुनर्वाकर भपने घर लेजाने की ही परिपाटी स्थिर रखता आहते हैं तब भला यह लोकोपकार कैसे हो)॥

३-यदि सन्त्रिपाठ का कारण यह है कि गन्त्री में हवन के पाल का वर्णन है तो “गायत्री और विश्वाविदेव” इन गन्त्री से आपने वर्षों आहुति लिखी इन गन्त्री के अर्थ तो अग्निद्वौत्र के पाल को गहरी वसाते॥

प्रत्युत्तर-मुख्यमन्त्रों में जैसे अग्नयेस्याहा। सोमायस्याहा। धौयषेस्याहा। वद्यायायस्याहा। प्राणायस्याहा। इत्यादि में वायु जल माया आदि के अर्थ ती हैं ही परन्तु हवन की सामग्री विशेष ही ती गायत्री आदि गन्त्री से परमात्मा की स्तुतिपार्थीनोपादना करता आवे और शेष सामग्री को अग्नि में चढ़ादिये यह तात्पर्य स्वामी जी का है। किसी मुख्य यज्ञ की कोई आहुति विशेष तो गायत्री से स्वामी जी ने नहीं लिखी। जो अग्निद्वौत्र के विशेष मन्त्र “समिधाविनं दुवस्यत धृतैर्बाधयतातिष्य” आस्मिन्नह्यामुद्दीतग “हस्यादि हैं उन में तो अग्नि में भमिधाहोम धृतद्वामादि का अर्थ नहीं होता। दुर्गायाठ के तुल्य-

“गर्ज २ क्षणं मुढ मधु यावर्त्यास्पवहम्” गदिरा को आहुति थेद में गहरी लिखी॥

४-गायत्री से प्रथम चुटिया बन्धवाई फिर रक्षा की फिर जाय किया अब थी फूका। आगे २ इंजिन लगाकर रेल चलायेंगे इत्यादि॥

प्रत्युत्तर स्वामी जी ने यदि रक्षादि के दर्ये किये तो अनर्थ ब्याकिया परन्तु आप तो भपने बड़ों को मानते हैं कि दनहोंने गायत्री के जय में हा इतना सामर्थ्य बढ़ाया था कि धोती निरापार आकाश में सुखाते, जल में शगिं गलते, किसी रुप य चाहते तो ले लेते इत्यादि। और इन में रुदेह

नहीं कि हम आप के समान गायत्री को सामर्थ्यहीन नहीं समझते, जैसा आप का भाव धर्म से विद्यमें होता वै तो आप की गायत्री गङ्गा यमुना आदि कुछ नहीं कर सकतीं। यहाँ यह बात नहीं, किन्तु आप के मुराद बद में भीर बान्धन शत्रुः पतित भाईयों का चढ़ाव हस सामर्थ्यवान् गायत्रीमन्त्र वे हम ने किया। और देखिये आगे २ क्षण करेंगे, घबराते क्यों हों। गायत्री मन्त्र की विचित्र शक्ति को देखना क्या २ काम देती है। कदाचित आप भी नी भूत में गायत्री से दूर किया करते हैं और यजमानों ने दक्षिणा लिया करते हैं। फिर बिना दक्षिणा गांगे स्वामी जी ने गायत्री से रक्षा भीर होमादि का विधान किया ती बुरा क्या किया ॥

५-जलवायु की शुद्धि प्रयोजन है तो प्रातःसायं कानियम क्यों? स्नानादि की आवश्यकता क्या है? पात्रों की क्या आवश्यकता है? भूमि में भोक्ता हैं। और मन्त्रप्राठ जिन हवन करो तब भी कष्टस्थ रह सकता है ॥

प्रथुत्तर-प्रातःसायं ही मध्य कामों के प्रथम और मध्य के पञ्चात् प्रथान कार्य करने चाहियें। तथा वेद ने भी “सायं सायं गृह तिर्त्योऽप्रतः प्रातर्गृह-पतिर्त्योऽ” (अथर्ववेद कां० १३ अनु० ३ मं० ३ । ४ ॥) प्रातःसायं ही इस का विधान किया है। समय भी यही ऐसा है जिन में प्रायः चित्त स्पिर शान्त और अन्यकामों से निश्चिन्त होता है इत्यादि अनेक कारण हैं जिन से प्रातःसायं समय ही उत्तम है। शुद्धिकारक कर्म करते हुए क्या देह को शुद्ध करना आवश्यक नहीं जो स्नान को व्यर्थ बताते हों। पात्रों के विना बहु कार्य मिछु नहीं होता जैसा उस कार्य के लिये बनाये हुए विशेष पात्रों से भीर यूं तो कड़ाही का काम तबे भीर घाली का काम तंबिये आदि से जमाव में लिया ही जाता है जीर जमाव में हवग भी स्पष्टिल पर करते ही हैं, परन्तु जिस २ कार्य के लिये जो २ पात्र बनायेगये हों वह २ कार्य उन २ पात्रों से जैसा उत्तम होता है जैसा भन्यथा कदापि नहीं हो सकता हस कारण पात्रविशेष का लिखना सार्थक है ॥

६-यजुर्वेद के अ० ५ मं० ३७ अ० ११ मं० ३५ । ३७ भीर उन का जर्ये लिखहर कहते हैं कि ये मन्त्र परलोक रथग्रामास्थर्ये अग्नि की स्तुति विधान करते हैं। अग्नि देनदूत है। अग्नि हमाराधन सद्पादन करो। संघामों को विद्वीर्ण करो। अक्ष इसमें देओ। शत्रु को जीतो। देवतों को हवि पहुंचाओ। यजमान का वस्त्रा य करो। अपने लोक में ठहरो। पुष्करण्य पर भले प्रकार बैठो इत्यादि अग्नि की स्तुति लिखी है ॥

प्रत्यक्षर-हम आप के किये शर्यों को मामलें तब भी कोई हमारे पक्ष की छानि नहीं क्योंकि जल वायु की शुद्धि से शीर्य धैर्य भारोच्च बल पुष्टि आदि अद्दते हैं जिन से घग, जय, अक्ष, कल्याण की प्राप्ति होती है। हस से वह वात खण्डित नहीं होती जो हम ने ऊपर यजुः अ० १ चं० २ से वायु की शुद्धि यज्ञद्वारा सिद्ध की है। और अग्नि को देवदूत अर्पोत् वायु भादि देवतों का उन के लिये दिया हुआ माग पहुंचाने और उस से उन को अमल अर्पोत् स्वध शुद्ध अनुकूल करने वाला तो हम भी मानते हैं, ख्यानीजी ने भी माना है। परन्तु आप तो अग्नि के स्थान में अग्निमुख ब्राह्मणों (नामगात्र) के ही हारा मब देवतों की पूजा मामयों के चट्ठ कराने की रीति ही अच्छी समझते हैं। अग्नि के हारा (जो देवदूत है) देवताग उन को प्राप्त कराना तो आप “ आग में झोकना फूंगना ” भादि कठोर शब्दों से व्यवहार करते हुवे अड़ा ही नहीं समझते। और द० ति�० भा० प० ३२ । प० २५ और प० ३३ प० ३ में जो मनु के श० ६ प० १५ ओक ३६ । ३४ । ३५ से यह लिखा है कि “ विद्या पढ़ने पढ़ाने, ब्रत, हवन, १ बेद पढ़ने और पश्चादि के करने से ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। अग्नि में हाली आहुति सूर्य को प्राप्त होती, उस से वृष्टि, वृष्टि से अक्ष, अक्ष से प्रजा को उत्पन्न करती है। ३६ । आहुतजप, हुत हवन, प्रहुत, सूतवलि, ब्राह्महुत श्रेष्ठब्राह्मण की पूजा, प्राशितप्राहु । ३४ । अग्निहोत्र में युक्त होय तो जगत् को धारण करता है ॥ इत्यादि का उत्तर यह है कि वेदादि के पढ़ने से भाभ्यतर और हवनयज्ञ से भास्य जलादि की शुद्धि होकर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक मनुष्य, परम्पर की प्राप्ति के योग्य होता है, इस ने विवाद ही किए है। परन्तु आप स्वानी जी के विनाश वायु भादि की शुद्धि को हेतुता न हो, ऐसा कोई फल यज्ञ का बतावें। किन्तु आप तो आहुति से वधो और अक्षादि द्वारा प्रजा का धारण पोषण मनु के प्रगाण से लिखते हैं, जिसे स्वानी जी और हम हम सोग निर्किंवाद भानते हैं और वह वायु की शुद्धि वृद्धि होकर अक्षादि शुद्ध पदार्थ खाने योग्य उत्पन्न होवें तभी संमार का धारण पोषण हो सकता है, सो ठीक है। हमें आप के समान पक्षपात नहीं कि ठीक वात आप लिखें और स्वानी जी के लेख की पुष्टि करें, तब भी हम न जानें। ओक ३४ में आहुत, प्रहुत, हुत, प्राशित, ब्राह्महुत ये पूज्यमहायज्ञों के नामान्तर हैं, इस से हमारा कोई विरोध नहीं, आप की विशेष वृद्धिहु मही, अर्थ पुस्तक बढ़ाई गई है। और प० ३३ प०

१५ में एसु के प्रलोक में जो संध्या और हत्तन में पापनिवृत्ति सिखी है, सो ठीक है, संध्या के द्वारा आभ्यन्तर राग हेपादि और हवनमें वायुविकारादि बाल्य तोष नियम होते हैं, इन में स्वामी जी के लेख का संपर्क नहीं आपने क्या किया। देव यज्ञ का विशेष प्रश्न देखना हो तो सेरा व्याख्यान "बैदिकदैवपूजा" देखिये॥

अथ स्त्रीशूद्राध्ययनप्रकरणम्

२० निः० भ० ० पृ० ३३ पं० २१ से पृ० ३४ पं० २५ तक सत्यार्थप्रकाश पृ० ४३ । ३३ । १। १४ के लेख उद्घृत करके शङ्का की है कि स्त्रीमी दयानन्दमास्त्रतोष जी मन्त्रमात्र छोह शूद्र को पढ़ना सुश्रृत में प्रसादित करके किर "यथेऽमां वार्दि" मन्त्र में शूद्र को पढ़ने का अधिकार चिखते हैं। और "तुम कुै मै पड़ो" इस को दुर्वचन घटा कर उलाहना दिया है॥

प्रत्यग्नात-ग्रिहितार शठद के दो अर्थ हैं, १- 'योग्यता' २- 'स्वत्व'। स्वामी जी ने वा अन्य ग्रिही ऋषि ने जहाँ २ शूद्र को मन्त्रमंहिता छोड़ कर अन्य भव कुद पढ़ना लिखा है उम का तात्पर्य योग्यतापरक है अर्थात् शूद्र मन्त्र-मंहिता पढ़ने के योग्य है वा उन के पढ़ने की योग्यता ने रहित है। जैसे शून में बब विद्यार्थी ऊँची कताम में पढ़ने को योग्य नहीं होते किन्तु कोई कोई होते हैं। जो नहीं होते उन्हें कहा जा सका है कि वे ऊँची कदा (क्लास) के योग्य नहीं वा उन्हें उम कक्षा में पढ़ने का अधिकार नहीं है॥

'स्वत्व' अपनापन को कहते हैं। और जहाँ २ वेदमन्त्रों, ऋषिवाचों और सत्यार्थम् में वेद पढ़ने का शूद्र को अधिकार है यह लिखा है उम का नात्पर्य स्वत्व (इगतहक क) परक है। अर्थात् जैसे हेष्वररचित अन्य पदार्थों में उपासार ग्रहण करने का योग्यतानुसार सब को स्वत्व (अधिकार वा इम-नडकाक) है उनी प्रकार वेद जो हेष्वर का दिया ज्ञान है उम पर भी सब का स्वत्व (हक) है। तदनुसार शूद्र का भी अधिकार (हक) है॥

योग्यता और स्वत्व में भेद है। योग्यता न होने से अयोग्य पुक्ष उस पर पर बेटाया भी जावे तो भी अग्रक हो जावे। और स्वत्व न होना वह कहाता है कि चाहे योग्य भी हो तब भी स्वत्व न होने से उम पर नहीं बेटाया जा सके। जैसे देवत्त के धन का स्वत्व (हक) उम का पुत्र ही रखता है। अन्य किसी का पुत्र चाहे इस योग्य है कि वह उस धन को लेकर वर्त सके परन्तु अधिकारी (हकदार) नहीं है वह इसी प्रकार शूद्र औपनी जयो-

यथा के कारण अनधिकारी है, परन्तु स्वत्व के कारण अधिकारी (मुस्तहक) है। क्योंकि एक ही पिता परमात्मा का वेदविद्या होने से उस के पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इ. जन्म ही अधिकारी (मुस्तहक) हैं। जैसे किसी पिता के चार पुत्र में से योग्यता के तारतम्य (कर्मा बेगों) से कोई अधिकारी हो भीर कोई न हो परन्तु स्वत्व जब कोई है जयोत् जब ही उन में से कोई अपोग्य अपनी शक्तिप्रता दूर कर ले तब ही अधिकारी हो जायगा। परन्तु दूसरे पुत्र का पुत्र पूर्वीक शक्ति पिता के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सका। इसी प्रकार परमात्मा के चारों पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। उन में से जो जयोग्य है वह कोष का छल गहीं पाता परन्तु अयोग्यता दूर करके योग्य होने पर संबंध को उत्त पर अधिकार (इमतहकङ्क) अवश्य प्राप्त है। जैसे अन्य निमी का पुत्र शक्ति किमी के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सका। जैसे परमात्मा की वेदमंपर्ति का अधिकारी योग्य होने पर भी कोई शूद्रादि कुलोत्पन्न होने मात्र में) न हो यह नहीं होना चाहिये, न हो सका है॥

दयानन्दतिगिरभास्कर पृष्ठ २५ पंक्ति ३ ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च । शारीरक सूत्र ३६

अध्याय १ पा० ३

विद्या पढ़ने के लिये उपनयनादि संस्कार सुनने से शूद्र वेदविद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस पूर्व जिख चुके हैं कि अनधिकार का जहां जहां वर्णन है वह योग्यता के अभाव से है ॥

द० तिः भा० पृ० ३५ पं० ३ मनु के भा० २ छोक १३१ । १३२ से लिखा है कि उपनयन संस्कार से पूर्व वेदपाठाधिकार नहीं ॥

प्रत्युत्तर-अयोग्य दशा में शूद्र को भपनी अयोग्यता के कारण अधिकार नहीं। अयोग्यता से योग्यता को पहुंचने की सम्भि में यद्यपि शूद्र शड॑ का प्रयोग पूर्वावस्था के गम्भार से रहो परन्तु योग्यता प्राप्त होते हो वह अधिकारी हो जाता है जैसा कि आप के ही लिखे मनु के वक्ष्यगाण्ड्योकों से मिट्ट॑ है:-

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमहंति ।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १० । १२३ ॥

धर्मेष्वस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
 मन्त्रवर्जं न दुष्पन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥
 यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
 तथातयेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ - न शूद्र में कुछ पातक है, न वह संस्कार योग्य है, न उम का धर्म में अधिकार है, न धर्म करने का उपेक्षण है ॥१२६॥ धर्म को इड़ा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्र में रहित करके भी सत् पुरुषों के आचरण करते हुवे दोषों को नहीं प्राप्त होते तिन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ निन्दा को न करने वाला शूद्र, जैसा २ गच्छे पुरुषों के आचरणों को करता है वैष्णा २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है १२८ यह श्लोक तथा अर्थ इसने ८० तिं भाग का ही उद्घाटन किया है इस कुछ देर के निये इसी को ठीक सामन लेते हैं और पाठों से निवेदन करते हैं कि ये श्लोक और इन का अर्थ स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाशस्य सिद्धान्त को पुरा करता है वा पं० उत्तालाप्त जी के मिद्दान्त को ? १२६ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि शूद्र को न धर्म का अधिकार ग धर्मकार्य तिवेष है । अर्थात् साधारणतया जयोग्यता के कारण जिन २ धर्मकार्यों को वह नहीं कर सकता उन्हीं का अधिकार नहीं परन्तु जिन २ धर्मकार्यों की योग्यता उम में होती जावे उन २ को करता जावे क्योंकि धर्मकार्य का निवेष भी नहीं है । १२७ और १२८ वें श्लोकों में इसी को और भी स्पष्ट किया है कि धर्मज्ञ शूद्र, जैसे २ सदाचार (धर्म) को करता है वैसे २ इस लोक और परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है । इस पं० उत्तालाप्त जी से पूछते हैं कि परलोक की उत्कृष्टता ती जाप कहेंगे ति सर्वं प्राप्त होता है देवयोनि प्राप्त होती है परन्तु इस लोक की उत्कृष्टता इस के अतिरिक्त च्या है कि शूद्र, शूद्र न रहे । तात्पर्य यह है कि यद्यपि शूद्र जयोग्यता जे कारण धर्माचिकारी नहीं होता परन्तु जैसे २ योग्यता बढ़ाता जावे वैसे २ अधिकारी होता जावे और अपने से उत्कृष्ट (वर्ज) पद को प्राप्त होता जावे इसमें कोई धर्मग्राम का निवेष (रोक टोक) नहीं है ॥

द० तिं भाग पं० १५ पं० २६ अब वेद मन्त्र का अर्थ बुनिये (यथेनां)
 इस वे पूर्व यह गम्भ है:-

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायु-
श्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्चद्वौ॒च-
सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे
सन्नमतामदः सप्तसं॑सदो अष्टमीभूतसाधनी सकामां २ ॥
अध्वनस्तु रकुह संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥

यजुः ६ । १ अग्नि-पृथिवी, वायु-भूतरिक्ष, आदित्य-द्यौः, भावः-वरुण
ये ८ दो २ परस्पर सम्बन्ध हैं । मेरे काम को बग करो तथा हे परमात्मन् !
पञ्चानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी भाव का आयतन है तात्पर्य यह है
कि इसी भाववर्णों वाणी की जनवृत्ति (पर्यग्मा०) मन्त्र में भाती है इन लिखे
इस मन्त्र में उस वाणी का बयेंग है जो यज्ञ के भूत में यजमान (दीपताम्
=दीजिये । भूज्यताम्=खाइये) ब्रोलता है । वेदवाणी का प्रकरण नहीं ।
यह ८० तिं० भाँ० का आशय है ॥

प्रत्युत्तर-भाव इस मन्त्र में वाणी का प्रयोक्ता यजमान को बताते हैं
परन्तु भावके माननीय महीधर भपने भाव्य में इस ऋषा को ब्राह्मीगायत्री
लिखते हैं, जिस का तात्पर्य यह है कि इस ऋषा का ब्रह्म वा ब्रह्मा देवता
और गायत्री छन्द है । तब बताइये कि भावका लेख महीधर के विरुद्ध कैसे
माना जावे । नहीं २ भाव का लेख तो भपना कुछ ही ही नहीं किन्तु आप
में तो महीधर से ही लिया है, महीधर को भी यह न सूझा कि प्रथम मन्त्र
के गारम्म में तो इस द्वितीय मन्त्र को गायत्री ब्राह्मी लिखा फिर टीका
करते समय एक अर्थ में स्मरण रखता द्वितीय में सूल गये । इससे पूर्व मन्त्र
का अर्थ महीधर ने प्रथम इस प्रकार लिखा है:-

परमात्मानं प्रत्युच्यते । हे स्वामिन् ! यस्य तव सप्तसंसदनानि
अधिष्ठानानि अग्निवायन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुद्धरुणा-
स्यानि तत्राष्टमी भूतसाधनी पृथ्वी भूतानि साधयति उत्पा-
दयति भूतसाधनी भूमिं विना भूमोत्पत्तेरभावात् इत्यादि ॥

अब परमात्मा के प्रनि कहा जाता है कि हे स्वामिन् ! जिस भाव के
३ अधिष्ठान १ अग्नि, २ वायु, ३ भूतरिक्ष, ४ आदित्य, ५ द्युलोक, ६ जल,

७ वरुण हैं। उन में ८ वर्णों पृथ्वी है जो कि भूतसाधनी है ज्योंकि भूमि के विना भूतोंहरात्त अस्तित्व है इस कारण पृथ्वी को भूतसाधनी कही ॥

श्रीगे चलाकर गहोधर ने दूसरा अर्थ किया कि:-

**विज्ञानात्मा वीक्ष्यते । यस्य तत्र सर्वत संसदः पञ्च बुद्धि-
निद्र्याणि मनोव्युद्धिरचेति सप्तायतनानि अष्टमो भूतसाधनी
भूनानि साधयति वशीकरोति भूतसाधनी वाक् ॥ इत्यादि ॥**

अर्थ अथवा विज्ञानात्मा के प्रति कहा जाता है कि जिन आप के ७ शायतन हैं ५ ज्ञानेन्द्रियां ६ मन १ बुद्धि । इन में आठवीं वाणी है जो भूत-साधनी शर्योत्त भूतों को वश में करने वाली है ॥

गव विचार करना आहिये कि मूल मन्त्र “अग्निश्व पृथिवी च” इत्यादि में भग्नि आदि ३ भविष्यानों के नाम और ८ वर्णों पृथिवी का नाम स्पष्ट आया है फिर लेवतान करके शी ५ ज्ञ नेन्द्रिय ६ मन १ बुद्धि ८ वाणी यह अर्थ कीने हो सक्ता है और गहोधर ने ज्ञानेन्द्रियादि अर्थ किया तौ त्ते यंत्रय या कि अर्थन आदि ८ पदों में जो मन्त्र में आये हैं अपने असीष्ट अर्थों को व्याख्या निहक्त आदि किसी प्रगाढ़ा में मिहु करता और महोधर ने भद्री किया तौ सम को भानने और उस के महारे से अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले पं० उचालाम० जी को वह अर्थ किसी प्रकार निहु करना या ऐसा त करके केवल अप्राप्ताणिक लेखमात्र से ३ ज्ञानेन्द्रियादि और ८ वर्णों वाणी अर्थ लेना सर्वथा असंगत है। इस कोई दूसरा अर्थ भी नहीं करते किन्तु गहोधर ने जो प्रथम एक अर्थ मूलमन्त्र के भक्षरात्मकूल किया है उसी के ऊपर पं० उचालाम० जी तथा पाठकों को ध्यान दिलाते हैं ति वहां वाणी का वर्णन नहीं, फिर उसी वाणी की अनुवृत्ति से जो (पर्येतां वाच्यम०) इस भागले मन्त्र में वेदधारणी का यहण नहीं करते सो ठीक नहीं है और पूर्व-मन्त्र में यदि गनघड्डत अर्थ में से वाणी की अनुवृत्ति लाई भी जावै तौ सामान्य करके विज्ञानात्मा की सामान्य वाणी का यहण होगा परन्तु यज्ञानान की दीयत भूमि भुज्यताम् आदि वाणी का अर्थ करना तौ महोधरकस्तिपत द्वितीय अर्थ से भी भस्त्रूत है ॥

हमारे पक्ष में दोनों मन्त्रों की सङ्गति इस प्रकार हो जाती है कि पूर्व मन्त्र में भग्नि, वायु, पृथिवी आदि शारीरिक उपकार करने वाले ८ पदार्थों

का वर्णन करके अगले मन्त्र में कृपालु परमात्मा ने आत्मिक उत्तराराधे वंदे का वर्णन करके आत्मा के उत्पादक रक्त का सार्ग बताया और कहा कि भैते तुम हैं को यह कल्याणी वाणी दी है, तुम ब्रह्मग, त्रिविदि सब लोगों को इन का उपदेश करो यह ज्ञान की दक्षिणा है इन दक्षिणा का दाता देवों का प्रिय होता है इत्यादि ॥

यहां तक हमने इन के और गहोधर के द्वितीय भाष्यको भगवन्नति तथा स्वामी जी का उत्तर भर्य को महूति दिखाई भव जो तर्क इन्होंने स्वामी जी के गर्थ पर लिये हैं उन का प्रत्युत्तर देते हैं ॥

१-यदि वेद "वाणी" है तो उसके वक्ता का शरीर नहीं होगा और अर्थात् वायु भाद्रित्य अङ्गुरा के हृदय में वेद का प्रादुर्भाव सानन्दा भी न बतेगा और शूद्र जी वेद के पठन पाठन का अधिकार सानन्दा अशुचि में शुचि अद्वितीय अधिद्या है ॥

प्रत्युत्तर-वेद को व ली शठः मे व्यवहार करना, भाविनी संज्ञा को लेकर है अर्थात् परमात्मा जानते हैं कि हमारे उपदेश लिये सन्त्रों को क्रृषि लोग वाणीद्वारा संमार में कैनायें तथा यह उपदेश वेदवाणी कहनायेंगा । भाविनी संज्ञा इस को कहते हैं जैसे कोई पुष्ट भाँति चिनते समय आरम्भ की ईंट रखता है और उन से कोई पूर्ख नि क्षय करते हों तो वह भा विनी=भागे होने वाली संज्ञा का प्रयोग करके कहता है कि भाँति चिनता हूँ तो यद्यपि उम को "इष्टता चोयते" कहना था परन्तु "भित्तिश्चोयते" कहता है । इसी प्रकार तार पूरने वाला कहता है कि कपड़ा बुनता हूँ क्योंकि तार पूरने में कपड़ा बन जायगा और ईंट चिनने से भाँति बन जायेगा । इसी प्रकार परमात्मा भी यह जानते हुए कहते हैं कि ऋषियों के हृदय में उपदेश करने से उन की वाणीद्वारा प्रचार होगा, इस लिये शरीर का शङ्कु करना व्यथ्य है । मपर्यगः कुरुक्षमायम् यजुः ५०।८ इत्यादि भगवन्नशः प्रमाण इस विषय के हैं कि परमात्मा अकाय=शरीर रहित है । शूद्र को अध्ययन करना अशुचि को शुचि सानन्दा नहीं किन्तु अज्ञानी अशुचि जीव को पर्वत्र वेदोपदेश के द्वारा सुनि करना है ॥

२-स्वामी जी ब्रह्मणः दि वर्णों को गुणार्थस्वभावानुसार जानते हैं तो इस मन्त्र में भाये हुये ब्रह्मणादि पद जातिपरक हैं वा गुणार्थस्वभाव परक? यदि जातिपरक हैं तो तुम्हारी सिद्धान्तहारण है और गुणार्थस्व-

आवश्यक हैं तो उपदेश करना व्यर्थ है ?

प्रथ्युत्तर-इस मन्त्र में आये ब्राह्मणादि पद गुणकर्मस्त्रभावानुकूल वर्णों के सन्तानगपरक हैं और विठली तथा होने वाली संज्ञापरक हैं और इस भी तौ भाषण से पूँछेंगे कि ब्राह्मणादि पद केवल जन्मपरक हैं वा गुण न संस्त्रभावानुगत जन्मपरक हैं । यदि केवल जन्मपरक हैं तो इनके मुसलमान दि भांतों में गये हुए जन्म के ब्राह्मणों को भी ब्राह्मणत्व प्राप्त है । यदि गुणकर्मस्त्रभाव और जन्म सब भिलाकर ब्राह्मणादि पद का वार्ष्य कोई पुनर्व छोता है तो भाषण के मत में भी वही शङ्खा रहेगी कि उपमयनादि संस्कारों के मन्य वेदोपदेश के पूर्व विना गुणकर्मस्त्रभाव के भाषण भी ब्राह्मणादि पदों का अवहार कैसे करेंगे ? केवल भाविती संज्ञा वा मात्रा विता की संज्ञा से । इनलिये जो चतुर भाषणका होगा वही वहां हमारा भी जागिये ॥

३-यह यजुर्वेद के २६ वें शध्याय का मन्त्र है इस से पूर्व भी वेद है और आगे भी । इस प्रकार का उपदेश आदि वा भास्त्र में चाहिये वा मध्य में रहें । क्यों “ इमाम् ” =इस वाणी को—ऐसा निर्देश समीपस्थ में होता है दूरस्थ में रहें ॥

प्रथ्युत्तर-“इमाम्” का अर्थ यह है कि “इमामुक्तांवक्षामाणां च” अर्थात् यह वाणी जो पूर्वकहीं और और आगे कहेंगे । इस मन्त्र से पूर्व और पश्चात् जो वेद और उपर के मन्त्र हैं वे समीपस्थ तो हैं ही भाषण दूरस्थ कैसे समझते हैं । जब कि इस दूसरे मन्त्र से प्रथम का मन्त्र पूर्व समीप है और तीसरा मन्त्र भागामी समीप है तो दूर कहां हुवा ? यदि कहो कि अन्य मन्त्र तो दूर रहे तो ४ वेदों के आदि वा अन्त में कहने पर भी समस्त वेद समीप न रहता किन्तु मन्त्रिहित मन्त्र और उपर के पद और प्रथमाक्षर वा अन्तिम अक्षर के बीच में आते ही अन्य सब वेद दूर हो जाता । अन्य आपकी दूर समीप का अर्थ समझने वाली बुद्धि को ! जब आप मार्ग में चलते हुवे कहो हैं ति अमुक नगर यहां से समीप है तो उप नगर के दूरस्थ यह को लोड़ अन्य घर दूर रहेंगे और उप एक यह का नाम नगर नहीं हो सकता तो भला बुद्धि से शोचें तो सही कि नगर के समीपस्थ की विवक्षा वी वा नगर के एक देश यह वा उप की सब में घरलो भीत वा सब से समीप भीत के पलास्टर को ? । इस प्रकार २६ वें शध्याय के दूसरे मन्त्र से पूर्व और पश्चात् आये और आगे वाले समस्त वेद की विवक्षा है वा समीप कहने से केवल वेद के

तृतीयसमुक्तासः

आदिस्प वा अन्तस्प जक्षरभाग्र की ? धन्य !

पृ-जरख शब्द में स्वामी जी ने अतिशूद्र लिया है उस को तो बेदोप-
देश भव्यता निष्कल है। जैसे ऊंचर में बीज बोना ॥

प्रत्युत्तर- ऊंचर में बीज बोया हुआ उपजना असम्भव है परन्तु अतिशूद्र
का उपदेश फरने से कुछ ता कुछ सगाहना सम्भव है इसलिए ऊंचरभूमि का
दृष्टान्त असङ्गत है ॥

३० तिं भा० ११ सं० १०:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम । गोपाय मा शेवधिष्टेः

इत्यादि निरुक्त लिख कर शहूा को है कि इन में जीच कुटिल शूद्रां को
कथापि विद्या नहीं देना । स्वामी जी इस निरुक्तस्प जक्षरभाग्र को गढ़ाप
कर गये इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो इस निरुक्त में विद्या का लेख है बेद का लेख नहीं
और यदि विद्या शब्द से बेदका ही यहां करो तो शूद्र का भास तक यहां
नहीं आया। फिर शूद्र को बेदानधिकार के सिद्ध होगया, कुछ भी नहीं।
निरुक्त भा० २ खं० ५ का पाठ और अर्थ यह है:-

**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयतायन मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥**

(विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम) विद्या विद्वान् के पास आहे [और बोली कि]
(गोपाय मा) मेरी रक्षा कर (भासं ते शेवधिरस्मि) तेरा निधि मैं (खजाना) हूं
(असूयकाय) चुगलहोर (अनृजवे) कुटिल और (शयताय) जो यतो नहीं उस
को (न मा ब्रूयाः) मेरा उपदेश भर कर (वीर्यवती तथा स्याम्) इसमें मैं वीर्य-
वती होऊं ॥ एक तो पं० ३ उत्तालाप्र० जी ने इस को पा० २ पते से लिखा है।
निरुक्त में अध्याय और खण्ड हैं, पा० २ नहीं हैं। यदि पाद शब्द खण्ड को
अगह भूल से लिखा गया तो दूसरे खण्ड में भी यह पाठ नहीं किन्तु चतुर्थ
खण्ड में है। दूसरी बात यह है कि आपने “शेवधि” का अर्थ “ चुखनिधान ”
किया है परतु निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि “ निधिः शेवधिरिति ” शेवधि का
अर्थ निधि=खजाना है। तीसरी बात यह है कि यहां कुटिल, भजिते निधि,
चुगलहोर को विद्यादान का निषेध है परन्तु शूद्रका कुटिलत्वादि दोषपूर्क होना
आवश्यक नहीं त यहां शूद्र पद भास्या है। यदि जिसी ब्राह्मण के सम्मान

मेरी भी कुटिलत्वादि दुर्युग्म हों तो नन दृष्ट को शिष्य न करे यह तात्पर्य है ॥ सात्पर्य ही नहीं किन्तु गगले निरक्त में स्वप्न विप्र शब्द आया है । यथा-अच्छापिताये गृहनाद्रियन्ते विप्रावाचा मनसा कर्मणा वा । यथैवतेनगुरोभी जनीयास्तथैवतान्नभुनक्तिप्रतंतत् ॥ नि०२४

जो पढ़ाये हुवे तिव, गग वचन कर्म मेरु का भादर नहीं करते जैसे वे गुरु के भोजनीय नहीं वैम उन का पढ़ा हुवा सकल नहीं । इन से स्पष्ट है कि कुटिल शिष्यों की निन्दा का प्रकरण है वर्ण वा जाति निन्दा का प्रकरण हो नहीं पूर्व पृ० ४६ में गनु के स्नोऽ में सदाचारी कौटिल्यरहित शूद्र को उच्चपदप्राप्ति लिख चुके हैं, कुटिल को नहीं । यहां तक शूद्रानधिकारखण्डन हुवा अब खो के अनधिकार का खण्डन सुनिये:-

२० नि० भा० पृ० ३१ पृ० ३१ में “ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिष्ठ” का अन्वय उलट कर लाया है कि “ब्रह्मचर्येण युवानं पतिं कन्या विन्दते” ब्रह्मचर्य में जवान हुये पति को कन्या प्राप्त होते । तात्पर्य यह है हि पति का ब्रह्मचर्य हो, कन्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-आप ही के किये अन्वय मेरी दो बातें तो मिहु हो गईं १. विवाह में पति की युवावस्था होता । सम्पति प्रचलित ८ । १० वर्ष के बालकों का विवाह आप के लिखे भी विरह है । २. यहां सामान्य उपदेश है कि कन्यामात्र युवा ब्रह्मचर्ययुक्त पति मेरे विवाह करें तो यहां ब्रह्मणी वा द्विग कन्या का वर्णन नहीं किन्तु सभी कन्याओं का है तो शूद्र कन्या भी ब्रह्मचर्य में युवा होते हुवे पति मेरे विवाह करे और शूद्रा कन्या का शद्रपति मेरे विवाह होगा तो इम विवि मेरे ब्रह्मचर्ययुक्त मानान्य करके सब ही कन्याओं के पति होने चाहिये और जब तक वेदादि शास्त्र मेरोड़े प्रभाण खो के अनधिकार का न दिखलाओ तब तक अन्वय मेरे सभी खेचतान भी ठीक नहीं । आपने खो के अनधिकार मेरे गाम मात्र को उलटे सीधे गर्व भरके भी कोई बद्दमन्त्र नहीं लिखा । लिखते कहां मेरे ही ही गहीं ॥

२० नि० भा० पृ० ३१ पृ० ३२ मेरे ३१ पृ० ६ तक “इम सन्त्रं पतनी पठेत्” की सहृदिति की है कि इम सन्त्र के विनाह में बोलने का विधान है पढ़ने का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-आप को यह भी स्वर रहे हैं कि पतनी शब्द का अर्थ क्या है ? “पत्नुर्भी यज्ञसंयोगे” । भष्टप्यायी ४ । १ । ३१ मेरे पतनी शब्द यज्ञसंयोग मेरे मिहु है अपरोत् यज्ञ मेरे यज्ञान की खो पतनी कहाती है । कन्या के विवाह मेरे

उस विवाहका यज्ञ का यजमान कीन होता है ? कन्या का पिता आदि । फिर उस की ज्ञान कौन है ? कन्या की साता आदि । तौ भगव अस्थाधुम्ब के ने चलेंगे कि “इसं मन्त्रं पठनी पठेत्” का तात्पर्य विवाहपरक है और आप की विवाहपट्टि में कहीं लिखा है ? कि “इसं मन्त्रं इतनी पठेत्” कहीं नहीं । विवाहपट्टियों में कन्या वा वधु शब्द का व्यवहार है पठनी शब्द का गहीं क्योंकि विवाह संस्कार में जास कन्या का विवाह है वह यजमान की पठनी नहीं किन्तु यजमान को कन्या है । यह अनधेर के चले सकता है ॥

वैवाहिको विधिः खीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पातसेवा गुरीवासो गृहार्थोऽभिपरिक्रिया ॥ मनुः ॥

इस का अर्थ यह नहीं है कि खियों का विवाह ही उपगमन है किन्तु (खीणां वैवाहिको विधिः, पतिसेवा, गुरीवासः, गृहार्थः, अविनारिक्रिया, वैदिकः संस्कारः स्मृतः) खियों को इतनी बातें वैदिक हैं । वैवादिकविधिः, पतिसेवा, गुरुकुलवास, गृहस्थान्न और शशिग्रहोत्र करना ॥ तौ भला अब शशिग्रहोत्रादि यज्ञ, यज्ञ में यजमानपठनी होकर सम्प्राठ, गुरुकुलवास, ये सब बातें खियों को वेदाभ्ययन का अधिकार सूचित करती हैं वा अनधिकार ॥

उत्तर अधिकार ॥

६० तिं० भा० ए० ३८ पं० ८ जै,

योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनुः ॥

जो ब्राह्मण वेद न पढ़े भीर अन्यत्र परिश्रम करे वह बंशमहिन रोते हुए ही शूद्रत्व को मास दाता है । जो ब्राह्मण वेद न पढ़े वह शूद्रतुल्य हो जावे परन्तु शूद्र जो वेद पढ़े तो न पढ़ने वाले ब्राह्मण को शूद्रतुल्य कहना व्यर्थ हो जावे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस से शूद्र को अनधिकार तो सूचित नहीं होता किन्तु वेद न पढ़ने वाले ब्राह्मण को जाते ही अर्योत् इसी जन्म में शूद्रत्व सिखा जिस से यह मिट्ट हो गया कि जो ब्राह्मण वेद हीन हो जाता है तौ इसी जन्म में शूद्र हो जाता है अर्योत् वर्ण बाल जाता है । शूद्र को अधिकार रहने से जब शूद्र वेद पढ़ कर तदमुकून द्विर्गों के गुणकर्मस्त्रभावयुक्त हो जाता है

तब शूद्र नहीं रहता, द्विग हो जाता है। जैसे वेद न पढ़ा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ॥

८० तिं० भा० पृ० ६८ पं० १९-२० ईश्वर में शूद्र को अग्निकारी करने से पश्चात नहीं आता जैसे सब को कर्मानुसार धन सन्तानादि देने न देने से पश्चात नहीं किन्तु आप है जैसे ही शूद्र में समझो ॥

प्रत्युत्तर धन सन्तानादि में भी आहं कर्मानुसार प्राप्त न हो परन्तु किसी को धनोपार्जन वा सन्तानोत्पादन का अनधिकारी नहीं तिया किन्तु धनोपार्जन और सन्तानोत्पादनार्थे प्रयत्न करने का सब को अधिकार है। प्रयत्न का सफल निष्फल होना कर्मधीन है। जैसे ही आप के दृष्टान्त में भी मानो शूद्र को वेदाध्ययन में प्रयत्नवान् का तो धनोपार्जनादि प्रयत्न के सदृश अधिकार ही है किन्तु अध्ययन करने पर भी विद्वान् होता न होना शूद्र वा ब्राह्मण कोई हो सब को अम और प्रारूपकर्मादि के आधीन है ॥

८० तिं० भा० पृ० ६८ पं० २२

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरी वसन् संचिनुयाद् ब्राह्माधिगमिकं तपः ॥ मनुः ॥

इस श्लोक में द्विजः पद से ब्रह्मचारी पुरुष का यहण है ब्रह्मचारिणी कर्त्त्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-द्विगः पुरुषानिर्देश से यदि पुरुष ही का यहण है तो मनुष्य शठद के पुरुषानि होने से गनुण्य पद में भी खीजाति का यहण न होगा आहिये। धर्मशास्त्रों में जितने काम करने न करने को सामान्य निर्देश से विधिवाक्य वा निषेधवाक्य लिखे हैं उग के करने न करने, मानने न मानने वाली खीं को कोई दोष ही नहीं ? अपराधियों के दण्ड विधानसंग्रह में पुरुष निर्दीप है तो उन प्रकार के अपराध करने वाली खियां सब छूट जागी आहियें ? धन्य ! पश्चात !! जब खियों के अग्निकार का कोई वाक्य न मिला तो यह खेंच तान !!!

८० तिं० भा० पृ० ६८ पं० ३२ कर्त्त्या को वेद न पढ़ना यह पूर्व ही लिख चुके हैं इति ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व क्या ! आप आहे बात २०में इस वचन को “तकियाकलाम” बगालें आप को अधिकार है परन्तु खियों के वेदाध्ययनानधिकार में आप

को ऐह भी अृति समृत का वाक्य न मिला न लिखा । सत्यार्थी० से ही बनावटी अृति-

खीशुंद्री नाधीयाताम्

ले ली होती । कोई यह तो जानता कि अृति के प्रमाण से भिन्न किया है । अन्य प्रमङ्गों में तो और आपने उल्टे भीष्ये शर्ये करके एक आध वाक्य लिख ही मारा है परन्तु खियों के अनधिहार विषय में तो वह भी न बन पड़ा, असुख्य गुंड को खाई ॥

अथ सृष्टिकमप्रकरणम्

४० तिठि ८० पृ० १९ के भारतम से पृ० ४० प० २८ तक का आश्रय यह है कि स्वामी जी ने जो सृष्टिकम के विस्तु बातों को अमम्भव भानकर त्यज्य छोटा या है वो ठीक नहीं खोंचि परमात्मा की विसृति का अन्त कोई नहीं जान सका जब नहीं जान सकती उस की सृष्टि का कलन किसी को कैमे विद्वित हो सकता है उस की सृष्टि में चब कुछ है और हो सकता है । स्वामी जी निम बात को अपनी बुद्धि से नहीं समझ सके उसी को सृष्टिकम के विस्तु कह देते हैं । यदि भाता पिना संयोग बिना पुत्रोत्पत्ति अमम्भव और सृष्टिकम विरुद्ध है तो “तस्माद्वाग्नायत्त” वे८ में लिखा है कि वस परमात्मा ने घोड़े भेड़ बकरी भादि उत्पन्न किये । किर यह भेड़ बकरी भादि बिना भाता पिना दुने ? वा ईश्वर की लुगाई भानोगे ? रामायण महाभारतादि में यतक जिवाना, पर्वत उठाना भादि लिखा है आप रामायण भारतादि को भानते हैं । इस लिये जो अमरण्ये को अमम्भव है वह मरणे को सम्भव है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-निस्मन्तेह परमात्मा जनन्त और उस की समस्त सृष्टि का कल समुद्दय को अविज्ञेय है परन्तु इस से आप सम्भव अमम्भव की उपवश्या का लोप न कीजिये । स्वामी जी ने उतनी ही बातों को असम्भव लिखा है जो रात्रि ५८ एक क्रम से हमारे आप के देखने में आती हैं, परमात्मा की वह सृष्टि गहां तक हमारा ज्ञान नहीं पहुंचा चाहे कैसी ही हो परन्तु तथापि जानी हुई बातों में कोई क्रम अवश्य है । यदि क्रम न हो तो गेहूं बोने व छे कृषन ये यह विष्णुप ग होना चाहिये कि इस के छल गेहूं ही होंगे कदा वित्त चणे भादि हो जावें और परमात्मा की अमैयुनी सृष्टि को आप भानुपी मेयुनी भादि सृष्टियों से निलाकर दोष देंते हैं यह बेमसकी है । सृष्टिका सृष्टिके लिये है विने परमात्मा का क्रम परमात्मा के लिये है ।

जिन सर्वाह के सनुष्यादि प्राणा आपने २ गुण कमे स्वराव मामर्य तियम के विहृतु गहीं करते थे । ही परमत्परा भी आपने पवित्र गुण कर्म स्वराव के विहृतु नहीं करता । यदि करता है तो क्या परमात्मा कभी पाप करता है ? भूंड बोलता है ? मरता है ? नहीं, नहीं । इस लिये परमात्मा का भी कम है । और सुष्टि का भी कम है रामायण महाभारत को स्वामी जी ने माना यह लिखना भूंड है । देखो स-यार्णव पृ० ६८ पं० २५ में “सनुम्भुनि वाल्तीकि रामायण महाभारत के उद्योगवर्तन्तर्गत विदुनोति आदि अच्छे २ प्रकरण पढ़ाये” इस में इष्टप्रतीत होता है कि इन घन्यों के अच्छे २ प्रकरण पढ़ाये जावें और २ नहीं महाभारत के आदि पर्व में लिखा है:—

चतुर्धिंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

आमज्ञी ने २४००० स्तोकों में भारत संहिता बनाई । वर्तमान समय में १००००० एक लक्ष में अधिक स्तोक महाभारत में हैं वे सब व्यासरचित गहीं हैं यही वशा रामायणादि की है । दूसरी बात यह है कि रामायण भारत भागवतादि में लिखी सुष्टिकण विहृतु अमम्भव बातें तो साड़े पक्ष में हैं । जिन को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना आप का काम था । आप ने “साध्य” ही को प्रमाण में घर दिया । व्यायगाच्छ में “साध्यपंच” हेतु भी हेत्वाभास=पिण्डा हेतु माना है तो था । ती साक्षात् माध्य ही का हेतुरा से प्रमाण-कोटि में घरते हैं । भमर्य मनुष्य को इतना समर्य मानना कि अङ्गुनी पर पर्वत उठाया यही ती भमर्य मव है और उन मनुष्यों को ईश्वर मानना माध्य है, मिठु नहीं । इस लिये सुष्टिकण का न मानना व्यायगाच्छ के ८ प्रमाणों में ३ वें भमर्य प्रमाण को अपने हठ में न मानना है और सुष्टिकण ईश्वरकम सब ठीक है और उस के विहृतु बातों का मानना मूर्खता है ॥

अथ पठनपाठनप्रकरणम्

८० तिथि भाष्ट पृ० ४१ पं० १६ ने “स्वामी जी अधियों को पूर्णे विहृान् लिख कर भी उन के घन्यों में वेदानुकूल मानना अन्य न मानना लिखते हैं इस लिये वे नास्तिक हैं क्योंकि वे ऋविग्रहीत भास्त्रोक्त घन्यों का भपनान करते हैं । गनु में लिखा है कि:—

योत्रमन्येत ते मूले हेतुशास्त्रात्रयाद् द्विजः ।

स साधुभिर्विहिष्कार्यी नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

जो बंद भीर शास्त्रों का अपमान करे यह वेदनिष्ठक नात्तिक जार्ति पक्षि भीर देश में आहर किया जावे ॥

प्रत्युत्तर पूर्ण विद्वान् ऋषि थे इस का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वे वेदमणेता परमात्मा वे अधिक थे किन्तु नन्दयों में वे पूर्ण विद्वान् थे । उन के वेदविनष्ट नवन को (यदि उन के यन्त्रों में उन का वा उन के नाम से अत्य रिसी का कोई स्वप्न वेदविनष्ट जान पडे) न मानना उन का अपमान नहीं किन्तु मान्य है क्योंकि मनु आदि ऋषि लिख गये हैं कि वेदवाच्य स्मृति माननीय नहीं । यथा:-

या वेदवाच्याः स्मृतयो यात्रा कुदृष्टयः । इत्यादि

और जो वेदशास्त्र का अपमान करे वह बाहरकिया जावे । यह वरन्त श्वासी जी पर नहीं किन्तु आप पर घटता है क्योंकि श्वासी जी तो यह कहते हैं कि “वेदविनष्टस्मृतिवाक्य नहीं मानना” इस से वे वेद का मान्य करते हैं और शाप उन के विनष्ट मानो यह कहते हैं कि वेदविनष्ट भी स्मृतिवाक्य मानना । वेद का अपमान मात्र ही आप करते हैं और ऋषियों का भी अपमान इस लिये करते हैं कि ऋषि लाग वेदवाच्य स्मृतियों को नहीं मानते और शाप मानते हैं । इम प्रकार आप, परमात्मा और ऋषि दोनों का अपमान करते हैं । कहिये गब आप को कहाँ भेजा जावे ॥

८० तिं० सा० १७० ४२ प० ४ मे-यदि वेदानुकूल ही मानना अन्य न मानना तो पृथ्यज्ञादि की विधि कीम २ मन्त्र के अनुकूल है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-परम सो इस यह नहीं कहते कि इस मन्त्रों में मात्रात् ही सब विधि दिखला जकते हैं किंतु हमाँ॑ा मिहुन्त तो जैमिनीय सं॒मांसा के :-

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति त्युनुमानम्

मी० अ० १ पा० ३ सू० ३

के गम्भार यह है कि शब्दप्रमाण के मात्रात् विनष्ट वाते न गापी जावे परन्तु विरोध भी न हो और मात्रात् विधिवाक्य भी न निले तो अनुमान करना चाहिये कि यह विधि निसी प्रकार किन्हीं ऋषियों ने वेद में मात्रात् वा इति आदि से देखा ही दोगा । तथापि उद्भासा आँ॑ा का विधान नीचे लिखे मन्त्र में मूलरूप पाया जाता है:-

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्ट्रान्, गायत्रं त्वो गायति शक्त-

रीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विभिन्नीत
उत्थः ॥ ऋू० मं० १० अष्टक ८ अध्याय २ मं० अन्तिम ॥

अन्वितव्याख्यानम्—[त्वशःदः सर्वंनामसु पठित एकशब्दपर्यायः]
एको होता (पुष्पचान् ऋचां पोषमात्मो) स्वकर्माधिकृतस्मन् यत्र तत्र पठिता
ऋचो यथाविनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः शक्तीरीषु
गायत्रं गायति) एक उद्भाता शक्तिर्पलक्षितासु उद्धन्दो विशेषयुक्त । स्वक्षु गायत्रं
गायत्रादिनामकं मात्र गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा,
अपराधे जाते सतप्रतीकारकृपां विद्यां वदति (त्वो यज्ञस्य मात्रां विभिन्नीत
उ) एकोऽध्ययुर्यज्ञस्य मात्राभियस्ता विभिन्नीते विगिष्ठतया परिच्छित्ति ॥

अर्थात् एक होता श्वसाऽर्थों को विनियोगानुसार सङ्कृटिन करता है, एक
उद्भाता शक्तिर्पादित्तद्युक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुक्ष
अपराध वा भूल चूक होने पर उसका प्रतीकार करता है और एक अष्टयुर्यु
यज्ञ के परिणाम वा इत्यता को निर्धारित करता है ॥

द०तिंभाऽ पृ० ४२ पं० ११ से जब आपब्राह्मण, गिघगटु, निरुक्तादि की
सहायता से वेदाधे करते हैं तो ब्राह्मणादि स्वतःप्रगाण क्यों नहीं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह बात नहीं है कि निरुक्तादि की सहायता विना वेदाधे
हो ही न जले । जब तक निरुक्तादि ग्रन्थ नहीं बने थे तब भी वेद और
उन जा अर्थ या हो हिन्दु निरुक्तादि के प्रमाण इस लिये दिये जाते हैं कि
जो वेद का अर्थ हम करते हैं उस प्रकार अन्य भी ग्रन्थ २ ऋषि लिखते हैं
तिस से हमारे समझे अर्थ की पुष्टि होती जाते ॥

द० तिं भाऽ पृ० ४२ पं० १५ इन ग्रन्थों में अंगभी वेदविकृदु नहीं है ।
इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्र० में भी यह तो नहीं लिखा कि निरुक्तादि ऋषिप्रणीत
ग्रन्थों में वेदविकृदु है ही है किन्तु यह लिखा है कि यदि इन में वेदविकृदु
हो तो त्याज्य है नहीं तो नहीं । अर्थात् ऋषि यद्यपि पूर्ण विद्वान् थे, उन
के ग्रन्थों में पुराणप्रणेताभी के से गप्त नहीं हैं, यावदक्षक्य ऋषियों ने वेदा-
नुकूल ही लिखा है परन्तु नौ भी निरान ऋषि लोग सर्वज्ञ परब्रह्मन थे उन
पूर्व यदि कहीं किमो शार्यपूर्वमें वेदसंहिता के विकृदु कुक्ष वचन पाये जावे
तो वहां वेद साना जावे अन्य ग्रन्थ नहीं और यह बान कुक्ष स्वामी जीने
ही नहीं लिखी किन्तु जैमिनि जी भी सीमांसा शास्त्र में लिखगये हैं कि-

विरोधे त्वनपेक्षयं स्यादसतिह्यनुमानम् । १ । ३ । ३ ॥

विरोध हो ती त्याज्य है और विरोध न हो तौ अनुभान करे कि अनुकूल है । यदि वेद से विरुद्ध कोई बात भी उत्तर ग्रन्थों में न होती ती जैमिनि जी ऐसा क्यों लिखते । आप स्वामी दयानन्द सर्वजी के लेख को ज भानियेगा तौ जैमिनीय सीमांसा को ती भानियेगा ? फिर आप का यह लेख कैसे सत्य हो सकता है कि इन ग्रन्थों में अंग सी वेदविरुद्ध नहीं ॥

४० तिं भा० प० ४२ प० १९ में (मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्) मन्त्र और ब्राह्मण दोनों निलकर वेद कहा जाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यह आपस्तम्भ की यज्ञपरिभाषा है । पारिभाषिक शब्दों का जी अर्थ ग्रन्थकार विषय करते हैं वह सार्वत्रिक नहीं किन्तु उसी भविकरण में भाना जाता है । जैसे पाणिनि जी भट्टाचार्यायी में “अदेङ्गुणः” १ । १ । १७ लिखते हैं कि अ, ए, ओ, ये तीन गुण हैं तौ व्याकरण हो में गुण शब्द से अ, ए, ओ का अर्थ लिया जायगा अन्यत्र नहीं । यदि साङ्ग्रह्य शास्त्र में गुण शब्द आता है तौ सत्त्व, रजः, तमः का अर्थ लिया जाता है । और वैशेषिक में रूप रस गत्यादि २४ गुण साने गये हैं । सो वे २ अपने २ ग्रन्थ में पारिभाषिक (हस्तलाही) शब्द हैं । यदि कोई ठपाकरण में गुण से सत्त्व रजः तमः समझे तौ अज्ञान है, वा सांख्य में गुणशब्द से अ, ए, ओ समझे तौ मुख्यता है । इसी प्रकार यज्ञ के प्रकार वर्णन करते हुवे आपस्तम्भ के सूत्रों में जहां वेद शब्द आता है वहां ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है न कि सर्वत्र ॥

४० तिं भा० प० ४२ प० २२ में लिखा है कि सत्यार्थप्र० ४० के लेखानुसार यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में भी वेदविरुद्धअंग हैं तौ ये भी (विषसंप्रकार ब्रह्मयाज्ञाः) विषयुक्त अन्न के तुल्य त्याज्य है फिर ऋषिप्रणीत को पढ़ने योग्य क्यों मानते हो ॥

प्रत्युत्तर-पूर्वापर प्रसङ्ग देखिये सत्यार्थप्र० ४० १० में पुराणों के लिये विषयुक्त अन्न का दृष्टान्त है वह ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में नहीं घटता । पुराणों के कर्त्ता भी ने देव्यों द्वेष आदि से असत्य बातों का ढेर किया है वह अवश्य विषतुल्य है जिस के सङ्ग से पुराणों का सत्य विषय भी विषयुक्तअन्न तुल्य हो नया है परन्तु ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में जो कुछ कहीं भूल भी हो वह देव्यों द्वेषादि से नहीं किन्तु अलव्यता से है इस लिये उसे विष नहीं कह सके किन्तु

यह ऐसा है जैसे किसी भौवध में कुछ मिट्ठों कड़र आदि मिल गया हो तो उनमें छाँट कर भौवधमात्र यद्दण करना योग्य होता है इसी प्रकार ऋषिप्रणीत भौवध योग्य यन्त्र में अस्वच्छता में आये मिट्ठों कड़र आदि निकाल कर भौवधप्राप्त आर्ययन्त्र पढ़ने चाहिये ॥

पुराणों का विष-

सर्वन्तु समवेष्येदनिखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

ऋतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मं निविशेत वै ॥

अर्थ-विद्वान् पुरुष को चित्त है कि सब बातों की ज्ञान की जांच में देखकर अनुत्त अर्थात् वेद के प्रगाण से पहले घर्म को स्वीकार करे ॥

तिलकों में विरोध-

पश्चपुराण में कहा है:-

ऊर्ध्वपुण्ड्रुत्रिहीनस्य शमशानसदृशं मुखम् ।

अवलोक्य मुखं तेषामादित्यमवलोक्यन् ॥

(तथा) आह्मणः कुलजोविद्वान् भस्मधारी भवेत्तदि ।

वर्जयेत्तादृशं देवि मद्मोच्छिष्टं घटं यथा ॥

अर्थ-जो लंबा तिलक (वेष्यवी मार्ग का) धारण नहीं करता उस का सुंह इमगान के तुल्य है अतएव देखने योग्य नहीं कदाचित् देख पढ़े तो उस का प्रायशिच्छ करे अर्थात् तुरन्त सूर्यफ का दर्शन कर लेवे ॥ १ ॥ आह्मण-कुलांह (जो विद्वान् होकर भस्म धारण करे उस को शराब के जूठे बासन की गाईं त्याग देवे) ॥

अब देखिये इस के विरुद्ध शिवपुराण में क्या लिखा है:-

विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्षधारणम् ।

नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेऽन्त्यजं यथा ॥

अर्थ-विभूति (भस्म) जिस के माथे पर नहीं और जड़ में रुद्राक्ष नहीं पहिने । सुंह से शिव २ ऐसा न कहे वह आश्वाल की नाईं त्याज्य है ॥

इसी प्रकार पुष्पिदीचन्द्रोदय में भी वेष्यवीं को लताह दी है:-

यस्तु सन्तप्तशङ्कादिलङ्घचिन्हधरोनरः ।

स सर्वयातनाभोगो चाण्डालोजन्मकोटिषु ॥

अर्थ-जो मनुष्य तपे हुए गङ्गादिकों के चिह्न को धारण करता है वह सब नरकयातनाओं को भ्रोगता है और भोटिजन्मपर्यन्त चाण्डाल बोगता है ॥

ज्ञान के इलोकों से हृषि विदित होता है कि तिशक खारण करने के विषय में पुराणों में सर्वया परस्पर विरोध है शर्वोत् शैवमम्बद्धायी चक्र-द्वृत मम्बद्धायीयों के तिलक को बुरा कहते और वैष्णवमम्बद्धायी शैवा-दिवमम्बद्धायीयों के तिलक को खृष्ट बनाते हैं इस से यह निश्चिन्त हुआ कि यदि पुराणों को सत्य माना जाय तो सर्व प्रकार के तिलकधारी खृष्ट पतित और नरक के अधिकारी ठहरते हैं जब एव पुराण खमजाल में फँसाने वाले हुए लिखा कि पद्मपुराण में रूपष्ट लिखा है:-

व्यामोहाय चराचरस्य जगतश्चैते पुराणागमास्तां

तामेव हि देवतां परत्रिकां जल्पन्ति कल्पावधि ।

सिद्धान्ते पुनरेकएव भगवान् विष्णुस्समस्तागमा

व्यापारेषु विवेचनं व्यतिकरं नित्येषु निश्चीयते ॥

अर्थात् जिसने पुराण हैं सब मनुष्य को खन में हालने वाले हैं उन में अनेक देव ठहराये गये हैं एक ऐस्तर का निश्चय गई है जोता । केवल एक भगवान् विष्णु पूज्य है ॥

हे पीराणिक भक्तो ! जब सभी पुराण भन में हालने वाले हैं जैना कि ऊपर के बधन से हृष्ट हैं तो तुम्हें खन से बचाने वाला जायसाज जे अतिरिक्त और कौन है ॥

पुराणों में देवताओं की निन्दा

ज्ञागवत में लिखा है:-

भवन्नतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।

पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छाल्परिपन्थिनः ॥

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनय ।

नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

आर्थ-जो शिव के भक्त हैं और उग की सेवा करते हैं सो पाखण्डी और अच्छे शास्त्र के हैं और इस लिये जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं सो भयानक बैष भूतों के स्वामी आर्थात् महादेव को छाँड़े और नारायण की शान्त-कलाओं की पूजा करें ॥

अब पद्मपुराण में शिव की स्तुति में यह इलोक कहे हैं:-

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्वोहः प्रजायते ।

शिवद्वोहाद्व सन्देहो नरकं याति दारुणम् ॥

तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन ॥

आर्थ यह है कि-जब लोग विष्णु का दर्शन करते हैं तब महादेव कुदु होता है और उस के क्रोध से मनुष्य महानरक में जाते हैं इस कारण विष्णु का नाम कभी न लेना चाहिये ॥

उनी पुराण में ये इलोक हैं:-

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मस्त्रादिदैत्रतैः ।

समं सर्वैनिरीक्षेत स पापण्डी भवेत्सदा ॥

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येष्यवैष्णवाः ।

न स्पृष्टव्या न दृष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥

आर्थ यह है-जो कहते हैं कि और देवता आर्थात् ब्रह्मा महादेव इत्यादि नारायण के समान हैं सो पाखण्डी हैं इन के विषय में इन और आत ज बढ़ावेंगे क्योंकि जो आस्त्रण विष्णु को नहीं मानते उन को कभी न छूता ए देखना और न उन से बोलना चाहिये ॥

फिर पद्मपुराण में विष्णु की स्तुतियों में यह इलोक है:-

येऽन्यं देवं परत्वेन बदन्त्यज्ञानमोहिताः ।

नारायणाज्जगन्नाथात् ते वै पापण्डिनो नराः ॥

आर्थ यह है कि-जो लोग किसी दूसरे देवता को नारायण से जो जगत् का स्वामी है बढ़ा करके मानते हैं सो अज्ञानी हैं और लोग उन को पाखण्डी कहते हैं ॥

फिर इसी पुराण में परस्पर विरोध देखो जैसे:-

एष देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः ।

न तस्मात्परमद्विज्ञित् पदं समधिगम्यते ॥

अर्थ यह है कि—महादेव को गहन् देश्वर जानना आदिष्ये और यह सत समझो कि उम से कोई बहा है। फिर इस से विरह देखो:-

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासने ।

तृपतोजाहृतीतिरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥

अर्थ यह है कि—विष्णु को छोड़ कर जो दूभरे देव को मानते हैं वो उन मूर्खों के समान हैं कि जो गङ्गा के तीर प्यासा बैठा कुआ खोदता है ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु श्रीकृष्ण पराशर शिव भन्द्रमा वृद्धस्पति इन्द्र आदि महानुभाव जो कि मात्रीग काल में अत्यन्त प्रियद्विष्ट विद्वान् राजा महाराजा हुए हैं और सत्यगार्थों में उन का बहा मतसार किया गया है और जिन्हें ऋषि मुनि देवतागर्भों की पश्चिमांशी गई हैं, पुराण उन की निन्दा करते और कोई ऐसा दूषण नहीं जो इन देवताओं पर नहीं लगाते हैं ॥

द० तिथा० पृ० ४३ प० १५ से कौमुदी की गिन्दा करते थे परन्तु उन के मरणानन्तर बस्ते में निकली, भला व्याकरण में क्या मिथ्यापना है जो कौमुदी आदि को त्याज्य लिखा। काव्य न पढ़ें तो व्युत्पत्ति के न हो इगमें क्या बुराई है। आप के “संरक्षतवाक्यमध्योध” में सैकड़ों अशुद्धि हैं जिस से बुद्धि भष्ट हो जाते। तर्कमंग्रह क्यों त्याज्य है, उम में वैशेषिक के विरुद्ध क्या बात है। मनु में भी प्रक्षिप्त है तौ यह भी विषाक्त अन्नवत् क्यों न त्याग दिया। जब भाषा के सब ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं तौ क्या मत्यार्थप्रकाशादि भाषा के ग्रन्थ कपोलकल्पित नहीं? यदि मुहूर्त मिथ्या हैं तौ संस्कारविधि के पुण्य नक्षत्र उत्तरायणादि मिथ्या क्यों नहीं? और सुश्रुत सूत्रस्थान २ अध्याय में—

उपनीयस्तु ब्रह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तेषु० इत्यादि ॥

ब्रह्मण का उपनयन अच्छे तिथि करण मुहूर्त और नक्षत्र में करे इत्यादि और शकुन भी सुश्रुत में लिखा है। सूत्रस्थान अ० १०—

ततो दूतनिमित्तशकुनं मङ्गलानुलोम्येन । इत्यादि ॥

पार्वत देवी निरितिए को जावे तौ शकुनादि अच्छे पड़ें तब रोगी को देखे छुवे और पूँछे। इत्यादि ॥

मत्युत्तर-व्याख्यारणादि भर्मो विद्यों के ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का पढ़ना हम लिये भल्दा है कि उग में अपने मुख्य विषय के वर्णन के साथ साथ उदाहरणों के निष से उस समय के घर्म भाचार व्यवहार आदि की भी चर्चा कुछ गुद्ध भाती ही है जिन से विद्यार्थी पर कुछ न कुछ प्रश्नाव ऋषियों के चालचलन का पढ़ा ही है। इन्हीं प्रकार की मुद्री जादि के पढ़ने से उस समय के सिद्धान्त विद्यार्थी पर बुरा प्रश्नाव न पढ़े। इस लिये स्वामीजी ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रचारार्थे लिखा है। भाष्यनिक ठायाकरण काठप्रादि में आंकड़ादि पर मिथ्यरोपित दूषणों का वर्णन है इस लिये उन से विद्यार्थी पर बुरा प्रश्नाव पढ़ेगा अतः त्याज्य लिखा है। संस्कृतवाक्यप्रयोग में छापे आदि की असुद्धि हीं वे पढ़ने वाले शुद्ध फरके पढ़ाए गे परन्तु कोई ऋषि सिद्धान्तविकल्प भात तो नहीं जिन से विद्यार्थी का भाचरण लिया गया है। तकसंग्रह में विशेषिक से क्या विकल्प है यह तो भाव के विशेषिक पढ़ा है तातो भात है। तातो विशेषिक में—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानं पदार्थानामित्यादि ।

उः पदार्थ हैं। तकसंग्रह में इस के विकल्प—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाः सर्वपदार्थः ॥

इत्यादि में सात पदार्थ हैं। मनु में प्रक्षिप्त है परन्तु भगुस्मृति ऋषिप्रणीत ती ही भीर बहुत न्यून जो कुछ मिलावट हुई है उने वेद का मिद्दान्त जागने वाले सहज में जान सकते हैं। वह पुराणों के समान जानबूझ कर ग्रन्थ का ग्रन्थ ही तो जानार्थ नहीं। भाषाग्रन्थ भाष्र को स्वामी जी ने त्याज्य नहीं लिखा, मत्यार्थप्रथम खोलाफर देखिये पृ० ११ पं० २३ में यह लिखा है कि “हकिमणी-मङ्गलादि और भव भाषाग्रन्थ” इस लिखने से रूपष्ट विदित होता है कि हकिमणीमङ्गल के मध्य आकृष्ण महाग्रन्थ के शुद्ध चरित्रों को अझोल अयुक्त रीति पर वर्णन करने वाले ही भाषाग्रन्थ त्याज्य हैं, न कि मत्यार्थप्रकाशादि उत्तम ग्रन्थ। मुहूर्तादि ग्रन्थों के मिथ्या लिखने का तात्पर्य यह है कि उन २ मुहूर्तों में लिखे फल मिथ्या हैं यथार्थ में मुहूर्न भवयविशेष को कहते हैं। भुभमुहूर्त में उपनयनादि लिखने वाले सुम्रुत। इन ग्रन्थकारों का आशय यह है कि जिन मुहूर्तों में भास्कूलता भव प्रकार में हो वह सुभमुहूर्त है न कि भगुकूलता तो १० बजे दिन को हो और ज्योतिषी जो कहते हैं कि इन्हें रात्रि

को मुहूर्त अड़ा है। उत्तरायण इस विधे आड़ा है कि यह दैवदिन है। व्याप्ति कि १ वर्ष को दैवदिन मानने पर दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण दिन है। इसी प्रकार आर्धग्रन्थों की बातें निश्चयोग्यन नहीं हैं। शकुन का केवल इतना फल युक्त है कि जब किसी कार्य को सन्तुष्ट घलता है तब यदि अच्छे पदार्थ सम्मुख हों तो चित्त को आस्थाद होने से उस कार्य में अधिक उत्साह होता और उसमें कार्य अड़ा बनना सम्भव है। अन्य शकुनावाली आदि में लिखे ऊटपटांग शकुनों को मानना और समझना कि “शकुन के विशुद्ध कार्य होहो नहीं सकता” मुख्यता है। क्योंकि केवल शशुभ शकुन से चित्त पर कुछ शुभ ममाव भी पढ़े और दूसरी बातें सब अनुकूल हों तो शकुन कुछ नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठियों की समस्ति के अनुमार शुभ शशुभ कार्यों को देखकर चित्त पर उस का कुछ न कुछ प्रभाव होता है यहठीक है परन्तु जिम प्रकार प्रभिति ग्रन्थों में लिखे शकुनों के विशुद्ध ऊंग काग ही नहीं करते, चाहे कैमी ही अन्य अनुकूलता हों, और चाहे जितनी प्रतिकूलता होने पर भी केवल शकुन के जारीमें जो सोग काम विगड़ते हैं, यह मुख्यता है॥

अथ इतिहासपुराणप्रकरणम् ॥

द० तिद० भा० ए० ४५ पं० १ से लिखा है कि-प्रतपयादि का नाम पुराण नहीं-
मध्याहुतयो वा ताएता देवानां यदनुशासनानि० । इत्यादि

शतपथ का पाठ लिखकर कहते हैं कि “आशय यह है कि विद्या वाक् वाक्य इतिहास पुराण गाया नाराशंसे इन का पाठ अवश्य है जो इन को अश्ययन करते हैं देवता प्रसन्न होके उनके सब कार्य पूर्ण करते हैं”

पत्युत्तर-कोई पुछे कि प्रभाणा तो आप को यह देना या नि भानवतादि का नाम पुराण है, शतपथादि का नहीं। आप यह लिखते हैं कि इन का पढ़ना शवश्य है। अला इनका पढ़ना अनावश्यक कीन बताता था। व्याप्ति जी ने तौ यही लिखा है कि भागवतादि पुराण नहीं चिन्तु नवीन हैं, शतपथादि पुराण हैं, उन्हीं का पढ़ना आवश्यक है, उन्हीं के पढ़ने से देवता प्रसन्न होते हैं। आड़ा उत्तर दिया ? कोई गावे शीतला, मैं गांज़ गमतन ॥

फिर द० तिद० भा० ए० ४५ पं० १५ में-

स यथाद्र्व्याग्नेरभ्याहितात्पृथग्भूमा विनिश्चरन्त्येवम्०

शत० का पाठ लिखकर पं० २० में लिखते हैं कि ऋग् यजुः याम अथवे

इतिहास पुराणादि उसी परमेश्वर के श्वास हैं, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्राप्त यह तो व्याप्ति दें कि भाषणको मिठु क्या करना है और मिठु क्या करते हैं। मैं फिर स्माण दिलाता हूँ कि “जागवतादि पुराण हैं” यह भाषणका मात्र है। “शतपथादि पुराण हैं” यह स्वामी जी का मात्र है। अब न तो ईश्वर के श्वास होने से यह मिठु होता है कि जागवतादि का नाम पुराण है, न यह मिठु होता है कि शतपथादि को पुराण नहीं कहते, किन्तु आपके लेखानुसार इतना गवाइय नि नलता है कि पुराणविद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र व्याख्याग अन्त्याख्यानादि गब ईश्वर का इवास है। मैं यह पूछता हूँ कि यदि श्लोक ईश्वर के इवास हैं तो क्या “ऋयोवेदस्य कर्त्तारोभगवधूर्तनिशाचरा:” इत्यादि गात्तिकनिमित्त श्लोक भी ईश्वर के इवास हैं? इस पक्ष का अच्छे प्रकार खण्डन भी और इस शतपथ की कणिका का अर्थ सब भेरे बनाये “ऋगादिगाद्यभूमिकेन्द्रूपरागे द्विनीयोऽगः” मैं किखा है, जिन को विशेष जिज्ञासा हो, वहाँ देखलें ॥

८० तिं० भा० प० ४६ पं० ११ मैं जो “भरे अस्य महतोभूतः” भी और इस का अर्थ किखा है। इसका उत्तर भी भेरे बनाये “ऋगादि-द्विनीयोऽगः” मैं किखा है ॥

८० तिं० भा० प० ४६ पं० २४ मैं आश्वलायनसूत्र लिखा है-

अथ स्वाध्यायमाधीयोत ऋचो यजूऽपि सामान्यथर्वाङ्गि-
रसोन्नाम्नानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणा-
नीत्यमृताहुतिभिर्यदृचोधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन्स्वधा
उपक्षरन्ति। यद्यजूऽपि घृतस्य कुल्या, यद्सामानि मध्वः कु-
ल्या, यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या, ब्राह्मणानिकल्पान् गा-
थानाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृतस्य कुल्या, यथाव-
न्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति। नमोन्नामे, नमोस्त्व-
ग्नये, नमोपयित्र्यै, नमओपधीभ्यो, नमोश्चाचे, नमोश्च-
स्पतये, नमोविषणवे महतेकरोमीति ॥

भाग्य यह है कि जो ऋगादि चारों बंदों को भीर ब्राह्मणादि पर्यायों को कल्प गायादि सहित पढ़ने हैं उग के पितरों का स्वधा से अभिषेक होता है, ऋग्वेदाध्यायी के पितरों को दूध की, यजुर्वेदपाठियों के को घृत की, सामाध्यायियों के को मधु, अथवाध्यायियों के जो सोन भीर ब्राह्मण कल्प नाराशं वी इतिहास पुराण पढ़ने वालों के पितरों को असृत की कुरुपा प्राप्त होती है। इत्यादि ॥

प्रत्यक्षतर-माध्य की मिठु वा यहाँ भी पता नहीं। क्यों कि इस से भी ब्राह्मण यन्थ पुराण नहीं है, यह भी मिठु नहीं होता भीर न यह होता है कि सागवतादि का नाम पुराण है। किन्तु तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में स्वाध्यय [पद्मेन्द्रपी] यज्ञ को पितृयज्ञ की उपसा दी गई है कि जैसे पितरों की सेवा दुग्ध घृतादि से की जाती है वैसे ब्रह्मचारी जो गुरुकुल में रहता है वह गपने माता पिता को घर छोड़ जाता है, उसका वेदादि पढ़ना ही मातों पितृसेवा है। वह जो ऋग्वेद पढ़ता है सो ही मातों पितरों के लिये दूध की कुरुपा [नहर] बहाता है, यजुः पढ़ता है सो घृत की, जो साम पढ़ता है सो मधु की, जो अथर्व पढ़ता है सो सोन की, जो ब्राह्मण यन्थों का पढ़ता है जो कि कल्प गाया नाराशं वी इतिहास पुराण बहाते हैं सो मातों असृत की नहरें बहाता है। इस से यह तो सिद्ध न हुवा कि ब्रह्मण यन्थ पुराण नहीं है, न यह कि भागवतःदि पुराण है, किन्तु चारों बंदों का कल्प कर फिर ब्राह्मणों को वेरों के पश्चात भीर पथक गिनाने से ब्राह्मणों का बंदों से पृथक होना, वेद न होना, बंदों से दूसरी ओरी का होना भीर उनके पुराण इतिहास गायादि नाम होना ही पाया जाता है ॥

६० तिं० भा० प० ४७ प० १२ मे-

सप्तद्वीपा वसुमती ब्रयोलोकाश्रत्वारोवेदाः साङ्गाः सरहस्याः
बहुधाभिन्ना एकशतमध्यर्युशाखाः सहस्रतर्मा सामवेद एक-
विंशतिधा बाह्वृच्यं नवधार्थवर्णोबंदोवाकोवाक्यमितिहासः
पुराणं वैद्यकमित्येतावाऽऽछद्दस्य प्रयोगविषयः ।

महाभाष्य । १ आठुक

यदि नाराशंसी का नाम ही पुराण होता तो साङ्ग लिखकर फिर पुराण लिखने की क्षमा भावशयकता थी। पूर्वीक वाक्यों से मिठु है कि ब्रह्मण, उप-

निष्ठ हूम्रादि से मिल ही पोहुं पुराण और इतिहास संज्ञा बाले यन्त्र हैं। इतिहास का पुराण विशेषण भानों तौर परिहास पुंजिङ्ग है उस का विशेषण पुराण न पुंमकलिङ्ग गहर्ही हो सका, अतः पुराण जो इतिहासभी कोई मिल यन्त्र है॥

प्रत्युत्तर-यदि उच्चमहाभाष्य में यहीं ब्राह्मण पद भी भाता और इतिहास पुराण शब्द भी मिलविषयक भाते तौर परिहास में यहीं भिल हैं परन्तु जब ब्राह्मण पद नहीं है और इतिहास पुराण शब्द हैं तो इस कह मक्के हैं कि ये ही पद ब्राह्मण के ऐसे भाग के नाम हैं जिस में कोई कथाप्रसङ्ग है वह ब्राह्मणभाग इतिहास है। जैसे:-

जनमेजयोह वै पारिक्षितोमृगयाज्ञरिष्यन्हंसाभ्यामशिक्ष-
न्तुपावतस्थद्विति तावूच्चनुजनमेजयं पारिक्षितमभ्याजगाम।
सहोवाच नमोवां भगवन्तो कौ नु भगवन्ताविति। गोपय।

प्रपाठक २ ब्रा० ५॥

यहां परोक्षित के पुन जनमेजय की सृगयायात्रा और दो परगहंसों (गन्धारियों) का मिलना उन को नमस्कार करके पूछना कि भाषप कौन है ? इत्यादि इतिहास है ॥ और स्तुष्टि के भारमध्य मध्य के ऋषियों का यण्णल तिस में हो वह ब्रह्मण्यन्धीं का भाग “पुराण” कहाता है। जैसे:-

अग्नेर्कुर्विदेवायोर्यजुर्वेदः सूर्योत्सामवेदः। शतपथ । ११। ५॥

अग्नि वायु भादि ऋषियों से ऋगादि वेद छुवे। अग्नि वायु आदि तत्त्व न थे किन्तु जीवविशेष थे। यह सायणाचार्य अपनी ऋषिवेदभाष्य भूमिका में लिखते हैं:-

जीवविशेषैरग्निवाच्चादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ॥

* ८० तिथि शा० त० ८० पृष्ठ ६५ पर वेद में इतिहास मिलु करने को अपर्यं कारण २० । १२७ । १० का प्रापाण दिया है कि-

“ जनः सभद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः ” ।

उत्तर-यहां असिगन्यु के पुन परोक्षित का नाम नहीं है, किन्तु परि-
चारों ओर, ईक्षिता=देखने वाले राजा के राज्य में प्रजा सुख से बढ़ती है,
यह अर्थ है। वागदेवयं साम (यजुः १२ । ४) में ऋषिपर्याप्त वासदेव है,
व्यक्ति का नाम नहीं ॥

अथोत् जीवविशेष भावित वायु भा दित्यों ने वेदों को प्रकट किया है । हम से हम रीति से इतिहास और पुराण ये दोनों नाम ब्राह्मणों के ही हुवे । इतिहास पुराण का जो वार्षे हमने किया और ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण दिये यही अर्थ आप भी द० ति० जा० प०७ ४८ प०२ १० में लिखते हीं कि 'जिस में कोई कथा प्रसङ्ग होता है मो इतिहास । जिस में जगत् को पूर्वोत्त्वा सर्वादि का निरूपण होता है मो पुराण' मो ये दोनों बातें ब्राह्मण ग्रन्थों में (जैसा कि हमने ऊर गोपय और शतपथ का प्रमाण दिया) भी पाई जाती हैं, हम ने ये इतिहास पुराण हुवे । यदि कोई यह गङ्गा करे कि एक ही स्थान पर ब्राह्मण पुराण इतिहास गाथा नाराशरी ये सब नाम क्यों आये हैं जब कि ये सब एकाथं हैं । तो उत्तर यह है कि "ब्रह्मण" यह सभ-न्य नाम है और इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि उस के विशेषों को नाम हैं । जैसे "गृह" सामान्य गठन है और इस्मर्य (मदल) भवन शाला आदि उस के विशेष हैं । हसी प्रकार यहाँ भी जानो । और आपने ओं यह कहा कि साङ्ग कहने से शङ्गों में नाराशंसी भी आ जाती फिर माङ्ग लिख कर पुराण क्यों पृथक् लिखते । सो महाशय ! क्या आप वेदों के लः शङ्गों को भी नहीं जातते कि शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त उन्द और ज्योतिष ये लः अङ्ग कहाते हैं । इन में कल्प कहने से श्रीतमूत्रादि का यद्दण है । और पुराण इतिहास ये दो नाम ब्राह्मणों के उस विशेष भाव के हैं जिसमें कृपर लिखे अनुमार कथादि का प्रसङ्ग है । और यह भी जानना चाहिये कि यदि उपनिषदादि मिलाकर सब वेद हैं तो "धृत्यारोवेदाः" कहकर फिर "सर्वहस्याः" इत्यादि की कथा आवश्यकता रहती । भिन्न यहण से जाना जाता है कि ये ग्रन्थ वेद से भिन्न ही हैं ॥

द० ति० जा० प०७ ४८ प०२ से प०७ ४८ तक न्यायदर्शन के ग० ४ सूत्र ६२ और उस का वात्स्यायन भाष्य और उस का भावार्थ लिखा है तभ सब को लिखने से यन्य बढ़ेगा परन्तु मुख्य अंश उस का यह है कि-

" इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदागां वेदहति " और "यज्ञोमन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मेशास्त्रस्य विषयः"

अथोत् इतिहास पुराण ५ वां वेद है तथा मन्त्र ब्राह्मण का विषय यह है, इतिहास पुराण का विषय लोक का वृत्तान्त है और लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मेशास्त्र का विषय है । यहाँ ब्राह्मण से जिक्र इतिहास

पुराण का विषय पढ़ा है और भिन्न ३ नाम भी, इत्यादि ॥

प्रत्यक्षर-एक ही ग्रन्थ का भासान्य विषय एक होता है और उसी ग्रन्थ के विशेष भागों के विशेष विषय भिन्न २ होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण सासान्य का विषय पड़ता है। यह लिखकर ब्राह्मण के बे विशेष भाग जिन का भाग पुराण भी इतिहास है, जिन के दो उदाहरण भी इसमें ऊपर लिखे हैं, उन भागों का जिन "लोकसृत" विषय है। इस कथन से विषयमें ही मिलते होता है, ग्रन्थमें नहीं। क्या एक ग्रन्थ में अनेक विषय नहीं होते? आप के ही इस ३० तिन भाग में अनेक विषय हैं, फिर क्या यह एक ग्रन्थ महांहों? और यह कि इतिहास पुराण की ग्रामाणिकता में ब्राह्मण ने प्रमाण दिया है कि यह पश्चात् वेद है। वेद का उत्तर यह है कि वेद तो ४ ही है। इतिहास पुराण को पश्चात्मवेद कहना उम की प्रशंसा है, किसी पुहष की प्रशंसा में कहते हैं कि यह तो दूसरा युधिष्ठिर है वा दूसरा वृहस्पति है। यथार्थ में युधिष्ठिर वा वृहस्पति दूसरे गहरी हैं परन्तु धर्मोत्तमा और विद्वान् अधिक होने से दोनों को उपरा दी जाती है। इसी प्रकार इतिहास पुराणसंज्ञा ब्राह्मणभाग की यह प्रशंसा है कि ये पांचवां वेद हैं। क्या आप यथार्थ में किसे जारी घेद अपीहयेय हैं अर्थात् किसी पुहष के बनाये गहरी ही इसी प्रकार यह समझते हैं कि इतिहास पुराण भी वास्तव में ५ वर्ग वेद हैं और ये भी अपीहयेय हैं? पदि ऐसा है तो आप ग्रन्थ पीराणिकों के सदृश यह भी न मानते होगे कि पुराणों के कर्ता व्यास हैं। अन्त में आप को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह वाक्य प्रशंसापरक है। यदि यह कहो कि ब्राह्मण का फोरू भाग पुराण है तो उम में अपनी प्रशंसा आप ही क्यों की गहरी, तो उत्तर यह है कि मनु ने भी अपनी प्रशंसा में यह कहा है कि-

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्तीन्यानि कानिचित् ।

अर्थात् अल्पविद्या वाले लोगों के बनाये ग्रन्थ भाज बनते हैं, कल नह होते हैं, जो कि इस मनु के भत्तिरिक्त कोई ग्रन्थ है। इस से मनु ने अपना प्रमाण और प्रशंसा, दूसरों (अल्पविद्यारचितों) का भापनाण और निष्ठा की है, सो ठीक है। यदि आपने विषय में उचित प्रशंसा वा कथन कोई न करे तो दूसरे द्वारा प्रशंसा न होने तक उस में अद्वा वा ग्रामाण्य कीते हो। यदि आपने विषय में स्वयं ग्रामाणिकता का कहना अच्छा नहीं तो आपने ही अपने इस ३० तिन भास्कर की प्रशंसा और ग्रामाणिकता को ज्ञानामे के लिये

भारतमें सुर्खी से घन्थों के नाम और टाइटल पेज पर “वेद ब्राह्मण शास्त्र इति पुराण वैद्यकादि प्रगाथों से शलंकृत” यह प्रशंसा और सामाधार कर्तों लिखा है और जब आप ने ही टाइटल पेज पर वेद शब्द लिख कर फिर ब्राह्मण और पुराण शब्द भिन्न लिखे हैं तो उनको क्यों यहते हो कि पुराण ५ वर्ष वेद हैं। यदि पुराण ५ वर्ष वेद हैं तो जैसे वेद काहने में अग्न, यजुः, साम, वायर्व इन ५ का आये आ जाता है, जैसे ही ५ वर्ष का भी अर्थ आ जाता ॥

६० तिं० भा० प० ४०८० प० १२ में अथवावेद के सन्नमें इतिहास पुराण गःथा और भाराण्यमें पद को देख कर कहते हैं कि वेद में भी इतिहासादिस्पष्टता है ॥

प्रत्युत्तर-वेद में सामान्य शब्द इतिहास पुराणादि हैं, किसी शिवपुराण अधिनियुराणादि आप के असिमत पुराण का नाम नहीं । वेद में यदि “मनुष्य” शब्द आज वे ती क्या आप कहेंगे कि वेदों वेद में मनुष्य शब्द है और हम (प० उत्तरानामसादि) भी नहूँ । है इस लिये इतारा वर्णन वेद में आया है । हम का सविस्तर चर्चर मेरे बनाये “ऋगादिभाष्यमूलिकेन्द्रूपरागे द्वितीयोऽप्यः” में छपा है, वहां देख लीजिये । जैसे आप ने महामोहविद्रावण, सत्यार्थ-भास्कर, सत्यार्थविदेक, गहतावदिवाकर, मूर्तिरहस्य, मूर्तिपूजा आदि पुस्तकों के आशयों को इन्हाँ करके प्रष्टपेण किया है जैसा हम गच्छा नहौं समझते ॥

६० तिं० भा० प० ४९ प० १६ म०-एवमिमेमर्विवेदा गिरिताः सकल्पाः सर-इस्याः स्वाहासाः सोपगिष्ठकाः सेतिहासाः । इत्यादि । गोपय के वाक्य को उद्धृत करके शब्दों की है कि यदि ब्राह्मण और इतिहास एद ही पुस्तक के नाम होते तो “स्वाहासः” कहकर “सेतिहासः” न कहते ॥

प्रत्युत्तर-आप ती भी पुराणों को ५ वर्ष वेद लिख चुके हैं फिर “क्वे वेदाः” कहने में इतिहास भी (जो आप के लेखानुमार ५ वर्ष वेद है) अन्त-गत था, फिर “सेतिहासः” क्यों बहा ? इस लिये आप का तर्क आप ही के पक्ष में दोषारोपण करता है । ब्राह्मण शब्द सामान्य कहकर भी ब्राह्मणान्त-गत उपर्युक्त और इतिहास का फिर से गिनाना यह सुचित करता है कि ब्राह्मण वा वेद के जिस भाग में विशेष कर ब्रह्मविद्या है उस भाग का नाम भिन्न इतिहास पड़ा । इसी से वे युनः भी गिनाये गये । जैसे “भगवत्पूता” भगवान्नरत के शलगंग में है परन्तु विशेष प्रकारण का विशेष नाम “भगवद्वीता” यह भिन्न भी है । इसी प्रकार यहां जानिये ॥

३७ तिं० भा० पृ० ४६ पं० २६-भीर सूत्रहार से भी तो "भश्वनेध" प्रकरण में ८ वें दिन इतिहास भीर ह वें दिन पुराण का पाठ करना लिखा है। इन से निश्चय हो गया कि पुराण इतिहास, ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ है॥

प्रत्युगर- धन्य है! आप का ऐसे लिखा हो जाता है तभी तो इतना पुस्तक अद्वाय यैठे। भाला ४८ वें दिन में पुराण इतिहास सुना आदि ८८ में यह किसे मिठु होगया कि ब्राह्मणों से पुराणादि पृष्ठक हैं? प्रत्युत यह मिठु होगया कि सूत्रहार के मन्त्र में आप के साने व्यासकृत १५ पुराण ती थे ही नहीं, वह से सूत्रहार से ब्राह्मण ग्रन्थों ही को लक्ष्य करके इतिहास पुराण का पाठ लिखा है। व्यास जी से पूर्व भी कई राजाओं ने भश्वनेध यज्ञ किये उस यज्ञों में ८ वें ह वें दिन ब्राह्मणग्रन्थों ही का पाठ किया होगा॥

३७ तिं० भा० पृ० ५० भीर ५१ में मनु, गङ्गापात्रत, वौल्नीसीयरामायण, शमरकीय के श्लोक गिन में पुराणशब्द भी८ पुराण का लक्ष्य है; जिसे हीं परन्तु उनमें से किसी में श्री"ब्रह्मवैवत्सोदि" का नाम पुराण है यह नहीं लिखा ती किर मामान्य पुराण शब्दगात्र आने से कुठ भी सिद्ध नहीं हो सका। हाँ, वह पुराण मिठुप्रकरण भरमें केवल एक श्लोक ३० तिं० भा० पृ० ५० में लिखा है कि-

एवं वेदे तथा सूत्रे इतिहासेन भारतम् ।

पुराणेन पुराणानि प्रोच्यन्ते नात्र संशयः ॥

ओ इस श्लोक का कुछ पता नहीं लिखा कि यह किस ग्रन्थ का श्लोक है। हमारी ममक में तो यह प० उत्तालाप्रसाद का ही कृत्य है। जैसा इस श्लोक में लिखा है कि "इस प्रकार वेद व सूत्र में इतिहास से भारत और पुराण में पुराणों का ग्रहण है इस में संशय नहीं"॥ ऐसा जपर के लिखे वेद ब्राह्मण गङ्गाभाष्यादि में कहीं भी नहीं। मनु, रामायण को तो आप जी व्यास जी से पूर्व रचित मानते हैं किर मनु वायाहमोकि के प्रमाणों से व्यासकृत पुराणों का ग्रहण करना भव्याम नहीं तो क्या है? इति ॥

तिलकप्रकरणम्-

मत्यावैत० पृ० ७३ पं० १९ में जो तिलकादिधारण से "पापमाशक" विद्वाम को मिथ्या कहा है उस की मर्माक्षा ३० तिं० भा० पृ० ५१ व ५२ में इस प्रकार की है कि जैसे "नगस्ते" द्यानन्दियों का, "परमात्माजयति" इन्द्रगणिपत्यका, भीर का चिन्ह गवर्नरमेट की वन्तु का चिन्ह है वैसे ही तिलकादि के भेद

रस्मदायों के चिह्न हैं और चन्दन के गुण राजनिधनद्वारा में लिखे हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—“जनस्ते ० चिह्न नहीं किन्तु शिष्टाचार है । और चिह्न होमा और बात है तथा पावनियुक्ति का उपाय समझना और बात है । स्वासी जी पापनाशक विद्वाम का खण्डन करते हैं । और भिन्न २ वेदविरोधी सम्पदायों के चिह्न धारण करना भी शब्दान्वयन है । आप जी चन्दन के गुण बताते हैं सो सी केवल लेपन और क्षायादि में पान करने को हैं गिर से कोई नकार नहीं करता । स्वासी जी चन्दन के शर आदि लगाते थे और आर्य लोग भी लगते हैं, उन को अद्वितीय हुदू है । आप के ऋष्वपुण्ड्र दि में चित्ताभस्म के तिनक का विधान हाने से मुर्दे के राख का बुरा प्रभाव आप के शैव अनुयायियों पर पड़ा है इसी ऐ वेदविरोधी के विरोधी बने हैं ॥

४० तिं प० ५२ आप का सत वेद है तो सन्धादि के प्रसाद्यायों लिखे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर वेद अन्य नव ग्रन्थों का सूल है इस लिये स्वासी जी ने वेद और वेद के अविद्यु गन्ध शास्त्रों के प्रसाद दिये हैं । सन्धानी (स्वासी जी) ने नवये नहीं छोड़े, न नक्के में पुस्तक बंधे किन्तु लोकोपकारार्थ आयों ने समाति करके स्वासी जी के द्वारा वैदिक धर्मप्रवन्धी पुस्तकों के प्रवारार्थ वैदिक यन्त्रालय स्थापित किया था और है, स्वासी जी ने उस में का स्वयं कुछ नहीं भोगा । आप ज़रा काशी के स्वासी विशुद्धानन्द जी आदि पर ती दृष्टि हालिये कि कैसा ठाठ व विसूति है ॥

इति तुलसीराम स्वामिविरचिते भास्करप्रकाशे दत्तीपनमुद्घात-मण्डनम्

चौथम्

अथ द० तिं० भास्करस्य चतुर्थसमुद्घासखण्डनम्

सत्यार्थ प० ५० ९८ में लिखा है कि (शमपिण्डा थ०) इस मनु के जन्म-सार सासीध्य में विवाह नहीं करना और उन मनु धर्मशास्त्र की जाग्ञा दी पुष्टि में ८ युक्तियां सी स्वासी जी ने दे दी हैं ती पं० ४३ उवालाप्रमाद जी वा किसी भी मनु के मानने वाले को धर्मशास्त्र की सहायक युक्तियों का विरोध उचित नहीं । परम्पुरा पं० उवालाप्रमाद जी को ती पीछा ही करता है । इस लिये इन सहायक युक्तियों का भी प्रतिवाद ही किया है । सो

यद्यपि ऐसे छोटे विषयों पर धन्य बढ़ाना तो ठिक है तथा पि उन में से मुख्य २ बातों का उत्तर इस की भवश्य देना है सो लिखते हैं ॥

इस उन युक्तियों की संपेक्षा करते हैं जो परिवर्त विवाह के गुणों में दी हैं। वे और उन के अनुपायी सदा पहीम में ही विवाह कर लिया करें। स्वामी जी ने तो अपनी शःख्सनुसारिणी एवं शोकोपकारिणी शुद्धि ने दूर देश में विवाह की रीति पर बल देगर चाहा था कि शार्यर्थम् का गीरब देश देशान्तर तक रहे और यदि दीर्घाव से पूर्वकाल के समान शार्यों का सम्बन्ध देशान्तर वा द्विपाल्तर से गृह न छोता तो हमारे सूचारे आदि वेदविकृद्ध मत फैल कर मनुष्यता ती की दु-
ष्टगा ही क्यों होती। और क्यों सङ्कीर्णहृदय मनुष्यों की संख्या बढ़ती, क्यों अनैक्य और फूट बढ़कर एक मनुष्य जाति के स्थान में अनेक दिनदूर सुसङ्गमान आदि जातियाँ बनतीं, क्यों एक वैदिकधर्म के अनेक मत बनते ? परन्तु सामान्य लोग उन की दूरदृश्यता गम्भीर्य को नहीं समझ सकते। दीर्घाव ॥

हाँ, एज आत द० तिं प० ४७ में यह लिखी है कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३८ में जो:-

परोक्षप्रियाद्वय हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । शतपथ

प्रसादा दिया है सो यह “कहीं की छंट कहीं का रोहा” के समान है क्योंकि शतपथ में यह देवताप्रकरण है, विवाहप्रकरण नहीं और ऐसा पाठ है कि:-

तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते ।

तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते ।

तं वा एतमङ्गं रसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते । शतपथे अग्निर्ह वैतमग्निरित्याचक्षते । तत् इन्द्रो मखवान् भ-
वन्मखवान्ह वैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् परोक्ष-
कामा हि देवाः श० १४ । १ । १ । १३ ॥

गोपय ब्राह्मण के प० प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्य-
क्ष से द्वेष करते हैं। इस कारण वरण शठ० को वरुण, मुख्य को मृत्यु और

भग्न रथ को भग्निरा कहते हैं। शतपथ में लिखा है देवता परोक्षकामा है इस कारण परोक्ष में अधिको अविन, अनु को अश्च, और अखात् को सघशन् फहते हैं इत्यादि। दयानान्द जी ने विवाह में प्रसंग लगा दिया॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने भी इस को विवाहप्रकरण का नहीं बताया किन्तु दृष्टान्त दिया है कि जैसे देवता परोक्षमिय हैं वैसे मनुष्यों के इन्द्रियों में भी देवना रहते हैं इस कारण मनुष्य को भी दूर भे जिल्ली वस्तु में अधिक प्रीति होती है, इन लिये दूरस्थों का विवाह अधिक प्रीतिप्रद होगा, यह तात्पर्य है। यह नहीं कि ब्राह्मण यन्त्र में दूरदेश के विवाह की विधि है किन्तु मनु के वाक्य को ब्राह्मण यन्त्र से उपु लिया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है तदनुसार केवल इतना अंश ब्राह्मण यन्त्र का प्रमाण में है कि “परोक्ष को देवता द्यार करते हैं” तो परोक्षोंके विवाह में भी द्यार अधिक होगा और आपने जो परोक्ष विवाह का खण्डन किया सो देवत प्रकृति से विरुद्ध हुआ तब आसुरी प्रकृति का है वा अन्य कुछ? सो आप ही विचारलें। परोक्षकारक स्वामी जी को “कहीं की इंट” का उलाहना न है। गोपय ब्राह्मण में यह पाठ कहे ठिकाने उपस्थित है॥

१-प्रपाठक १ कथिका १ तथा २ तथा कथिका ३ में १ वार कथिका ३० यथा-

परोक्षप्रियाद्वय हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ।
भीर अःपत्ने जो—

परोक्षकामा हि देवाः । शा० १४ । १ । १ । १३ ॥

लिखा है उस का भी ग्रन्थ यही है कि देवता परोक्ष वस्तु की कामना करते हैं। तब स्वामी जी का कहना बुरा लगने का कोई कारण द्वेष के अतिरिक्त नहीं है॥

रही यहवात कि शतपथ में यह पाठ नहीं जो कि स्वामी जी ने लिखा है। सो प्रपत्ति तो शतपथ समस्त का पाठ किये विना ऐसा कहना फटिन है कि शतपथ में नहीं। क्योंकि आप से जो १३ वीं कथिका का पाठ लिखा है वह भी शतपथ में पूरा १ इस प्रकार नहीं जैसा आप ने लिखा, किन्तु पूर्ण कथिका इच्छ प्रकार है—

स उ पृथ मस्वः सविष्णुः । तत इन्द्रो मस्वत्रानभवत्नमस्वत्राहू
वैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।

श १४ । १ । १ । १३ ॥

किन्तु १३ वीं कण्ठिका पूर्णा ज्यर लिखे अमुमार बर्डिन के छपे शतपथ
में उपस्थित है; देख लें । इस में आप का लिखा—

अग्निहृवैतमग्निं०

इत्यादि पाठ देखने तक को नहीं । तब सी आप ही ने “कहीं की
ईट कहीं का रोहा” किया है । और इस में यह भी प्रतीत होता है कि
समस्त शतपथ का बाठ सो दूर रहा किन्तु इस १४ । १ । १ । १३ का बाठ
भी आप ने देखा भाला नहीं और बाटकलपच्छु लिख दिया । तब कैसे आप
हुड़ विश्वाम करते हैं कि यह बाठ शतपथ में नहीं है ॥

हूमरा-यह भी हो सकता है कि शतपथ के “परोक्षकागा हि देवाः”
का और गोपय के “परोक्षमिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः” का एक
ही शाश्वत होने से दोनों पुस्तक जिन स्वामी जी ने पढ़े थे उन की बाणी
में ‘गोपय’ शब्द के स्थान में ‘शतपथ’ शब्द भौतिक लेखक को लिखाते
मपय निकल गया हो या स्वामी जी ने गोपय शब्द लच्चारा हो परन्तु
लेखक ने ‘गो’ के स्थान में ‘शत’ लिखा गया हो । समस्त मत्यार्थप्र० के सह-
स्राविध प्रमाण स्वामी जी ने भौतिक ही लेखकों को लिखा थे हैं । यह बात
इस में भी पाई जाती है कि सन् १८८४ के प्रयाग में छपे दुवारा सत्यार्थ-
प्रकाश तक में जितने प्रमाण छपे हैं उन में सब ग्रन्थों के गाममात्र ही छपे
हैं, विशेष पता गहीं, यदि ग्रन्थ देख २ कर लिखते तौ गम्यायादि के पते
भी लापते लिखते जैसा कि लोगों के हङ्गाम भवाने से संबंध १८४८ के भजमेर
के छपे शत्यार्थप्रकाश में मनु भादि ग्रन्थों के बहुत से पते पञ्चतों वे हूँडवा २
प्रकाश छपाये हैं । स्वामी जी महाराज भवने विचार को सत्य, पक्षपात-
उद्दित, हुड़ जानते थे, इस लिये पते हूँड कर लिखने लिखाने की देरी करना
आपने परोपकारक जीवन में पूर्णना भावहुवे कामों का विघ्नारक समझते थे,
क्षीसरे-स्वामी जी ने शतपथ शब्द गोपय शब्द के स्थान में जामबैंझ कर
बदल कर कोई स्वार्थ भी मिहु नहीं किया । दोनों का तात्पर्य एक होने
से उन के मिहान्त की पुष्टि के लिये दोनों ही ग्रन्थों के पाठ नहायक हैं ।

केवल गोपय के पाठ में “भवन्ति” यह क्रियापद अधिक है। जो, यदि न होता तो अध्याहार भी यहीं हो सकता था। इस लिये भाषण का इतना अखेड़ा समाना चरित नहीं है। और भाषण ने जो पृ० ५३ पं० ६ में “तं वा एतं वर्णं सत्तं यत्त्वा इत्यावस्ते” इत्यादि पाठ लिखा है सो यन्त्र का नाम भी नहीं कि कहां का है? और पं० ११ में जो “गोपयद्वास्त्रण के प्रपाठ में लिखा है तिं देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं इस कारण वरण को वरण, इत्यादि” यदि यह अर्थ उत्तर के संस्कृत का होने से और गोपय प्रपाठ १ कं० ७ में ढंडने से हमने भाग भी लिया कि यह संस्कृत पाठ गोपय का है, तो भाषण ने गोपय और शतपथ को मिला कर अर्थ लिया किया? उग का भाषण में क्या सम्बन्ध, जब यन्त्र ही शिल्प २ है?

४० तिं० भा० पृ० ५९ पं० २२-उत्तर लिखी सत्यार्थप्रकाश की वार्ताओं का सिद्धान्त यह है कि २५ वर्ष में कन्या, ४८ वर्ष में पुष्टि विवाह करे॥

प्रत्युत्तर-यह सिद्धान्त नहीं है किंतु मिद्दान्त यह है कि १६ वर्ष से १४ तक कन्या तथा २५ से ४८ वर्ष तक पुष्टि के विवाह का काल है। इस से पूर्व और पश्चात् नहीं॥

४० तिं० भा० पृ० ५९ पं० २६-जिस के भरण पोषण का भार सदैव को घिर पर लिया जाय उस का जो भाव उस को भार्योत्तम कहते हैं॥ किर-

पृ० ६२ पं० २६-इस समय की प्रथा जो भानुसार पांच वा तीन वर्ष में द्विरागन्त होता है, किर एक या दो वर्ष में भाया जाई खुलती है जिस को (रीगा) कहते हैं। इस समय तक क्यी की अवस्था पन्द्रह वा सोलह वर्ष की हो जाती है। और वर भी २५ वा २६ वर्ष का हो जाता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-यदि भाषण सदैव के लिये भरण पोषण का भार लेने से भार्या मानते हैं तो इस द्विरागन्त और रीगा तक के ५।३ वर्षे तक भरणपोषण का भार पिता पर रहने से आप के भतानुमार वह लड़की इस की क्या कही जाय? उतने काल तक आप के प्रचलित भत में भत्ता तो नाम ही का भत्ता है। यथार्थ में भरण पोषण तो पिता करता है, उसी के घर में रहती है॥

४० तिं० भा० पृ० ५९ पं० २६ (तस्य स्वीकारदृपं ज्ञानं विशेषस्य सम्बायविषयः तपेभेदात् वरकन्ययोः विवाहकर्तृत्वकर्मत्वेति) भार्यात् भायो का स्वीकार रूप जो कियेव ज्ञान है तिस में समवाय और विषय दो महार के भेद होने से इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-उक्त संस्कृत का भावानुवाद न जाने कीन से व्याकरण में किया है। पं० उद्वालामसाद् जो का न्याय भी निराला है जिस में वर कन्या का समवाय सम्बन्ध ज्ञान विशेष है। “ज्ञानम्” और “विशेषस्य” का अर्थ “विशेष ज्ञान है” भी जनोखा होते हैं॥

८० तिं भा० प०० ६० प०० ६ (अट्टवर्षी भवेद्गौरी) यही इतोक लिखा है जो परागर जी ने लिखा है। यह लेख संज्ञामात्र आनन्दी है। यह नहीं कि ८ वर्ष की गौरी ही हो जावे। तुम्हारा ज्ञान दयागम्भ या सौ भागम्भ ही रहना या, दुःख क्यों तुवा इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-संज्ञा भार्या भीर निरर्थन दोभार प्रकार की होती हैं। अस्तु आप ने गौरी भादि संज्ञाभार्यों को निरर्थक गाम लिया, अब हम कुठ नहीं कहते। स्वासी दपागम्भ सरखती जी को यथर्थे में अविद्याग्रहण लोक पर दया करते ही आनन्द या, अन्यथा लोकोपकार में दुःख क्यों सहते॥

८० तिं भा० प०० ६० प०० २० से-इनी से ८ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त कन्या का विवाहकाल है। जैसा भनु जी लिखते हैं:-

त्रिंशद्वप्तीद्विहेषकन्यां हृष्णां द्वादशश्वर्षिकीम् ।

त्रयगृवपर्षीष्टुष्वर्षां वा धर्मे सीद्विति सत्यवरः ॥ ६ ॥ ६४ ॥

६० वर्ष का पुनर १२ वर्ष की कन्या से विवाह करे। जो मनोद्वर हो। ६४ वर्ष का ८ वर्ष की से। इस में शीघ्र करने में धर्मे में पीड़ा होती है॥

प्रत्युत्तर-आप ने “धर्मे सीद्विति सत्यवरः” का अर्थ चलाटा किया। यथार्थ यह है कि-धर्मे सीद्विति=धर्मे गृह होता हो तौ। सत्यवरः=शीघ्रसारी। अर्थात् यदि कोई विपत्तिकाल हो जोसा कि यवमराज्य में तुवा (जिस की भनु ने भविष्यत् में विपत्तिकाल की मम्भावना से लिखा हो था अन्य किसी देश काल के ज्ञाता ने लिखा हो) तो शीघ्र विवाह करे अर्थात् ८ वर्ष जी से २४ वर्ष का भी विवाह करले। क्योंकि इसी नवमाध्याय के ५६ वें इलोक में कह आये हैं कि:-

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ।

अर्थात् इस से भागे आपत्काल का ल्लोभर्मे कहूँगा। तदनुसार ५६ वें इलोक से ३४ वें इलोक तक नियोग तथा मूल्य देकर कन्या पहण जा बर्णन करते करते यहां विवाह की अवस्था भी आपत्काल की हो कही है

जीर यही “धर्मे सोदति सत्परः” इस चतुर्थ प्राद् का तात्पर्य था, जिस को आपने लौट दिया ॥

४० तिं भा० प२ ६० प० २१ से—शास्त्रों में ऋतुमती खी के पास न जाने का सहादीष कथन किया है। उस का कारण यह है कि वह मग्य मन्त्रान्तो-स्पति का होता है और ऋतुशान विना विवाह कहाँ। यदि विवाह होगाय तो ऋतुमग्य में संयोग हो, जिस से कदाचित् मन्त्रान फी उत्पत्ति हो जाती है, स्त्याति ॥

प्रत्युत्तर-आप सी कार लिख आये हैं कि संयोग सी १५ वा १६ वर्ष की अवस्था में ही होता है क्योंकि ५। ३ वर्ष गीना रीना भाति में लगते हैं, जो यहां आंकर कर्म चीकड़ी भूल गये कि रजस्वला के पास न जाने से सहादीष है, लिखते हो । हमारे मन में तो ठीक है क्योंकि इग विवाह और संयोग के बीच ५। ३ वर्ष का ठववधान नहीं मानते और शास्त्रानुभार चतुर्थी में ऋतुशान मानते हैं परन्तु आप तो बीच में कई वर्ष विता के पास में रहना मानते हैं तब आप को इन प्रश्नों का उत्तर देने को रहा:-

द्विरागमन और रीता तथा भाया जाए खुलते समय तक भरण पोषण पिता करता है तो आप के मन में जापों लिम को हुई? भर्ता कौन हुवा? पिता के घर रजस्वला होनी रही तब ऋतुगामी किसे होना चाहिये? और ऋतुगामी न होने से सहादीषभायी वर होगा उस का प्रायद्वितीय क्या है? भयवा द्विरागमन से पूर्व वर भाया करे और चूपके से ऋतुशान दे जाया करे वा क्या करे?

द्यागच्छतिमिरास्कर पृष्ठ ६। पछिंकि ३—सुश्रूत अध्याय १० ॥

अयास्मै पञ्चविंशतिवर्षीय द्वादशशतर्षीं पत्नीमावहेत् ॥

विद्यासम्पन्न पुरुष को जिस की अवस्था २५ वर्ष की हो उस को १२ वर्ष वाली से ठवाह करना योग्य है इस से यह सिद्ध होता है कि पुरुष की अवस्था २५ वर्ष से कम न हो तब विवाह करे और कन्या की १३ अवस्था १२ वर्ष से कम न हो ॥

प्रत्युत्तर-जब कि सुध्रुतकार शारीरशान १०। ४७ में यह कहते हैं कि २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की खी गर्भवाग योग्य होते हैं और १२ वर्ष की से २५ वर्ष के फा विवाह हो तो जब कि खी १६ वर्ष में पहुचे तब तक पुरुष २५ वर्ष में

पहुँचे। तो सुश्रुत के पूर्वोपर लेख क्या विचार हैं? और सुश्रुत ने १२ वर्ष में किये लिखा। सम से आप १० वा १२ ये दो अर्थ कैने ले आये? हम तो यह मानते हैं कि सुश्रुतज्ञार जो विद्या थे, उन्होंने बहुत भाद्रि देशों को लक्षण में रख वर वहाँ के निर्णयहाँ ये इदूपरा वयन लिखा है। जिस से यह सिंह होता है कि जहाँ जब युवावस्था होती हो वहाँ तब ही विवाह करे। यहाँ वेद का विवृत्ति है। देशभेद में वयसंस्क्या भले ही भिन्न २ रहे। परन्तु २ वर्ष की सड़की किसी देश में भी युवति गहरी बातों हस लिये आप का लेख जो “गष्टवर्षो भवेऽ” के महान में है, किसी युक्ति गयवा सुश्रुतादि के मत से पुष्ट नहीं होता॥

३० निः भा० प०६१४०९८-में सहवास लज्जा भय अनुराग भीर स्नेह यह सब वास्त्वावस्थाभ्यस्त होने चाहिये, पठकिं १४-इन प्रकार वास्त्वावस्थाभ्यस्त सहवास शिर्यों के शछेद्य संयोग का गुण्य कारण है॥

प्रत्युत्तर-भाव का तात्पर्य यह है कि पति पत्नी में अनुराग सहवासादि वास्त्वावस्था से अभ्यास किये युवे तभी हो सकते हैं जब वास्त्वावस्था में विवाह हो। तीक्ष्ण यह अभ्यास को युक्ति शिर्यों को ही जपेजित है, पुरुष को श्वर्ण नहीं, क्योंकि पुरुष को ती आप भी २४ वर्ष से पूर्वोवस्था में विवाह के लिये कोई प्रमाण नहीं लिखते। घन्य है, जब वास्त्वावस्था से ही पति पत्नी का एक दूसरे में अनुराग सहवास का अभ्यास करना हो, यह यिक्षा दी जा रही है तभी तो शाल्क की उम सर्यादा का भड़ग होता है किन्तु वर्याद्रिप में विषय को कामना भी नहीं करती चाहिये। इसी यिक्षा से देश की दुर्दशा हुई॥

३१ निः भा० प०६१४०९१-पदि १६ वर्ष वा २५ वर्ष की शवस्था में विवाह करे तो दुश्वरित्र होने की बड़ी शक्ता है॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्

प्रत्युत्तर-“पत्या च विरहः” का अर्थ यह है कि पति से भलग रहना शिर्यों का विगड़ना है। सो गहाराज! यदि युवावस्था में विवाह हो तो पतिविरह होने की सम्भावना न्यून है। परन्तु आप ती ख्यय कहते हैं कि ५। ९ वर्ष द्वितीयन पर्यन्त विवाहिता कन्या पिता के घर रहती है। तब पिता के घर रहने भीर पति से भलग रहने से यह दोष सूती आप के मत में ही भाता है॥

३० तिं० भा० पृ० ६१ के आले और ६२ के आरम्भ से जो अहीं अवस्था में विवाह के दोष बताये हैं उन का चतुर इम प्रकार ॥

प्रत्युत्तर-विवाहिता कन्या के मत में विषयवासना अधिक आसन्नी है क्योंकि वह आगती ही कि पदि मेरी कोई कुचेष्टा भाना पिता आदि देखने में तो शीघ्र द्विरागण करदेंगे । सुभे दोष नहीं लगेगा, आविवाहिता गुरुकुम में पुरुष का दर्शन अवश्य पर्यन्त लज्जित रहने से विषयामन्त्र नहीं क्षेष्टिती ॥

३० तिं० भा० पृ० २० पं० २३ में २० वर्ष का पति होना योग्य है वा १५ वर्ष का, इम मे कमती निमो प्रकार नहीं ॥

प्रत्युत्तर-१५ वर्ष के पुरुष के विवाह में तौ आपके लिखे प्रगाणों से भी विरोध है । भला कन्या की बात तो दूसरी है । विवाह तथा संयोग के ममय में वर्षी का अन्तर व्यभिचार का होता है । इम लिये सुश्रुत के गतानुमार गर्भाधान के योग्यतावाली अवस्था में ही विवाह करना चल्हिये । जिन प्रकार विनाभूख भोगन अजीर्ण रोग करता है इसी प्रकारविना सञ्चालीतता योग्य अवस्था के विवाह करना भी व्यभिचार द्वय अवश्य आदि रोगों का मूल है ॥

३१ तिं० भा० पृ० ६१ पं० ५-ने स्त्री रूप को प्राप्ति होती है जाने कीनर्ती जाति के पुनर को प्रसन्द करे……इन वर्षमङ्गर को उत्तरति होती है ॥

प्रत्युत्तर-तौ क्या कन्या की भाता भी स्त्री होने से रूप की प्राप्ति होगी और वह निमो भन्य वर्ष से विवाह करदेंगी तौ वही दोष नहीं आवेगः ? स्वप्नवर में जो स्वनन्त्रता है वह ग्रास्त्रानुसारिली वर्णाव्यवस्था की तोह कर नहीं किन्तु अपने वर्ष में है । तथा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष को प्रसन्द भी नहीं करना ही ॥

३० तिं० भा० पृ० ६२ पं० १२ मे-जब कि कन्यादान शब्द विवाह में कहा जाता है तौ कन्या विना पिता की अनुमति कैरे पतिवरण करसकती है ॥

प्रत्युत्तर-आप भपनी ही विवाहपद्वितियों को देखते तौ आत होता कि उन में प्रथम यह लिखा है कि-

अथ वरं वृणीते

अर्थात् कन्या वर का वरण करती है । यह नहीं लिखा कि जाता तिरा कन्या से वर का वरण करते हैं कि इसे वरण कर । किन्तु-

स्वतन्त्रःकर्ता । १ । ४ । ५४ ॥

उस सूत्र के अनुमार “दृश्योत्ते” किया का स्वतन्त्र कर्ता कन्या है। कन्या द्वान पीछे होता है, जब फि पहिले कन्या स्वयं वरण करते हैं, जिसे वह घरण कर सेवे, उन्होंने वर के विषय पिता की ओर से कन्याभौमिय में वरक्रामूपणादि कैना शिष्टाचार है। उस का तत्त्व यह नहीं है कि पांतवरण करने में भाता पिता भपनी कन्या को परतन्त्र करें कि इसे ही वरों, किन्तु व्रद्ध-चर्य पूर्ण करके शास्त्र पढ़ो लिखो द्विजकन्या शास्त्रानुमार भपने वर्ण में स्वतन्त्रतापूर्वक अनुकूल पति का वरण करे। शास्त्रविशद्गु स्वतन्त्रता का नाम स्वतन्त्रता नहीं किन्तु स्वेच्छाचार भार्या है॥

४० तिं भा० प० ६३ पं० ११ चे-

बालये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तारं प्रेते न भजेत्खीं स्वतन्त्रताम् ॥
यस्मै दद्यातिपता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।
तं शुग्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥

(मनु अ० ५ श्लोक १४८, १५१)

बाल्यावस्था में पिता के बश में, यौवन में पति के बश में, भर्ता के मरने पर पुत्रों के बश में रहे, परन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे ॥१४८॥ जिसे इस को पिता देदे वा पिता की अनुमति से भाता देदे, उसकी यावज्ञीवग सेवा करती रहे और मरने पर आद्वादि करे, कुग के वशीकूत रहे, मर्यादा को न लड़वन करे ॥ १५१ ॥ इत्यादि प्रभाणों से ही स्वयं पति वरण नहीं कर-सकती स्वयंवर राणों में होता है॥

प्रत्युत्तर-प्रथम श्लोक का तात्पर्य तो यह है कि बाल्यावस्था में पिता का, यौवन में भर्ता का, वृद्धावस्था में पुत्रों का कवणा माने, वर के विशद्गु न चले। यह कहाँ जे निकल शाया कि शास्त्रानुकूल भपने वर्ण के पति का की स्वयं वरण न करे। पिता भ्राता आदि उस के स्वयं पतिवरण के विरोधी भी ज्यों होने लगे हैं जब कि वह पतिवरण के शास्त्र पढ़ कर तदनुकूल पति वरण करेगी। द्वितीय श्लोक पीर्य यज्ञदर्शनि निकालना पक्षवात है कि जिसे देदे उम की सेवा करनी रहे, किन्तु स्वयंवरपूर्वक पिता वा भ्राता की दान को हुई भपने पति को शुश्राव में अद्वापूर्वक तत्पर रहे तथा मरने पर जो मर्यादा जीते पति ने बांधी हों वर का उत्तम न करे। आदु का मूल

इनोंक में पता भी नहीं, परन्तु आप को आद्वाक्ष ऐसा मुह लगा है कि सर्वत्र वहीं दृष्टि पड़ता है और राजों में स्वयंवर होता है, अन्यों में नहीं। इस का कहीं धर्मशास्त्र में विधान भी नहीं है वा आपका कर्त्ता ने प्रसाद दिया और यदि स्वयंवर से लड़ी को स्वतन्त्रता होती है और आप के विचार में खिरों को स्वतन्त्रता अपर्म है तो यह तो बतलाइये कि स्वतन्त्रता के रोकने वाले धर्मशास्त्र के वे वयम जिन के अधार से आप खिरों की स्वतन्त्रता बढ़ी समझते हैं, उन प्रणोक्षों ने कहीं क्षत्रिया कल्याणों को वर्ज दिया है ? क्या वे इनोंक चातुर्वर्णये के लिये नहीं हैं ? या आप उन प्रणोक्षों को क्षत्रियों पर नहीं लगने में कोई मनाश रखते हैं ? यदि वे इनोंक स्वतन्त्रता को रोकते हैं तो राजों की कन्याओं के स्वातन्त्र्य को भी रोकेंगे । इस लिये सन् माना मिठुनत नहीं बन जकता कि राजकन्या स्वयंवर करें और अन्यकन्या न करें । शास्त्र में राजकन्या और अन्य कन्याओं के पत्तिवरण में भेद नहीं मतिपादित किया, न आप ने कोई ऐसा प्रमाण दिया ॥

६० तिं भा० प० ६३ प० २२ मे-

रामचन्द्र गद्वाराज का १५ वर्ष की विवाह हुआ या यह वासीकि से चिठ्ठ है और अभिमन्यु का भी थोड़ी ही अर्धांत १४ वर्ष की अवस्था में हुआ या इत्यादि ॥

प्रथुत्तर-प्रथम ती आप ने वे इनोंक भी नहीं लिखे जिन से रामचन्द्र और अभिमन्यु का १५ । १५ वर्षों में विवाह पाया जाय । द्वितीय आप १५ । १४ वर्ष की अवस्था में पुरुष के विवाह का कोई मनु धर्मशास्त्र का प्रमाण बताइये । यदि आपके लिखे शनुमार भी ब्रह्मचर्य का नमय मानें तो भी १७ वर्षे से पूर्व नहीं हो सकता । आप पृष्ठ ६० में ३० वर्षे के पुरुष को १२ वर्ष की, २४ वर्ष के को आठ वर्ष की कल्या बता चुके हैं, छथा पृष्ठ ६१ में उन्नत के मत से २५ वर्ष के को १२ वर्ष की बता चुके हैं तो या रामचन्द्र और अभिमन्यु ने धार्मिक होकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिमत ब्रह्मचर्य काल को न माना सो न सही, परन्तु आप के अभिमत को भी नहीं माना ? और रामचन्द्र जी ऐसा धर्मशास्त्र के विहुद्वाचरण करने पर भी अर्धापूर्वोत्तम कहलाते रहे ? और या १५ वर्ष के रामचन्द्र को ५ वर्ष की ही सीता विवाही गई थी ? यदि नहीं तो फिर अवस्था का २४ । ८ वा ६० । १३ । वा ३५ । १२ में शो अन्तर आप के मत में भी पुरुष और लड़ी में

रहना चाहिये, वह भी रामचन्द्र जी ने न करा ? और बालमीकीयरामायण में जो सीता और रामचन्द्र के युवति और युवा होने के बिंदु गीते वे श्लोकों में वर्णित हैं, वे क्या तिनी आर्यनशाली हैं मिला दिये हैं ॥

बालमीकीयरामायण अलकाशङ्क मर्ग १२ श्लोक ७ कल्पतरुयन्त्रालय छापा सुन्दर है चन् १०८८ में, विष्णु व विष्णवामित्र ने रामचन्द्र के वंशवर्णन (शास्त्रावार) के पश्चात् विवाह के पूर्व कहा है कि—

पुत्रा दशरथसंस्थाने रूपयौवनशालिनः ।

अर्थात् ये दशरथ के एक रूप और यौवन से युक्त हैं ॥ यदि १५ वर्ष की आवस्या रामचन्द्र जी की थी तो लक्ष्मण उन से भी छोटे थे, अतः उन से भी लग्न अवस्या थी । और चारों भाइयों का विवाह जगकपुरों में साप्त हो चुका था । और इस श्लोक में दशरथ के आर्द्ध पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, भग्न जो यौवनशाली लिखा है तो विचारना चाहिये कि यौवन किस अवस्था का नाम है । लक्ष्मण के गतानुसार-

आपशु विवतेर्दीयनस् ॥ आपोऽप्नाहृत्वद्विः । सूत्रस्यानम् ॥

१६ वें वर्ष तक वृत्ति विवाह तथा २३ वें तक यौवन होता है । फिर क्या विष्णु विश्वामित्र अज्ञानी थे ? जो १५ वें वर्ष में रामचन्द्र को यौवन-शाली कहते । और लक्ष्मण भी रामचन्द्र जी से भी छोटे थे फिर इन को यौवनशाली कैसे कहा जा सकता था ॥

अब जिन सीता आदि ४ कन्याओं का राम आदि ४ वर्षों से विवाह हुआ, उन को आवस्या का वर्णन सुनिये और देखिये कि आप को लिखी अवस्यानुमार विवाह में । १ । ५ वा ७ वर्ष पश्चात् द्विरागमन पर्यन्त वे विता के पर नहीं रहीं किन्तु उसी रामायण बालकाशङ्क मर्ग ११ श्लोक १४ में लिखा है कि—

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तुमिर्मुदिता रहः ॥

अर्थात् भर्त्ताओं के माध एकान्त देश में मुदित हुई वे सब रमण करती रहीं । फिर क्या रामचन्द्र १५ वर्ष के ही एकान्त रमण करने लगे और लक्ष्मण यती इस से सी पूर्व ? और इस आप के हिंसाब से लक्ष्मण की खी द । १० वर्ष की वय में ही ? । धन्य महाराज ! चाहिये तो यह या कि श्री-रामचन्द्र आदि शिष्टों के मार्ग पर आप चलते, जीरों को घलाते, उछटे आप

चतुर्थसुम्मानः

रागचन्द्र जी को ही इस कलियर्गी बालविवाह
आगकछ के लोगों की सांति रामलक्ष्मण। दि यी छायाँ भी—

बहू छाँ, घर छोटे लाला।

के ममान चौ? हम न दोवीं रागायण का ही वमाल हते हैं वा
किन्हीं गाँ नमन। जियों ने व ऊर लिखे इतोऽरामायण में सिला दिये वा
क्या हुआ? बाब आप ने जिसे १५ वर्ष कहाँ गये॥

बालमीकीय रागायण शायोध्याकाषण

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मं पिता ।

चिन्तामभ्यगमदीनो वित्तनाशादिवाऽधनः ॥

सर्ग ११८ श्लोक ३४ ॥

जन्मि ऋषि की स्त्री अनसूया के प्रति सीता अपना पूर्व वृत्ताल्ल सुनाती
है कि पतिसंयोग सुलभ मेरी आयु को देख भेरा पिता चिन्ता को प्राप्त
हुवा, जैसे धननाश मेरि निर्धन। पतिसंयोग सुलभ आयु ऋतु मे पूर्व नहीं होती॥

जीर इसी प्रकार क्या अग्निमन्त्र ने भी धर्मशास्त्रों पर हरताल लगाकर
१५ वर्ष की अवस्था में विवाह कर लिया था?

४० सिं० भा० ४० ६४ पं० १ से—इस समय सब लोग जो चारों वर्ण भे हैं
बहुधा बलकीं को फ़ारसी पढ़ाते हैं और इस फ़ारसी ने ऐसी दुर्दशा करदी
है कि योही अवस्था में इसी बालक फ़ारसी के शेर ग़ज़ल दीवान भादि पढ़
कर कामचेष्टा में अधिक मन लगाते हैं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—यह तो लोगों का अपराध है कि बालकों को ऐसे शेर ग़ज़ल
दीवान पढ़ा कर बिबाहते हैं। शास्त्र का अपराध नहीं। आप से यह तो
न बन पड़ा कि उपदेश और पुस्तक द्वारा इस कुशिक्षा को रोकते किन्तु इस
से यह फल निकालने लगे। एक तो कुशिक्षा ही बालकों की दुर्दशा कर रही
है, तिस पर बालविवाह का तुरा॥

४० सिं० भा० ४० ६४ पं० ११ से—

जब ४८ वर्ष में (जो क्षीण अवस्था होती है) जैसा कि लिखा है कि—
“चतस्रोऽवस्थाःशरीरस्य वद्वियैवनं संपूर्णता किंचित्परिह्वाणिष्वेति । शाषोह-
शावद्विः शापंचविंशतीयैवनं, शाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किंचित्परि-

हागिश्चेद्वि^१ भर्ते—इस शरीर को चार अवस्था हैं बुद्धि यौवन सर्वपूर्णता और किञ्चित्परिहणि । जन्म से लेकर १६ वर्ष तक बुद्धि अवस्था कहाती है भर्ता बड़ती है और २५ से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त सम्पूर्णता अवस्था कहाती है, पुनः ४० वर्ष से उपरान्त कुछ कुछ घने से लगती है अवाह किया तो दो दीन वर्ष उपरान्त ही पूर्ण ज्ञान अवस्था पुरुष और पूर्ण युवावस्था युक्त खो जाती है तो अब ‘बुद्धि अवस्था’ विषम्^२ बुद्धे को सहजोंचिष्ठि है, उन को जो बहुत मनमङ्ग भावा ही नहीं, अब वे किभी और नशवुवा की खोज करके धर्मच्छयुत होते हैं और जो यह कहते हैं कि ब्रह्मचर्य से आयु बढ़ती है तो यह भी नहीं देखा जाता क्योंकि स्वामी जी ने तो पूर्णता से ब्रह्मचर्य धारण किया था, परन्तु बहुवन वर्ष की अवस्था में ही शरीर लूट गया यदि स्वामी जी का ४८ वर्ष में किसी बीस वर्ष की अवस्था युक्त खो से विवाह होता सो वह विगारो अधिगिर पटकती या नहीं । हाँ प्राणायाम सदा-चार तादि करने से निश्चय आयु बुद्धि को प्राप्त होती है केवल वेद वेद वाणी से नहीं देखा श्रुतियें पढ़ने ही से अर्थात् जहाँ होता ॥

गत्यूतर-यह ऐसा इस लिये ठर्डे है कि जो कोई ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष रखते गए वह शीघ्र बहु नहीं हो सकता । ४० वर्ष के ऊपर क्षेणना का वर्णन सामान्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने वालों के लिये है । मत्यक्ष है कि स्वामी जी तहाराज ५८ वर्ष की आयु तक साधारण पहलवानों से अधिक बलिष्ठ जितेन्द्रिय रहे । आप से इसी पुस्तक के ११ वें समुद्भास पृष्ठ २५५ में स्वामी जी को विष दिया जाना लिखा है । तब क्या आप कह सकते हैं कि वे ५८ वें वर्ष में युद्धावस्था के कारण मराप्त हुए ? कदापि नहीं, वे १०० वर्ष पर्यन्त जीते और अगत का उपकार करते परन्तु शेष ५१ वर्ष के हांने वाले जगदु-फकारविरोधी किसी दृष्टि से प्राण ले जगत् की हानि का अपराध शिर पर ले अपना काला मुङ्ह किया, इस में ब्रह्मचर्य का क्या दोष है ? और सब की बहुता निमी प्रकार मिहु नहीं और आप ने १६ से २५ तक यौवन अवस्था को भर्ते से लिया निया ॥

८० तिं भां पृ७ ६४ पं० २६ से-

अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे ।

क्षमा सत्यं दयाशीच्चतपस्तेषां न विद्यते ॥ वाल्मी० ॥

राक्षसों के घर में भी अग्निहोत्र और वेदष्ठ परन्तु उन में क्षमा सत्य

दधा और पवित्रता और ज्ञान सुक्ष तप नहीं या इस में वे इस्तु में सुक्ष नहीं थे और यदि ब्रह्मचर्य ही आय का बृहु करनेवाला होता तो स्वार्थी जी को आय ४०० वर्ष की होती क्योंकि ये शरणे को योगी भी तो मानते थे अथवा पूरे भी ही वर्ष की होती जो ब्रह्मचर्य में ही आय दृढ़ता है तो आप का ब्रह्मचर्य ठीक नहीं और जो ब्रह्मचर्य ठीक तो आय क्यों नहीं बढ़ते ब्रह्मचर्य में तो चीर्य की अधिकता होती है जिस में शरीर में पूर्ण वसा होता है जैसा योगशःस्त्री में लेख है (ब्रह्मचर्योद्वीप्यताः) अर्थात् ब्रह्मचर्य में चीर्य का जास होता है हाँ योगास्त्रास प्राणायाम सुगाधी में आय की शृङ्खु होता है अन्यथा आय पूर्वकर्त्तुमार निर्णीत होती है जैसे नांति में लिखा है कि—

आयुः कर्म च धित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतानोह सृज्यन्ते गर्भस्थरस्यैव देहिनः ॥

आयु कमे धन विद्या गरण यद् पांच वस्तु देही के गर्भ में ही विषय हो जाती हैं सब ही बात कर्त्तुमार होती है इसी वकार जिस के कर्म में धेष्ठ्य है क्या उसे कोई मेटने को समर्थ है यदि कर्म निधा हो जाए तो जगत् की व्यवस्था ही मिट जाय यह गरण जीवन सब ही कर्मानुकार है। यदि बड़े हुवे विवाह हो तो क्या बड़ी उम्र में कोई विवाह होती है क्या बड़ी उम्र में विवाह करके कोई कर्म को मेट लकना है इस समय के विवाह और संयोग की रीत वागःह के भनुमार होनी चाहिये क्योंकि कलियुग के बास्ते यही अधिकांश में प्रगाढ़ा है।

अत्रिः कृतयुगे चैव द्रेतायां चरको मतः ।

द्वापरे सुश्रुतः प्रोक्तः कलौ वाग्भटसंहिता ॥

मतयुग में अत्रिसंहिता, त्रेता में चरकसंहिता, द्वापर में सुश्रुत और कलियुग के लिये वागःह संहिता है अब देखना चाहिये कि वागःह किस समय में स्त्री पुरुष का संयोग करता है।

पूर्णपोडशत्रष्णा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ।

शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्लेऽनिले हृदि ॥१॥

बीर्यवन्तं सुतं सूते ततोन्युनाददतः पुनः ।

रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भी भवति नैव वा ॥२॥

पूर्ण मोलहृ वर्षे दीखी श्रीम दर्श की अवस्था बाले पुरुष के जाथ मंग करने से शुद्ध गम्भोग्य और गर्माशय का मार्ग तथा तंधिर वीर्य भीर पवन छह्य से होने से रुदी सामर्थ्यवान् पुत्र को मण्डत करै इस से स्फूत ज़क्क्षणा वाले पुरुष और द्वीप के मंयोग होने से रोगी भीर अल्पायु और दृष्टि बालक होता है ॥

प्रस्तुतर-अग्निहोत्र और वेद राक्षसों के घासे में इन्हीं पूर्वज दिखाने को हो सकते हैं, अट्‌पृष्ठक नहीं। यद्योंकि उन में प्रद्युम्ना होवे तो उन के लेखनमार लभा मत्य दया जीच और तप वा भी धारणा नहीं। तथा आपके पुराणों में तौ रावण का भी तप तप करना और हिरण्यकशिपु राक्षस का तप करना तपकरके मृत्यु न होसे के लिये जिन रात्रि, देव मनुष्य पशु जादि से मृत्यु न होना, वर बांग कर भलार रहने का उद्योग करना, लिखा है। किर आप किस प्रकार कहते हैं? और रामायण के प्रलोक को कैसे गान सकते हैं? यदि स्वामी श्रीके पितृ पितामह भी ब्रह्मतर्य योगात्म्यामादि युक्त होते तो जिसन्देह उन की अवस्था ५०० वर्ष वा ३०० की होती और विष न दिया जाता तो जब भी वे १०० वर्ष में चढ़ द्याते। परन्तु ब्रह्मतात्त्विक में भपना काला मृत्यु करने वाले को परलोक में नरहयातना जो भोगती थी। (ब्रह्मच-यांद्युर्येत्वाः ।) इस प्रकार योग में कई सून नहीं हैं जिन्हें-

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । शोगशा॒ साधनं पाद॒ २ सूत्र॒ ३८

ब्रह्माधर्मपतिष्ठा में वीर्य का लाभ होता है। वीर्य बल परकत शीर्यादि को बढ़ाता है। जिस से थायु बढ़ती है। यदि ब्रह्मधर्म में नहीं बढ़ती किन्तु पूर्वजन्म के ही कर्मानुशार होती है तो भाप ने पृष्ठ ६५ पं० २४ में क्यों लिखा है कि—

“प्राणायाम सदाचार तप आदि के करने से निश्चय जायु वृद्धि को प्राप्त होता है” ॥

फिर आप "शायु कर्म च०" हत्यादि शब्दोंका यह तात्पर्य कैसे निकालते हैं कि शायु पूर्वजन्म के ही अनुमान ही सकती है। और ब्रह्मचर्य में बढ़नहीं सकती। यदि गहरी बढ़नकर्ती तो आप के लिखे प्राणायामादि में भी महीन बढ़ सकती। इस लिये दस्तगलों का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि पूर्वजन्म के कर्मानुमान आयु, कर्म, धन, और विद्या और सृष्टि नियत ती हासी हैं, परन्तु उस के वर्तनान अति उच्च पुण्य वा पाप हो जावे तो वे नियत शायु आदि घट बढ़कर परगाता की ओर से फिर २ नियत हींती रहती है॥

अत्युद्गुप्तप्रयापापानामिहैव फलमश्नुते ।

जिस प्रकार एक पुरुष को एक वर्ष के कालागार का दण्ड नियत किया जाते ही और वह कारागार में रहता हुआ कोई अन्य अपराध कर दें तो दण्ड की अवधि बढ़ा दी जाती है और अच्छे प्रकार सहने से घटा दी दी जाता है । किन्तु मरा उग समय तक किये कर्त्तव्यगार नियत भवश्य रहती है । यदि आप आयु का बढ़ना अमम्बत्व मानें तो आप के मर में उन सब कथाओं से विरोध भावेगा जिन में शनीका ने तप करके अपनी आयुर्वदि मांगी है, तथा भगव द्वीपा तक आप के नतस्थ पुहतक प्रतिपादन करते हैं, तथा वैद्युक जैसे समस्त ‘भायुष्य’ नाम के योग (नूसखे) और धर्मशास्त्र के समस्त ‘भायुष्य’ धर्मोनुष्ठान उपर्योगी जार्येंगे । और जितनी इंसा होती है उग समय में कोई दोष हो न रहेगा क्योंकि आयु प्राणिमात्र की नियत है, उम से पूर्व कोई किनी को नहीं सार सकेगा और जों भारेगा, वह सारों आप के मर में परमेश्वर का मेजा (जलसाद) है । जो परमेश्वर की नियत की दुर्दि अवधि पर रहे गारता है । और-

“नहींदृशमनायुष्यम्”

इत्यादि वाक्य उपर्योगी जार्येंगे जिन में आयु घटने के दुष्कर्मों को “नमायुष्य” कहा है ॥ कर्मों को कोई नहीं मेट सकता तो—

“अकालमृत्युहरणम्”

कदम्बर जो मन्दिरों में चरणासृत दिया जाता है सो भी असत्य है ? यदि सत्य है और अकालमृत्यु से बधा सकता है तो आप का कहना ठीक नहीं कि आयु घट बढ़ गहीं सकती भीर क्या ब्रह्मचर्यसूप दुष्कर तप-शयों शुल्लू भर जल और तुलसीपत्र की ब्रावर भी नहीं जो आयु को बढ़ा सके ? यहु ऐसे पुजारी दूसरों को आकालमृत्युहरण कहते २ स्वयं शीघ्र गर जाते हैं । और बड़ी उमर में विवाह होने से विवाह अवश्य न्यून होती है । मृत्यु के रगिष्टर से प्रपाण मिल सकता है कि आलक और वहु अधिक गरते हैं, और युवा न्यून ॥

आप का लिखा “शत्रिःकृतयुगे” इत्यादि इलोक कौग से भावेयम् का है जिसके अनुसार कलियुग में वार्षट ही का वैद्युक जाना जाते; और सुमुत्तादि का नहीं । तथा “कलियुगे” का अर्थ “कलियुग के लिये” के से हुआ । किन्तु

“ कलियुग में ” होना चाहिये । इमारों मण्डल में तौ नक्क इगाक यदि माना जाय की उस का अकरार्थ भी यह है कि सत्ययुग में अविकृष्टि और तेज में चरक तथा द्वापर में सुश्रुत हुवे और कलियुग में वाराण्सिनंहिता यनी । इस लिये यह कलियुगी संहिता तथा ऋबियों के ग्रन्थों का विरोध करके नहीं माननी चाहिये जो प्राचीन युगों में हुवे हैं । और यदि योहो देर को वाराण्सि को ही माना जाय तौ भी इन लोकों में १६ वर्ष की छोटी और २० वर्ष का पुष्टव कहा है । ‘ग्रहवर्ष प्रवेद्गीर्त’ तो इस से भी उड़ा ही जाता है । और यदि कलियुग में वाराण्सि के अतिरिक्त सुश्रुतादि के प्रमाण नहीं मानने चाहियें तौ आप ने जो इस पोषे में सुश्रुत और चरक के प्रमाण दिये हैं वे अब आप का जन्म और पुरुषार्थ कलियुगार्थ होने से सारे व्यर्थ हैं ?

३० निः० भा० पृ० ६५ पं० २८ से—“ द्वादशाहृत्सरादृष्टवैमाप्यवाश्वसनः
स्त्रियः मानि मासि भगद्वारा प्रकृत्यैवात्मेवं स्ववेत् ” बारह वर्ष से लेतर ५० वर्ष की अवस्था पर्यन्त महीने २ स्त्री रजोवती होती हैं अब इस सब कथा का तात्पर्य यह है कि १० वर्ष से ऊर तो कन्या का विवाह करे और १६ छीम वर्ष की अवस्था में पुष्टव का विवाह करना इस से कगनी कमी न करे यह मिथुनंत है इस में भी सोलह वर्ष सध्यप और बीस वर्ष का विवाह उत्तम है इसमें विद्या भी पूर्ण हो जायगी और कठिन रोग भी बालायस्या के हैं उन से भी बच जायगा आगे प्राप्तव तो बलवान् है ही पुनः तीन अवयवा पांच वर्ष में द्विरागमन होने तक दोनों की अवस्था वैद्यक के अनुसार पूर्ण हो जायगी और जो १६ । ३० में विवाह हों तो द्विरागमन की आवश्यकता नहीं ॥

प्रत्युत्तर-आप के लिखे लोक मेजात होता है कि बारहवें वर्ष से ऊपर खो रजस्वला होती है । यदि इसे माना जाय तौ शीघ्रबोध का—

दशबर्षी भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला

यह लोक भास्त्व मानना पड़ेगा । क्योंकि इस में १० वर्ष के उपरान्त झो रजस्वला लिखा है । फिर इस सब का तात्पर्य यह कैसे निकला कि १० वर्ष से ऊपर कन्या का विवाह करे । किन्तु ऊपर लिखे इलोक में तौ १२ वर्ष उपरान्त तो रजस्वला होना ही लिखा है फिर—

न्रीणि वर्षाणयुदीक्षेन्न कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं परिभूः मनु०६ । ६०

अर्थ—ज्ञतुमती (रजस्वला) होने पर कुमारी ३ वर्ष पर्यन्त उदीक्षा करे तत्पश्चात् मटून पति में विवाह करे । अब बारह १२ और ३ः१५ के पश्चात् वही श्वासी जी का लिखा खोलहवा वर्ष गागया । एक बात और भी है जिस ऊपर लिखे थोक में ‘‘विन्देत’’ का कर्ता कुमारी है । कर्ता स्वतन्त्र होता है अर्थात् कुमारी हरतन्त्र कर्मभूत भपने सदृश पति को प्रस हो जावे इस में यह नहीं कहा कि जिस कुवे खत्ती में पिता डाले उनी में जा पड़े । इस में “मटूश” पद भी है जिस से आप का कटाक्ष कटता है कि श्वासीजी ने गुण कर्म स्वभाव मिलागा व्यर्थ लिखा है । श्वासी जी ने जो कुछ लिखा है उस में बहुशः मनु के प्रमाण लिखे हैं इस लिये श्वासी जी ने स्वयं नहीं लिखा किन्तु मनु का मत लिखा है । आप जो मिट्टुमत करते हैं कि १०वर्ष से जार खी और १६ वा २० वर्ष में पुरुष का विवाह करे इस में कोई शास्त्र प्रमाण नहीं । और जो युक्ति दी है कि इस में बाल्यावस्था के कठिन रोग भी बच जायेंगे और विद्या भी पूर्ण हो जायगी । सो भी ठीक नहीं । क्योंकि ग्रीतन्त्रादि रोगों का मनव सामान्यतया जन्म से १५ वर्ष तक देखा जाता है । और प्रायः बालकों के मध्ये १५ वर्ष तक इन रोगों से होते हैं । और सोलहवें वर्षे में पुरुष की विद्या क्या पूर्ण हो सकती है ? तब तक तीव्र बुद्धि परिपक्ष भी नहीं होती । आप विवाह की अवस्था को घटा कर विद्या का भी लोप करते हैं, अविद्या में खूर्जीं की धूर्तता खूब चलती है, जिस से अविद्यान् गृहस्थों को बड़े कष्ट होते हैं । और आप के अभिगत उत्तमकोटि के विवाह में द्विरागमन की आवश्यकता नहीं तो द्विरागमन का मुहूर्त बताने वाले शीघ्रबोधादि व्यर्थ होंगे वा नहीं ? जो यथार्थ में वेद और धर्मशास्त्रों से बढ़कर एक नया संस्कार घड़े थें हैं । द्विरागमन का कहीं मनुधर्मशास्त्र भर में लेख ही नहीं किंतु आप उन के सहारे व्यवस्था क्षणों बांधते हैं ॥

द० तिथि भाद्र पृष्ठ ६६ पं० ८ से—

अब वर कन्या के फोटोग्राफ (गर्यात् तपवीर वा प्रतिविम्ब) की खीका सुनिये भला इस में कौन सी श्रुति प्रमाण है कि वर को तपवीर कन्या और कन्या की वर के भव्यापकों के पास जाय जब वर की तपवीर

जन्मा के पास गई तो वह सूरत के मिथाय और क्या देख सकती हैं और जीवनचरित्र कहाँ से आवेजब कि दोनों ही अध्यापकों के पास पढ़ते हैं और उनमें समय जीवनचरित्र की आवश्यकता क्या है क्योंकि केवल विद्या अध्ययन के मिथाय और उन का जीवनचरित्र क्या होगा यही निष्पुक २ घण्टे पढ़े हैं वह और कुछ यदि और कुछ हो तो बोह क्या हो और उस में कौन से अधित्र लिखे जाएं यही प्रयोग होगा जिस दिन से जन्म लिया जाए वर्ष तक खेला फिर पढ़ने लगा इस के मिथाय और क्या होगा और उस जीवनचरित्र का लेखक और माझी कीन होगा जाप या जाप के चेले और यदि अध्यापक लिखें तो पृष्ठ दो अध्यापक के पास ५० गिर्ध हों और यह पृष्ठ २ का २५ वर्ष का जीवनचरित्र बनावे तो विद्यार्थियों को कीन पढ़ावे पौर फिर बिना लाज २५ वर्ष का इतिहास लिखने कीन बैठेगा ? और पृष्ठ भूतक हो तो उसे भी दें । जहाँ पचास वा ६० हों वहाँ की क्या ठीक, क्योंकि जब अध्यापकों के पास विद्यार्थी रहे तो उन की अवश्या वे ही ठीक जागते हैं, जब वे घर पुस्तकें बनावेंगे तो यह भी हो सकता है नि अधिक उस देने वाले के भीगुरों को छिया कर गुण ही लिखेंगे क्योंकि वे तो यह जानते ही हैं कि यदि जीगुण लिखेंगे तो विवाह नहीं होने का और उनी प्रकार लड़की भी कर सकती हैं कि जो कुछ घर से खर्च आवेज कुछ जीवनचरित्र लिखने वाले के भी भेट करेंगे क्योंकि जब ५०० रुपये तक के भीकर भी बहुधा घुंस खाते हैं तो जीवनचरित्र लिखने वाले की क्या क्या क्या है “ देहि नातन गिरिसेन चड़ाहीं । कहो तूल केहि लेखे जाहीं ” यदि पहों कि भव देने नहीं होते हैं तो और सुनिये, यदि उन्हीं ने लड़के लड़की के भीगुरों का जीवनचरित्र लिखा तो अब उन में कीन विवाह करे वे दिन की जान को रोवें विवाह का तो जाप ने वियोग भी लिखा और यह दरहत्ती दरने लिखे परत्तु वेकारी क्या करें वे पति करें या नहीं वा कुछ अवारह से अधिक करें यह कुछ स्वामी जी ने लिखा नहीं क्योंकि जो भीगुण-रुप हैं उन से विवाह कीन करे और तसवीर देखकर पसन्द करने चपराल चग में अधिक रुप गुण लिजने में वे खी दूषरे के सङ्ग ज्ञाने की इच्छा कर सकती हैं इस से तसवीर निलाना ठीक नहीं शोक की आत है जि जन्मपत्र जिन से रुप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, आयु आदि सब कुछ विदित हो जाय, वह तो निकम्मा और यह तसवीर निलाना ठीक । घन्य है इसबुद्धि पर इस कारण

यही उत्तम है कि माता पिता को पुत्र का अधिक सनेह होने ये बे चित्त लगा कर कुल गुण भक्तवत्त पुष्ट को आप ही देखें तथा उस के उपर्युक्ता स्वयं जापने सम्बन्धियों के द्वारा करावें जैसा। हि भव भी होता है हाँ, गाँधी भादि के भारोंमें सम्बन्ध फर देना महामूर्खता है, स्वयं देखना चाहिये और बालकपन से आठवें वा दशवें वर्ष तक का इतिहास व्या कार्ये देंगा, क्या धूरि में लोटना, पढ़े २ मूर्शादि करना, भोजन कू हड़पा पानी कू मस्मा करना यह भी उस में लिखा जायगा, जब कि यज्ञोपवीत हो कर गुरु के विद्या पढ़ने गये ती सिवाय पढ़ने के और ज्या जीवनवरित्र होंगा। यह जीवनमृतान्त्र आप ने जन्मपत्रके स्थान में चलाने का विचार किया है। (जिस जन्मपत्र से कुल, गांधी, जन्म दिन भादि सब कुछ विदित हो जाता है)॥

प्रत्युत्तर- कवर हम भन के श्लोक में “मटूश” शाठ॑ दिखा चुके हैं, उन शिये देह के भाइरी अङ्गों की तुल्यता फ़ोटो * से जासे प्रकार विदित हो सकती है और अन्तरिक गुण दोषों की तुल्यता जीवनवरित्र से ज्ञात हो सकती है। जीवनवरित्र कुछ बहुत बड़ा पुस्तक नहीं होता, किन्तु विद्यार्थी के चाल चलन, विद्या, योग्यता, स्वसाय भादि का परिचय गुरु को बाबूद्य हो जाता है। जब कि सर्वया गुरुकुल में विद्यार्थी रहें तब को ती कहना हो क्या है, किन्तु जागकल रक्षक और कालिंगों में ६ वा ४ घण्टे पढ़ने को जाने वाले विद्यार्थियों के सर्टीफ़िकेट में भी हैमास्टर वा प्रिंसिपल लोग उस विद्यार्थियों के समस्त संक्षिप्त मुख्य २ चरित्र को लिख देते हैं। दुष्ट पुत्र अध्यापक होने के ही योग्य नहीं, स्वामी जी ने आम बिट्टान् धरोत्तमा छो पुक्षों को आचार्य बनाना निखा है किर बे धूम खाकर बुरे को भला और भले को बुरा नहीं लिख सकते और स्वयं धरोत्तमा स्वामी जी ने धरोत्तमा जाचार्यों का नियत करना लिखा है। इतने पर भी यदि कोई अधर्मपूर्वक अमत्यजीवनवरित्र लिख दे तो यह उस का दोष है, स्वामी जी का नहीं। आप के मतानुभार जो जन्मपत्र मिलाया जाता है, उस को भी कोई पहाड़ा लिप्सु लालची ज्योतिषी जैने कि प्रायः हैं, असत्य कल्पित महूलों का अमहूलों और निरूप सगय नक्षत्रादि में जन्मे को अच्छे नक्षत्रादि और अच्छे को बुरे करने लिख दें और जैना कि कोई २ लिख देते हैं, तब क्या वही आपत्ति आप के मत में नहीं आती? आप की समझ में खेलने गौर पढ़ने से सिवाय कुछ चाल चलन ही विद्यार्थीका नहीं हो सकता? जिस से आपका

* भागवत में चित्रलेखा ने श्रीकृष्ण जी के पुत्र की तमवार जवा को दिखाई है तब विवाह हुया है। उस पर हरताल धर दीजिये॥

लोक वा शास्त्र से कितना परिचय है, यह भले प्रकार पाठ्य समझ लेंगे, साही अन्य कीन होता, आस विद्वान् घनोत्मा प्रधानाध्यावक ही साही होंगे। जाप के जन्मपत्र बनावटी नहीं हैं। इस की कीन साक्षी देता है ? यह ती बताइये। केवल जबगुण का ही जीवनचरित्र कोई नहीं हो सकता क्यों कि न्यूनाधिकगुण जयगुण दानों सभी में होते हैं, बस तारतम्य सब का किसी न किसी से मिल ही जावेगा और भला जिस के जन्मपत्र में बुरे योग पड़े हों उस पुरुष वा कन्या का जाप के सत में क्या परिणाम होगा ? क्या वे दहेज़ के अनाव के समान साता पिता को जन्म भर जाप न देंगी ? और पुरुष व्यक्ति-आदि न करेंगे ? ११ पति की तान बार बार क्यों तोड़ते हो तियोग प्रहरण में पुराणों के व्यभिचारप्राय चरित्रों का झूब ही नमूना दिखाया जायगा, घेरे रखिये। तिज कन्या और कुमारों को स्वामी जी के लिखे अनुसार गुक्कुल में समावर्तन में पूर्व कुमारों और कन्यामों का मुख तक न दिखाया जाय और जह प्रकार के मैयुनों से वर्णित रखा जावेगा, वे अन्य का प्रमाण करना तो क्या ? जिन छी वा पुरुष में भी (यहांग के पवित्र धर्म के गति-रिक्त केवल कामचेटा पूर्ति के निमित्त) जामक्त न होंगी। परन्तु इस गहन पवित्र ब्रह्मचर्य के गाहात्मक को स्वामी दयानन्द सा अनुभवी बालप्रहर-आदि ही जाग सकता था। जात क्या जाने ? जन्मपत्र जो फलितव्योत्तिष्ठ के सभीक्षणानुसार सत्य ही नहीं वह रूप रंग स्वभाव विद्या आदि का परिचय क्या। देसक्षम है ? भले रहे प्रत्यक्ष रूप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, जाय आदि जी जांब सी ज की जावे और जन्मपत्र के ढोसले से ये रूप रङ्ग आदि सब बातें निकाई जावें। क्यों न हो, जिस में ज्योतिषियों की ठगई जारी रहे ॥

४० तिं० भा० प० ६७ प० १३ चे—

- अब स्वामी जी को यह पूछते हैं कि तुम्हारे साता पिता और तुम्हारा जीवनचरित्र ५० वर्ष तक का कहां है ? यदि कोई चेजा कहे कि दयानन्द-पवित्रजयाक दयानन्द जी का जीवनचरित्र है तो यह ती किसी बालप्रियनी ने उन जी मृत्यु के उपरान्त रचा है और जो कहो स्वामी जी बनाकर रख गये हैं तो विना साक्षी स्वयं लिखित प्रमाण नहीं क्योंकि उपना चरित्र अप ही कोई लिखे ती बोह अवगुण नहीं लिखता बहाई की इच्छा से इस कारण बोह जीवनचरित्र प्रमाण नहीं ॥

प्रत्यक्ष-विवाहर्थियों के जीवनचरित्र विषय में जानरण ब्रह्मचारी

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र का उत्ताहना देना प्रकरणान्तर है। तथा सत्यार्थपकाशत्य विषयों के उत्तर में स्वामी जी के गिरजारित्र पर आकर्षण करना भी प्रकरणान्तर है। आप को स्वामी जी के जीवनचरित्र का विद्वान् होना द्वैष के कारण बहसम्भव है। परन्तु पं० लेखराम जी ने जितना अन्कर के देशान्तर में अनेक करके भीर जहाँ २ स्वामी जी गये वहाँ २ जाकर जो कुछ शक्ति भर जात किया उस में स्वामी जी के बतलाये हुवे से विरुद्ध कुछ भी नहीं मिला और इसी से पं० लेखरामसंशोधित जीवनचरित्र प्रामाणिक समझा जाता है। आप को अब स्वर्गवासी महात्मा के जीवनचरित्र को खोजने से विवाहार्थी चरित्र के प्रकरण में क्या प्रयोग है, सो तो बतलाइये।

८० तिं० भा० ८० ६९ पं० १९ से-भीर पढ़ाने वालों के सामने विवाह करने को कहते हैं पर योहु भी सी भोलत से कहते हो प्रत्यक्ष हो क्यों गहीं वह देते कि वैसा है जो जागो क्योंकि ईमाइयों में यह प्रथा प्रचलित है कि पादरी साहृदय स्कूलों में विवाह करा देते हैं जिने गिरजा घर कहते हैं प्राचीन समय से तौ भाज तक पिता माता भाई सम्बन्धियों के सन्मुख कन्या के ही घर विवाह होता चला आया है किर आप ने यह भी झूठ ही लिखा है (कि कन्या और वर की सम्मति लेकर पञ्चात् पिता से अव्यापक लोग कहें) वाह मुनाकात कराकर पिता से खुबर करना यही दीति संशोधक की उच्चत्रेणी का नियम है जब कन्या के सामने बीस पुरुषों का फ़ोटो आया तो सब में कोई न कोई लटक अम्बाज निराली होगी परन्तु किसे करें लोकानुसार-एक को खीकार करना पड़ेगा परन्तु चित्त में बोह और पुरुषों का भी कठाक समाप्त रहेगा और यही अनिचार का लक्षण है क्योंकि सब भपने से उत्तम ही को चाहते हैं स्वामी जी ने गुणवत्त्व में निलाने लिखे कन्या की इच्छा विशेष में हुई थे अव्यापक गुण निलाने लगे और कहने लगे कि इस में से कोई परन्तु करलो तो अब चाहूँ लाचारी से वे अम्भीकार करलें पर भन में तौ और ही पुरुष रहा और यही दशा पुरुषों की है तौ अब कहिये बोह पति का अचल ग्रेग और परन्तु पर की सम्मति कर्हा रही यह तौ बड़ी पराधीनी होगई और गुण कर्म क्या। मिलावें कर्म तौ सब का पहुँचा ही ठहरा किर मिलावें व्याह गही कि जो पुस्तक लहका पढ़ता हो वही लहकी और आप ने अध्ययन के निवाय सीना रसोई भावि निलाना तो लिखा हो नहीं बस ड्याह होने पर दोनों पुस्तकें भावि पहें गहत्यी का कार्य आप के गिरिष्यवर्ग कर आया करेंगे।

और कदा चित् कोई कन्या दूसाल काढ़ना जान्ती हो तो उस को बति भी दूसाल काढ़ने वाला होना चाहिये नहीं तो उसे किसे मिलेगा और युवा कोने से चिलाये जाय यदि किसी में तमोगुण होती दूसरा भी तमोगुणी होना चाहिये जो रातदिन लड़ाई हो और यह कैसी बात कही गुणकर्म न सिलैं ती क्वारी रहो विवाह की ती कामाचिं शुकाने को यह दया करी कि ११ पति तक करने में दोष नहीं भीर कुमारी पर यह कोप कि व्याह ही न करो भला उम को सम्भाग उत्पत्ति की इच्छा भीर कामवाधा को कौन पूर्ण करेगा खूब ही भज्ज पीकार लिखा है और निर्धन से ती आपकी रीति का विवाह बन ही नहीं सका क्योंकि जब पूर्ण विदुषी खी आई तब रमोई कोन करे लाचार किसी को नीकर रखना पढ़ेगा उन के पास इतना द्रव्य है नहीं अब लगा क्षेय होने सब पढ़े अब रमोई कोन करे शायद शूद्र मिलजाय सो आश्वर्य नहीं नेरे कहने का यह आशय नहीं कि कन्या को मत पढ़ाओ पढ़ाना बेशक चाहये परन्तु उत्पत्ति के कार्य भी प्रबलता से सिखाने चाहिये जिन का प्रतिक्षण प्रयोजन पड़ता है जिन के जाने बिना भी क्षेय होता और खी पूँछर कहाती है ॥

प्रथमुत्तर-पढ़ाने वाले के सामने विवाह करना आप हमाई रीति समझते हैं सो भूल है । हेसाहियों को पादरी विवाह कराता है, स्कूल के साम्टर भीर मिलिमपिल नहीं । स्कूलों को ठगरजाघर लिखना भी भस्त्य है । और अपने सत्यार्थप्रकाशस्थ युवावस्था के विवाहप्रकर बेदमन्त्रों का उत्तर क्या दिया ? जुप लगा गये । देखो सत्यार्थप्रकाश बतुर्यसमुद्भास-

युवा सुवासुः परिवीत आग्रात् । इत्यादि ऋू० ३ । ८ । ४

यही मन्त्र आप की विवाहप्रतियों में वर को वस्त्र पहरने का लिखा है । जिस में स्पष्ट “युवा” पद पड़ा है ॥ तथा—

**आ धेनवौ धुनयन्तामर्दिश्वीः शबुर्दुधाः शश्या अप्रदु-
धाः । नव्या नव्या युवतयोऽ० इत्यादि ॥**

इस मन्त्र में भी “युवतयः” शब्द आया है । और युवावस्था आप के ही लिखे प्रमाणों द्वारा स्त्री और पुरुष की १६ और २४ वर्ष में पूरी होती है

कथा वा वर की शास्त्रानुसार ‘महूष’ में इच्छा होना धर्म है । अनदृश वा विश्वद्वर्षे में होना अधर्म है । यदि लोक वा शास्त्र की मर्यादा का त्याग करके कोई कन्या वा वर इच्छा करने लगे तो यह इवानी खी की सत्यार्थ-

भ्रकाशेस्य शिला को दोष नहीं किन्तु अघमियों का है। यों से आप की प्रचरित परिपाटी का उत्तम करके भी बहुत कैसे अभिवार होते हैं, क्या उनमें आप का दोष बताया जा सकता है? आप तिम प्रकार की अनेक आशङ्काएँ करते हैं वे ब्रह्मचर्य के स्वाद न जानने वालों में सक्रिय हैं परन्तु स्वामीजी लिखित अधिपरिपाटी में नहीं। रुग्नाल को ही लिये किरते हो, स्वामीजी में चमत्कृत शिष्यकला कीश भी शिक्षा में मिलाया है, किर आप का रुग्नाल काढ़ना किस में रहा। स्वामी जी ने नहीं लिखा कि गृहकृत्य न लिखाया जाय, किर आप का विद्युती लिंगयों को फूहर लिखना आप को समझ रही, स्वामी जी तो इस सनुवेचन की जाती और उपदेश करते थे कि-

सदो प्रहृष्टया भाट्यं गृहकार्य्यु दक्षया

इत्री को गृहकार्य में चतुर भीर प्रसन्न होना चाहिये। बाल्यावस्था में विवाह करके स्त्री पुरुषों को विद्याहीन फूहर भीर मिखट्ट रखना आपकी शिक्षा है। और गुरु की सम्मति से विवाह करना गुरु के इस प्रसारण से स्वामी जी ने माना है जो सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि-

गुरुणानुमतः रूतात्रा समावृत्तो यथाविधि ॥ मनु ३ । ४

किर आप गुरु की अनुमतिपूर्वक विवाह को देना है रीतिके से बताते हैं?

४० तिः ३० भा० ३० ६० ८० १० से-स्वामी जी ने वह गुप बात न लिखी क्या पूछे यही कि उपदेश तयुं सकता विरोग तो नहीं है वा आकर्षण इथरपत आता है वा नहीं ऐ वह बात विना परीक्षा किये कैसे विदित है। सकतो है जो गुप बात है उसे अव्यापक कैसे देखें क्या वे भी जिसी प्रकार उन से गिर्लज्जता युक्त भाषण करें जोकि। गुप बात को खोल ही कर लिखदेते कि विवाह से प्रथम एक बार संयोग भी हो। आप तो सब भेद खुल जाय यदि पुष्टा भाद्रिक है। तो वरण करें नहीं तो दूसरे की किक करें अन्यथा निर्गंदोष देखने कहने वाले बहुत थोड़े हैं पर कन्या को परीक्षा कि यह अन्यथा तो नहीं है किनी अच्छे हाक्टर से करानी चाहिये क्योंकि भांझ तुड़े तो मन्त्रान कहां अथवा दो चार मास विवाह से प्रथम संयोग होता रहे जो गभंस्थिति हो जाय तो विवाह करलै नहीं तो त्यागत करदें इस प्रकार करने से क्यों है विवाहित पुरुष निर्बन्ध न होगा और स्वामीजी को इष्टुतिं भी होगी भीर जिन के पास धन भाद्रि का प्रबन्ध न होवे क्या वे बेठे हुए गप्प को आवधी-

बोंद दें बहुत ती ऐसे हैं जो रोज़ लाते और गुजरात करते हैं वे भला खान पान का मन्त्र (इकरारनामा) के से लिख सकते हैं बस धनी थाहे निर्धन बहुत विवाहित थोड़े कारे कारी अधिक होने वे कामाचिन से पीड़ित हों। कुमार्ग में ही पदार्पण करेंगे और छठ वर्ष का कृष शरीर दश बीच दिन कहान भोजन करने से कैसे यथेच्छ पुष्ट होजायगा वाह स्वानीजी की बेटक ती पूर्ण है और इन जारामुख भवस्थाका फोटो भी मगोहर होगा। विवाह का समय भी कैमा अद्युत रखता है जब रजस्वला से शुद्ध हो उस दिन विवाहकरे और भाप की बनाई संस्कारविधि के अनुसार व्याह कराये, यह तो बड़ी ही अलीकिं बात कही जब भाप की संस्कारविधि नहीं थी, तो काहे के अनुसार विवाह होता था, भला अब तो भाप कहते हो ग्रामणों ने ग्रन्थ कल्पना कर लिये पूर्व ऋषि मुनि विवाहक्रिया कोन से ग्रन्थ के अनुसार करते थे वर्णोंकि यह भाप की पुस्तक तो जबतक बनी ही नहीं थी, तो उन के विवाहादिक भी अद्युत ही हुए और स्वामी जी ने उस में बनाया ही क्या है बेदमन्त्र तो पूर्वकाल से ही थे, भाप ने उस में भाषा लिखदी है और पठनपाठविधि में बब भाषायन्त्र त्याज्य भानने वे यह भी भाषा निश्चिन होने से त्याज्य ही है कार्य सम्प्रोद्धारा होता है भाषा से कुछ प्रयोजन ही नहीं किर द्यानन्द जी ने उन में क्या बनाया और जहां बब भी यह संस्कारविधि नहीं है वहां केलडका लड़की क्या कारे ही रहें और संस्कारविधि की शिक्षा कैसी उत्तर है “पुरुष खी की खाती पर हाथ धरके खी पुरुष के छृंग पर हाथ धरके कहे तुम सेरे जन में सदाचरुते रहो” जहां कुटुम्बी बढ़ चेटे हों वहां जारियों की यह ढीटता, यह भाप का कन्वा का अधिक भवस्था का विवाह और नियोग यह दो लक्षणाशक व्यभिचार के खंभ हैं ॥

प्रत्युत्तर-विवाह करने की इच्छा, प्रयोजन, तथा अन्य सर्वमाधारण के सामने ग पूछने योग्य कहे जाते समझत हैं, क्या वे निर्लंजना से उन के सामने पूछी जाती, तब सनातनधर्म पूरा होता ? क्या रोगादि की परीका करना जराना भादि भी भाप अधर्म समझते हैं ? यदि वर, वधू के पोषणादि का पथ न करे तो क्या—

ममेयमस्तु पोथ्या मह्यं त्यादाह वृहस्पतिः ।

अर्थात् मुझे इस (वधू) का पोषण करना योग्य होगा, मुझे मुझे परमात्मा ने दिया है ॥

इत्यादि विवाहमन्त्रों को भी आप न इससे इहीं हैं ? किर आप शाक को उड़ादूग फरके केसे निखते हैं कि निर्बन्ध पुरुष खान पान का प्रबन्ध न कर सकते ? क्या निर्बन्ध वा अल्पधनी लोग यूहस्य का निर्बाह नहीं करते ? अहसाली वर्ष के ब्रह्मचारियों का दर्शन आप को नहीं हुआ, नहीं तीः—

ब्रह्मचार्य्यति समिधा समिदुः

कार्यं वसानो दीक्षितो दीर्घशमन्तः ॥

ब्रह्मचारी जो अभिवत देवीट्यमान, कृष्णाग्निनवारी, दीक्षित, उच्ची अंडों वाले, सिंह तुल्य पुरुषों को जरामुख न बताते ॥

संस्कारविधि का अर्थ वह आप वेदिकामेष के छपे पुस्तक विदेष इही को समझते हैं : जिस में संस्कारों का विवाह हो, उसी पुस्तक से तात्पर्य है। जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि “वेदमन्त्रं ती पूर्वकाल से ही थे, आप ने उस में भाषा लिख दी है” तो किर उन्हीं समन्त्रों से पूर्व काल में विवाह होता था। अब समस्त लोग वेदभाषा को नहीं समझते इस लिये समझाने को भाषा लिखनी पड़ी, ती स्वामी जी की भाषा वेदमन्त्रों की भाषाविद्यति हुई और उन जालगण्यों में नहीं आवर्ती, जो विहारी की उत्सर्जने से वेदविरोधी पुस्तक हैं ॥

“पुरुष स्त्री की छाती पर इत्य घरके छोरी पुरुष के हृदय पर इत्य घर इत्य कहे तुम मेरे मन में सदा वसते रहो ॥

इस हृद्यारल पर आप का क्षम कटाक्ष हो चक्षा है जब कि विवाह में सम्मन्त्र ही है कि—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचितं ते अस्तु । इत्यादि
इसी का अर्थ स्वामी जी ने लिख दिया। आप ने इतनी विदेषता अपनी ओर से करदी कि “हृदय पर” के स्थान में “छाती पर” लिख दिया। तमक्ष अपनी विवाहपट्टि को भी देख लेना था। उस में भी ती—

मम व्रते ते हृदयं दधामि ।

यह सम्मन्त्र लिखा है। और लिखा है कि—

वध्वा दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वदक्षिण-

हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते ॥

जर्थ-बधू के दहने कन्ये पर अपना दहना हाथ लेजाकर उस का छुट्टय छूता है। फिर उसी में देखिये-

वधवा: सीमन्ते वरः सिन्दूरं ददाति ॥

जर्थ-बधू की मांग में वर सिन्दूर देता है। फिर-

ततोऽम्ने: प्राच्यां दिश्युदीच्यां वा अनुत्तस्म

आगारे आनुदुहे चर्मणिं ॥ इत्यादि ॥

जर्थ-अग्नि से पूर्व वा उत्तर दिश के ठहरे कमरे में दैल के चर्म पर बधू को लेटाते।

ज़रा बतलाइये तो यह क्या होता है। फिर:-

विवाहादारभ्य त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ

स्यातां जायापती इत्यादि ॥

विवाह से ३ रात्रि तक स्त्रारलवणवर्जित भोजन करें जी और पुरुष। इतना ही नहीं भागे और भी देखिये:-

“एकपात्रे सहास्त्रीतः”

एक पात्र में साथ दोनों सोबैं। पोड़ा और देखिये:-

**अय खट्टवादिरहिते भूभागे कटादिना स्वास्तृते प्रिरात्रं
मेश्वर शशीयातां समग्रं संवत्सरं विवाहादारभ्य न मिथुन-
मुपेयाताम् । द्वादशरात्रं च प्रिरात्रं चेति ॥**

जर्थ-फिर खाट बाट कुछ न हो, किन्तु चटाई बिहाकर पृथिवी पर छेषल ३ रात्रि तक दोनों सोबैं। फिर १ वर्ष तक नेशुन को न प्राप्त होबैं। वा १२ रात्रि तक वा ३ रात्रि तक ही।

सहात्मा जी। यह तीस पृष्ठ विवित होता है कि जाय की विवाहपृष्ठि-
यों पर जब तक “भट्टवर्षा भवेद्गीरी” का प्रभाव नहीं पड़ा है। तभी ती
सम में ऐसे डयवहार लिखे हुवे हैं जो अतुमती ही के विवाह में घट सकते
हैं। अब जाय का द्विरागमन किधर रिल गया? मले जानुवरों। ज़रा समझ
कर कृत्तम उठाया करो।

३० तिर भाव पृ० ६५ पं० १६ से पृ० ७० पं० २३ तक सत्यार्थवकाश के गाहै-
इह विषयक लेख को बड़ी निरुत्तरता से लिखा है। स्वानीजी का तात्पर्य
ती समयनिधारण से या कि जो २ व्यवहार जी पुरुषों में होते ही हैं ही
किन्तु ठीक समय पर हों। इस लिये उन का लेख कर दिया है। अस्तु स्वानी
जी का तात्पर्य ती समय पर दास्त्यव्यवहार के प्रचार का या, जिस के
कुसमय होने से कीन हीन आर्यजाति इस दुरवस्था को मास छुट्टे। परन्तु
आप हुक महाभारत को ती देखें जो पुराणों का बाबा है !!! आदि पर्व
अध्याय १७ में। उत्थय की जी ममता थी। उत्थय से गर्भवती ही को छोड़े
भाई शृहस्पति ने जा घेरा। एक गर्भ तो स्थित है दूसरे की तैयारी। और
भीतर बाला एही लगा जर रोकता है। अन्य है महाभारत से बेदों का धर्म
यही फैलाया जाता है ?

अथोत्थय शृहस्पति आंसीद्वीमान्त्रिः पुरा । ममता नाम
तस्यासीद्वार्या परमसमता ॥ ८ ॥ उत्थयस्य यवीयांस्तु
पुरोधास्त्रिदिवीकसाम् । शृहस्पतिर्वृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत
॥ ९ ॥ उवाच ममता तन्तु देवरं वदतांवरम् । अन्तर्वली
त्व्रहं भाष्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ १० ॥ अयं च मे महाभाम
कुक्षावेष शृहस्पते। औत्थयो वेदमन्त्रापि षड्हङ्गं प्रत्यधीयत ११
अमोघरेतास्त्वं चाऽपि द्वयोनस्त्यप्र संभवः । तस्मादेवं च
न त्वद्य उपारमितुमर्हसि ॥ १२ ॥ एवमुक्तस्तथा सम्यग्शृहस्पति-
रुदारधीः । कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम् १३
स अभूत ततः कामी तया सार्थमकामया । उत्सृजन्तं तु तं
देतः सगर्भस्योऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥ भोस्तात मा गमः कासं
द्वयोनास्तीह संभवः । अल्पावकाशो भगवन्पूर्वं आहमिहागतः
॥ १५ ॥ अमोघरेताश्च भवान् पीढां कर्त्तुमर्हसि । अश्रुत्वैष
तु तद्वाक्यं गर्भस्यस्य शृहस्पतिः ॥ १६ ॥ जगाम मैथुनायेष

ममतां चाहुलोचनाम् । शुक्रोत्सर्गं ततोवुद्ध्वा तस्या गर्भं गतो
मुनिः ॥ पद्मभ्यामरोधयन्मार्गं शुक्रस्य च वृहस्पतेः ॥ १७ ॥

जर्तोत् ग्राचीनकाल में एक उत्तरपत्नी ज्ञवि होता भया, ममता नामी
बड़ी बड़ी उम की खी थी ॥ ८ ॥ उत्तरपति का छोटा भाई देवतों का पुरो-
हित महा तेजस्वी वृहस्पति ममता के पास गया ॥ ९ ॥ उम बड़े नघुरसाथे
देवत वे ममता छोली कि मैं ती आप के बड़े जाई से गर्भवती हूँ इस लिये
आप रहने दीजिये ॥ १० ॥ और हे बहुभागी ! यह उत्तरपति का पुरो मेरी कुलि
में है । हे वृहस्पते ! इस ने यहां भी छः जङ्गवाला वे पड़ा है ॥ ११ ॥ और
आप का वीर्य भी उपर्य नहीं जा सका और यहां दो की गुण्डायश नहीं इस
लिये आज तो मेरे पास अन्ना योग्य नहीं है ॥ १२ ॥ इक प्रकार उम बड़ी
बुद्धि वाले वृहस्पति से उम (ममता) ने कहा भी परम्परा वह अपने कान
को न रोक सका ॥ १३ ॥ निदान वह कामी उम कामरहिता ले शिर तुका
और जाम..... करने लगा तो यह गर्भस्य कोला कि ॥ १४ ॥ अथवा ।
काम के वशीभूत न हूँजिये । यहां दो की गुंजायश नहीं है, जगह घोड़ी है
और मैं वहले भा पहुँचा हूँ (इस लिये मेरा कङ्कङ्क है) ॥ १५ ॥ और आप का
तुक भी दूषा गहीं जा सकता । इस लिये तकलीफ न दीजिये ॥ परम्परा
वृहस्पति ने उस गर्भस्य की एक न तुनी ॥ १६ ॥ और उस से जैशुण ने लिये
पहुँच ही गया । वीर्णिं उम की जांखे बड़ी बड़ी थीं ॥ जब गर्भं गत्सुनि
ने तुकपात होते जाना तो वृहस्पति के तुक का नामं दोलों पैरों की एडियों
से रोक दिया ॥ १७ ॥ यदि ऐसी चिनोनी शिक्षा से भी (जिस में देवताओं
जूतियों की इस प्रकार निर्भदा है) आप को चूषा नहीं जाती और उसे
खोड़ आप लें दोक थमे के अनुयायी जनना नहीं चाहते, तो भास्य ॥

१० तिं १० जा० प० ३० पं० २४ से-

“जनुपतीं शूद्रमध्यापयेत्^१ विना यज्ञोपवीत शूद्रं को वेद पड़ावे ।
ती संस्कार की व्या जावश्यकता है । जब भूद वर्ष उपरात्म ब्रह्मचर्ये हो
जुहेगा तब वर्णों में योग्यता से कर दिया जायगा । इत्यादि ॥

ग्रन्थतर-सत्यार्थप्रकाश में आप का लिखा ऐसा संस्कृत और ऐसी भाषा
नहीं नहीं, आप रचना करते हैं । किन्तु वहां तुम्हारे का प्रलाप है कि—
“शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके”

“ भीर जो शूद्र कुपीन गुभजलयुक्त हो तो उस को गत्प्रसंहिता ओड़ के सब शास्त्र पढ़ावे ” ॥

इस में “बेद पढ़ावे” नहीं है। किन्तु बेद ओड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, यह लिखा है। इस लिये आप का अनुवाद ठीक नहीं भीर आप के लिखे सत्तान संस्कृत पाठ भी ठीक नहीं है। इही यह शूद्र कि गुण कर्म स्वभावानुभाव वर्णव्यवस्था में छोटे बालकों के वर्ण की व्यवस्था नहीं हो सकती। उस का उत्तर यह है कि प्रत्येक समृद्ध में प्रत्येक अवधुपा में कुछ गुण कर्म स्वभाव अवश्य होते हैं। क्या बालकों में कोई भी गुण कर्म स्वभाव नहीं होते? प्रायः अपने माता पिता के सुलग ही गुण कर्म स्वभावों का बीज बालकों के इन्हें में होता है भीर यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो उनीं की वहाँ ही कर पूर्ण द्विजत्व को प्राप्त हो सकता है। इस लिये हिंजों के बालकों में भावी द्विजत्व भीर शूद्र के बालक में भावी शूद्रत्व की संभावना रहती है। इस लिये जब तक कि कोई सम्भावना अपने आप को अपने पिता आदि के गुण कर्म स्वभाव से विहृद्ध प्रगाणित न कर दे, तब तक अन्य वर्ण नहीं साना जा सकता। परम् यदि शूद्र को कुछ भी न पढ़ाया जावे तो उस की उक्ति का द्वार ही बन्द हो जावे। इस लिये स्वामी जी जुष्टुत के प्रभाव से उन को भी प्रथम अस्य शास्त्रों के पढ़ाने को मार्ग दिखाते हैं ॥

द० तिद० भा० प० ५० प० २५ वे “हे बालक में तुम्हे सधु धून का ज्ञान देता हूँ। तुम्हे मैं बेद का ज्ञान देता हूँ। हे बालक सूलोक अन्तरिक्ष लोक इवर्गसोक का ऐश्वर्य तुम्ह में घारख करता हूँ” विचारने की जात है क्या यह द्वासामी जी-का तत्त्व नहीं है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप सत्यार्थप्रकाश ओड़ संस्कारविधि में पहुंचे। वहाँ भी आप की लिखी इवारत कहीं नहीं लिखी। आप स्वामी जी पर आवेद करते हैं भीर उन के धर्म के विहृद्ध कल्पना करते हैं। हाँ उन्होंने:-

प्रते ददामि मधुनो घृतस्य । इत्यादि

सत्त्र लिखा है सो क्या आप की सम्मति में स्वामी जी ने रच लिया है? क्या आप की सामनीय प्रतुतियों में—भूस्त्रयि दधानि। इत्यादि नहीं है? देखो दशकमें प्रतुतियों में—भूस्त्रयि दधानि। यथाये में बालक में ज्ञानशक्ति भीर प्रदणशक्ति जन्म से ही नहीं किन्तु जब से भीवास्त्रा प्रवेश करता है तभी से होती है। किन्तु चौथी शक्तिद्वारा उस का अनुभव जैसे २ बदला जाता

है वेसे २ वह जाता हांसता जाता है ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ मनु०४ । २०
यथार्थ में संसार में किमी प्राणी को कोई ज्ञान एवं साप वडी गवस्था
ही में प्राप्त नहीं हो जाता, ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक बालक जन्म
के ही कुछ न कुछ सीखता है । कुछ न कुछ जानता है । तदनुसार जन्मते
ही उसे परमेश्वर भी र वेद के समर्पण करना बालक के कुछ न कुछ बुधार का
कारण अवश्य है । तथा माता पिता का विशेष चेष्टित होगा भीर वैदिक
मनुष्यालु होना भी सन्तान भीर भाव दोनों का संस्कारक है । भाव संस्कार
को मानें वान नानें परन्तु उप समन्वय को तो मानते ही होंगे, जिसका यह शर्थ है ॥

भीर ऐश्वर्य की इच्छा सनुष्य में स्वाभाविक है भीर सब से अधिक
सनुष्य अपना ऐश्वर्य चाहता है, यदि संसार में अपने से अधिक ऐश्वर्य को है
किमी का चाहना है तो वह अपनी सन्तान का चाहता है । वही स्वाभा-
विक इच्छा समन्वय से प्रकट होती है ॥

४३ तिं० भा० ४० ३१ पं० १३ से—(भ्रीणि वर्षा०) इस झोल का अर्थ यह
किया है कि—“जिस कन्या के पिता मातादि न हों वह अतुपती होने पर
तीन वर्ष तक (उत्तेजत) अपने कुटुम्बियों की प्रतीक्षा करे कि यह विवाह
करदें जब यह समय भी बीत जाय तो अपनी जाति के युद्ध को जो अपने
कुनूज गोत्र के सदृश हो उसे वरण करे यह आपदुर्मै है । कन्या की को
ख्यं वरण का नृकुल छोड़ कर अधिकार नहीं है” । इत्यादि ॥

प्रत्यक्षर—इस भाव के अन्तर्यामी हटाने के लिये एक झोलक इस के पूर्व
का भी लिखे देते हैं:-

काममामरणात्तिष्ठेदु गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।

न चैवेनां प्रथच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिंचित् ॥ ६ । ८६

भ्रीणि वर्षाएयुदीक्षंत कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनु०६००॥

अर्थ—(कन्या) पुनी (अतुपती) रजस्वला हुई (कामन्त्र) चाहे (जान्म
रणात्) सून्यपर्यन्त (अपि) भी (तिष्ठेत) रहे (तु) परन्तु (एमाम्) इस

को (गुणहीनाय) गुणरहित के लिये (न चेत) नहीं (प्रयत्नेत) देते ॥८८॥
 (कुरारी) कारी कन्या (कल्पुमती) रजस्वला (सती) होती हुई (भीजिवर्षीणि)
 तीन घंटे (उदीक्षेत) खोल करे (तु) और (एतस्मात् कालात्) इस समय से
 (जाधवैषु) जपर (भद्रश्यम्) तुल्य (पतिम्) पति को (विन्देत) प्राप्त हो ९०

इस में 'विता जाता न हो' और कुटुम्बियों की प्रतीक्षा की गनुवृत्ति
 जहाँ से आई ? और जन्मियकन्याओं के पतिवरण स्वयं करने और अन्य
 घर्जों को ग-करने के विविन्देष का कोई वाक्य किसी पुराण का ही दिया
 होता । या अपनी ही बलाते हो ? धाय के गुण द्वेष जातने को सुन्नत
 उपस्थित है । क्या सत्यार्थप्रकाश ही में सब बातें लिखी जातीं ? जो दूरदृ
 हि उन को धायी का नियम स्वयं स्वामी जी ने नहीं किया । क्या धाय ने
 सत्यार्थप्रकाश में नहीं देखा कि —

“जो कोई दूरदृ हो धायी को न रख खें सी ते गाय वा बकरी के
 दूध में उत्तम जांघधि जो कि बुद्धि पराक्रम आरोग्य करने हारी हों उनको
 शुद्ध जल में जिजा भीटा छान के दूध के अमान जल मिलाके आलक को
 पिलावें ।” देखते ती धाय ऐसा न लिखते कि “एक वा सब को अथग
 करना दृष्टा है” इत्यादि ॥

१० तिं० भा० प० ३१ पं० ५५ से-विद्याचारानुमार कन्या से वर होना होगा
 उत्तम है रुपोद्धा सम्मन है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- धाय सी “कंप्यष्टवर्षीष्टुर्दृ” प्रभाप्त से तिगुणा वर कह चुके हैं शब्द
 किर वहीं जागये कि द्वयवार्षी कन्या से रुपोद्धा १२ वर्ष का वर और रुपोद्धे ही
 का भियम है तो २ दिन की कन्या से । दिन का वर भी रुपोद्धा होता है ।
 परन्तु यह रुपोद्ध आगे नहीं रहती । ८ वर्ष की कन्या से १२ वर्ष का वर
 रुपोद्धा हुआ, परन्तु वही कन्या जब १६ वर्ष की होगी तब वर २० वर्ष का
 होगा तो रुपोद्धे का सवाया ही रह जायगा और आगे २ सवाया भी न
 रहेगा । क्या विवाह समय की रुपोद्ध लगाई जायगी वा युवावस्था की ?

धर्णदेयवस्थाप्रकरणम्

१० तिं० भा० प० ३२ पं० ११ से-

किं गोभ्रोनुसीस्याद्वीत्येतद्वैष्टुर्भीष्टुर्गोत्रोहमस्म्यपृष्ठं

नातरं च सा ज्ञा प्रत्यव्यथीद्वाहं चरंती—परिचारिणी बौघनेत्वामलभेदा। इमेनम
बिद् यद्युगोन्नत्वग्नि जावाला तु नामरहमस्ति सत्यकामोन। ग्रस्थनसौतिसोदधि
सत्यकामोजामालोस्मि भो हति । सञ्चह्योषाच नैतद्वामणां घकुण्हैति
क्षमिष्ठं मोम्याहरेति । क्षाम्दोवये० ॥

कि हे सौम्य सेरा क्या गोप्र है । जावालि बोले यह मैं नहीं जानता
मैंने जाता मैं यह पूछा था चम ने कहा मैं जर के कागड़ाग मैं फंनीरहूं थीं
युवावस्था मैं तेरा जन्म हुवा पिता परलोक मिधारे मुझे गोप्र की खुबर नहीं
तुम्हारा नाम सत्यकाम मेरा नाम जावाला है । यह जान दुन गीतम जी मैं
जाना कि ब्राह्मण विना सत्युक्त द्वालरहित ऐसे वाच्य और कोई नहीं कह
सकता क्योंकि “ ऋग्नको हि ब्राह्मणः ” ब्राह्मण स्वप्राप्त वे भरल हूंते हैं,
इससे उसे निश्चय ब्राह्मण जान कर कहा कि सतिधा लेगा और विधिपूर्वक
उपनयन कराकर विद्या पढ़ाई ॥

प्रथ्युत्तर-स्वामी जी ने तो जावालि का नाम ही लिखा था । आप ने
प्रमाणसहित व्वीरा लिख दिया । जावालि की जाता के इन कहनें के कि न
जाने तू किस से पैदा हुआ, मैं नहीं जानती और ऐसा ही जावालि ने
गोतम जी से स्वीकार किया तो सत्यवादित्व और सरलत्व जो ब्राह्मण के
गुण हैं उन्हीं से तो गोतम से उपेब्राह्मण नाम लिया और कह दिया कि
सतिधा ले जा । बन ठीक है, जो ऐसा सत्यवादी और सरलस्वप्राप्त तू है
तो फिर चाहे जिस गोप्र में उत्पन्न हुआ है, गुण कर्म स्वप्राप्त ने ब्राह्मण
ही है ॥ आप यदि जावालि के बीचेद्वारा दिता का पता लगा देते कि वह
ब्राह्मणकुलोत्पन्न पा तो आप का पक्ष संपत्ता । जिसे आप नहीं माँग सके ॥

और गोप्र शठ की छवति यहां वर्णपरक है । गोप्र के अविष्यपरक नहीं ।
क्योंकि गोतम का सात्पर्य वर्ण बूझने से चा, तभी तो ब्राह्मणत्व का गिरज
करके प्रश्न भगास हो गया ॥

विश्वामित्र का तप करके ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मण बनाया जाना आप स्वयं
भी लखते हैं । यही इन कहते हैं कि यदि कोई गीचा वर्ण तप भाविते हुए
गुण कर्म स्वप्राप्त युक्त हो जाए तो चतुर्वेदविद्व ब्रह्मा (संज्ञा) चिद्वान् की दी
हुई व्यवस्था से वह ब्राह्मण हो जाना चाहिये । उत्तम विद्या वाला ब्राह्मण
के योग्य होता है, इस से यह नहीं गिरता कि क्विय वैश्य विद्याहीन
होते हैं । विश्वामित्र विद्वान् वे परन्तु व्यक्तिय पद योग्य विद्वान् थे । फिर

ब्राह्मण पद और तप करने से ब्राह्मण कहलाये ॥ केवल विद्या पढ़ने से ब्राह्मण होना सत्यार्थकाम में भी नहीं किन्तु शम दमदि सब स्वरूप संयम होने से माना है ॥ तप करने का तात्पर्य भी यह होता है कि “स्वाध्यायत्तपः शमस्तपो दमस्तपः” शम दम स्वाध्यायादि तप कहाते हैं । इकाई जो ने लिखे—

स्वाध्यायेन व्रतैर्हीमि । इत्यस्ति मनुऽ र + २८ ॥

चतुर्थ ममुद्गास में स्वाध्यायादि सब गुण कर्म स्वप्नवारों से ब्राह्मणश्च माना है, त केवल पढ़ने से ॥

यदि शाप के कथनानुसार सहस्रों वर्ष का तप भव्य माना जाय तो आप ही के कथनानुसार उम युग में अधिक भवस्थम् यी तब सहस्रों वर्ष से तप की जावद्यकना थी, जब शशप भायु में शशप तप से ब्राह्मणस्त्र होजाना चाहिये ॥ यद्य ही उच्च वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं, यह ती स्वार्गी जी ने भी नहीं माना । परम्परा कोई भी नहीं हो सकता, ऐसा भी नहीं । किन्तु जो जो उन सुन उच्छरणों से युक्त हों वे २ जवद्य पूर्व भी हुवे और जब भी होने चाहिये ॥

द० चिं० शा० प०७३४ प०१५ से—

यथा काहुमयो हस्तो यथा चमेसयो युगः एव विप्रोऽग्नधीयात्स्वयस्ते नाम विभूतिः ॥ शा० २ छो० १५३ ब्राह्मणस्त्रवाग्धीयात्स्वद्वाग्निरिव शामपतिः ॥ तस्मै हृषयं च दात्रयं नहि भस्मनि हृणते ॥ शा० ३ छो० १६८

जिने काठ के हाथी चमड़े के सूग नाम गात्र होते हैं वही प्रकार बेपढ़ा ब्रह्मण के ब्रह्म का ब्राह्मण है ॥ १५४ ॥ बेपढ़ा ब्राह्मण तुमर्ही की अभिन्न की ताह से शान्त हो जाता है उसे हृष्य कव्य न देगी चाहुये उसे देखा राज में होने करना है ॥ १६० ॥

प्रत्युत्तर-ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से जिन का नाम प्रपन्न-यनादि के समय ब्राह्मण या वह चमड़े का सूग और काठ के हाथी के समान लड़कों के खिलीने रूप ब्राह्मण है । अपर्यत बालकों के समान ब्रह्मणी वीराणिक लड़के हने ब्राह्मण ही नानके रहते हैं, परम्परा वह लग करे अभिन के समान जन्मते समय तो भावी बायर पर ब्राह्मण कहाया, पर गुण कर्म स्व-आद द्वीज होते ही जैसे तृणाग्नि से भस्म हो जाती है । जैसे वह ब्राह्मण से भव्य हो जाता है । जैव तृणाग्नि किर अग्नि नहीं बहुता किन्तु भस्म

निस्तंग हो जाता है, ऐसे हो निस्तेग हो जाता है। जिसे भृत्य को अर्थन
गान कर उम में होग करमा वृथा है ऐसे ही उम जन्म के ब्राह्मण और
पीछे से अब्राह्मण को ब्राह्मण मान कर एव्य दागादि देना वृथा है। इस
से न देगा चाहिये ॥

८० तिं भा० प० ३४ पं० १९ और प० ३५ पं० ६ से—

**अद्वाद्वातसंभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मासि पुत्रमा
मृथाः सजोषशरदः शतम् ॥ ० ॥ आत्मावैजायते पुत्रः ॥**

इन दो वाक्यों के प्रमाण से यह सिद्धि करना चाहा है कि जब भृत्य
से पिता के पुत्र उत्पन्न होता है तब ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होगा
इत्यादि ॥

प्रथयुत्तर-यह ठीक है कि पिता जाता है असून् २ से सत्तान उत्पन्न
होता है। परन्तु सत्तान का देहमात्र उत्पन्न होता है। आत्मा नहीं।
उम लिये आप यदि कोई ऐसा प्रमाण देसे जिस में देह का नाम ब्राह्मण
होता तो ब्राह्मण देह से दूसरे ब्राह्मण देह की उत्पत्ति जाननीय होती।
जिस प्रकार आम के बीज से आम ही उपजाता है वही प्रकार भृत्य के
बीयं से भृत्य ही उपजेगा। यह नियम तो ठीक है। परन्तु ब्राह्मण से
ब्राह्मण ही उपजे यह अधिक संभव हो है किन्तु इस के विरुद्ध कभी न हो
सके, यह नियम नहीं ॥

८० तिं भा० प० ३६ पं० १० से—

**यत्पुरुषव्यव्युः कतिधाव्यकस्पयन् सुखद्विमस्यासीहिक्ष्वात् किमूरुपा-
दावर्थयते । यजु० अ० ३१ मं० १०**

(प्रश्न) जिस परमेश्वर का यज्ञा किया उस की कितने प्रकारों से
कल्पना हुई उस का सुख भुगा चक्र जीव हुए, जीर जीव पाद कहे जाते
हैं, इन से उत्तर में (ब्राह्मणोऽस्येति) यह सन्त्र है जिस का भाव इयानन्द
जी अशुद्ध करते हैं इस का अर्थ यह है कि (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य)
इस परमेश्वर का (सुखम्) सुख (आशीत्) हुभा (राजन्यः) जग्नी
(वाहुःकृतः) वाहुरूप से निष्पादित हुभा (अस्य यत् चक्र तत् विश्वः) इस
की जो चक्र है उद्दूप वैश्य हुभा (पद्धर्या) चरणों से (गूदः) गूद
(भग्नायत) उत्पन्न हुभा। इस प्रकार से इस सन्त्र का अर्थ है ॥

प्रथ्युत्तर-भीर तो भापने सब जाये ठीक किया परम्परा (पद्मपाम्) चरणों से यह पश्चात्ती का जाये ही ठीक गहरौ व्यर्णोंकि भाप ही पूर्व मन्त्र में (पादा उच्चयेते) प्रथमा विभक्ति का जाये कर चुके हैं कि "कीन पद कहे जाते हैं" तो इस उत्तर देने वाले मन्त्र में भी पश्चात्ती विभक्ति नहीं किस्तु-

व्यत्ययो बहुलम्

इस पाणिनि के सूत्रानुसार यही जाये जरना चाहिये कि " शूद्र पाद कहा जाता है " न यह कि " चरणों वे शूद्र उत्पन्न हुमा " *

भीर जब कि भाप स्वयं लिखते हैं कि " उस की जितने प्रकारों से कल्पना हुई " तो यह स्पष्ट है कि इवानी जी के लिखने अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण मुखादि के तुल्य कर्म करने से पुरुष के मुखादि कल्पना किये जाने चाहियें । इस ले अतिरिक्त मन्त्र में भी कल्पनावाचक (व्यक्तलपयत्) पद वर्तमान है । इस से यह समझना असुर है कि परमेश्वर के यथार्थ में मुखादि अवयव हैं वा उस के मुखादि उपादान कारण से ब्राह्मणादि वर्ण उत्पन्न हुवे । यही कल्पना (चन्द्रमा मनसो जातः) इत्यादि में भी समझनी चाहिये । यों तो ब्राह्मणादि सभी वर्ण मुखादि सब भज्ञों से काम करते हैं परम्परा इतने से वर्णसङ्कर गहरौ होता । किस्तु प्रधानता वे जो जिन काम को करता है वह कान वर्षव्यवस्था के कारण होते हैं । जैसे हुएटों को दण्ड देने आदि प्रबन्ध करना जेजिस्ट्रेट का कान है तो व्या अपने बालकों को घोड़ा दण्ड देने से या बाप आदि वा (मास्टर) अध्यापक लोगों की जेजिस्ट्रेट संज्ञा हो सकती है ? कदापि नहीं ॥

इसी प्रकार व्यापारादि गिमित वा अव्य कार्यार्थ इधर उधर जाने आने सात्र से सब की वैश्य संज्ञा नहीं होती ॥

यह कहना कैसी अज्ञानता की बात है कि निराकार परमेश्वर होता तो उन से निराकार ही रुद्धि होती, साकार नहीं ॥

व्या कुम्हार चरणय नहीं है तो सूरमय पात्र नहीं बना सकता ? व्या स्वर्णमय भासूचय बनाने वाला बुनार भी स्वर्णमय ही होता है ? व्या भाप परमात्मा को उपादानकारण समझते हैं ?

न तस्य कार्यं अ विद्यते । श्वेताश्वतर

उस परमात्मा का कोई जाये नहीं । अर्पात् वह किसी का उपादान

यारण नहीं। फिर यह शङ्खा कब रह मच्छो है। मनुष्यांद ब्राह्मियों के पर-
गात्मा ने अव्यक्त मकृति को उत्पक्ष करके उसीं से ब्राह्मा और वेदों का प्रकाश
ब्रह्मियों के हृष्य में लिया। इस के आप का ब्राह्मणवाद र्सेन है॥

आप दों के प० ७८ पं० २ में कहे (अपास्तिपाठोऽशब्द) इत्यादि प्रसाप
में मिलते हैं कि कह थापत्ता से विनाश हस्तं पादादि को सहायता के ही
सब काम कर सकता है॥

लोकानां तु विवृद्धुर्थं मुख्याहूरु पादतः । मनु

इस का गी अश्रव यहां है जो कहार (ब्राह्मणोऽस्य मुख्यांसीत्)
इत्यादि गत्र में वर्णन किया गया॥

कथा योगि से उत्पत्ति में योगि उपादानकरण है? जो तत्त्वय वत्तान्त
की अ शङ्खा करते हों। नहीं २ योगि कंवल उत्पत्ति द्वारा है और च्यान्ताक
करण ती गङ्गा २ है जैसा कि कहार आप ही लिख चुके हैं तिः—

अङ्गादङ्गात्संभवसि ॥ इत्यादि

८० तिः भा० प० ७८ पं० ८ से:-

दयानन्द जी ब्राह्मी का वार्ष्य यह करते हैं कि “ब्राह्मण का शरीर बगता
है” यह अशुद्ध है व्योंकि ब्राह्मण का शरीर ती गाता पिता से बगता है॥

प्रत्यक्षर-महात्मा गी! ब्राह्मी का वार्ष्य “ब्रह्मप्राप्ति के योग्य” है तकै
फिर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य क्या कोई अब्राह्मण हो सकतह है? और वहां
“तनु” प० ८० ही है फिर शरीर सहित भात्मा ब्राह्मण बगता है, यही भाव
हुवा और आप के लिखने अनुभार पाठ भी सत्पार्यप्रसाद में नहीं है मिलता
“(इयम्) यश (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्रह्मण का (क्रियते) किया जाता
है” ऐसा पाठ है जिस की अवनि रूपट है कि शरीर भी अभिक्राय में है॥

८० तिः भा० प० ७८ पं० १२ से-यत्याक्त मन्त्रों से सुन्दर्ण की शलाका से
गधु घृत घटावे॥

प्रत्यक्षर-आप ती पूर्व संकारविधिहय गधु घृत प्राशन का खण्डण कर
जुते थे। अब मनु के लोग का वार्ष्य करते कैने बकार उठे?

जन्म से संकार करने का प्रयोग पूर्व बता चुके हैं॥

८० तिः भा० प० ८० में जो वार्ष्य ब्राह्मणादि के भिन्न २ यज्ञोपवीतादि
विषय में लिखे हैं वे सब जन्म से ब्राह्मणादि के पुत्रों से विषय में हैं। जिस

प्रकार दीवरर चिन्मने बाला पहली हैट रखते समय भी यही अवहार करता है कि मन्त्राग चिनता हूँ। अद्यापि पहिली हैट काँचन मन्त्राग नहीं। इसी प्रकार भरवी ब्राह्मणत्वादि जो भजनात में ही उर्ध्वों के गानुभार सब दयेष्या गुणकर्मनुभार जानते में भी ठीक रहते हैं। आप के समान ही संस्कार-विधिं के बाहूं में ये सब बातें लिखी हैं ॥

३० तिं जाऽ पृ० द२ यं० ११ और जो पढ़ाये तो ग्रायश्चित लगें ॥

प्रत्यक्षर-भला (संस्कारस्य विशेषात्म वर्णाणां ब्राह्मणः प्रभुः) इन में ग्रायश्चित का अर्थ कहां से शा गया ? जिन्हे संस्कार की विशेषता से अन्य दर्शकों का ब्राह्मण गुद है। इतना ही अर्थ है ॥ जब कि भाव-

वैश्यकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

शूद्रस्याऽपिस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

क्षात्रकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ गीता० ॥

इन चारों धारों को स्वयं लिख चुके हैं और इन में कर्म और स्वभाव शब्द स्पष्ट भाये हैं तो स्वामी जी के मुण कर्म स्वाभावानुभार वर्ण लिखने पर क्यों असंवेद करते हैं। जो जिस का स्वाभाविक काम है वह उस के विपरीत नहीं हो सकता। बस जो लोग जिन वर्ण में उत्पन्न हुये हैं वे यदि उप २ प्रत्यक्षणों का काम न करें तो जानता चाहिये कि यह इन का स्वाभाविक कर्म नहीं है, स्वाभाविक होता तो उप के विपरीत न कर सकते। इन लिये जो स्वाभाविक रीति पर प्रधानता से जिस कार्य में रत है उन वाही वर्ण समझता चाहिये ॥

ब्राह्मण ही के छः कामों को सब नहीं कर सकते। और ती चार। स्वयं ब्राह्मणकुलोत्पन्न हीं सब नहीं कर सकते, न करते हैं। किर यह कहना कितना तिर्मूल है कि बड़ा जनना सब चाहते हैं। इन लिये सब ब्राह्मण ही जग जायेंगे। ब्राह्मण होना तो बहुत कठिन है किन्तु छोटा सोटा राज्य जनना उतना कठिन नहीं है, क्योंकि विवर्यों के यहण से विवर्यों का त्याग भव्यता कठिन है और ग्रायः प्रत्येक मनुष्य संसार का यह चाहता है कि मैं राजा हो जाऊँ, परम्पुरा चाहा इच्छाभाव से कोई जग सकता है ? यदि

विषयग्राहीं राजा ही गहों बन सकता तो विषयत्यागी ब्राह्मण बनना किंतु न कठिन है ॥

पढ़ेनाम का नाम ब्राह्मण स्वामी जी ने भी कहीं नहीं लिखा। इस लिये यह कहना उपर्युक्त है कि यदि पढ़े का नाम ब्राह्मण हो तो अत्रिय विषय भी ब्राह्मण ही हो जाते ॥

परशुराम को ब्राह्मण कहने का कारण यही था कि उन्होंने राज्य-प्रबन्ध कभी नहीं किया। क्या क्रोध में भर कर बहुतों के प्राण लेने मात्र से अत्रिय हो सकता है? द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या के प्रधान आचार्य थे। इसी त्रे वे भी पढ़ाने आदि प्रधान गुण कर्म स्वप्राप्तानुमार ब्राह्मण नहीं गये ॥

कर्ण जब परशुराम से पढ़ने गया तब उस ने इस लिये नहीं पढ़ाया होगा कि उन्हें अत्रियों के जगर्थे के कारण उन पर क्रोध था और त्रेता के परशुराम जी ने द्वापरान्त के कर्ण का पढ़ने जोना भी विच्छिन्न है। यदि पुराणों के अनुसार त्रेता के पुढ़रों की १०००० वर्ष की आयु भी मात्र में तब भी द्वापर के अंत तक परशुराम जी की हितवति असम्भव है। जब आप कहते हैं कि “कर्ण में कौन ने गुण क्षमी के नहीं ये सब ही थे” तो मिहु बुधा कि अत्रिय गुणों से परशुराम जी ने उसे अत्रिय जान ब्राह्मण बताने के फूट ओलने पर नहीं पढ़ाया। कर्ण को द्वीपदी जाति ने अत्रिय नहीं माना तब यदि कर्ण में पूर्ण अत्रियत्व होता तो पीरुष दिखाता। उस ने लजित हो घनुष् रख दिया। इस से उस की निष्ठेलता स्पष्ट है तभी तो द्वीपदी ने नहीं घरण किया। गड़ह के कछड़ में ब्राह्मण न पचना आदि साध्य है। सिहु का दृष्टान्त होना चाहिये। विद्यापढ़ाने से भारतम में वर्ण उस के पति के गुण कर्म स्वप्राप्तानुमार मुन वा भी अनुमान किया जाता है। पश्चात् जीवा ही। यदि वर्ण अटक हो तो जो लोग स्वेच्छादि संपर्क वा स्वेच्छ भत याहण कर लेवें वे भी पूर्णे के जाये वंशानुमारी वर्ण में बने रहें ॥

शूद्रोब्राह्मणतामेति

इत्यादि अखददहनीय प्रभाण को देख कर ८० तिं भा० ४० ट५ पं० १८ से कहते हैं कि-

शूद्रायां ब्राह्मणाज्ञातः ज्ञेयस्त्रिम्प्रजायते। अत्रेयान्नज्ञेयस्त्रीज्ञातिं गच्छ-
त्वामस्तपात्युगात् । अनु १० । ६४

शूद्रा ने ब्राह्मण से परशुराम वर्ण उत्पन्न होता है जो जी उत्पन्न हो

और वह ब्राह्मण से विवाही जाप और उन से कल्पा हो वह ब्रह्मण से विवाही जाप तो वह परशवारूप वर्ण सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है। इत्यादि। किर पं० २७ में यहां (ता) ब्रह्मण उद्गुप्त अर्थ में है। इत्यादि ॥

प्रत्युषत-भृत्ये रहे। जो आत एक जन्म में न भावी वह सात जन्म में भावी। यह परशवारूप अनोखावर्ण जब शूद्राओं ब्राह्मणों से सात बार तक विवाह कर ३ ब्राह्मण शूद्रा से विवाह करने से अट बने तब एक ब्राह्मण सातवें जन्म में बने। ३ ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व खोवें शूद्रा को घर में छालें तब यह भाप की वर्णांकति हो। और जातः अभेषान् इन पुंजिहृषि पदों से कल्पा अर्थे वा ज्ञात जन्म कर ३ वें तक ब्राह्मण से विवाही जाप। यह अर्थे कहां से आया। तथा “ भाससमात् ” का अर्थे “ सातवें जन्म में ” के ऐसे बुवार आङ् के अर्थे मर्योदा और अतिविधि है। तौ यह अर्थे होगा कि सात तक (अभेषान्) नीचा वर्ण (अर्थमें जातिम्) उच्च जातिको माप होता रहता है, न यह कि पहले छः नीच रहें और सातवां उच्च बने। इस लिये यह छोक ब्राह्मणों के विगाहने का है। और ब्राह्मणता में (ता) भाव अर्थे में है सदृश अर्थ में कोई व्याकरण का नियम “ ता ” का नहीं। यदि हो तो अतावें। भाव अर्थ में “ ब्राह्मणतामेति ” का अर्थे यह होगा कि “ ब्राह्मण भाव को पाता है ” अर्थात् ब्राह्मण हो जाता है। खेंचातानी वृथा है ॥

द० तिं भा० पु० द० पं० ३ से—

भाष्यमूलिका में भाप ने लिखा है कि कुचर्या अधर्माचरण गिरुद्विष्टुर्ख-
ता पराधीनता परसेवादि दोष दूषित विद्या यहां धारण में असमर्थ हो
को ही शूद्र है यथादि यत्र शूद्रोनाभ्यापनीयो न आवणीयश्चेत्युक्तं तत्रायग-
भिमायः शूद्रस्यप्रकाविरहित्वाद्विद्यापठनधारविचारासत्त्वात्स्याभ्या-
पनं आवणं व्यर्थमेवास्तिगिरुकलत्वाच् यह व्याप्ति जी की संस्कृत है कि शूद्र
प्रका (शुद्धि) न होने से विद्या पठन धारण विचार में असमर्थ होने स
पड़ना सुनना तिक्तकल ही है ॥

इस लेख से स्पष्ट है कि शूद्र उस को कहते हैं जिस पर पढ़ावे से कुछ
न आवे और उस का पढ़ाना भी निष्ठा है किर भाप ही वेद पढ़ने की
आज्ञा देते हो जैसा लिखा है कि (शूद्रायावदानि-शूद्र को भी यह वेद प-
दावे) तो भला जो अध्ययन के योग्य ही नहीं बोह कैसे वेद पढ़े अब

यह भन्न (अथेर्मा वाचं) इस में शूद्रपद कर्मानुसार है या जन्म में जाति भानी है यदि कर्म से जाति मानते हो तो शूद्र के बेद पढ़नकरा है, जन्म से जाति मानते ही नहीं अब आप के लेख में कीन बात सत्य भानी जावे थो शूद्र को पढ़ाना माने तो जाति जन्म से हुई जाती है जो कर्म से माने तो शूद्र को बेद पढ़ना बनता नहीं (प्रज्ञाविरहितत्वात्) क्योंकि जो पढ़ने के योग्य न हो उन को पढ़ाने की आज्ञा देने वाला सूख ही गिना जायगा और शूद्र महासूख को मानते हो तो (शूद्रो ब्रात्) (और अधर्मचर्यादि) जन्म और आपस्तंब के वचनों के आप ही के किये जर्य मिथ्या हुए जाते हैं क्योंकि जब शूद्र में घारण ही नहीं तो पढ़ेगा कैसे और उत्तम वर्ण को विना पढ़े कैसे प्राप्त होया इस से शूद्र पद सदा जन्म से ही लिया है और आपस्तंब सूत्र के भी यही जर्य है कि यह पुरुष उत्तम कर्म करे तो पुनर्जन्म में कर्मानुसार श्रेष्ठ वर्ण को प्राप्त होजाता है और जो उत्तम वर्ण अधर्म कर्म करे तो पुनर्जन्म में नीच वर्ण होजाता है और एक आदर का भी शब्द है कैवे कोई अमोत्ता को कह देते हैं कि यह सौ अर्थ के अवतार हैं इसी प्रकार जाति में उत्तम कर्म करने वालों को आदरपूर्वक उच्च नाम से उच्चरण करने लगते हैं परन्तु वह जाति में अपनी ही रहते हैं और अपनी जाति में बहु गिने जाते हैं ॥

प्रत्युत्तर-खानी जो के बस लक्षण से कि जिसे पढ़ाने से भी कुछ न आसके, यह शूद्र का लक्षण है, कोई दोष नहीं आता । क्योंकि पढ़ाने से ही तो यह विवित होगा कि यह पढ़ाने से भी नहीं पढ़ सकता । यदि पढ़ाया ही ग जावे तो यह कैसे जाना जावे कि यह पढ़ाने से भी नहीं पढ़ सकता । बस (यथेऽमा वाचम्) के अनुसार शूद्र के पुत्र को भी पढ़ा कर देखा जाय यही उस की चरितार्थता है ॥

अधर्मचर्यया जघ०

इस का तात्पर्य दूसरे जन्म में नीच होने का है तो जो सोन इसी जन्म में दूसरे मुमर्शमान हो जाते हैं वे पतित न होने आहिये क्योंकि आप तो अधर्म वा धर्म को अगले जन्म में फलप्रद मानते हैं ॥

द० तिद भा० प० ८६ प० २७ मे-

धर्मपदेश्यं पैण विप्राणामस्य कुर्वतः ।

तत्प्राप्तेष्वेतत्त्वं वस्त्रे ओत्रे च पारिष्वः ॥ जनु० ८ । १७२

प्रत्युत्तर-तात्पर्य तो यह है कि जो शूद्र होने से जात्मानी पुकार जानियों का उपदेशक बन जावे और घमयण करके अधर्मे जा उपदेश करे तो राजा कुने दगड़ दे । इस से यह तो नहीं चिढ़ु होता कि वह शूद्र अन्म से होता है वा कर्मादि ने ॥

४० तिथि भाषा० पृष्ठ ८७ पं० २ से-

शतएव शतपथे । स वे न सर्वेषां संवदे, देवाण्वा एष उपावर्त्तते, मी दीक्षते च देवाणामेको भवन्ति, न वे देवाः सर्वेषैव संवदन्ते, ग्राहयेन वैव राजन्येन वा वैवेण वा, ते हयस्तियास्तस्माद्यज्ञे न शूद्रेण संवदयो विन्देदेतेष्व-भैरवं ब्रयादिनम् ॥

प्रत्युत्तर-इस का असरार्थ यह है कि—“वह सब से संवाद न करें, वर्ते कि वह वेषों के जान में है जो कि दीक्षित होकर यज्ञ करता है, वह अक्षेत्र देवतों का हो जाता है और देवता सब से संवाद नहीं करते; किन्तु ग्राहण वा ज्ञात्रिय वा वैवेष्य से ही करते हैं वर्तोंनि (ये दो) यज्ञ वाले हैं । शूद्र से संवाद नहीं प्राप्त होते किन्तु इस (ग्राहणादित्वा) से ही किसी एक से भी ले ॥

इस में भी जन्म से वा कर्म से कुछ नहीं लिखा, इस लिये जाप के पक्ष कह फोषक नहीं और शतपथ वा पठा भी नहीं लिखा ॥

४० तिथि भाषा० पृष्ठ ८७ पं० १० में—जैसे दीवार तस्वीरों सहित दीक्षार ही रहती है परन्तु वोह अच्छी कही जाती है ॥

प्रत्युत्तर—जैसे दीवार लिप्री पुती तस्वीर टक्की उत्तम होती है, जैसे ही पढ़ा लिखा सुझूकित मनुष्य ही रहता है, परन्तु गच्छा अर्थात् ग्राहणादि उत्तमपद को प्राप्त हो जाता है और ढाई कूटी विकल दीक्षार भी दीक्षार तो कहाती है, परन्तु वह दुर्दल, खण्डल आदि दुर्नामों से पुकारी जाती है । ऐसे ही कुप्रद गनुष्य भी शूद्रादि जानों से ॥

४० तिथि भाषा० पृष्ठ ८७ पं० १३ मे—

बाह्यद्विरं ग्राहणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्षुरश्यं राजन्यस्य, रायोक्तजीवं वैप्रस्य ॥

प्रत्युत्तर—ये सामवेद के श्याम नहीं हैं, किन्तु इस द जान के साम ही जो सामवेद की संहिताश्य ज्ञातानों में से लिखे हैं । समर्पण यह है कि ग्राहण यज्ञ करे तो उसे “बाह्यद्विर” नामक साम पठावे, ज्ञात्रिय करे पद्मरूपश्य, वैवेष्य करे रायोक्तजीव, शूद्र को ब्रह्म लिये नहीं कहा कि वह अपेक्षा ज्ञाने के पश्चात्तर

ही नहीं होता । इस में भी जन्म वा कर्म कुछ नहीं कहा और आप ने यह पता भी नहीं दिया कि यह किस ब्राह्मण के किस स्थल का पाठ है । संस्कारे एवं तत्प्रथागतवात् । वेदे निर्देशात् । इत्यादि का उत्तर देमे की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि न यन्त्र का नाम, न उग में जन्म वा कर्म का वर्णन ॥

४० तिं भा० प० ८० प० २५ से-

‘यद्युहवा पृत्त शशान्य यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रे नाष्टेत्व्यम् ॥

पत्युत्तर-यह भी बे पते प्रमाण है और शूद्र के सभीप बेठ कर वेद न पढ़े इस का तात्पर्य यह है कि क्लास चिक्क २ रहनी चाहिये, शूद्र शूद्रों में बेठे, ब्राह्मणादि ब्राह्मणादिकों के साथ अपनी क्लास (कदा) में बेठ कर पढ़े । यह पढ़ने का कदा है । जाति वा वर्ण का जन्म वा कर्मादि से होना इस में नहीं कहा ॥

शूद्राणामनिरवासितानाम् । प्रत्यभिवादे शूद्रे ॥

शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ।

इति सूत्र वार्तिकों में शूद्र का प्रयोग है । परन्तु शूद्रत्व जन्म से है वा कर्म से, यह कुछ भी नहीं लिखा, जातः आप का प्रकारपोषक नहीं ॥

४० तिं भा० प० ८० ८८ प० १३ से-

“तेनतुर्यंकियाचेद्वतिः”^९ सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तमाने ब्राह्मणः सत्रियो वैश्यः शूद्रः इति अतश्च गुणसमुदाये एवंस्त्वाह ॥

तपः अूतं च योगिन्द्रियपृत्तद्वार्हणकारणम् । तपः अूताभ्यांयोहीनोजातिं-ब्राह्मणपृत्तमः । तपायोरीरः शुच्याचारः पिङ्गलःकपिलकेश इति ॥

यद्य यह शब्द गुण समुदायों में वर्तते हैं, ब्राह्मण, सत्रिय, वैश्य, शूद्र इनि तप करना वेद पढ़ना आदि कुल यह ब्राह्मण का (कारणम्) लक्षण है जो ब्राह्मण इन करके हीन है केवल (योनिः) ब्राह्मणकुल में जन्म जात्र है औदृ जाति से ब्राह्मण है जात्यात्म में नहीं है क्योंकि गौर वर्ण पवित्राचरण पिङ्गलकपिलकेश यह जो ब्राह्मण के लक्षण है यदि यह न हों और योह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है तो वह जाति से बाहर है यह भाव्यकार भागते हैं “जानिहीने सन्देहाद्गुरुपदेशाद्ब्राह्मणशब्दोवर्तते” और जातिहीन गुण-हीन में भी सम्बद्ध है ब्राह्मण शब्द वर्तता है । गुच्छीने यथा “अब्राह्मणोऽयं यस्ति उठन्मूलयति” यह ब्राह्मण है जो लहड़ा होकर मूत रहा है । संदेह में ऐसे कि गौर वर्ण पवित्राचार पिङ्गलकपिलकेश-पुरुष देवकूर वर्ण होता है

कि यह क्या ब्राह्मण है पीछे जानने से यदि खोह जाति ब्राह्मण हो तो भगव-
स्तपोयनिति ऐसा कहा जाता है यदि भाद्रपक्ष को जाति शूद्र का जानना
इष न होता तो शुचि भावारादि युक्त पुरुष को यह ब्राह्मण है पा नहीं
ऐसा क्यों लिखते ॥

प्रत्युत्तर-इस में ब्राह्मण के स्वरूप भीर कारण बनाये हैं कि विद्या तप
भीर जन्म (ब्राह्मणकुल में) ये । जैसे ब्राह्मण होने का कारण है । परन्तु
यह नियमक नहीं कि विद्या भीर तप न भी हों तब भी ब्राह्मण ही पूर्ण
कहावे । जैसे जल अश्चित्तिका ये घड़े के कारण हैं । परन्तु यह नियम
नहीं कि अश्चित्तिका से घड़ा बने ही जाने । किन्तु बनाना चाहें तो बन सकता
है । अर्थात् ब्राह्मणकुल में जन्म लेना भी ब्राह्मण बनने के कारणों में एक
कारण है क्योंकि संस्कारपूर्वक शरीर बनता है । परन्तु निही से घट बन
सका है किन्तु इंट भी बन सकती है, टीकरे भी बन सकते हैं । इसी प्रकार
ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से ब्राह्मण भी बन सकता है भीर तप्रिय वैद्य वा
शूद्र भी बन सकता है । भीर उस को जाति ब्राह्मण कहना ऐसा ही है जैसे
कोई ब्राह्मण वा राजपुत्र ईसाएँ होवे तब भी उसे जाति का ब्राह्मण वा
राजपुत्र कहते हैं किन्तु उस के साथ सहभीजनादि काम नहीं करते । ऐसे
ही जन्म मात्र के ब्राह्मण जातिब्राह्मण हैं अर्थात् दानाच्छापनादि कार्ययोर्य
नहीं । अर्थात् जन्ममात्र व्यर्थ है । उस अकेले से कोई काम नहीं । भीर जैसे
जन्म तप विद्यादि सब गुणों से युक्त हो केवल रक्त उस का काला हो, व्या-
उने जाप ब्राह्मण नहीं कहते वा जानते ? इमारी जन्मक में तो गौर बर्ण
होगा। इत्यादि ब्राह्मण गोण चिह्न हैं, मुख्य नहीं । क्योंकि यदि रक्त यह ही
वर्णाद्यवस्था हो तो किसी देश में सर्वथा काले ही भीर जिसी में गोरे ही
होते हैं, तो फिर देशमात्र में एकही वर्ण होना भीर जानना चाहिये क्या ?

४० तिठ भ० भ० द० द० य० २०-

तिथेकादिशशानान्तो भक्त्र्यैर्यस्योदितो विचिः ।

तस्येवाप्राचिकारोदित्प्रवृत्तेयोनात्प्रस्य कस्यचित् ॥ अ० १

प्रत्युत्तर-तुलीयनेद का बाट ऐसा है कि “तस्य शास्त्रेभिकारोदित्प्रवृत्ते”
आप का पाठ टीक नहीं । भीर इसमें भी जन्म वा जन्मोदि का वर्णन नहीं
है किन्तु मनु जी अपने पुस्तक ननुस्मृति के यहने का जनिकारी उस पुरुष
को ठहराते हैं कि जिस जैसे जन्मोदि है जन्मयेतिपर्यन्त चंद्रकार हीसे हों

अन्य ऐरे गुरे को महीं ॥

४० तिं० भा० पृ० ८० च० ८ चे-

पुनः गोपणव्रातणे पूर्वभाने २३ ब्रातणम्

सान्तपनाइदं विरितयेव हवै सान्तपनोऽग्निर्यद्वात्रात्मणो यश्च गर्भावान्वुं पवन
सीमन्तोऽवयनजातकमेत्ता। सकरण निष्ठकमात्राश्वानगोदामचूडाकरत्रोपमयता ।
दक्षवनं गिरहोत्रवत्तचर्यादीनिकृत। गिरभक्तिसमान्तपनोऽप्य योगमनन्तिकः स
कुम्भेलोष्टः (तद्यथा) कुम्भेलोष्टः प्रक्षिप्तो नैषश्चौचार्यायकहृपते नैषश्चस्यायनि
र्वतंयनि एवमेवायां ब्रह्मणोऽनग्निमकस्तस्यद्वात्मणास्यामग्निकहृपते वदेवं दद्यात्
पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाऽशिष्वो न यज्ञमाणिषः स्वर्गकूलम्। भवति ॥

अर्थ-जिम ब्रह्मण के जन्म वे गर्भाधान संबन्ध में मन्त्रोत्तरयन जातकमें
भासकरण निष्ठकमण (बाहर गिकलना तीव्रे दिन) अवग्रामण गोदाम
चूडाकरण उपवीत गिरहोत्र द्वात्मचर्यादि लंकाकार हुवे हैं वो छं त्वान्नजाति
और गुण कर्म से यथार्थ है उमीं को सान्तपन कहते हैं जिम ब्रह्मण के वे
संहकार नहीं हुवे वह ऐसा ही है जैमा घटे में मिट्टी का ढेला, ज्योंकि वह
फैक्ता हुआ ढेला पवित्रता गहीं करता न कुछ (शश्य) खेतों का कार्य जन्मता
है इनी प्रकार से अग्नि रहित भीर संहकार रहित ब्रह्मण है ऐसे ब्रह्मण को
देवता और पितृसंबन्ध में कुछ भी न देना न वेद भास्त्रिष न यज्ञ भास्त्रिष
इस की स्वर्ग ले जाने वाली होती है ॥

प्रथयुत्तर-इस में लेखल ब्रह्मण पिता से जन्मने वाले की निन्दा है ।
जापोत् जो ब्रह्मणकुल में जन्म लेकर भी गर्भाधानादि संहकारों से रहित
है उसे ब्राह्मण मान कर दानादि नहीं देना चाहिये । यदि ब्रह्मण जन्म से
ही होता तो ऐसे लोग भी दानादि लेने के अधिकारी होते जैसे कि अप्त
कल गया के पवहे भावि हो रहे हैं ॥

४० तिं० भा० पृ० ९० में यह आक्षेप है कि गुण कर्म स्वभावानुभाव वर्ण
अवस्था मानने में यह अनर्थ होगा कि पिता के भगादि पदार्थों का दाय-
भाग छूट जायगा ॥ इत्यादि ॥

प्रथयुत्तर-भय भी तौ ईसाई सुप्रहमानादि होने से दायभाग छूटता होते
हैं । राजठपवस्था हो जाने पर कुछ अनर्थ नहीं हो सकता ॥

४० तिं० भा० पृ० ९० च० १४ चे-

उपेष्ठ पश्चत् यज्ञीयाहित्तदं यत्तमेवतः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-स्थानिकी के दो पुत्र हों और बड़ा बेटा अर्थ स्थान दे ती वह पिता के खंड का अधिकारी हो सकता है ? कदाचित् नहीं । इसी प्रकार राजकीय क्षयवस्था हो जाने पर वर्ण स्थानसे पर भी दायत्तावादि सब काम ठीक चल जाते हैं ॥

४९ तिं० भा० प० ११ पं० १३ से ६५ तक में (स्वाधायेनवते०) इन छोटे का यह तात्पर्य निकाला है कि स्वाध्यायादि कर्मों से ब्राह्मण नहीं होता विन्नु मुकिप्राप्ति के योग्य होता है ॥

प्रत्युत्तर-मुकियोग्य होना सी ब्राह्मण होने से भी जँचा है । क्योंकि ब्राह्मणों में भी सहस्रों में कोई ही मुक्ति का अधिकारी होता है । भला जो मुक्तियोग्य हो गया वह ब्रह्मण वा सन्न्यास के योग्य क्षेत्रों नहीं तुथा ॥

५० तिं० भा० प० १२-१३ में यह भाशय है कि—“येनाऽस्य पितरो याताः” इन छोटे का तात्पर्य यह है कि बाप दादे के भत को न छोड़े । जो ब्राह्मणादि ईसाई मुसलमान हो जाते हैं वे भी जाति के ब्राह्मणादि ही कहाते और रहते हैं, किन्तु जीवों के साथ भोजनादि करने से पतित कहाते हैं ॥

प्रत्युत्तर-यदि बाप दादे का भत न छोड़ना अर्थ है तो ५० वर्ष ठहरे रहो, जो लोग आर्यसमाज में आ गये किर उन की सम्मान को कभी भत कहना कि अपना भत छोड़ दो । आजकल जिस पियोसाक्रिकलसोसाइटी से भूत प्रेतादि हिन्दूपने के अधिविचारों को भानने के कारण अर्थसंभार्तों का बड़ा सेल जोल है और उन्नत हिन्दू विजित लोग निसेस एनीवेसेन्ट को हिन्दू क्षण ब्राह्मणों से भी अधिक मानते हैं । आप की क्या राय है ॥

निन्दास्तुतिप्रकरणम्—

५० तिं० भा० प० १३-१४ में लिखा है कि यदि दोषों को दोष कहना भी स्तुति है तो (भत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयाऽसत्यमप्रियम् । भनु०) से विरोध आवेगा । क्योंकि अप्रिय दोषों का सत्य कहना भी बुरा है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-सत्यंब्रूयात० इत्यादि छोटे सम्पत्तानाम् अर्थे का प्रतिपादक है । अर्थात् ऐसा करने वाले साधारण भलेमानुष कहाते हैं । परन्तु यथार्थ तो यही है कि “शबोरपि गुणवान्नया दोषा वाड्या गुरोरपि” शब्द के गुणों की प्रशंसा और गुण के भी दोषों का कथन करना । परीकादात्तुरो भवतिं इत्यादि छोटे समत्य दोषाद्वयोऽप्य का फल कहता है । इति ॥

५० तिं० भा० प० १४ पं० १५ से—

समाजा-अब यहां से स्वामी जी लापलोला चलाते हैं यहां पितर देवता। ऋषि सब एक ही प्रकार और एक ही भर्ते में घटाते हैं इन स्तोत्रों में पह सब पृथक् २ हैं इस लिये देव ऋषि पितरों को एक ही कहना। युक्त गहरी है क्योंकि ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ तृप्तयज्ञ पितृयज्ञ इन को यथाशक्ति न जाने दे, पढ़ना पढ़ना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण आद्युपि यज्ञ, होमादिक देवयज्ञ और भूतवलि भूतयज्ञ और भनुष्ययज्ञ अनिषिसोग्रनादिक यह पांच हैं, वेदाध्ययन से ऋषियों का पूजन करें, होम से देवताओं का, आद्युपि से पितरों का, अब से भनुष्यों का और भूतों को बलि कर्म कर पूजन करे॥

“कुर्याद्वरहःआद्युपि द्योदेवता । पयोमूलफलैर्वाऽपितृयज्ञःप्रीति-
भावहन् अ० ३ इलो० ८२ मनु० ॥ एकमध्याशयेद्विप्रियर्थ्यपांश्यज्ञिके”

पितरों से प्रीति चाहिनेवाला तिल यव इस करके और पय मूल फल खाल इन से आद्युपि करे पितर के भर्ते एक ब्राह्मण भोजन करावे जब कि वेदा-ध्ययन से ऋषि, होम से देवता आद्युपि से प्रसक्त से भनुष्यों का पूजन करे, यदि यह सब एक ही होते तो पृथक् २ वस्तुओं से पृथक् प्रसक्त होने वाले कीने होते यदि देवता विद्वानों ही को कहते हैं तो क्या वोह इवन से प्रसक्त होते हैं तो उन की प्रसक्तता के बास्ते इवन कर देगा। चाहिये यदि विद्वान् भूखे आवें तो योहासा होम करदेता थे भट प्रसक्त हो जायेंगे इस से विद्वान् तस होते देखे गहरी जाते इसकारण विद्वानों का ही देवता नाम और कोई पृथक् जाति नहीं है यह कहना स्वामी जी का भूंठ है बेदों से देवताति पृथक् लिखी है यथा हि “मग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता” इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने ऋषि देवता पितर का एक ही भर्ते नहीं किया किन्तु देवता=सामान्य विद्वान्, पितर=सातारा पिता आदि ज्ञानी पालक, ऋषि=पढ़ानेहारे। यह तीनों भिन्न २ लिखे हैं। आप का एक उमरहना भूल है॥

आप पढ़ने वालों को भग में डालते हैं कि स्वामी जी ने ऋषियज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञादि को एक कर दिया। स्वामी जी ने (ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ च सर्वदा०) इन इलोक के भिन्न २ पांच यज्ञों के ५ यज्ञनीयों की गिनती बहां नहीं की है किन्तु एकले पितृयज्ञार्थ तर्पण में जो देव ऋषि पितरों का तर्पण है, उस तर्पण के १ अङ्गों के वर्णन में तीन प्रकार के पुरुषों का तर्पण लिखा है। इसी लिये-

एकमर्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चायद्विके

इस इलोक का अर्थ यह हुआ कि एक सहायज्ञों में जो तीसरा पितृपता है भीर पितृपत्न के अन्तर्गत माता पिता आदि बृहदाग्नियों के अतिरिक्त देव भीर अवितर्पण भी सम्भिलित है। उस पितृपत्नामन्तर्गत देवताओं वा अवितर्पण में एक ही विद्वान् को भी तृप्त कर देना पर्याप्त है॥

देवता विद्वानों ही को कहते हैं यह स्वामी जी ने नहीं लिखा, किन्तु पितृपत्न के अन्तर्गत जो देव अविवित पितृर उग तीनों में देव शब्द है, उस का तात्पर्य विद्वान् लोगों से है भीर देवता जो होम से किया जाता है, उस के देवता तो शशित, वायु, जल, नेघ, भूर्य, चन्द्र, वनस्पति आदि ३३ देवान्तर्गत स्वामी जी ने भी माने ही हैं। उस लिये पितृपत्नामन्तर्गत देवशब्द से “अवितर्पेवता वातोदेवता” को लगाना बहुत अचानकी बात है॥

स्वामीजी ने अठ० भूमिका में तात्पर्य ३३ देवों का व्याख्यान किया है, विद्वान् लोगों को देवता कहने से स्वामी जी का तात्पर्य शतपथ आह्मायानुभार यह नहीं है कि विद्वानों से पृथक् कोई देवता नहीं है, किन्तु अपने २ प्रकरण होमादि में वायु आदि देवता हैं, परन्तु पितृपत्न में विद्वान् भी देवता हैं, यह तात्पर्य है॥

इसीसे “वाग्वेदास्त” का उत्तर होगया कि वाणी को ब्रह्म कहने का भी यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म शब्द से वाणी ही का यहण किया जाय। किन्तु वाणी के प्रकरण में ब्रह्म शब्द से वाणी का यहण इष्ट है॥

देवतों का ठापारूपान विस्तारपूर्वक देखना चाहें तो इसारे बनाये वैदिक “देवपूजा” नामक पुस्तक को देखें, यहां यन्त्र बढ़ेगा॥

देवतों को ३३ करोड़ मानना भूल है। समस्त वेद शास्त्रों के शब्द भी ३३ करोड़ गिनती में नहीं, फिर वित्तने देवतों के नाम कहां? किन्तु ३३ देवों की ३३ कोटि अपर्यात समुदाय है। इसी कोटि शब्द का अर्थ अज्ञान से करोड़ समझ लिया है। जस और सदस्त शब्द निचबटु है। १ में बहुत के अर्थ में कहे हैं। तदनुसार ३३ शत वा ३३ सहस्र का अर्थ भी अखेनापरक नहीं, किन्तु ३३ की संख्या को जालिपरक बहुत होना अताथा नहा है॥

अठ०भूमिका में शतपथ आह्मायाके फ़लायण से आवश्यादि ८ वसु, १२ जात्रित्व वैत्रायि, ११ ऋद्र प्राणादि, अहमि, अध्यर्थ, वे ३३ वा ३ वा १ वा ११ देवताएँ हैं। सब की व्याख्या स्पष्ट लिखी है, तब कौन सम केर बकतर है कि स्वामीजी

ते विहार के अस्तिरिक्त देवता नहीं माने ॥

आत्मीवैषां रथोभवत्यात्मा शब्द आत्मायुधमात्मेषव

आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । निरु० ७ । ४ ॥

इस निरुक्त का अर्थ यह है कि वायु आदि भौतिक देवों का परमात्मा ही रथ, घोड़ा, भास्युध, वाण आदि शब्द कुछ है अर्थात् परमात्माका नवारोगी में ही वे वायु आदि चलते फिरते हैं, परमात्मा के अद्यं सानख्य से बलव्यारथ करते हैं, किन्तु इन में स्वनन्द देवतायना नहीं है। सो ढीक ही है क्योंकि—

**न तत्र सूर्योभाति न अन्द्रतारकं नेमाविद्युतोभान्ति
कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य**

भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठोप० ॥ ४ । १४ ॥

ज परमेश्वर के सामने सूर्य का प्रकाश कुछ वहस्त है, ज अन्द्रमा, ज तारे, ज विजुलियां, किंतु इस अग्नि का ती कहना ही क्या है । प्रत्युत उसी के अन्तर्गत होने से यह सूर्योदि देवगण प्रकाशित है और उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं ॥

**४० तिर० भा० प० १३ प० २० से रूपं रूपं नद्या इत्यादि ॥ क० और प०
१८ प० १ यद्यद्वृष्टं कामयते इत्यादि निरुक्त० ॥**

प्रत्युतर-जात्र लिखे निरुक्त का यह तत्त्वपर्यं गहरे है कि परमेश्वर रूपये तिरु० २ द्वृष्टों को धारण करता है और ज यह मिहु होता है कि ब्रह्मा वा इन्द्रदेवता उस के अंश हैं । यदि ऐसा ही तो परमात्मा एकरन भी ज रहा । तथा उपको एकरम, विविकार, निराकार मनिपादन करने वाले मन्त्रों और उपनिषदों का क्या अर्थ करोगे ? यथार्थं निरुक्त के उद्घृत ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ यह है । यथा—

यद्यद्वृष्टं कामयते तत्तद्वेवता भवति । रूपं रूपं नद्या

द्योभधीति इत्थपि निगमोभवति । निरु० भा० १० स्तं० १७ ॥

अर्थं तिरु० २ रूप की परमात्मा बनाने की इच्छा परते हैं वह वह देवता होता है अर्थात् परमात्मा तिरु० २ देवता को तिरु० २ रूप में बनाना चाहते हैं, बनाते हैं । उन फी कामवाचारणे के यह विविच्छ सुहित सूर्योदि इन देवतों के पुक्क बनाते हैं । इस विवाच में निरुक्तजात्र भी लिखे जाते हैं के मन्त्र का मनाव देते हैं । यथा—

नं रुद्रं मूर्यम् वोभवीति मायाः कृणवानस्तन्वं परिस्वाम् ।
त्रिर्धिवः परिमुहूर्तमाग्रात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपामृतायाः ॥

मं० ६ च० ५३ चं० ८ ॥

अन्वयः—यत् अनृतुपा अनुतावा स्वां तन्वं परि मायाः
कृणवानः सन् मध्यत्र स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्तं दिवख्यः पर्यग्नात्
रुद्रं रुपं वोभवीति ॥

(यद्) जो कि (अनृतुपाः) किसी विशेष ज्ञातु में ही नहीं किस्तु
सदा सोमादि भोवजिद्दर्शों का पीने वाला (अनुतावा) जल मान उद्देश वा
जल व जल [सोमादि भोवजिद्योंका रस रुप जल जिसे किरणों में पृष्ठी
से उड़ कर जाता है । जलम्=उद्देश्य निष्ठं ११२] (स्वां तन्वं परि) वापने
पिछड़ देह के चारोंओर को (मायाः रुद्रवानः) बुद्धियों को करता हुआ
विषकाश से तम गिरुतः होकर वोष बुद्धिया जागरण होता है; रात्रि में
अन्यकाररुप तनोमूल से निद्रा उपरक्षित होती है; निद्रा में बुद्धिरोत्सुल हो
जाती है, सूर्य अपने उदय के लिए बुद्धियों को प्रादुर्भूत करता है । मायाः
महा=बुद्धिनिष्ठं ६ । १०] (मध्यत्र) इन्द्र=सूर्य (स्वैर्मन्त्रैः) इन्द्र देवता
वाले मन्त्रों ने (दिवः) सूर्य लोक और जहाँ तक उसका प्रकाश जाता है
वहाँ से (मुहूर्तम्) जल मान में (विः) प्रातः सदग मात्स्तिन्दितसदग भीर
तायंसदन इन घटके तीनों सवर्णों में तीनों घार (परिमा अगात्) व्याप्त
होता है (रुपं रुपम्) प्रत्येक रुद्र को (वोभवीति) अतिशयता से बुझाता है
अर्थोत् जनाता है [सूर्य भाग्नेष है, भवित की तमाचा रुप है, एव लिये
प्रत्येक रुप सूर्य से नद्यमूल होता, सूर्य के विना रुपोत्पत्ति नहीं हो सकती],
अंगुल से रुप ही देखते हैं । गांगुल का भी इन्द्र देवता है तथा इन्द्रियों
वीपकादि सनस्त चमकवाले पदार्थों में घगत है] आशय यह है कि परमात्मा
अपनी इन्द्रा से इन्द्र देवता अर्थोत् चमक को बनाते हैं एव चमक मुक्तपक्षे
अस्थिकरा वे सूर्य में रहती है गतः सूर्य को भी विशेष कर इन्द्र कहते हैं ।
जही इन्द्र हर एक रुपवान् पदार्थों में रुप का कारण है, उम के विना कोई
रुप नहीं हो सकता । एव लिये जहीं एक रुपों को बनाता है पहुँचहा

गया। जब बुद्धिमानों को विचारना आदिये कि इस से किमी देवता का मृणमयादि मूर्ति में भाना मिठु नहीं होता। किन्तु मूर्ति ही क्या सभी दूषवान् पदार्थों में इन्द्र देवता जिस का नाम अमक है विराजमान है। परन्तु व्यात रहे कि स्वासी दणामन्द सरस्वती जो ने वेदभाष्यभूमिका में इन्द्रादि ३३ देवता अवश्य साने हैं परन्तु वे परमात्मा के सुल्प वा कुक्ल्यून भी उपास्य देव नहीं हो सकते, क्योंकि जह हैं॥

३० तिं० भा० प० ९५ पं० १४ ऐ-पुगः केग उपनिषद् में देवताओं का परस्पर संवाद है- ब्रह्म है देवेभ्योऽविजित्ये तस्य हृष्टमण्डः विजयेदेवाऽमहोयन्त तपेत्ताऽप्साकमेवायं विजयोऽप्साकमेवायं गहिमेति ॥ केन तप० ॥

ईश्वर ने देवताओं को जय दी रुम की कटाक्ष कृपा से सब देवता गहिमा को प्राप्त होते हुवे और फिर यह जाना कि यह भव अग्रह अमारा ही जय किया है और हमारी ही गहिमा है तब ईश्वर यज्ञकृष्ण अवतार से प्रकट हुवे और वे देवता परस्पर उग का वृत्तान्त पूछने लगे (तेजिन-भृत्यन्) इत्यादि वाक्य है कि उन्होंने अग्नि वायु भाद्रि से पूछा तुम हम को जानते हो ? उन्होंने कहा नहीं हमी प्रकार देवता अनेक विधि से सूचित होते हैं और देवताओं का लोक पृथक् प्रतीत होता है जैसे इन्द्र का स्वर्ग से भाना लिखा है ॥

यत्र ब्रह्म च सत्रस्तु सम्पूर्णी चरतः सह ॥

तंज्ञोऽप्सुयपस्मर्जेष्यं यत्रदेवाः सहायिनः ॥ यजु० भा० १० संत्र २५ ॥

जहाँ ब्राह्मण जाति और सत्रिय जाति संग मिले रहते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ वास करते हैं उन पवित्र लोक को मैं देखूँ यजमान का वाक्य है ॥

“यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्पूर्णीचरतः सह । तंज्ञोऽप्सुयपस्मर्जेष्यं यत्र सेदिक्षा विद्यते प०ग०२०ःस०२६” जिस लोक में इन्द्र वायु देवता मिले हुए विचरते हैं जिस लोक में दुःख नहीं है उन लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥

प्रत्युत्तर-इस से देवतों का संवाद नहीं है, प्रत्युत यह दिखाया गया है कि उभी २ अज्ञानवश ऐना प्रतीत होने लगता है कि अग्नि, वायु, घूर्णदि देवतों की ही गहिमा दूषि पड़ती है ब्रह्म ती विद्य में ही नहीं आता, बस देवतों का ही जय है। परन्तु इन देवतों का भी सामुदर्य परमात्मा के भविकार में है, उन के विनाये कुछ नहीं कर सके और अहम

ती स्वयं “श गतदेवता” इत्यादि लिख चुके हैं फिर भासा वायु अग्नि शांति देवता जात चीत चंवाद किमे कर मर्के हैं ॥

(यत्र अन्त) इस सञ्चार का अर्थ आप का किया ही ठीक है कि जिन लोक अपरोक्ष देश में ब्राह्मण भीर ऋत्रिय परश्पर विरोध नहीं करते, मिले रहते हैं उस पवित्रलोक को मैं देखूँ । इस से तो यही ब्राह्मण ऋत्रियों का लोक निष्ठ होता है, न कि अन्य कोई ॥ क्योंकि यहां अग्नि शहित देवता भी वास करते हैं और ब्राह्मण ऋत्रिय भी रहते हैं । यजमान की प्रार्थना यह है कि अग्निहोत्रादि देश में होते रहें और विद्यावाल तथा वायुबल में मेल रहे । निहक तें स्पष्ट लिखा है कि—

अग्निः पृथिवीस्थानः ॥ निरु० ७ । ५ ॥

अग्नि देवता का स्थान पृथिवी को देवतों को नहीं मानते । जब कि आप भी अग्नि को देवता लिख चुके हैं । इस पृथिवी अन्य देवों के अन्य लोक भी हैं, परन्तु पृथिवी भी देवतोंका है, और पृथिवी स्वयं देवता है जैसा कि आठ वसुभरों में पृथिवी को दूसरा वसु यात्-पण १४ । १६ । ४ में लिखा है कि—

कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च ॥

(यत्रेन्द्रश वायुष) का भी यही तात्पर्य है कि यजमान चाहता है कि यज्ञ से मुक्त होना फल मिले कि इन्द्र विजुली वा सूर्य वायु का जहाँ भला प्रभाव हो, वहां मुक्त बास मिले । जहाँ चंघ, सूर्य, वायु, आदि की अमुकूलता से दुःख न हो, उख हो । (अन्त और यत्र) दोनों प्रयोग इस लोक के लिये भाते हैं । जैसे—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः ॥

वा यहां भी (यत्र) पृथ का अर्थ अन्य लोक करोगे ।

४० तिऽ भा० पृ० ११ प० ९ से ३४ तक १-देवादि की पूजाप्राप्तः वस्त्र लगे । २-देवतों वा ब्राह्मणों का वृक्षांग लगे । ३-देवता काम सिद्ध करते हैं । ४-ऋषि-चूडानदर्शी को कहते हैं । ५ देवता स्वर्ण में रहते हैं ॥ मेरे ५ जाते रहते हैं ॥

मत्स्यतस-टीक है ओजवानि से पूर्व ही पूज्यों की पूजा हो रही देवता पृथिवी वा विहाय लोगों और ब्राह्मण ब्रह्मवेताभाओं का दौरीन करे । देव

दर्शन का तात्पर्य पश्चात्याख्यात में आगा पक्ष करता भा है, क्योंकि आप भी लिख चुके हैं कि “ द्वोमोद्विवेदलिम्नीतः ॥ ” द्वोम करना देशयज्ञ है । ३-मूर्य जल वायु भानि देवता आगों स्तोगों के काम प्रत्यक्ष रेत तार विगान अक्षी भादि में कर रहे हैं ॥ ४-ज्ञावि ठीक सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं । ५-स्वर्ग सुख वा द्युमोक का नाम है, सो विद्वान् पृथक सुख में रहते और सूर्योदिसीनिक देव शुलोक भण्डेत्तव्यभिन्नोक में रहते हैं । इससे हागां विद्वान् हामि नहीं ॥

६० तिथि ३०६ ए० १० वं० २५ वि-

आगां जी जे जो मत्यार्थप्रकाश ए० १० वं० २८ में “विद्वांमोहिदेवाः” यह लिखा है कि विद्वांगों का नाम देवता है (यहां यह भी रहस्य लिखा है) चाहौरामाङ्ग चारों वेदों को जानते वाले हों उग का गाम ब्रह्मा भीर उम में व्यूग हों उनका भी नाम देव विद्वान् है ऐसा । लिखा है यह लेन बुद्धिमत्ता विचारेवे किसना निर्मूल है देवता शब्द भीर वे किस प्रकार के हों वे रहते हैं यह उप तुष्ट इम पूर्व कथन कर चुके हैं पर यह लक्षण देवता का नहीं देखा कि चारों वेदों को उपाङ्गु भवित जानते हैं ब्रह्मा होता है यह ती कहिये कि आप वेदों के उपाङ्गु ऋषिकृत भीर वेद के पश्चात् जने जताते हों जिस समय तक कि वेदाङ्ग नहीं बने थे संदितामात्र वेद या तो उस समय ब्रह्मा संज्ञा हो न होनी चाहिये यो छिर ऋषिकृत में लिखा है (भूतानां प्रथमं ब्रह्मा ह जहे) तुहि में सब से पहले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुवे विना उपाङ्गु इर्हं ब्रह्मा किस से बना दिया जो आप का ही नियम होगा तो वेदाङ्ग बनाने वालों का नाम भद्राभ्रामां होना, क्योंकि पड़ने वालों से प्रथक्तर्त्तव्य होते हैं भीर भीर भाङ्गनें जानते हैं ही ब्रह्मा कहावे सी रावण को ब्रह्मा वा देवता वेदों गहीं कहते भालून तो ऐसा होता है आप जे यह उपाङ्ग भवने को ब्रह्मा भीर देवता कहनाने का निकाला या परन्तु निहु ग-हुवा कोई भी ऐसा भक्त चेला न हुआ जो आप को ब्रह्मा नाम से उपकारता यहि वेदाङ्ग जानते से ब्रह्मा होते तो विनिह, गीतन, नारदादि वब ही ब्रह्मा हो जाते परन्तु जाज तक एक ही ब्रह्मा हुने हैं । ज्ञावि अध्ययन वे देवता हवन वे पितर आङ्गु भीर देवता वे प्रथक्तर्त्तव्य होते हैं यह तीनों पृथक् हैं । देवता आङ्गुति वे दूस होते हैं विद्वान् भोजन से । देवता गों के आकार भीर भूति तथा निवाप-इनाम वहने ११ वें प्रमुखांश में लिहु करेंगे पहां सी जैशल उनका होना ही चिन्ह किया है ॥

प्रत्युत्तर-तीक्ष्ण चाप (विद्वाऽन्तोहि देयाः) इस जनपद को लहरि
मानते ? ब्रह्मा वही पुरुष हो सकता है जो चारों देव जानता है । अर्थात्
वह में जब किसी विद्वान् को ब्रह्मा बरण किया जाता है तो उसे चारों देवों
के जानने को आवश्यकता पड़ती है । लिखा कि आपस्तद्वयीयश्रीतसूत्र में
लिखा है :—

अद्विदेन होता करोति ॥ १६ ॥ सामवेदेनोद्भाता ॥ २० ॥
यजुर्वेदेनाऽध्यवर्युः ॥ २१ ॥ सर्वेत्रह्ना ॥ २२ ॥

जपात् ऋषेऽ से होता काम करे सामवेद से उद्भाता, यजुर्वेद से अङ्गवर्यु
भीर सब (चारों) देवों से ब्रह्मा । इस लिखे स्वामी जो का लिखा । ठीक है ॥

ऋषियों ने देवों में सूलमात्र सब विषयों का पाया, उसी दो अङ्गवर्युओं
में विश्वारपूर्वक लिखा । ब्रह्मा भीर उपका यज्ञ में काम नीचे लिखे अङ्गवर्यु
के मन्त्र में वर्णित है भीर गिरकार ने भी इस ज्ञान को होता अङ्गवर्यु
उद्भाता ब्रह्मा इन चारों ऋषियों के कामों के विनियोग में माना है भीर
कहा है कि :—

इत्युत्तिवक्रमणां विनियोगमाचष्टे । इत्यादि । निष्ठ १ । ८ ॥

फिर निष्ठकार ने ही यह नीचे लिखा मन्त्र दिया है जो जर्ये उद्दिष्ट
इस लिखते हैं :—

ऋचां त्वः पोष्यमास्ते पुपुष्वान् गायुत्रं त्वो गायत्रि शङ्करीषु ।
ब्रह्मा त्वो वर्दति जातावृथां, यज्ञस्य मात्रां विभिन्नतिं तत्वः ॥

(नृ० १० । ३१ । ११)

अन्वितव्याख्यानम्—[त्व शब्दः सर्वनामसु पदित
एकशब्दपर्यायः] एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोष्य-
मास्ते) स्वकर्माधिकृतसन् यत्र तत्र पठिता ऋचो यथा
विनियोगविष्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः श-
क्रीषु गायत्रं गायत्रि) एक उद्गाता शङ्करर्युपलक्षितासु
च्छन्दोविशेषयुक्तस्वक्षु गायत्रं गायत्रा दिनामकं चाप

गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा, अपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपं विद्यां वदति (त्वो यज्ञस्य मात्रां विमिसीत उ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्तो विमिसीते विशिष्टतया परिचिछनान्ते ॥

अर्थात् एक होता आचार्मों को विनियोगमुमार सहृदित करता है, एक ब्रह्माता शक्तिर्दिष्टमूर्युक गायत्र गात्र करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ अपराध वा भूल चूक होने पर उस का प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु यज्ञ के परिमाण वा इयता को निर्धारित करता है ॥

उपर लिखे ४ अर्थिवच् ४ वेदों के ज्ञाता यज्ञ को पूण करते हैं । इसमें से १—“ होता ” है जिस का यह काग है कि मन्त्रसंहिता में यथास्यान पठितमन्त्रों को उन यज्ञविशेष में विनियोग के गम्भुमार ठीक ठाक करे । जैसे पालिगि मुनि ने अष्टाध्यायी में स्वातिगत प्रकरणमुकूल भूत्र पढ़े हैं उन से वेयाकरण सोग जब कोई प्रयोग मिहु करते हैं तब विद्यार्थी को मिथ्याते समय स्लेट आदि पर विघ्न (अभिदुरुरूप) लिख कर फिर जिन २ भूत्रों को उन प्रयोग के सिद्ध करने में भाववशकता होती है उन २ भूत्रों का उच्चारण करते हुवे उन २ भूत्रों के अर्थमुमार कार्य करके प्रयोग सिद्ध करते हैं उसी प्रकार किसी यज्ञविशेष को मिहु करने के लिये होता गाम अर्थिवच् आहिये जो यज्ञ को ठीक २ मिहु करे । २—“ ब्रह्माता ” है जो शक्तरी भावि वेद के उम्मीदीयुक सामादि का गाम जहां २ अपेक्षित है वहां २ ठीक ३ करे, ३—“ अध्वर्यु ” है जो यज्ञ की मात्रा (जैसे जोषविधि की मात्रा ठीक हो तो आरोग्य करती है) का परिमाण निर्धारित करे । ४—“ ब्रह्मा ” है जो पहिले ३ अर्थिवचों के कार्यों में कृताकृतावेषण कर्म करे अर्थात् यज्ञ में कोई करणीय कर्म छूट न जावे तथा नकरणीय किया न जावे । यह दूष्ट रक्खे और जब कर्मी कुछ अन्यवा करने हो जावे तब उस का प्रतीकार वा मायथित करे करावे ब्रह्मा के कार्य को उपर लिखे वेदमन्त्र में देखकर अविधों ने उपने २ घन्थों में और विशेष स्पष्टता से निश्चिपण किया है । यथाहि द्वन्द्वोगा भारमनक्षित-यज्ञस्य हैष भिषक् यद्युब्रह्मा यज्ञाधैव तद्विषजं कृत्वा हरति

अर्थात् यज्ञ का यह वेद्य है जो कि ब्रह्मा है वह यज्ञ के लिये ही और यज्ञ बना के पहुंचाता है ॥ तथा—

यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञोयत्रै-
वं विदु ब्रह्मा भवति ॥ कौथुमशाखीय द्यान्दोग्य प्र० ४ खं० १७

अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ को निर्देश सन्धान करता है क्योंकि यज्ञ जीवध-
रण है जिस में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है ॥

यद्युक्तोरिष्येत् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्

कौण्ठ० शा० छा० प्र० ४ खं० १९

जब किसी ज्ञाता का अपराध होने से दीप उत्पन्न हो तो ब्रह्मा “ भो भूः स्वाहा ” इस सन्दर्भ से गार्हपत्य अग्नि में जाहुति देकर उस का प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करे ॥

आज कल वैदिकमेकाष्ट के अग्रहालु पुरुष शाङ्का करेंगे कि किसी ज्ञाता के पाठमन्त्र में कोई भूल थूक हो जाना कितनी बड़ी बात है जिस के लिये ब्रह्मा को प्रायश्चित्त की जावश्यकता पड़े ?

विचार करके देखा जावे तो किसी वेदमन्त्र के पाठ में भेद पढ़ना अहा भारी अपराध है । क्या वे अग्रहालु पुरुष गहरी जागते हैं कि सन्धाति राज-कीय निधोरित नीति (क्रान्तु) वा किसी उच्चाधिकारी (गवर्नरादि) वा राजा के व्यास्त्यान (स्पैश) का जनुवाद करते हुवे प्रयोजनीय विषय से भूल वा अहोत्तान से कोई अस्त्यया बोले लिखे, समझे, समझावे और तदनुसार भूल का काम करे, वा करावे, तो जावश्य अपराधी है ॥

अब यह पिछो हो चुका कि वेदानुसार ही श्रीतस्त्रादि में ब्रह्मा संज्ञा और उन के काम नियत किये गये हैं ॥

अष्टवेद के (सूतानां ब्रह्म०) वाक्य में ब्रह्मा पुरुष विशेष नहीं किन्तु परमात्मा का पर्याय है । जब कि परमात्मा जगत् रचता है तो प्रकृति को विकृत करके भूतों को उत्पन्न करते से स्वयं सी प्रगट चा होता है । तब उस की ब्रह्मासंज्ञा होती है । राक्षण वेदविरुद्धाचार से राक्षस होगया । जो वेद पढ़कर तदनुकूलाचरण न करे वह पढ़ा बेपढ़े से भी नीच है । उन्नीस गीतय आदि भों किसी के यज्ञ में ब्रह्मा हुए होंगे । ११ वें चतुर्थसमुदाय में जहाँ आप देवतों कीमूर्ति चिह्न करेंगे तभी उत्तर भी वहीं दिया जायगा ॥

अथ आद्युप्रकरणम्

स्वरव इहे किन्दमानी जो वा भार्यमान से जो कुछ आद्युक्तिवय में विवाद है वह यह है कि ब्राह्मणादि के भोजन करावे से मृत पितरों की दुष्टि हो सकती है वा नहीं ? इवानी जो का पक्ष है कि नहीं हो सकती भी एवं अत्यं पीराणित भाइयों का पक्ष है कि हो सकती है । इस लिखे जब तक कोई अन्य मृतपितरों के आद्युत्तोनी लोग ऐसा न लिखतावे तिन में उन का भोजन करना मृतपितरों की दुष्टि का इतु वर्णन किया गया है, तब तब आस्तविवाद में पीराणिक पक्ष मिहु नहीं हो सकता । आनी जी भी इस लोग जीवों का वास सगस्त लोकों में जहाँ चेतन स्थित हो आती है, यदि कोई प्राणी मर कर चढ़, तूर्पौदिलोकान्तर में ज्ञानुमार जाक जान लेते हैं तो इस से मृतकआद्युमिहु नहीं होता, किन्तु इनारे भोजन कराये आद्युमृत्युओं से उन की दुष्टि होता जब तक मिहु न हो, तब तक इस विवाद का कुछ फल नहीं ॥

“पिता शठ॑ निघटु ४। १ में पिता पद भाया है । “पितर” यह बहु-व्याख्यान पद निघटु ४। ५ में भीर उम की व्याख्या निहक ११ । १८ में है १ निहकानुसार वही अध्यत्यान देवता “पितर” कहाते हैं । निहक ४॥ २१ में पिता पद के व्याख्यान में नीचे लिखा अन्य कहये ११ १६४ । ३३ का प्रमाण दिया जाता है कि—

द्यौर्में पिता जनिता नाभिरत्र । इत्यादि ॥

फिर निहककार इनके भर्ते करते हुवे पिता पद का भर्ते इस प्रकार करते हैं कि—
पिता पाता वा पालयिता वा

अपर्यात पिता पातने वा रक्षा करने से कहा जाता है । (द्यौर्में पिता) अन्य में पिता शठ॑ सूर्य का वाचक है । ऐसा ही आनी जी अख्येभाष्य में लिखते हैं भीर ऐसा ही निहककार भानते हैं । तात्पर्य यह है कि रक्षा वा आत्मने वाले जनकादि मनुष्यवर्ग, राजा, सूर्य, चन्द्रकिरण, वायुभैर, त्रिगका राजा यन कहाता है । इत्यादि रक्षाओं भीर पालन करने वालों का नाम पितर है, ये दों में बहुत स्थानों में यन पितरों का राजा लिखा है । जैन सनुष्यों का राजा मनुष्य, सूर्यों का राजा सूरजसिंह, भोवंधियों का राजा बीम नामक शोषणि, ब्रह्मतमे का राजा आतुराज, वसन्त है, इसी प्रकार

वरपुभेद जो हमसे रक्षक और पालक हैं, उन का राजा यम भी बायु ही है, अत्यन्त ने भी १० १११. १२ में लिखा है कि-

माध्यमिकोयम इत्याहुर्नैरुक्ताः तस्मात्पितृ-

न्माध्यमिकान्मन्यन्ते स हि लेषां राजेति ॥

अद्यात् यम मध्यस्थान देवता है, यह नैरुक्तों का प्रति है। इस लिखे विक्षयों को भी मध्यस्थित देवता मानते हैं क्योंकि वह (यम) उन पितरों का शाजम है। किर मिहक ३। ५

बायुर्वैन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः ॥

बायु अन्तरिक्षस्थान अर्योत् मध्यस्थान देवता है। ऐसा ही बायु अस्थेत् १०। १४। ११ में—

यमं है यज्ञो गच्छत्यग्निदूतः ॥

अग्नि निषु का दूत लेजाने वाला है, वह यज्ञ बायु को प्राप्त होता है, वहाँ यम का अर्थ बायु है। भीर यज्ञ ८। ५३

यमः सूर्यमांनो विष्णुः संभिर्यमाणो ब्रायुः पूर्यमानः ॥

वहाँ भी यम बायु बायु का है॥

स्तुहीन्द्रे द्यश्वद्वदर्क्षर्मि वाजिनं यमम् ऋष्ट ८। २४। २२

यहाँ भी यम मध्यस्थान बायु का है क्योंकि इस मध्यस्थान का देवता इन्द्र है जो एक अद्वा चमत्कार किसे निहक ३। ५

बायुर्वै इन्द्रोवा अन्तरिक्षस्थानः ॥

वे भनुमार बायु का भी नाम है॥

इस निष्ठने वेदमध्य द० तिंठ भा० में दिये हैं। उन में प्रायः, अग्नि, हृष्ण इवत आदि का सङ्केत है इस लिये वे बायुगत संस्कृतिक चार तिले पदार्थों को दृष्टि अर्थात् भनुकूलता के लिये छोड़ करने के तात्पर्य में हैं॥

इस के अतिरिक्त यह भी वेद की विज्ञान है कि प्रत्येक लिक्षणरीर जीवात्मा स्तूपशरीर छोड़ कर आकाश में १३ दिन तक १२ आकाशी पदार्थों के बायायित (अवेलप) होता है तब हसे किसी लोक में कर्मानुसार जन्म निष्ठता है। हाँ, जिन का लिक्षणरीर भी छूट जाता है, उन मुख्युदर्थों की वह अवस्था तहीं है॥

सुविता प्रथमेहनुगिनद्वितीये वायुस्तुतीय आदित्यश्वतुर्थे
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः पृष्ठे मुहुर्तः सप्तमे वृहस्पतिरष्टमे
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेंद्रवा हादशे ॥
(पञ्चः ३७ । ६)

हे मनुषो ! इस जीव को (प्रथमे) पहले (भग्न) दिन (मविता) सूर्य (द्वितीय) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि, तीसरे वायु, चौथे महीना, पांचवे चन्द्रमा, छठे वसन्तादि ऋतु, सातवें महत, शाष्ठवें सूत्राल्पा, गवें प्राण, दशवें उदाग, वारहवें विजुली, और ग्यारहवें दिन, सब दिव्य गुण मास होते हैं ॥३७॥६

इस से यह सी जागा जाता है कि सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, प्राण, उदाग, विजुली और आकाशगत वास्तव य सब दिव्य पदार्थों का (जो देवता कहाते हैं) इहन फरने से सुधार होता है इसी को सुसिं और अनुकूलता भी कह सकते हैं और इन देवतों से आप्यायित होने वाले लिङ्गारीरी जीवाल्पाभावों का भी आप्यायित होना सम्भव है । इस ने अग्नि में होड्हारा पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इग तीनों स्थानों की शुद्धि, वहिं भीरवसि, होने से आकाशगत लिङ्गारीरी आल्पाभावों का भी सफ्कार सम्भव है । परन्तु ये किसी प्रकार परमात्मा की डयवस्थानुकूल १२ दिन में भिन्न भिन्न नियत पदार्थों को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं जासके और इस के अनन्तर स्थूलशरीर पाय जन्म लेकर भी एक लोक से दूसरे लोक में नहीं जा जा सके । इसलिये वर्तमान प्रचलित आद्वदानादि कार्यों ये पदार्थों की प्राप्ति ब्राह्मणों द्वारा पितरों को सर्वथा नहीं हो सकी । हाँ, अग्निहोत्री तीर्णों लोक का उपकारक है ॥

इस व्यवस्था से सोचा जावे तो जो २ प्रमाण पं० उवालाप्रसाद जी ने बेद के दिये हैं, वे इस अग्निद्वारा आकाशगत आल्पाभावों के आप्यायित से अंगे अंगमात्र सी गहीं बढ़ते । और ब्राह्मणगणों के भोजनादि कराने से सुल पितरों की दृसि निहुकरना मन के लाघू ही रह जाते हैं । क्योंकि उन के दिये किसी बेद मन्त्र में उन्हीं के किये गयानुसार भी ब्रह्मभोज पितृदृसि का कारण नहीं बताया गया है ॥

और इन्हीं आकाशगत पदार्थों का तात्पर्य संस्कारविधिव्य अस्तयेहि-प्रकारणगत समस्त मन्त्रों से भी लग जायगा ॥

८० तिं० भा० ८० १०२ में मन्त्र ३ यजुर्वेद अध्याय १९ सन्त्र ४५ । ४६ । ४७

दिये हैं जिन का अक्षरार्थ यह है--

ये संमानाः समनसः पितरो यमराजेऽतेषां लोकः स्वधा
नमो बृजो देवेषु कल्पताम् ॥ अ० ॥ १९ म० ४५ ॥

(ये) जो (समानाः) सद्गुण (समनसः) तुष्यविज्ञानयुक्त (पितरः)
प्रभा के रक्षक लोग (यमराजे) न्यायकारी राजा के राज्य में हैं (सेषाम्)
उन का (लोकः) इष्यान (स्वधा) अक्ष (नमः) सत्कार और (यज्ञः)
प्राप्त होने योग्य न्याय (देवेषु) विद्वागों में (कल्पताम्) समर्थ है ॥ ४५ ॥

ये संमानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।

तेषां श्रीर्मियि कल्पतामस्मिन्लोके शतध्वंसमाः ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में (जीवेषु) जीवते हुवों
में (समानाः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (समनसः) समान धर्म में
उन रखने वाले (नानकाः) भेरे (जीवाः) जीते पितर हैं (तेषाम्) उन
की (श्रीः) लक्षणी (नमिः) भेरे समीप (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक
(कल्पताम्) समर्थ होवे ॥ ४६ ॥

द्वे सूती अशृणवन्पितृणामहन्देवानामृत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यामिदं विश्वुमेजुत्सेमोति यदन्तरा पितरस्मातरश्च ॥ ४७ ॥

हे मनुष्यो ! (अहम्) मैं (पितृशाम्) पिता भादि (सत्यर्णाम्)
मनुष्यों (च) और (देवानाम्) विद्वानों के (हे) दो (सूती) मार्गों को
(अशृणवम्) सुनता हूँ (ताभ्याम्) उन दोनों मार्गों से (इदम्) यह
(विश्वम्) जगत् (एजत्) चेष्टित हुवा (समेति) अच्छे प्रकार माप्त होता
है (उत्) और (यत्) जो (पितरम्) पिता और (नातरम्) भाता को
(अन्तरा) छोड़ कर अन्य भाता पिता को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

४० तिं भा० ४७ १०२ पं० २४ में लिखे अख्येदसन्त्र का अर्थ--

उदीरतुमवरु उत्परासु उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुं गद्युरवृका ऋतुज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

ऋ० १० । ५५ । १ ॥

बहुत भन्नों का अर्थ करता है इस लिये संरक्ष और भावा दोनों में

लिखने से गर्यथ वहुत बढ़ गा ॥ इस कारण संस्कृत पदार्थनाम ही लिखेंगे ॥
 (ये) जो (पितरः) पिता भादि रक्षक नाम (परासः) बड़े (जबरे)
 छोटे (मध्यमः) मध्यावस्था बाले हैं (ते) वे (पितरः) पालक रक्षक लोग (नः)
 हम को (उत्तरार्थः) उत्तर करें । (सोभ्यासः) वे सोभ्य लोग (असुषुप्तः) जीवन
 को (उत्तरार्थः) उत्तर (अधिक) प्राप्त हों । (भवकाः) जो किसी से शत्रुता नहीं
 करते और (भवताः) सत्यज्ञानी हैं, वे (इवेषु) तब २ हम पुकारें तब २
 (उत्तरार्थः) उत्तराव से रक्षा करें ॥ हममें मतभाद्वाका वर्णन भी नहीं ॥
 ८० तिर्थ भाग पृ० १०३ पं० १५ और ८५ में लिखा है कि (वैश्वदत्तं संग-
 मन ज्ञानानां पर्म राजानां इविवा दुष्टस्य) ॥ अ० १० । १४ । १

यमको विवराज हाँने में यह सन्त्र ममाण है ॥

प्रश्नुतर-इसं, यम वायुओं का राजा है, उसे हविष से सेवन कर । इस
 से हवन चिह्न होता है । मृतमाद् नहीं ।

८० तिर्थ भाग पृ० १०३ से ११५ में यमुन्द अध्याय १८ के ३ सन्त्र हैं उन का
 अप्ये ठोक यह है-

ये नः पूर्वे पितरः सोभ्यासोऽनूहिरे सोमुपीथं वर्सिष्ठाः ।
 तेभिर्ध्युमः संउरराणो हृवी उप्युश्ननुशाङ्क्रिः प्रतिकाममत्तु ॥

यजु० अ० १९ मं० ५१

(ये) जो (नः) हमारे (सोभ्यासः) शाश्वतादि गुरुओंके योग्ये योग्य
 (वसिष्ठाः) अर्हपत्तनी (पूर्वे) पूर्वज (पितरः) पालन करने हारे जानी
 विता भादि (जोसपीषु) जोसपान को (अनूहिरे) प्राप्त होते और
 करते हैं (तेभिः) उग (उच्छ्रुतिः) हमारे पालन की कानना करने हारे
 पितरों के साथ (इवीषि) उने देने योग्य पदार्थों की (उष्मा) कानना
 करने हारा (संरराणः) उच्छ्वे प्रकार सुखों का दाता (यमः) न्याय और
 योग्युक्त सन्तान (प्रतिकामम्) प्रस्त्येक काम को (अतु) भोगे ।

भावार्थ-पिता भादि पुरों के साथ और पुत्र पिता भादि के साथ सब
 सुख दुःखों के भोग करें और उदा उच्छ की वहाँ और दुःख का नाश किया
 करें ॥ ५१ ॥

त्वया हि नः पितरः सोमपूर्वे कर्माणि चक्रुः पूर्वमानु धीराः ।
 वृन्वन्नवौतः परिधी उरपौणुहि वीरेभिर॒ वैरम्भवा भवा नः ॥ ५२ ॥

हे (पवित्र) पवित्र स्वरूप पवित्र कर्म तत्त्व भीर पवित्र करने हारे (सोन) ऐच्छयुक्त सत्ताग ! (स्वयं संते साय (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्वज (भीराः) शुद्धिमान् (पितरः) पिताजादि जानी लोग जिन घर्मेयुक्त (कर्माणि) कर्माणि को (चक्रः) करने वाले हुए (हि) उन्हीं का देवन हमलोग भी करें (आवातः) हिंपाकमेरहित (वाटनु) घर्म का देवन करते हुए सम्भाल ! तू (बीड़ियिः) भीरपुष्प भीर (अश्वेः) योहे आदि के साय (नः) हमारे शशुभों की (परिधीन्) परिधि अपार्त जिनमें खारेंभोर से पदार्थों का खारण कियाजाय तन भार्याँ को (अपोर्चुहि) शारदा ५५ कर भीर हमारे गम्भ में (भवतः) घनवान् (भव) हूँजिये ।

भावार्थ- नमूद्य लोग अपने धार्मिक पिता आदि का अनुकरण कर भीर शशुभों को निवारण करके अपनी हेना के भक्तों की प्रशंसा से युक्त हुए खुशी होवें ॥ ५३ ॥

बहिर्पदः: पितर ऊत्यर्वागिमा वो हुव्या चक्रमा जुषध्वम् ।
तऽआगुताऽवैसा शन्तमेनाथानुः द्यायोररुपोदधात ॥ ५५ ॥

हे (बहिर्पदः) उत्तम सभा में बेठने हारे (पितरः) स्वाय से पालना करने वाले पितर लोगों ! हम (अर्वाक्) पश्चात जिन (वः) तुम्हारे लिये (जनी) रक्षादि किया से (हमा) हम (हड्या) भोजन के योग्य पदार्थों का (चक्रम) संस्कार करते हैं उन का भाव लोग (जुषध्वम्) देवन करें भीर (शश्तमेन) अत्यन्त कल्पयाण कारक (अवसा) रक्षादि कर्म के साय (आगत) आर्ये (अप) इसके अनन्तर (नः) हमारे लिये (शंयोः) बुख तथा (शरपः) सत्यावरण की (दधात) खारण करें भीर हुःख को सदा हम से पृष्ठ रखें ॥ ५५ ॥

आयन्तु नः पितरस्मेयासौऽग्निवृत्ताः पुषिभिर्देवुपानैः ।
अस्मिन्नयुज्ञे स्वधया मदुन्तोऽधिवृत्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥५६॥

जो (भोस्यासः) अन्धमा के तुल्य शान्त शमनादि गुणयुक्त (अग्निः उद्वातः) अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) जल भीर विद्या के दान से रक्त जलक अध्यापक भीर उपदेशक लोग हैं (ते) जे (देवयानैः) आपलोगों के जाने आने योग्य (पविभिः) घर्मयुक्त भार्याँ से (अ, यन्तु) आर्ये (अस्मिन्) हुए (यज्ञे) पढ़ाने उपदेश करने

रूप व्यवहार में वर्तमान होके (स्वधया) भजादि से (मदन्त) अरगण्ड को प्राप्त हुए (अस्मान्) हम को (अविद्या, ब्रुत्रश्चतु) अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी (अवच्छु) रक्त करें ॥ ५८ ॥

**ये अग्निष्वत्ता ये अनग्निष्वत्ता मध्ये द्विव स्वधया माद्यन्ते।
तेभ्यः स्वराङ्गुनीतिमेतां यथावश्चतुन्वङ्गल्पयाति ॥ ६० ॥**

(ये) जो (अग्निष्वत्ता:) अच्छे प्रकार अग्निविद्या के ग्रहण करने संया (ये) जो (अनग्निष्वत्ता:) अग्नि से जिक्क अन्य पदार्थविद्या के जागने हारे वा ज्ञानों पितृ लोग (दिवः) विज्ञानादि प्रकाश के (मध्ये) ब्रीच (स्वधया) अपने पदार्थ के धारण करने द्वय किया वा बुद्धर भोगण से (माद्यन्ते) जानन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिये (स्वाप्त्) स्वयं प्रकाशमागपरमात्मा (एताम्) इस (असुगीतिम्) प्राणों को प्राप्त होने वाले (तन्वम्) शरीर को (यथावशम्) कामगा के भनुकूल (इलायाति) समर्पण करे ॥ ६० ॥

भावार्थ-गनुर्थयोः को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि हे परमेश्वर! जो अग्निभादि पदार्थविद्या को यथार्थ जानके प्रवृत्त करते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भाग से सम्प्राप्त रहते हैं उन के शरीरों को दीर्घायु कांजिये ॥ ६० ॥

और यदि अग्नि में हाले गये अर्थ को भी आप के कथनानुसार भाग लें तो भी यह गथे होगा कि—“जो अग्नि में हाले गये और जो न हाले गये और भाकाश के सभ्य वर्त्तमान हैं, उन्हें स्वराङ्ग परमात्मा शरीर दे देता है और वे अपने भजादि से (जहां जन्म होता है) भानन्दित होते हैं ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीतु विश्वे ।

मा हिर्ण्यसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्युआगः पुरुषता कराम॥६२॥

हे (विश्वे) सब (पितरः) पितृ लोगो ! तुम (केनचित्) किसी हेतु ये (नः) हमारी जो (पुरुषता) पुरुषार्थता है उस को (मा हिर्ण्यसिष्ट) मत नहि करो जिस से हम लोग छुल को (कराम) प्राप्त करें (यतः) जो (वः) तुम्हारा (जागः) अपराध हमने किया है उस को हम छोड़ें तुम लोग (इगम्) इस (यज्ञम्) सत्काररूप व्यवहार को (अग्नि, गृणीत) हगारे बहसुख प्रशंसित करो हम (जातु) जानु भवयत को (भाज्य) गीचे टेकले

(दक्षिणतः) तुम्हारे दक्षिण पाइवे में (निषद्य) बैठ के तुम्हारा गिरन्तर सहकार करें ॥ ६२ ॥

जिन के पितृ लोग जब समीप आवें अथवा सन्तान लोग इन के समीप आवें तब भूमि में चुटने टिका गमस्कार कर इन को प्रसन्न करें, पितर लोग भी आशीर्वाद विद्या और जाग्रत्त शिक्षा के उपदेश से अपनी सन्तानों को प्रसन्न करके सदा रक्षा किया करें ॥ ६२ ॥

आसीनासोअसुणीतामुपस्थेऽर्थिन्धन्तं द्वाशुषेऽमर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्तुः प्रयच्छत् तद्वहोर्जन्दधात ॥६३॥

४ (पितरः) पितृ लोगो । तुम (इह) इस ग्रहाश्रम में (असुणीनाम्) गौरवर्णयुक्त लियों के (उपर्ये) समीप में (आसीनासः) बैठे हुवे (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये और (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) सनुष्य के लिये (रघिम्) धन का (धत्त) धरो (तस्य) उम (वस्तुः) धन के जागों को (प्रयच्छत) दिया करो जिन से (ते) वे अदी आदि अब लोग (ऊँझम्) पराक्रम को (दधात) धारण करें ॥ ६३ ॥ ऐसे ही सन्त्र दायभाग का शुल्क हैं ॥

वे ही शुद्ध हैं जो अपनी ही खी के माय प्रसन्न अपनी पत्नियों का सहकार करने हारे सन्तानों के लिये यथायोर्य दायभाग और सन्तप्तानों को सदा दान देते हैं और वे सन्तानों को सहकार करने योग्य होते हैं ॥ ६३ ॥

४० तिं भा० ष० १०५ ष० ११

पुनन्तु मा पितरः सुम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपि-
तामहाः पुवित्रण शतायुषा पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपि-
तामहाः पुवित्रण शतायुषा विश्वमायुर्धेनवै । अ० १२म० ३७

सोन के योग्य पितर पूर्णायु के दाता पवित्रता से मुक्त को शुद्ध करो पि-
तामह मुक्तको पवित्र करो प्रपितामह पवित्र करो पितामह पूर्णायु के दाता
पवित्रता से मुक्त को शुद्ध करो प्रपितामह शुद्ध करो पूर्ण आयु को माप करुं

आधैत्त पितरोग्भेकुमारंपुष्करस्तजम् । यथेह पुरुषो सत् ॥

यजु० अ० २ म० ३३

महयुत्तर-पूर्वमस्त्र में ती पिता पितामह प्रपितामह से मार्यना है कि इमें पवि-
त्रता का उपदेश और जाग्रण करावें । दूसरे का यह शर्थ है अड़ों को चाहिये

कि (यथा) विजय प्रकार (इह) इस कुल में (युहवः) पुरुष (असत) होते उस प्रकार (पितरः) पिता लोग (गन्नेश्म) गर्भे का (आधान) आधान करें और (पुष्करत्तज्ञम्) सुन्दर (कुमारम्) पुत्र को उत्पन्न करें ॥

इस में भी सूत वितरों के आद्वादि का कुछ भी वर्णन नहीं पाया जाता ।
८० तिं० भा० प० १०५ पं० ६३ से- (ये च जीवा ये च सूता) इत्यादि ॥
प्रस्तुत्तर-सन्त्र और उस का अर्थ इस प्रकार है:-

ये चैं जीवा ये चैं मूता ये जाता ये चं यज्ञियाः ।

तेभ्योऽघृतस्य कुलैतु मधुधारा व्युन्दती ॥

(अथर्व १८ । ४ । ५७)

इस सन्त्र में यह कहा गया है कि सूतक को कूंकते समय जो घट की आराध्य आत्मा है, वह जीवते प्राणियों और गरे तुचे शर्वों (लाशों) की मधुधारा करती है, अर्थात् जीवतों को रोगादि वे बचाती और गरों को सहने जादि दुर्गति से रोकती है । पदार्थ-(ये जीवाः) जो जीते हैं (ये च सूताः) और जो मरे शरीर हैं (ये जाताः) जो बड़े हैं जर्मे हैं (ये च यज्ञियाः) और जो वज्र के उपयोगी हैं (तेस्यः) उन सब की भलाई के लिये (घृतस्य) घृत की (डयुन्दती) टपकती (मधुधारा) मधुरादियुक्त (कुलपा) धारा (पतु) प्राप्त होते ॥

इस में यह कहीं भी नहीं पाया कि सूतकनिषत्त ब्राह्मणादि भोजन से सूतक की त्रुप्ति होती है ॥

८० तिं० भा० प० १०६ पं० १ से- (प्रेहि प्रेहि परिचिः०) इत्यादि ०

प्रस्तुत्तर-सन्त्र चारे यह है कि--

प्रेहि प्रेहि परिचिः० पूर्याणैर्यनां ते पूर्वे पितरः परेताः ।

उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ युमं पैश्यास्ति वरुणं च देवम् ॥

(अथर्व १८ । १ । ५४)

अर्थात् सूतशरीर को कूंकते तुचे लोग इस सन्त्र को यढ़ते हैं कि जहाँ इस से पूर्व मरे तुचे शरीर पूर्वजों के गये, वहाँ ही, और जिन भागों में शरीर के मूहन अवश्य ही यान (स्वारी) हैं, उन भागों से यह भी जाता है और # यम तथा # वरुण नामक आकाश में विराजने वाले जीतिक देवतों में

देखो गिरधटु ५ । ४ और निरुत १० । १८-२१ सन्तरिक्षदेवतामकरणहै

चतुर्वेदनुद्धारः

मिल जाता है। पदार्थे (प्रेहि प्रेहि) नह जा (पूर्योऽसौषिः परिषिः) पुरश्चरीर हीं जाहं यान=सवारी है, उस सार्गों से जा। (यैग) जिन सार्गों से (से घूर्वे) तुम से पहिले (पितरः) बाप दावे (परेताः) मरे हुके गये और बहां आकाश में (यम देवम्) ब्रायुविशेष देव को (च) और (वरणम्) अल से दिव्यस्वरूप को (वर्भ) इन दोनों (राजसी) प्रकाशमान देवर्णोंकी जो कि (स्वध्या) इमशानाहुति जो स्वधर है उस से (नदन्ती) सुधरे हुवे हैं उर्वे (पश्पासि देखता=प्राप्त होता है तू ॥

भयोत् सूतशरीर की दुर्गति नहीं होती, किन्तु स्वधा जो उत्तम दूधों की पितृयज्ञ में जाहुति है, उस से आकाश में जे (यम) वायु (वहन) जल विगड़ते नहीं किन्तु (नदन्ती) अच्छे प्रसाम उत्तम रहते हैं और उहीं में सूतशरीर मिल-जाता है भयोत् शरीर का गीला अंग बहुत में और शुद्ध अंग यम में मिल जाता है। इस में जी सूतनिमित्त ब्राह्मणादि भोजन की सिर्फ़ि नहीं पाई जाती ॥

८० तिं० भाठ० प०१०६ प०१० इ० और०१० से-ये निखाताः। इत्यादि दो सन्त्र हैं ॥

प्रत्युत्तर-दोनों सन्त्र शर्वसदित इस प्रकार हैः—

ये निखाताः ये परीम्त्रा ये दुर्धा ये चोद्धिताः ।

सतुंस्तानंग्नु आव॑ह पितृन्हविषे अत्तके ॥

ये अग्निदुर्धा ये अनंग्निदुर्धा मध्ये द्विवः स्व॒धया॑ मा॒द्यन्ते ।
त्वं तान्वेत्थ यदि॑ ते जातेवदः स्व॒धया॑ युङ्गं स्वधिति॑ जुषन्ताम् ॥

(भयोत् १० । २ । ३४-३५)

इन दोनों सन्त्रों में यह कहा गया है कि जिन लोगों के शरीर किन्हीं कारणों से भूमि में दब गये, जिन के देह ऊपर पढ़े रह गये, जो विनापतादि फुट गये, जो वायु में उड़ गये, अग्नि में नहीं फूटने पराये का कुंभने प्राये, अग्नि में किया हुआ होम उन सब आकाशगत सूतप्राणिशरीरावैयर्णों को प्राप्त होकर उन की सहृति=सच्छी दशा करता है।

पदार्थे-(ये निखाताः) जो दब गये (ये परीष्टाः) जो इधर उधर पढ़े रह गये (ये दृष्टाः) जो लेकल फूट गये (ये च) और जो (उद्दिताः) ऊपर उड़ गये (अथवे) अग्नि (ताङ्ग सर्वाङ्ग) उन उब कमे (इविचे) होने के पदार्थ (अथवे) चाले के छिपे (अद्वह) प्राप्त करता है वा करावे ॥३४॥

(ये अस्तित्वधाः) जो केवल जगत में फूमे (अस्तित्वधाः) और जो जगत में भी नहीं फूके (दिवः मध्ये) आकाश के मध्य में हैं (जातवेदः) अर्थे । (तान्) उन को (यदि) जब (त्वम्) तू (वेत्य) जागता प्राप्त होता है तब वे (स्वधया) स्वधा कह कर दी हुई आहुति से (मादयन्ते) प्रसन्न होते अर्थात् सूर्य को छोड़ कर आठकी दशा को प्राप्त होते हैं, अतः वे (स्वधया) उनी आहुति से (स्वधितिष्ठु) पैतृक (यज्ञम्) यज्ञ का (जुबन्तम्) सेवन करें ॥

इन में भी जगिदाह का साहारण्य ही वर्णित है । अधिक कुछ नहीं ॥

३० तिऽ भाऽ पृ० १०६ पं० १५ से—ये नः पितुरित्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाय आविविशुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यां नमसा विधेम ॥

(अर्थव १८ । २ । ४९)

अर्थ—(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) आप के बारे हैं, अत एव (ये) जो हमारे (पितामहाः) आबा हैं (ये) जो कि (उन अन्तरिक्षम्) इस बढ़े आकाश को (आविविशुः) प्रवेश कर गये हैं (ये) जो कि (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) और (द्याम्) आकाश को (मालियन्ति) छाप रहे हैं (तेभ्यः) उन (पितृभ्यः) मृतशरीरों के लिये (नमसा विधेम) इस आहुति करते हैं ॥

अर्थात् पुत्रादि का कर्तव्य है कि पिता वा पितामहादि पूर्वजों की अन्तर्येष्टि प्रह्लापूर्वक करें, ऐपा करने से पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक में जो मृतपूर्वज लोगों के शरीराद्वय वायु आदि में हैं वे विगड़ते गहीं, किन्तु सुधर कर मनुष्यादि प्राणियों को दुःख नहीं देते, प्रसुत सुख देते हैं । अन्यथा वायु जल को विकृत करके रोगादि उत्पन्न करते हैं ॥

३० तिऽ भाऽ पृ० १०६ में—यो नमारथ यास्ते धागाऽ भारभल्ल इत्यादि । मृत्व और हैं जिन से वे ममकते हैं कि मृतकप्राप्तादि सिद्ध होता है ॥

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों में भी मृतक निमित्त ब्राह्मणादि जिमाने से उस की तस्मि का वर्णन नहीं है । अर्थसहित मन्त्र सुनिये—

यो मृमारं प्रथुमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथुमो लोकमेतम् ।

वैवस्त्रं संगमनं जनानां युमं राजानं हृविषां सपर्यत ॥

(अर्थव १८ । ३ । ११)

(य:) जो (भर्योनाम्) गनुध्यों में (प्रथमः समार) पूर्व गरता है (य:) जो (एतम्) इस नन्तरिक्ष (लोकम्) लोकों (प्रथमः प्रेयाय) पूर्व जाता है । हे उम के पुत्रादिको ! तुम (वैवस्वतम्) सूर्य से उत्पन्न हुए (अग्नीं संगमनम्) प्राणियों के संगत रखने वाले (राजानम्) प्रकाशमान (यमम्) यम गःसक वायु को (हविषा) हवन सामयों से (सपर्यत) सहकरत करो ॥

अर्थात् गनुध्यों में जो कोई पूर्व भरे, चाहे छोटा पुत्रादि हो, चाहे बड़ा पिता भादि हो, उमके शब्द की ठीक गति के लिये वायु के सुधार निश्चित हठय पदार्थों से होन करना चाहिये ॥ इसमें यह आप का लिखा अर्थ लेश-मात्र भी नहीं कि सार के ले जाते हैं ॥ इत्यादि ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिळमिश्राः स्वधावतीः ॥
तास्ते सन्तु विभवीः प्रभवीस्तास्ते युमो राजाऽनुमन्यताम् ॥

(अथर्व १८ । ३ । ६९)

अर्थ - (तिळमिश्राः) तिळमिश्र (स्वधावतीः) स्वधा शब्द युक्त (याः) जो (धानः) धान (ते) तेरी चिता में (अनुकिरामि) छोड़ता हूँ (ताः) वे (विभवीः) फैलने वाली (प्रभवीः) सद्गते को रोकने में समर्थ (ते) तेरे लिये (सन्तु) होवें और (ताः) उहैं (ते) तेरे लिये (राजा यमः) प्रकाशमान वायु (अनुमन्यताम्) स्वीकार करे ॥

जह शतक को वा और पदार्थों को सम्बोधन करणा वेद की शली है, जिसा कि हम (अप प्रत्यक्षकृता मन्यन पुहषयोगास्त्रविनिति चेतेन सर्वनामा) निरुक्त १ । १ के अनुसार अनेक श्लोकों में अतला चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थ के वर्णन में वेरों में सम्भव पुहष की किया और ह्यम् अर्थात् युद्धमह शब्द सर्वनाम से प्रयोग हुआ करता है । वेरों में केवल शतक ही नहीं, अर्थे । सूर्य । पृथिवी । सुन् । सर । उलुखल । सुखल । इत्यादि सम्बोधन भरेपड़े हैं, जिन में कोई पुहष चेतनता नहीं भाजता ॥

और हम से शगला मन्त्र ७० जो आप ने लिखने से छोड़ दिया, उस में स्पष्ट है कि (पुनर्देहि वगस्पते य एष निहितस्त्रविय) जो वनस्पति अर्थात् काष्ठमय चिता में रक्खा गया है । इत्यादि । इसलिये वे तिल धान स्वधा कहकर अविनं की चिता में छोड़ने के लिये वर्णित हैं, दान वा जल में छोड़ने को नहीं ॥ तीसरा मन्त्र यह है:-

**भारंभस्व जातवेदुस्तेऽम्बुद्धरो अस्तु ते । शरीरमस्य
संबुद्धापैनं घेहि सुकृताम् लोके ॥ ७१ ॥**

इस से भी स्पष्ट है कि वादप्रकरण है, आहुप्रकरण नहीं अर्थात् (जात-
वेदः) अग्ने । (भारमस्व) भारम्भ कर (ते हरः) तेरी सपट तेजस्वत्
अस्तु) तोत्र हो । (भस्य शरीरं संदृढः) इस के शरीर को भस्म कर (अथ)
और (प्रश्नम्) इसको (सुकृताम्) अच्छा करने वालों के (लोके) स्थान
में (उ) शब्दशय (घेहि) धारण कर ॥

इसका भी तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त तिल धान (चीड़ाल कर अचिन
तीत्र किया जाय जिस से गब भस्म हो जीर उसके परमाणु भाकाश में
सुकृतों की जगह रहें, किसी को कुछ दानि न पहुंचावें ॥

३० तिं० भा० प० १०३ में ३ मन्त्र हैं जो अन्यकार ने भूतकामाहुप्रकरण
में लगाये हैं ॥

प्रत्युत्तर - यथाये मन्त्र यह है-
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरेश्च ये । तेभ्यो

घृनस्य कुलपैतु शतधारा व्युन्दती ॥ अथर्व १८ । ३ । ७२

परमेश्वर का उपदेश है कि हे गन्धि ! (ये) जो (ते) सेरे (पूर्वे)
पूर्वले (पितरः) पिता भादि (च) और (अपरे) अस्य बान्धवादि (ये)
जो (परागतः) भरगये हों (तेभ्यः) उनके दाहार्य (घृतस्य) घृत की
(कुरुपा) धारा (व्युन्दती) उपकरती हुई (शतधारा) अनेक घार युक्त
(पृतु) प्राप्त हो, ऐसा कर ॥

पूर्वमन्त्र में अग्निदाह का वर्णन या इसकिये वैही यहाँ जागता
चाहिये ॥ फिर-

**स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः । स्वधा पितृभ्यो
अन्तरिक्षसद्भ्यः । अथर्व ॥**

इस का पता प्रथमवार छपे में तो है ही नहीं और द्वितीय वार ले में
१८ । ४ । १८-१९ है । सो इस पते पर ये मन्त्र नहीं पाये जाते किन्तु इस
पते पर ती-

अपूपवान्द्रपतवांद्वृहरेह० ३८

अपूर्वान्धृतवाच्चरेह० ११

ये दो मन्त्र हैं। परम्परा इनको पते से विवाद नहीं, यिसी पते पर ही उनका अर्थ यह है कि “आकाश में स्थित पितृगरीर के लिये जिससे वह इनिकारक न हो) आतुति हो” ॥ इन से ब्राह्मण आदि का गोपन निष्ठ नहीं होता ॥

यी से स्वानी यम रक्षितारी चतुरक्षी परिक्षी नृचक्षसी
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्स्वस्ति चास्मा अनभीवं च धेहि

ऋ० १० । १४ । ११

अर्थ—(यम) हे अन्तर्यामिन् ! (राजन्) हे प्रकाशमान ! परमेश्वर ! (ते) आप की व्यवस्था में (यी) जो दो (रक्षितारी) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षी) अमे, अर्थ, काम, भौक्ष, रूप चार पांच याले (परिक्षी) संसार परमार्थ दो मार्गों के रक्षक (नृचक्षसी) सनुओं को कल विद्याने वाले (श्वानी) दो बड़े हुए सकाम निष्ठकाम भेद से कर्म हैं (ताभ्याम्) उन (दोनों से (एषम्) इन मरने के समीप पुरुष को (परिदेहि) रक्षित कीजिये (च) और (अस्मै) इनके लिये सकाम कर्म है (अनभीवश्) नीरोगता आदि द्वारा (च) और निष्ठकाम कर्म है (स्वस्ति) परमामर्द (चेहि) घारण कीजिये ।

अर्थात् जब सनुओं का जल्त समय हो तो विद्वान् चपदेशवरों को द्वारा कर इस सूक्षका पाठ द्वारा भीर परमेश्वर का ध्यान करते हुए माण परित्याग करें ॥

८० तिं० भा० ८० १०८ । १०९ में यजुर्वेद अध्याय १५ से भग्न ६४ से ३० तक ३ मन्त्र मृतकश्चाहुपर लगाये हैं ।

प्रत्युत्तर—इन सन्त्रों का अर्थ स्वानीजी महाराज के विद्यार्थी में देख लीजिये और आप के अर्थों में ६४ । ६५ । ६६ का अर्थ जो आप ने किया है उस में सी अग्नि के द्वारा मृतक का होना ही पाया जाता है अन्य कुछ नहीं ६७ में मे (ये चेह ये नेह का अर्थ आप इस लोक और स्वर्गलोक में करते परम्परा स्वानी जी जे जो प्रस्तव अप्रत्यक्ष वा जीवित दूरस्थ और समीपस्थीरों का यहाँ किया है वह संभव है आपका असंतव है । ६८ वे में (ईयुः) काँ अर्थ तो यह है “मात्रे” उग जीवतों को

जाप हो भीर जाप (हेयुः) "हैश्वर को प्राप्त हुवे" लिखते हैं (पार्थंदेरजसि) का शये स्पष्ट "पूर्णवी लोक में" है भीर जाप (स्वर्गादि लोक में) करते हैं, यही जासंभव है। ६९ में जाप के किये गये से भी मृतकआद्वा की कोई बात नहीं गिकलती। यहो दशा ३० में मन्त्र के जाप के किये गये की है॥

८० तिं० भा० प० ११० में जो (यमाय योमः०) यह अथवे १८।२।१ का प्रमाण दिया है वह तो स्पष्ट ही यमशाठद् से वायु के प्रहण करने में प्रमाण है, जब कि उस में यम के लिये होम करना लिखा है और बलि दानादि कुछ नहीं है॥

८० तिं० भा० प० ११० पं० ५ से-इत्यादि मन्त्रों से अग्नि का आद्वा में इवि लेगाना सिद्ध है॥

प्रत्युत्तर-हाँ, अग्नि में मृतकशरीरों को फूंकना भीर पश्चात् भी हवन करते रहने का स्वानी जी ने भी कहा निषेध किया है? प्रत्युत्तर विधान किया है। परन्तु जाप को महाब्राह्मणादि के दानादि मिठुकरने थे, सो जाप ने कोई प्रमाण न दिया॥

८० तिं० भा० प० ११० में यनु अध्याय १ के इलोक २१४ भीर २१६ से यह विखलाया है कि पितृकर्म अपसव्य से करे॥

प्रत्युत्तर-प्रपत्न सौ यनु के इस अध्याय में आद्वार्थ सुबही हरिण, बकरे जैसे, सूवर आदि का विधान किया है भीर वामसार्गीपते की घिनीनि रीति दर्शाई है। उन सब को यहाँ लिखा जावे तो उस के भेत्र में भेत्र निलाकर किर अपसव्य सव्य का भेद भी खुलजावे परन्तु ग्रन्थ पढ़ाने के अतिरिक्त कल कुछ नहीं। वर्तमान यनुस्मृति का मृतकआद्वा अस्यम्भव प्रसिद्ध है। भीर उसके प्रक्षेपादिष्टेतुपूर्वक अवहन भी ग्रायः हो चुके हैं। भीर केवल सव्य वा अप-सव्य के कर्मसेद् वे विनाशेदमात्र ती मृतकआद्वा का साधक भी नहीं॥

८० तिं० भा० प० ११३ पं० २७ से-यह सिद्ध करने को (कि ब्रह्मा ४ वेद जामने वाले विद्वान् का नाम नहीं किन्तु कुष्ठि का स्वर्ण चतुर्मुख ब्रह्मा या उसी का तर्पण किया जाता है) १ प्रमाण दिये हैं। एक-(यो वै ब्रह्माणः) दूसरा (तस्मिन्द्वज्ञो०) तीसरा (हिरण्यगर्भः सम) इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-क्षा जाप को यह भी ज्ञात नहीं कि यज्ञ में ब्रह्मा होता द्वयाता अध्वर्यु नाम के ४ ऋत्विक् उष भी होते हैं भीर सब पढ़तियों में इन का वर्णन है भीर अन्वेद से होता, यजुः से अध्वर्यु, साम से उद्यगाता भीर सब वेदों से ब्रह्मा॥ जीसां कि--

ऋग्वेदेन होता करोति ॥ १९ ॥ सामवेदेनोद्ग्रहाता ॥ २० ॥

यजुर्वेदेनाधर्युः ॥ २१ ॥ सर्वेद्रह्मा ॥ २२ ॥

आपस्तब्दयत्परिभाषा शुश्राणि । और आप के लिखे धार्यों का यदि वही भर्य जी मानले जो आपने लिखा है तो भी पूर्वकाल में किसी का अङ्गाहोना, वस्तमागकाल में दूसरों को उक्तपूर्वों के अनुभार ब्रह्मा होने से गहरी रोकता । अर्थात् पूर्व भी एक विशेष ऋषि का गामध्रह्मा या भव भी हो सकता है । परन्तु आप के भर्ये से दोरों का नवीनत्व पायाजायगा ॥

४० तिं भा० प० ११४ च० २ मे (विद्यात) अन्त्र वेपते लिखकर उस के भर्ये ने लिखा है कि “ऋषि लोग जो अङ्गिरा के पुत्र अर्जित से उत्पन्न हुवे” इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जो अर्जित से उत्पन्न हुवे वे अर्जित के पुत्र हो सकते हैं, भला उत्पन्न अर्जित में हों, पुत्र अङ्गिरा के कहाँवें, यह कैसे बगसकता है ? या अर्जित अङ्गिरा की स्त्री या ? अर्जित तो पुष्ट है, स्त्री गहरी है । अब यथार्थ भर्ये सुनिये :-

विरूपास इदृष्यस्त इद्गमीरवेपसः ।

ते अङ्गिरसः सनवस्ते अग्नेः परिजङ्गिरे ॥

(अथवा :) वेदमन्त्र (विरूपासः) मिथु रूप अर्थात् विलक्षण अङ्गिरसे सम्बन्धित है (इत) और (ते) वे (इत) गिर्षय (गर्भीरवेपसः) गर्भीरकर्कसे गिरा में हैं ऐने हैं (ते) वे [अङ्गिरसः] मेधावीपरगाहमा के [शून्यः] पुत्र हैं अर्थात् [ते] वे [अग्नेः] ज्ञानश्वरूपपरगाहमा से (परिजङ्गिरे) उत्पन्न हुवे हैं ॥

४० तिं भा० प० ११४ च० १४ से- (सरीष्यादय अथवात्पूर्वद्यन्तात्) इस में “वत्” आपने कहाँ से गिराला इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जब किसी पद में भर्य को अवधारणा होती है तब लक्षणा की जाती है । जैसे [महाः झोण्यन्ति] जी महात्म्य सुनय में लक्षणा करते हैं इसी प्रकार पूर्वज नरीचि आदि को अविद्यानता में उग के तुल्य पुरुषों का तात्पर्य लक्षणा वे निकालते को ज्ञानांजी ने “वत्” लगाया है ॥

४० तिं भा० प० ११४ च० २० से १२५ पृष्ठ तक का आथवा पह है कि यदि वो नसद्गु अर्जितव्यात आदि का भर्य ज्ञानी जी के गतिव्यानुभार जाने

जी शङ्करेश, शुद्धग, रेत भादि के अधिकारी पितर कहांकरेंगे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भगवन्नार के लोग शङ्करेशमौरेश नहीं करते ? जी वह दया स्मृतपितरों का नाम लेकर भागकल आहुओं में इकीमजी और बङ्गाडी और पुजारीजी और रसोइयाजी नहीं जिमाये जाते ? और भाष और छाकटों के भट्कार के निषेध में गनु का प्रचाण देते हैं एवं-

“चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रियणस्तथा ।

विषपणेन च जीवन्तोवज्जर्मिस्युर्हृष्टपक्वययोः ॥३॥२५२॥

बैद्य, पुजारी, सांसदेवमें वरला, बाणिज्यकरमें वाला; ये सब अग्नु-कर्म और देवकर्म में अलिङ्ग नहीं ॥

प्रत्युत्तर-इस ती इस गनु के भूतकान्द्राहु और सांसपित्तादि को जानते ही नहीं परस्तु भाष करों पुराने ब्राह्मणों को सांसदेवमेवाले तक निष्ठ करते तु वे ब्रह्मकुल को कश्चिन्नत करते हैं । इस छोक से जानाजाता है कि जात्र यह ब्रोह अगाया गया उस समय भासमात्र के ब्रह्मण बैद्यना पुराण-रीपगांतांसविक्रितापना भादि नीचकर्म करने लगे थे । तब उन को यह आहुदादि से बःहर करने के लिये छोक बनाया गया । और हाकिम ती ब्रह्मकिसों के शर्दूली ब्राह्मण भी छांट २ कर आहु में जिमाये जाते हैं ॥

४० तिथि भाष ४० ११ पं० ५ से-शतपथ के ग्रन्थाश्वार यितरों के जागे जालती लकड़ी घरमें लिखा है, किर यदि जीवतों का पितर जाने ती उन बं भागे जालती लकड़ी घरमें पढ़ेगी । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भाष के गतानुभार सूतकों के आहुचिनित भी ती जीवते ब्राह्मण ही जिमाये जाते हैं, किर भाषको भी ती उन के मामने चानी सिलगामी पढ़ेगी । यथार्थ में वहां जालती लकड़ी से तारन्वर्य नहीं किन्तु जीवितपितरों को भोजन कराते समय अन्धियारा हो ती जालते दीपकादि के प्रकाश से उसे देख लिया जावे और यदि कुछ अपहृत्य पड़ा हो ती जिकाल दिया जावे । यह सातपथ है । भव भी जो चतुर सेवक होते हैं वे धरपते देव्य स्त्रामी को जलादि देते हैं ती प्रकाश में देखकर देते हैं ॥

४१ तिथि भाष ४० ११ पं० १३ से मनु १ । १६ के गतानुभार पतरों का रात्रिदिन भज्यों के एक माम के बराबर होता लिखकर शङ्का की है कि यह दयागन्त्रियों के पणिहत और यम १५ दिन सोते हैं । इत्यादि ॥

प्रस्तुतर-वहाँ पिलोक से अन्नलोक का सातात्यर्थ है। अन्नमा में १५ दिन रह दिन और १५ को सत्रि होती है और यदि इन भाषप के भूत-वितरों को कोई जगह मनले तो नित्यधृत जो पृथग्भाषणों में होता है उसे नहीं बतेगा। एवं कि एकपल पितरों का रस्त्रि और एकपल दिन है। इस लिये १५ दिन तक पृथग्भाषण करना पड़ेगा और ये १५ दिन में भी एक दो बार पृथग्भाषण होगा, अन्यथा पितरों को १५ दिन के १५ दिन में १५ बार भोजन कुपयय हो जायगा॥

३० तिं० भा० प० ११६ प० २० से (आद्वै-शरदः) वह अष्टाभ्यर्थी का सूत्र है कि शरदः ज्ञातु में अथवा करे। इत्यादि॥

प्रस्तुतर-अन्यथा हो। व्याकरण को भी इस्त्रित ही बता दिया। इत्यूत्र का अर्थ तो यह है कि “ शरदः प्रतिपदिक वे उत्तमत्यय हैं, अथवा वाच्य हो ती ” भाषप कहते हैं कि “ शरदः ज्ञातु में ज्ञातु करे ”। तब तो भाषप-

ऐकाग्रारिकट्रू चीरे ४ । १ । ११३

इन सूत्र का भी यह अर्थ करते होंगे कि एक महाल में चोरी करे। अथा कहते हैं !! !! और [आद्वै शरदः] सूत्र से अगले सूत्र-

विभाषा रोगात्पयोः ४ । ३ । १३॥

इस का भी यह अर्थ करते होंगे कि शरदः ज्ञातु में विकल्प वे बीमाद पड़े और खूप में बैठे। वस तो सारे समरतनधर्मी शरदः ज्ञातु में अथवा किया करें, रोकी बगावरे और खूप में बैठा करें और केवल युक्त महाल में चोरी किया करें तो भी पकड़े जाकर जेल में अपयंगे तो भाषप का स्मरण किया करें !!। सूत्रों का ठीक अभ्याय तो यह है कि जो ज्ञातु शरदः ज्ञातु में हो वह “शारदिक” है। जिस प्रकार प्रतिदिन किया जाय-वह “दैनिक” वा “प्रत्यहिक” वा “आद्विक” कहता है। वही प्रकार शरदः ज्ञातु वी खूप बारोग को भी “शारदिक” कहते हैं। यहाँ उक्त प्रत्यय विकल्प से होकर वह में अन्य प्रत्यय होकर “शारदः” बनता है॥

३० तिं० भा० प० ११६ प० २६ से (भगवद्विषय) वस्यादि भगु के उसी तीसरे गढ़वहाड़व्यय के छोक १७४ से २७२ तक लिखकर इस प्रकार अर्थ किया है=

“स्वायंसूत्रु के जो भरीचि शारदि, उन भ्रातियों के पुत्र प्रियार्थी के

मनु जी ने कहा है विराट् के पुत्र मोमदनाम वाले वे साध्यों के पितर ऐसे कहे हैं अविनद्यवातःदि नरांचि के पुत्र हैं जो लोगों में विक्षात हैं और देवताओं के पितर कहाते हैं दैत्यों के पितर वर्हिष्ठ नामवाले अत्रि के पुत्र हैं। वे देत्य दानव यज्ञ गन्धर्व चरण राक्षस भूपण किक्कर इन भेदों के हैं।

॥ १६६ ॥ भोगपा ब्राह्मणों के हविर्भुज तत्त्वियों के जाज्यगा वैश्यों के सुका लिन शूद्रों के पितर हैं ॥ १६७ ॥ भृगु के पुत्र मोमपार्दि अङ्गिरा के पुत्र इवि-धान्त, पुलस्त्य के पुत्र आज्यपार्दि, और वशिष्ठ के पुत्र सुकालिन हैं, यह पितर इन व्यक्तियों से हुए ॥ १६८ ॥ अविनद्यव आविनद्यव और काव्यों के रथा वहिष्ठों को भी और अविनद्यव तथा मोरुय यह मन्त्र ब्राह्मणों के पितर जानने ॥ १६९ ॥ यह इन्हें पितरों के गण सुख्य कहे हैं उन के इस जगत् में पुत्र पीछ अनन्त हैं। जो जानना ॥ २०० ॥ चांदी के पात्र करके यह चांदी के लगे पात्र में पितरों के आदु करके दिया पानी अहम् सुख का बेतु होता है ॥ २०२ ॥

प्रत्युत्तर-ती मोमसरों का आदु तौ साध्यों को करना चाहिये। मनु-धर्योंसे कुछ कागजहाँ क्योंहि सारे संसार का टेना थोड़ा ही लिया है। “पने धर्वने पितरों का तर्पण चाहिये।” “अविनद्यवः” देवताओं के पितर हैं, उन का तर्पण आप की पाषाणगोलार्थे करेंगी व्यांकि वे आपनी देवता हैं। अत्रिजो ब्राह्मण था, उस के पुत्र वर्हिष्ठ हैं और वे देत्य दानव यज्ञ गन्धर्व चरण राक्षस भूपण और किक्करों के पितर हैं, उनका तर्पण वेही राज्ञ-मादि करें। सुकालिन वैष्णव शूद्रों के पितर हैं, इस लिये जब कोई मना-तनधर्मी ब्राह्मण “सुकालिनस्तृप्यन्ताम्” कहेगा तब शूद्रों के पितर ब्राह्मण के भी पितर हो जायेंगे। और सब पितरों का जन्म तो इन झोकों के मनु-सार ब्राह्मणों से हुआ और राक्षसों के पितर तक न जाने किस बारे का फल होने वे होंगे ॥

द० तिठ० भा० प० ११८ । १६८ । १२० में वार्षीकीय रामायणाभ्युमार दश-रथ का आदु और मनु के झोकों से भी सुतक आदु लिखा है जिस का उत्तर रामायण और मनु के प्रक्षेप में स्वयं आगया ॥

द० तिठ० भा० प० १२० प० ३३ से (जाविरभून्म०) इस मन्त्र में आदुर्दि पद अपनी और से छोड़कर अनये किया है ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्र का अर्थ सुनिये-

भाविरभूम्महि मःघोनमेषां व्रिश्वं जीवं तमसो निरमोचि ।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तम् गादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शिः ॥

ऋू १७ । १०७ । १ ॥

जो (विष्म) सब (जीवम्) जीवनात्र को (तमः) शास्त्रात्मकार से (निरमोचि) छुड़ाते हैं (एषाम्) उग की (भायोनं महि) इन्द्र पद की बड़ी=महिमा (भाविः) प्रकट (भूम्भूत) होती है ज्योति (विश्विः) उग ज्ञानदत्ता पितरों से (दत्तम्) दो हुई (महिल्योतिः) बड़ीभारी ज्योति (भावात्) प्राप्त होती है जिस से (दक्षिणायाः) धनादि लाभ का (तदः पन्थाः) बड़ा भार्ग (भादर्शिः) दीखता है ॥

अर्थात् जो गुरु पिता भादि भपने शिष्य पुत्रादि को भक्षणात्मकार से बचाते और ज्ञान की ज्योति देकर धनादि के लाभ का भार्ग दिखाते हैं, उन को बड़ी भारी महिमा और कीर्ति होती है । इस में कोई पद देसा नहीं जिस से मृत पितरों की उत्तरि भी निकलती हो ॥

धन्वन्तरि वैद्य का नाम है । वैद्य के लिये भयोत् वैद्यक के अनुसार क्षीण नित्य हुतभोजी रहें । यहाँ भारी व्याहनेवाले को लिये होम करना तात्पर्य है । चूर्णिंगा और वृथिवी आकृत्य ३३ देवों में हैं, इन के लिये होने के भी नैरोच्यादि सुल होते हैं । वगस्पति का भी होम से शुधार होता है । लक्ष्मी भी होम करने वालों को प्राप्त होती है । यस शब्द से परमात्मा वा वायु का यहषा है, हाकिमों का नहीं । नमुस्मृति में जो बलिवैद्यवदेव के स्थान विशेष लिखे हैं उन में भी गूढ़ तात्पर्य है । जैसे कि (भहदूम्यहति तु द्वारि) वायुओं के आगे का भार्ग द्वार होते हैं इस से वायुओं की बलि के लिये द्वार का स्मरण किया । (विषेधस्तद्युप्य इत्यपि) “ अहम्भोगमः ” की भावुकि के साथ अप्त-जल का स्मरण है । वगस्पतियों से मुख्य उलूसल इत्यादि पात्र साधन बनते हैं, इस लिके “ वगस्पतिभ्यो नमः ” के साथ मुमलादि का स्मरण है । इत्यादि सभी सार्थक है, व्यवे नहीं । और जित विषय में आप का भल विहृत न हो उस विषय में भी आप विरोध वृद्धा करते हैं; ग्रन्थज्ञार से पाप का अथ नहीं किन्तु पाप के पश्चात् भर्तृनुष्ठान में व्यवहार समाप्त करना पाप से बचने की भीमरी वासना को उत्पन्न करता है जिसमें उत्तरोत्तर भन्तःकरण की शुद्धि होती है इस लिये भर्तृनुष्ठान बलिवैद्यवदेवादि

कमेकादह भस्तःकरण का भी पवित्र करने वाला है ॥

भनु के यह कहने का कि (ब्राह्मोपत्र पुरुष करने वाला १० शगले १० गिर्छले १ भाष इन २१ को पाप से लुड़ाता है) ताहर्य यह है कि उन्होंने जो पाप किये हैं उन का उन्हें फत न होगा किन्तु यह ताहर्य है कि जिस कुन में ऐसा उत्तम पुरुष होता है वह पुरुष के यश में गिर्छले शगलों के अपयगदृप पाप हों तो भी उन्हें दक लेना है । अपात् उन पुरुषों द्वारा कुन को खपाति होती है जीर सारे दोष दब जाते हैं ॥

अथ नियोगप्रकरणम् ॥

द० तिं० जा० प० १२५ प० १२ से-

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छुया ।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ६ । १७५

सा चेद्विष्टतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।

पौनर्भवेन भव्री सा पुनः संस्कारमहंति ६ । १७६

जो स्त्री पति ने त्यागन उर दी हो या विधवा हो वा अपनी दृढ़ा से किसी दूसरे की स्त्री हो कर पुत्र उत्पन्न करे, तो उस पत्र को पौनर्भव कहते हैं १ यह उत्पन्न करने वाला पौनर्भव पुत्र कहलाता है १७५ जोही स्त्री यदि शक्त्योनि होय जो कि घर से निकल गई वा पति ने त्यागन कर दी है किर अपने पति के पास चली आये तो उस को पुनः संस्कार कर के यहाँ कराया यदि शुद्ध होय तो, यह परिपाटी प्रशंसित नहीं है, अचका जोह जिस के पास आय जोह स्त्री का संस्कार कर गहण करे, परन्तु उस के जो सन्तान होगी वह पौनर्भव कहलावेगी ॥

प्रत्युत्तर-धन्य हो, पूर्व छोक में “विधवा वा स्वयेच्छवा” होतेहुवे भी यह भींगाधींगी कि पूर्व पति को पुगा: मास होगाय तो पुगः संस्कार करे, भला क्य दूसरे की स्त्री हो जाए और भाष के अर्थात् मार जाँ पुत्र दूसरे से उत्पन्न कर लेवे तब घर भाकर किर व्या सुन पति की लाश (शब्द) पढ़ी रक्खे जो उस से पुनः संस्कार कर!!! यह कहते लगता नहीं भासी किस्वासी जी जे भर्ष फेरदिये ॥

द० तिं० जा० प० १२७ प० १२ से-

नियुक्त पुनर्व ने उत्पत्ति हुए आलक का सूत पुनर्व में कुछ भी सम्बन्ध नहीं और द्रावभास ती गोद लिये पुनर्व का होता है, जिसे सर्वे सम्मनि से इत्रो पुनर्व गोद लेते हैं “प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि केवा ही गोन्नर व्योंग न हो परन्तु जाके बाले ती जो जिहवे उत्पत्ति होता है उही गाम से पुनर्वते हैं यथा वायुसनय भीम इच्छतगय गर्जुन धर्मेपुनर्युधिष्ठिरादि” और जब कि वह नियुक्त पुनर्व ने उत्पत्ति पुनर्व मृतं के घन का अधिकारी हुआ तीनी स्वामी जी का बोह कहना कि (यदि पुनर्विवाह होगा ती घन दूसरों के हाथ लग जायगा) निष्वा ही हुमा व्योंगि गब भी उत्तमत का घन दूसरों के हाथ लगा, भाषणा पुनर्व ती गभी होगा जब भाषने से उत्पत्ति होगा बोह नियुक्त मृतक के गोन्नर से सम्बन्धी नहीं होता देखिये भावेद् में जिखा है जिस को व्याख्या कलकत्ते के छाये हुए निरुक्त के २५४ एष में की है ।

परिषद्यां ह्यरणस्य रेवणो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
नशेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो श्रिदुक्षः पारादा७

(निरुक्तम् अथवा) परिषद्यां हि नोपसर्तं थयमरक्षस्य रेवणोऽरणो भवार्जी भवनि रेक्षा हति भग्नाम रिष्यते प्रयतो नित्यस्य रायः पतयः स्याम विड्य-स्येव भग्नस्य न शेषो भग्ने भग्नजातमस्ति शेष हत्यपत्यमाम शिष्यते प्रयतो-उचेतयमामस्य तत्प्रभस्य भवति जा नः पथो विद्युद्य इति तस्योत्तरा भूयसे निवेदनाय—

भाषार्थ—एक समय हत्यपुनर्व विशिष्ट ने भरिन की स्तुति याचना करी कि मुझे पुनर्व दे तब भविनदेव बोले कि जीतक दृश्यक रुक्षिन आदि पुनर्वों में कोई एक पुनर्व बनालो यह बात सुन विशिष्टजी और से उत्पत्ति हुए पुनर्वों की गिन्दा करते हुए और निज वीर्य से पुनर्व चाहते हुए यह वेद भवन बोले ।

(परिषद्यां) व्याग देने योग्य है बोह पुनर्वदीपी घन जो कि (भावस्य रेक्षः) पर कुल में उत्पत्ति है, जिहवे ने उदक सम्बन्ध नहीं है, व्योंगि बोह परकीय होने से पुनर्वकार्य में समय नहीं होता, चाहौं घन की पुनर्वकार्य में वहरना कर लो, इस कारण [नित्यस्य रायः पतयः स्याम] पिण्डवस्येव भग्नस्य जैसे विता का घन पुनर्वस्य में होता है, इसी से बोह उत्तर के घन का स्वामी होता है, व्योंगि बोह स्वयं अपने से उत्पत्ति होता है (अपत्यत-हाता है) इसी से सुख्य होता है सत्रज कोतक में नहीं, इसी से कहते हैं

कि जो गित्य भात्पत्रीय भगीण अपने से उत्पत्त जो पुत्रकृपां (रायः) खग तिमीं के हग (पतयः) मालिक पालने वाले हों परकीय के नहीं, जिस में कि न शेषोअम्भे अन्याज्ञातमस्ति) और जे उत्पत्तहुआ अपत्य गहीं होता है जो उत्पत्तकरता है वह सभी का होता है दूसरे का नहीं जो (अचेतय-मानस्य) अचेतयमान आर्यस्त अविद्वाम् प्रगाढ़ी जो शास्त्र से रहित हो वो वह भी धर्म से परितोष मान्न होता हो है कि यह जेरा पुत्र है इससे कहते हैं (गा पथोविदुः) कि हम को पितृ पिताग्रह प्रपिताग्रह की अनुमस्तति जैसे (पथः) मार्ग से (विदुषः) तू और स पुत्र दे, यह आशय है जो अन्ने बीर्य से अपनी सबर्गी खीं से उत्पत्त हो वह और स पुत्र कहाता है ॥

प्रत्युत्तर- यदि वेदमस्ति का यह आशय है कि अन्य का उत्तराक किया पुत्र, पुत्र गहीं हो सकता ती गोद लिया भी नहीं हो सकता, यदि गोद लिया। हम लिये हो जाता है कि बहुत से खीं पुरुषों से मस्तति करके लेते हैं ती नियोग भी पृष्ठों की स्फुरति में, कैमी कि कुन्ती ने बहुतों से मस्तति और शास्त्रीय करके कराया था, होने से दायमान जै आधार नहोगा । आपने अर्जुनादि को इन्द्रादिपर पुरुषों से उत्पत्त होने का स्वीकार और प्रभिष्ठि को मान कर और यह भी दिखाकर कि ये दूसरों से उत्पत्त थे, दूसरों के गान में प्रभिष्ठि भी ये और फिर भी “पाण्डव” पाण्डु की मस्तति काहलाये और पाण्डु के दायमानी भी रहे । अपने पक्ष का कैसा अपने ही मुख से जाश किया है । अगाही विद्वाहों भूल गये । गित्यक में विष्णु को बातारा तक भी यहां नहीं लिखी, ग जाने गाप को यह माहम कहां से आयया कि ज्ञार निकल जा पाठ जामने रख कर भी बिष्ट को कथा कहा दी । मन्त्र और गित्य का अर्थ यह है—

(अरचोडपार्णी भवति) जिस ने ज्ञान चुका दिया उने अरण कहते हैं (रेत्व इति धनमाम०) रेत्व धन का नाम है । धन (भरणस्य रेत्वः) जिस ने ज्ञान चुका दिया उन का धन (परिहर्त्वदयं हि) दूर से छाह देना चाहिये (गोपमत्तेष्यम्) उन के पास भी न जाना चाहिये । गित्यस्य रायः पतयः ध्यान) हम गित्य-अपने धन के स्वामी होवें (पितृयस्येत्र धनस्य) जैवे पिता के धन के होते हैं । शेष इत्यपत्यनाम शिद्धपतेऽ) शेष सम्भान का नाम है (अन्ने) परमात्मन् ! (भग्यग्रातम्) अन्य से उत्पत्त (शेष न०) सम्भान नहीं होती, इत्यार्दृ ॥

तात्पर्य यह है कि अन्य का धन यदि उम पर अपना करण न हो तो जीसे किंचित् भी से न लेना चाहिये क्योंकि वह उम ने कराया है, उसी का है। जैसे कि अन्योंने उत्पन्न की हुई सन्तान अन्यों को ही होती है, आपनी नहीं, परन्तु अन्य शब्द से यहाँ उस का ग्रहण है जो विवाह वा नियोगादि करके विधिपूर्वक अपनाया नहीं गया। अन्यथा निज पति से शरीरमात्र के भ्रेत्र से अन्य मानोंमें तो उस को उत्पादित सन्तान भी अपनी न होगी अस अन्य का धर्थ यहाँ करपरों है, जिस से विवाह नियोगादि कुछ नहीं हुआ। अब सन्त्राधे सुनिये—

(अरणस्य) जिस पर अपना चाहिये नहीं उस का (रेक्षणः) धन (परिषद्य इ) त्वान्य ही है, पाल्य नहीं है। (नित्यस्य रायः पतयः स्पाम) हम सदा अपने धन के स्वामी हों (अन्मे) हैं परमेश्वर। (अन्यज्ञातम्) अन्यों से कृतक (शेषः न अस्ति) सन्तान नहीं हैं। (अचेतानस्य) प्रमादों के (पथः) मार्गों को (गा विदुषः) न पहुँचें॥

अर्थात् यह प्रमादी लोगों का मार्ग है जिस पर अपना धनादि न चाहिये उस से मांगना वा भूटी नालिश करना वा अन्यों को सन्तान पर अपनी होने का दावा करना। उस से विवाहित वा नियुक्तपति को अन्य नहीं गान सकते, वह विधिपूर्वक अपना बगाया जाता है। जैसे जी गोदे लेने में अन्य का सन्तान अपना बगाया जाता है जीर उस के जनक की उन में सन्तान होती है वा विवाह में अन्यों के सन्तान सम्बन्धी बन जाते हैं॥

४० तिऽ भाऽ प० १२८-१३५ में (नहि यमाय०) यह दूसरा सन्त्र भी निरुक्तसहित पूर्वोक्त पक्ष ही के सिवु करने में लिखा है॥

सत्युत्तर अन्य है। निरुक्त को समझने वाले हों तो ऐसे हों जैसे आप हीं सन्त्र भी। निरुक्त का अर्थ यह है—

नहि ग्राभ्यारणः सुशेषेन्योदयो मनसा मन्तुवा उ ।

अधा चिदोकुः पुनुरात्म एत्या वुज्यभीषणलेतु नव्यः ॥

(अहवेद)

नहि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमौष्यन्योदयो मनसाऽपि
न मन्त्रव्यो ममायं पुन्र द्वयथ स ओकः पुनरेव तदेति यत्क

आगतो भवत्योक इति निवासनामोचयते । ऐतु नो वाज्ञी
बेजनवानभिषहमाणः सपत्नान्नवजातः स एव पुत्र इति ॥

(शुशुक्तसोऽपि अरणः) भले प्रकार शुशुक्तायक तो पराया थन (अहि
याहीतत्वः) नहीं लेगा चाहिये । और (अर्थोदर्यः) जो अन्य के देट मे
खत्पक्ष हुआ है उसे (मनसादुपि न मन्त्रत्वः) उन से भी नहीं मानना कि
(भमायं पुत्र इति) यह भेरा पुत्र है । क्योंकि (अय मः भोऽः पुनरेत्र
तदेति) फिर वह उसी घर को छला जाता है (यन शायतां भवति) जहाँ
से कि आया है । (ओक इति निवासनामोचयते) ओक्स् गाम घर बह है ।
इस लिये (वाज्ञी बेजनवान्) बलवान् (सपत्नान् अभिषहमाणः) शाश्वतों
को दबाने वाला (नवजातः) नया उत्पक्ष (नः ऐतु इमे प्राप्त हो (स एव
पुत्र इति) वही पुत्र है ॥

इस से यह पराया जाता है कि कोई खी गत से भी शान्त्य के पेटे ऐ
खत्पक्ष पुत्र को शापना युत्र न माने, किन्तु जहाँतक हो उसके विवाह वा नि-
योग जे अपनी कुत्ति से पुत्रोदयादृश करके उसे युत्र भाने । इस ते विवाह
नियोगादि का कुछ विधिमयेध नहीं केवल सम्भास का अस्तित्व और
अर्थों के धर्म सम्भास को न छोड़ना भाव पराया जाता है ॥

४० तिथि ८० पृष्ठ १३१ पं० १२ से-(इसां स्वविनिःद्रुः) इस मन्त्र वा अर्थ
यह किया है कि—

ऐ इद्ध परमैश्वर्ययुक्त देव (मीद्वः) सर्वशुखकारीपदार्थोंकी वहि करने
वाले इस खी को भी पुत्रवती घनवती करो, और दश इस मे पुत्रों को
धारण करो, भाव यह है कि उसपुत्र पेश करने के बहूष इन खी में स्थित
करो, और चारहवाँ पति को करो अर्पात् जीवितपुत्र और जीवितपति
हन को करो, यह इसका अर्थ है जो स्वामी जी ने कुछ का कुछ लिख दिया
है और यह स्वामी जी ने न सोचा कि यदि एकादशपति पर्यन्त नियोग ब-
रने को ईश्वर की आज्ञा है, तो ईश्वर ती सत्यसंकल्प है तबती सब विद्वयों
के दश २ पुत्र से कमनी होने ही गहीं चाहियें, यदि दश २ से कमनी होंगे तो
परमैश्वर का संकल्प गिरकल होगा, इस मे स्वामी जी का किया अर्थ गश्छ है

प्रत्युत्तर-अङ्गपूर्वक धा धासु का अर्थ भाधान करना होता है जो विशेष-
कर गत्तोधान मे रह है । इनसिये (जाषेहि) का अर्थ इन्द्रदेवता से प्र.र्थना

ज्ञे ठोक नहीं घटता, क्योंकि इन्हें देव गत्तक आधार थोड़ा ही करेगा। इस का ठोक अप्य यही है कि—

(इन्हें) हे सौभाग्यदाता । (नीहवः) वीर्यमेचक पुरुष ! (श्वम्) तू (इगाम्) इस स्त्री को (चुपुत्राम्) उन्नदर पुत्रवती (चुभगाम्) और सौभाग्यवती (कणु) कर (भस्याम्) इन स्त्री में (दश पुक्षाम्) दश पुरुषों का (अधेहि) आधार कर (अब स्त्री से कहते हैं कि) (एकादशं पतिं छृणि) ॥ वां पति कर ॥

आप जो यह शङ्का करते हैं कि परमेश्वर की आशा होनी तो सत्य ही होती और किसी के १० से कम पुत्र वा ११ से कम पति न होते। सो क्या यह लियम है कि जो २ परमेश्वर की आशा है ठीक बैठा ही मनुष्य करे। अदि ऐसा हाता तो परमेश्वर से बेदङ्कारा सुमरत कुकर्मों का गिरेथ और कुकर्मों का विधान किया है वह सारे मनुष्य सुकर्म ही करते, कुकर्म को ही न करना, पाप का नाम तक न होता (चंगछड्यम्) इत्यादि परमेश्वर की आशा के अनुमार सब मनुष्य सदा संगति रखते, विरोध न करते, और सब परमेश्वर की आशानुकूल रहते तो कोई दुःख नहीं जोगता, सब उख्ती होते। इन लिये आप का तर्क अर्थ है। और यही बात है तो आप के मत में भी लियोग न सही, विकाह ही सही तो भी वह पुरुषों की मार्यना तो बेद में ही और बेदोक्तमस्येना फूटीहो होती हों तो सब के दश २ पुत्र होने चाहिये तब ११ वां पति हो। और यदि पुत्र दो ही हों तो पति तीसरा रहे, ४ हों तो पति पांचवा रहे । ८ पुत्र हों तो ९ वां रहेगा। आप की कल्पना का ठिकाना न लेंगा। इन लिये यही ठीक है कि यह मन्त्र विवाह समय का है और विवाहित स्त्री पुरुषों के परमेश्वर की आशानुकूल दश से अधिक छन्तारों का आधार न करना चाहिये। और स्त्री का पुरुष के मृत्यु आदि अस्तमात करण उपलिख छों तो पुरुष का स्त्री को ११ से अधिक पुनः लियोग न करने चाहिये। हूपरे पतिविधात जै बीचे के मन्त्र नहीं विद्या-एकीय हैः—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽयुर्भान्यं विन्दतेर्पर्म् ॥ अथर्व १।५।२७तथा-
सुमानलोंको भवति पुनर्भुवा परुः पतिः ॥ २८ ॥ तथा—
उत्त. यत्पत्तयो दर्श स्त्रियाः ॥ अथर्व ५ । १७ । ८ ॥

ब्या हम मन्त्रों में भी दूसरे पति का वर्णन, द्वितीय पति की मरी ता और १० पतियों के विवाह को खेचा सामने में द्वाल सुकियेगा ? और ११ वां पति दोनों प्रकार से गिना जा सकता है। अर्थात् १० पुत्र, ११ वां पति, या १० पतियों के पीछे ११ वां पति । और स्वामी जो ने दोनों वर्षे किये हैं, एक नहीं । जोकि दोनों वर्षे सम्बन्ध और अन्यविधान किये मन्तान और नियोग की नर्यात्रा नियत करने से उपकारक भी है ॥

१० तिं० भा० पृ० १३५ पं० २२—अधिष्ठ बोलने वाली छो छो हो तौ उसी असम दूसरा विवाह करे ॥

प्रत्यस्तर—यहां ती आप भी स्वामी जी की शिक्षा गानने लगे । भला अधिष्ठिरा का वर्षे दूसरा विवाह हो किस प्रकार हुआ । ब्या नियोग से अधिष्ठिरा नहीं हो सकती ।

१० तिं० गा० पृ० १३५ में—(कुहस्तिद्वोवाऽ) मन्त्र लिखकर पृ० १३६ में अस्तिनीकुमार देवताविषयक वर्षे करते हैं कि—

भावार्थः—हे अधिवनी तुम दोनों रात्रि में कहां ये और (वस्तोः) भाव निज में कहां ये जिस से न रात्रि में न दिन में तुम्हारा दर्शन हमें निला स्नान भीजगादि की प्राप्ति कहां की कहां नियशम करा वर्षे । तुम्हारी भागमग मद्वति नहीं जानो जासी (को वां शयुत्रा विधवा इव देवरम्) यथम जै देवर की विधवा वत् की यजमान तुम को परिचरण करता हुआ । क्योंकि परहीय पति होने से दुराराघ्य देवर को सूतभर्तुका यत्र ने आराधन करती है (इस कर्म को निन्दित जाग छिप कर छड़े यत्र मे उस मे नियती है) तदृत तुम को किस यजमान ने आराधन करा, यथा एकालस्थान में सूत-पार्तीकानारी मन्त्र को अपने शरीर के साथ सम्बन्ध कर परिचरण करती है तदृत तुम्हारी किस ने सेवा की जो हों दर्शन नहीं प्राप्त हुवे इस मन्त्र में अर्थ देवर कर जहान्त अधिवनीकुमार उपर्येय होते हैं और विधवा शठद से यजमान उपर्येय होता है । इस स्थान में (सहि परकीयत्वात् नाड्यो दुराराघ्यतरो भवति) जब कि देवर को परकीयत्व कहा नी दूसरो का पतिष्ठ छो गया, स्वामीजी छो रहित का नियोग मानते हैं तो इस मन्त्र में नियोग का कुछ भी भाश्य नहीं प्रतीत हाता, प्रत्युत सूतभर्तुका का देवर के पास जाना भी शङ्कायुक्त इस दृष्टान्त से विदित होता है, आप के नियोग में शिशुकु भाषा है उत्तु पुष्प को जिस के ओं ग-हो ओह बात इस मन्त्र से

तत्त्व भी गहरौ प्रतीत होती है पहले गम्भीर घातक कारण अद्वितीय कोरों की दंति का है, और (देवरः कस्मात्) इस के अर्थ भी गहराह लिखे हैं और यह निहस्तकार का वाक्य भी नहीं है निहस्तकार के ज्ञापने वालों ने लिखा है कि यह वाक्य प्राचीन सीन पुस्तकों में नहीं है इसी कारण इस को चम्भोंने कौष्ठ में बन्द कर दिया है, और दुर्गाचार्य ने इस पर भाव्य भी नहीं लिया इस से यह स्लोक है। पास्क जींग इस का अर्थ यों लिखा है कि देवरो दीव्यां तिरमर्मा भाष्ये सहि भर्तु भ्रांताग्नित्यमेव तथा भ्रातुभार्या देवनार्थं द्विवत इति देवर इत्युच्यते यह इस का अर्थ है कि भाष्ट्रे की खीं की शुश्रूषा करने से इस का नाम देवर है यदि वह पाठ्यास्कपुनिकृत होता तो पुगः देवर शठ८ का अर्थ करते इससे खोह प्रक्रिया ही है जारे घन्धों में हवा भी जीं की प्रक्रिया सूक्ष्मी, और यहां लिखी हुई भी न सूक्ष्मी, और किर इन वाक्य में ती व्रश्न है कि देवर को दूसरा वर क्यों कहते हैं, इस का उत्तर नहीं लिखा, और प्रक्रिया भी नहीं यहां इसे जान भी लें तो भी स्वामी जी का अर्थ नहीं बन सकता, मनुजों ने इस का अर्थ लिखा है (यस्या चियेऽ) आंक यह आगे लिखेंगे, अर्थं यह है कि वार्णन के उत्तरात जिस कल्या का पति मर गय उने देवर अर्थात् उस के छोटे भाई से डायाहै। इसी कारण देवर को दूसरा वर कहते हैं परन्तु नियोग यहां भी निहृ नहीं होता, और (विधावगात्) भ्रातों के नाने ने खीं रोकी जाती है, कहीं जाने जाने नहीं पाती इस कारण इसे विधश्वा कहते हैं, स्वामी जी उने ऐसा स्वतन्त्र करते हैं कि कुछ बूझिये जल, जाप को जला ही चुके हैं जाप ने सब ही जातवालों को देवर जाना दिया, जो नियोग करे योह देवर ॥

प्रत्युत्तर—जब इस में (विधवा शश्यादेवरम् सधस्ये जाक्षुते) “विधवा शश्यगम्यान में देवर को भ्रात्वात् भी है” यह स्पष्ट लिखा है। और जाप भी इन पर्वों का अन्य अर्थ नहीं करते। और निहस्तकार इसी मन्त्र के निहस्त में लिखते हैं कि (देवरः कस्मात् उच्यते) देवरसंज्ञा किस कारण कही है कि (द्वितीयी वरः) दूसरा वर देवर कहाता है अर्थात् मूलपति का खोटा भाष्ट्रे ही देवर कहावे भी नहीं, किन्तु जो द्वितीय वर हो। और अद्वितीय पद से चाहे जाप खीं पुरुषों का अर्थ न ले, देवतों का अर्थ लेते रहें तथापि (विधवेत्र देवरं) इत्यादि उत्तराद्देव स्पष्ट है। और जापकाचार्य जी भी इसका अहीं अर्थ करते हैं। इनों ने जाप के अर्गके (उपाचक) गत्त

का तौ सायण भाड़य लिखा, परन्तु उसका नहीं लिखा। और गिरकल में (देवरः कश्मा०) पाठ को आप प्रक्षिप्त मानते हैं। खानी जी जब कभी किसी शार्थ यस्थ ते कुछ प्रक्षिप्त बताते हैं तो आप नाश्वित करने लगते हैं और (देवरः कश्मा०) यह निरुक्तका पाठ तो सायणाचार्य से भी अपने भाड़य में उद्धृत किया है और प्रक्षिप्तनहीं माना। सायणाचार्य के समय में जो गिरकलया उस में यह पाठ न होता तो वे उद्धृत न करते और किसी पुस्तक में होता किसीने न होता तो वे प्रक्षिप्त बताते था कुछ लिखते। देव-राज यजवा के भाड़य में कुछ मात्री पर्दा की व्याख्या नहीं होती। तीन पुस्तकों में पाठ न होना, शतः शः पुस्तकों में प्राचीन पाठ होते हुए कुछ ग्रन्थाला नहीं॥ विधवा पद वा गिरकल यह है—

विधवा विधात्रका भवते ॥ विधवनाद्वा विधावनाद्वैति ।
अर्मधिरा अपि वा । धव इति मनुष्य नाम तद्वियोगद्वा
विधवा ॥ निरु० ३ ॥ १५ ॥

(‘विधवाः’) जिसका धाता शरण पीषण करने वाला न हो भयात् जीवता भी हो, पर संन्यासी होगया हो, शमाञ्च रोगी वा धर्माहृ होगया हो वा जिस का कम्पण चेहरा पतिमहवामादि कह गया हो। वा जिसने गिर मुहाया हुवा हो। वा धव पुरुष का नाम है, जिसका पुरुष न हो वह विधवा इम सम्बन्ध में वर्णित है। वही देवर द्विनीय वर को शयनस्वान में बुलाती, यह इम सम्बन्ध का भाव आप के लेख और सायणभाड़य तथा अन्य विसी प्रकार से भी दूर नहीं होता॥

मनुश्वति (पाणियइणिका सम्ब्रा०) ८ । १२६ पर कुरुक्षमह टीका-कार ने लिखा है कि—

न तु क्षतयोनेर्वेवाहिकमन्त्रहोमादि निषेधकमिदम्—
“या गर्भिणी संस्क्रियते” तथा “बोदुः कन्यासमुद्वश्यम्”
इति मनुनैव क्षतयोनेरवि विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाण-
त्वात् । देवलेन तु “गान्धर्ववेषु विवाहेषु पुनर्वेवाहिको विधिः
कर्त्तव्यपश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः” । इति

अपर्याप्त पह वचन क्षतयानि के विवाह जन्मद्वांसादि का निषेधक नहीं है। व्योंगि मनु ने स्वयं (यागभिं) भी [बोद्धः कन्याः०] भागे क्षतयोनि का भी विवाहवंडकार कहा है। और देवल ने तो “ गाम्यवै विव हौं ते पुनविवाह की विधि । वर्णों को अधिन की साक्षी से करनी चाही है ॥

इस से कुश्लूक के सत में तो मनु देवल आदि के अनुमार गम्भे प्रथम रहगाय फिर विवाह करलेगा भी वर्जित नहीं। क्षतयोगि का भी विवाह विहित है ॥

नियोग की अधिक विधि देखनी दो तो हगारे ग्रामांशित “ नियोग-निर्णय ” में देखिये, परन्तु योहा भा यहां भी लिखते हैं -

यथा भूमिस्तथा नारी तरमात्तां न तु दूषयेत् ।

पाराशरी स्मृति अध्याय ॥ १० ॥ इलो० ८५ ॥

कैसी परिवी वैसी नारी इम कारण इसे दोष न धरें ॥ (जिस राजा का राष्ट्र उसी की क्षी परिवी होजाती है) और अध्याय ३ इलोक ४ में “ रजसा शुद्धते नारी विकलं या न गच्छुति ”

नारी रजस्वला होने पर शुद्ध होजाती है ॥ भागे अ० ११ में इलोक २४ । ८५

क्षत्रियाच्छुद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः ॥

स गोपाल इतिस्वातो भोज्यो शिग्रेन्संशयः २४ इत्यादि

अपर्याप्त क्षत्रिय से शूद्र की कन्या में उत्पन्न सन्तान गोपाल कहाती और निःसन्देह ब्राह्मणों के सहभोज्य की अधिकारी है ॥

पराशर को सभी सनातन धर्मों कलियुग में महाभाव्य मानते हैं। जैसा कि उन्होंके अध्याय १ में :—

कृते तु मानवा धर्मस्त्रेतयां गीतमाः स्मृताः ।

द्वापरे शङ्कु लिखिताः कली पाराशराः स्मृताः ॥ ८५ ॥

“ सत्ययुग ” में सनुस्मृति के अमे, त्रेता में गीतम स्मृति के, द्वापर में शङ्कु-लिखित स्मृति और कलियुग में पाराशरस्मृति के अमे मात्र हैं ॥

अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च ठयाधितस्य च ।

न स्त्री दुष्यति जारेण ब्राह्मणो वेदकर्मणा ॥ १८८ ॥

नां पां मूलपुरीषाभ्यां नां उनदंहर्ति कर्मणा ॥
 पूर्वं स्त्रियः सुरेभुक्ताः सोमगः धर्वर्वाहूभिः ॥ १६० ॥
 भुज्ञते मानवाः पश्चात् तादुष्यन्ति कर्हस्ति ।
 असवर्णस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनी निषिद्धते ॥ १६१ ॥
 अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुञ्जति ।
 विमुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि प्रदृश्यते ॥ १६२ ।
 तदा सा शुच्यते नारी विमलं काञ्जनं यथा ।

ज्ञ-

प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद्गजो भवेत् ॥ १६३ ॥

न तेन तदूत्रतं तासां विनश्यति कदाच्चन ॥

अर्थे रोगी पुष्ट और स्त्रियों की शुद्धि भीमांसा के द्वारा होती है। अर्थात् कर्म से दूषित नहीं होती, ब्राह्मण वेदकर्म से है ॥ १६४ ॥ जल विष मूत्र से, चारित दाहकर्म से अशुद्ध नहीं होता। परन्तु स्त्रीयां सोम, गन्धर्व, चारित देवीं ने भोगी हैं पांछे सुन्धय भोगते हैं इस लिये वह दूषित नहीं होती ॥ १६५ ॥ असवर्णां का गर्भ स्त्रियों की योग्य में जाने से जब तक गर्भ न छोड़े तब तक वह नारी अह रहती है। गर्भ निकलने पर जब रगस्वला हो जाते हैं ॥ १६६ ॥ तब तपे सोने के समान शुद्ध हो जाती है। बड़ी भारी तपस्या का फल है कि जो स्त्रियों के रज होता है। इस से इन का ब्रतभूल नहीं होता ॥ १६७ ॥ जब जो अशुद्ध होकर भी प्रतिमास शुद्ध हो जाती है तो फिर वह कैसे पनित हो सकता है?

परम् हमारे गत में यह लेख नहीं जाने हैं। हाँ, मनु जी की शास्त्रात् सी शिरोधार्य ही है। क्योंकि—

यद्वै किञ्चुन मनुरवदत्तद्वेषजं भेषजतायाः ॥
 जो कुछ मनु ने कहा है वह शीघ्रध आ शीघ्रध है। मनु जी कहते हैं कि—
 सा चेदक्षतयोनिःस्थादुगतप्रत्यागतापि वा ।

पौनभवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमहंति ॥

(मनु ९ । १६६)

जो जी अक्षतयोगि है वह चाहे पति के घर गई जाए तो हो, वह पीनप्रेव भर्ता के भाष्य किर संस्कार के योग्य है ॥

मारद स्मृति का मिह्नाज “ अक्षता भूयः संस्करा पुनर्भूः ” अक्षतयोगि जी का यदि पुनर्वार संस्कार हो तो उसे पुनर्भूकहाते हैं ॥

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि:-

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ॥

अक्षतयोगि हो चाहे क्षतयोगि हो, किर विवाह होने से जी पुनर्भूकहाती है ॥

बसिष्ठ जी कहते हैं कि:-

**या च क्लोबं पतितमुन्मत्तं वा भत्तरिमुत्सृज्यान्यं पतिं
विन्दते मृतेवा सा पुनर्भूर्भवति ॥**

जो जी नयुंसक, पतित (जातिबाल्य वा धर्मपतित), या पागल पति को त्याग भवता नहे पति पीछे जन्म पति को करे, वह पुनर्भूकहाती है ॥

मारद जी कहते हैं कि:-

उद्वाहितापि सा कन्या न चेत्संप्राप्तमैथुना ।

पुनः संस्कारमहृत् यथा कन्या तथैव सा ॥

विवाही हुई तो कन्या यदि नेषुग को प्राप्त नहीं हुई है तो वह किर विवाह संस्कार के योग्य है, जैसी कन्या बिसी ही वह है ॥

कात्यायन कहते हैं कि:-

वरयित्रा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा ।

प्रत्यवागमांख्लीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम् ॥

जब—जो कोई पुरुष कन्या से विवाह करते गए हो जाय, तो कन्या आने वाले सीन औतुओं के पश्चात् अन्य वर की बरते ॥

कात्यायन स्मृतिकार कहते हैं:-

वरो यद्यन्यजातीयः पतिः क्लीव एव वा ।

विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥

ऊढापि देया सान्यस्मै सहाभरणभूषिता ।

अर्थात्- यदि वर अन्य जाति का हो, पतित हो, नपुंसक हो, कुकुरी हो, सगोची हो, नाम हो, महारोगी हो, तो विवाही हुई भी वर भूषण सहित पुन्नी अन्य वर को देदेवे ॥

यद्यपि हम इन पुराणप्राय स्मृतियों के व्यभिचारसिद्धान्त को गहरी गांधे परन्तु आप को दर्पण दिखाने के लिये ऊपर के वचन लिख दिये हैं ॥

४७ तिथि ज्ञात षुष्ठ १५३ । ११८ में (उदीर्घं ज्ञात) इस मन्त्र के अर्थ में सायण की देखा देखी यहुवही को है ।

प्रत्युत्तर- महात्मा जी ! मन्त्र का सूधा अक्षरार्थ यह है कि (जारी) है गारी । (एतं गतासुम् उपशेषे) तू इस मृतक के समीप सोती है [पहिं] आ (जीवत्तोऽक्षम् अभिः) जीवती दुनिया में (तत्र हस्तयामस्य दिविषोः पत्युः) तेरा हाथ पकड़ने वाले दूसरे पति की (जनित्यम् अति संबभूय) स्त्री हांने को नियम स्वीकार कर ॥

यदि आप स्वामी जी का किया अर्थ न भी माने तो अपने अगरकोष में ही दिधिषु पद का अर्थ देख लें 'दिधिषोः' पद इस मन्त्र में स्पष्ट भाया है ॥

मन्त्रकोष द्वितीयकाश्छ मन्त्रावर्ग इलोक २३-

पुनर्भूर्दिधिषूरूढाद्विस्तथा दिधिषुः पतिः ॥

और इसी का महेश्वरकृत मन्त्रविषेष टीका देखिये—

'पुनर्भूः दिधिषूः दिधिषुरित्यपि द्वे । पूर्वमेकस्य भूत्वा पुनरन्यस्य भवतीति पुनर्भूः "अक्षसा च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः" इत्युक्तम् । तस्याद्विरूढायाः पतिर्दिधिषु-रित्युच्यते एकम् ॥'

अर्थात्- पुनर्भू और दिधिषु ये हो नाम उस ज्ञातयोनि वा अक्षतयोनि स्त्री के हैं जो एक की स्त्री होकर फिर दूसरे की हो । और "दिधिषु" यह उक्त पुनर्य का एक नाम है जो द्वितीय वार विवाही हुई स्त्री का दूसरा पति है ॥

४० तिथि ज्ञात षुष्ठ १३८ । १३८ में (शदेवष्टत्यपतिष्ठी०) इस अर्थवं १५ ।

२। यूट मन्त्र का अपनी ओर से अर्थ करके स्वामी जी को कहा है कि उन्होंने विवाह के मन्त्र को नियोग में लगा दिया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- अन्य पर्यों के अर्थ में बहुत विवाद नहीं है । आप का और

स्वामी जी का लिखा अर्थ देखने से एक पद के अर्थ में भगवा है, वह यह है कि स्वामी जी (देवकामा) का अर्थ देवर की कामना करने वाली लिखते हैं और आप “देवर के होने की प्रार्थना करने वाली वा आमन्द चाहने वाली” लिखते हैं। जो यदि (देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते) निश्चकानुभाव देवर पद का अर्थ लें तो आप के लिखे अर्थ से भी नियोग वा पुण्यविवाह दूर नहीं होता। और स्वामी जी ने “कमु कान्ती” धातु का का योगिक अर्थ कामना (इच्छा) लिया सो ही है भी ठीक। विवाह के मन्त्र की नियोग में लगाना उस दशा में बुरा नहीं है जब कि बूलमध्य में द्वितीय वर का भी वर्णन हो। लोंकि नियोग भी तो एक प्रकार विवाह है। और सत्तानोटपत्ति रूप प्रयोजन सब का भी विवाह के सदृश है। और मनु ने स्पष्ट कहा है कि-

देवराद्वा सपिगडाद्वा ल्लिया सम्यद् नियुक्तया ।
प्रजेपिसताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ६ । ५६
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वापयतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथं चन ॥ ६ । ६० ॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्योः ॥ ६ । ६१ ॥
विधवायां नियोगार्थं निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवञ्च स्नुषावञ्च वर्त्तयातां परस्परम् ॥ ६ । ६२ ॥
नियुक्ती यो विधिं हितवा वर्त्तयातां परस्परम् ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६ । ६३ ॥

अर्थात् देवर वा सपिगड़ से नियोग करके लोको नब चाही सन्तान उत्पन्न कर लेनी, जब कि कुलसंय होता हो॥५६॥ जो पुहच विधवा से नियोग करे वह रात्रि में मौन धारण कर, शरीर पर घृत लालके (जिस से कामना सकिंग हो) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा किसी प्रकार नहीं॥६०॥ कोई आर्थिक घने से जानने वाले लियाँ में नियोग के लिये दूसरा प्रश्न जानते हैं॥६१॥ विधवा से नियोग करने में विधिपूर्वक (श्रीर्थदान) का काम निम्नने पर

फिर वे जी पुरुष आपन में गुल और पुश्पधू के सदृश रहे । (कामस्तोगाये जीहा न करे) ॥ ६२ ॥ और जो जी पुरुष नियोग की विधि का उल्लङ्घण करके आपन में डयवहार करे वे दोनों पुश्पधूसमागमी और गुहगामिनी के तुल्य पतित हों, गर्यात् समागमोस्पति के अतिरिक्त कामकीड़ा सर्वथा वर्जित है ॥ ६३ ॥

आत यह है कि जिन प्रकार वेद को छोड़ अन्य सब पुस्तक मृतकामादु से खाली नहीं हैं इसी प्रकार वेद और प्राचीन ज्ञान इस्ति, पुराण चप पुराण आदि कोई प्रसिद्ध प्रत्यन्थ नियोग से रहित नहीं है । इस विषय में सब और से आप का पहला ही उघड़ेगा । आप यह न समझें कि इसका लोक में इस समय प्रचार न होने और इसकी लज्जा की बात मानने से आप सर्वदा नियोग को ही सामने रखकर जीत जायगे । जितना ही आजकल इससे लज्जा का वर्णन करेंगे उतना ही पूर्वज्ञाल में आप के पुराणों सक के इसकी निर्देशनता का वर्णन दिखाया जा सकेगा । परन्तु इस बा स्वामी जो पुराणों के समाज डयनिचारप्राय नियोगों के समर्थन नहीं, किन्तु वेदोक्त शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक नियोग के समर्थक हैं । इवशुरादि को सुन देना और बात है, और देवर की कानना करनों और बात है । इस में भेद है ॥ द० तिं० भा० पृ० १४० में—

यस्या मिथेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ मनु०६ ।६४॥

इसका अर्थ सगाई कोहुइ के पति मरनेपर देवरसे विवाह करना । मानते हैं ॥

प्रत्युत्तर-(वाचा सत्ये कृते) का अर्थ सगाई नहीं हो सकता । किन्तु गृह्यमूल में सगाई (वाचान) का संस्कार विवाह से पृष्ठ नहीं लिखा । न कोई सगाई संस्कार की पहुति आजतक बनी है । ये सगाई और द्विरागमन तो बालविवाह की कुरीति के बचे हैं, वा विदलगू हैं । आचारण नहीं है । (वाचा सत्ये कृते) का अर्थ वरस्तर विवाह के मन्त्रों में लिखे प्रतिज्ञा ही है । यदि आप नहीं मानते तो इस से पूर्व कह इसोक अनुवत्ति के लिये देखलीकिये जिसे आप मानते हैं । यथा—

ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधतः मनु० ६ । ६५॥

अथ- (ततः प्रभूति) वेन राजा के अत्याचार के पश्चात् (यः) जो कोई (भोहात्) सोहयण (प्रभीतपतिकां बिग्रयम्) विधया खीं का (अ-पत्यार्थम्) सत्तानाथं (नियोजयति) नियोग करता है (लंसाधवः विग्रहंन्ति इस की भले लोग गिन्दा करते हैं ॥

इस से जाना जाता है कि राजा वेन जो स्वाध्यमुव मनु से छहत काल पंछे हुवा, उस ने वेदोक्त नियोग की जाह में गिर्मयांश करी, तब किसी ने नियोगनिधा के इस्तोक बनाये और तभी से नियोग की भले लोग गिन्दा करते लगे । इससे पूर्व गिन्दा न पी और आप के भतानुचार भी पह नियोग ही का प्रकरण है । सगाई का नहीं

सोमः प्रचक्षोऽ सोमोददहूऽ इत्यादि श्री भगवानों की इन आप के समान विवाह के ही भाग्यों, नियोग में न भावें, तब भी क्या श्रेष्ठ भगवानों और भगवानों नित प्रभाणों से चिह्न नियोग को आप अपनाय कर सके हैं ?

४० ति भा० पृ० १४२ में वेदराद्वा सपिद्वाद्वा० इत्यादि मनु के इसोक लिख कर कहा है कि देखो मनु से भी ११ नियोग नहीं चिह्न होते । परन्तु हाँ, नियोग है ॥

प्रथुतर- अस्तु, आप ने मनुप्रोक्त नियोग स्वीकार तो किया । अब रहा ११ का विवाह, सो स्वाभीजी ने (पतिनेकादशं रुधि) से और इस ने (उत यत्पतयो दश श्चियाः) से पूर्व १० वा ११ तक की गयांदा चिह्न की है । आप ने नियोग भागा और उस की गयांदा न भागी तो आप के भत में ११ से अधिक तक भी जे प्रभाण नियोग हो सकेंगे ॥

५० ति० भा० पृ० १४३ में मनुस्मृति भाष्याय ८ के इसोक ६४ से ६८ तक ५ इसोक लिख कर यह चिह्न किया है कि मनु जी ने ग्रेषम नियोग कर विधान करके फिर अपनी सहमति प्रकाशित की है कि यह ग्रेषम राजा वेन ने चलाया है । इस से मनुजी इसको अच्छा नहीं भागते । यह भाष्यायहै ॥

प्रथुतर- यद्यपि ये द्वोक मनुजी के बनाये नहीं करेंडि मनु (स्वाध्यमुव) चष्टि के भारमह में हुवे और वेन राजा वह यह, जिस से पूछ हुवा, तो एषुके वैवस्वत मन्वत्तरगत जन्म को इवाध्यमुव मनु यह कहे वह भले हैं कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य से यह रीति नियोग की चलगई ॥ इस लिये निश्चय यह द्वोक प्रक्रित्वहै । परन्तु इन से भी नियोग की भुराई नहीं निरक्षता, किंतु यह भाश्य निरक्षता है कि राजा वेन ने नियोग

को वर्णात्मार परिपाटी तोड़ कर वर्णमंकर कर दिया, तब से नियोग गिन्दित भवता आमे लगा। अर्थाँ उहित झोक भी सुन लौजिये—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

आन्यस्मिन्हि नियुज्ञाना धर्मं हन्यः सनातनम् ॥ ६ । ६४॥

(द्विजातिभिः) द्विजों ने (विधवा नारी) द्विज विधवा खी (अन्य-स्मिन्) द्विजों से अन्यमें (न नियोक्तव्या) नहीं नियोगित करनी। (अन्य-स्मिन् नियुज्ञाना हि) क्योंकि द्विज खी अपने स्वर्ण में अन्य किसी में नियोग को तुड़ी (सनातन धर्म हन्यः) सनातन धर्म का नाश करती हैं।

इस में नियोग का निषेध नहीं, किन्तु द्विज खी, द्विजित्र से नियोग न करे। यह आशय है ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

न विवाहविधावक्तु विधवावेदनं पुनः ॥ ६ । ६५ ॥

विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा, न विवाह की विधि में विधवा-विवाह का विधान है ॥ ६५ ॥

इस का भी यह तात्पर्य है कि विवाह भीर नियोग निक्षित है, एक नहीं है, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है (किन्तु विवाह से निक्षित प्रकारण के मन्त्रों में नियोग कहा हो सका का निषेध यह वाक्य नहीं करता) विधवा का पुगर्विवाह नहीं होता। इस कहने का तात्पर्य भी खानी जी की उम सम्नति के विरहु गहों, कहाँ उन्होंने द्विजों को पुगर्विवाह का निषेध किया है। अर्थात् द्विजों के ही साथ नियोग हो, अन्य के साथ नहीं, भीर द्विजों का द्विजों से भी पुगर्विवाह नहो, यह दोनों द्वारों का तात्पर्य है ॥

अथ द्विजैर्हि विद्वद्विः पशुधर्मो विगर्हितः ।

मनुष्याणामपि ग्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६ । ६६ ॥

(वेने राज्यं प्रशासति) जब वैग राज्य करता था तब आकर के (वि-द्वद्विः द्विजः) विद्वान् द्विजों ने (ग्रोक्तः) कहा कि (अथं पशुधर्मः हि) यह पशुधर्मो का ही धर्म है । (अपि) निष्पत करके (नेन्द्रपराणं विगर्हितः) मनुष्यों में निम्नित है ॥ ६६ ॥

अथोत् द्विजों का द्विजों में नियोग चला आता था, परन्तु राजा बेन के राज्य में भारम्भ करके यह द्विजों में निनिदत और पशुधर्म में गिना जाने से लगा। अगले श्लोक में इन का कारण भी बताया है कि बेन के राज्य से इस कर्म की कर्त्ता तिनदा होने लगी ॥ यथा—

स महीमखिलां भुज्ञन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।

बर्णानां सङ्कुरं चक्रं कामोपहतचेतसः ॥ ६ । ६७ ॥

वह सारी एथिवी को भोगता था, राजों में बढ़ा था, उस ने काम से बुद्धि नष्ट होने से बचाँ का संकर (वर्णसंकरता) कर दिया ॥ ६७ ॥

अथोत्—उस ने सगातमद्विजों की समर्ददापूर्वक नियोग को तोड़ अग्राप सनाप सब का सब से नियोग कराया, वर्णसंकरता फैला दी। सब-

ततःप्रभृति यो मोहात्प्रभीतपतिकां ख्ययम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६ । ६८ ॥

(ततः प्रभृति) सब से लेकर (यः मोहात्) जो कोई मोह से (प्रभीत-पतिकाम्) जिन का पति मर गया उस (ख्ययम्) जी को (अपत्यार्थम्) सन्तानार्थ (नियोजयति) नियोग करता है (तं साधवः विगर्हन्ति) उस को भले मानस बुरा कहते हैं ॥ ६८ ॥

इस अन्त के श्लोक से अत्यन्त रूपष्ट है कि राजा बेन के समय से नियोग गहरी चला, किन्तु सनातन से द्विजों का द्विजों में चला आता था, जब से बेन राजा ने सब का सब से चला कर वर्णसंकरता करदी, तब से यह निनिदत समझा जाने लगा। आप का अर्थ इन इलोकों से किसी मकार नहीं गिकलता कि बेन ने नियोग चलाया, पूर्व न था ॥

जब बेन राजा से नियोग तिनदा का प्रचार हुआ तो आप उस की गिन्दा के प्रचारक होने से आप और आप के साथी ही राजा बेन के बेले था गुह, जो चाहो हों। स्वामी जी को बेन का दादा गुह बताना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो बेन से पूर्वप्रचरित द्विजमर्यादायुक्त नियोगरीति के प्रचारक थे ॥

द० मि० भा० पृ० १४४-१४५ में (अन्यनिष्ठुस्व सुनाने पति न त) इस वेदमन्त्र के विषय में लिखा है कि यदि स्वामी जी इस मन्त्र को पूरा लिखते ही कलह खुल जाती, वह सारा नियोग रुक जाता ॥

प्रत्युत्तर-सारा मन्त्र लिखना आवश्यक था, इस लिखे स्वामी जी ने

चतुर्थपाद लिख दिया, परन्तु भारा सम्ब्र लिखने से भी गियोग वह नहीं सकता और पांडी देर को इस यही भाज लें कि इस सम्ब्र से नियोग नहीं निकलता, तब भी क्या स्वामी जी या इमारे दिये भाव्य भानेन् प्रभायों के इसे भीर पुराणों में नियोगों की शतशः कथाओं के होते हुवे कभी आप गियोग को उड़ा सकते हैं ? कभी नहीं । आप ने निरुक्त के माय अन्य संस्कृत जोड़ कर अर्थ में गहवडी कर दी । रूपपा नीचे लिखा पूरा सम्ब्र भीर उस का पूरा निरुक्त पढ़िये—

आ घा ता गंच्छानुन्तरा युगानि यत्रं जामयः कृणवृन्नजामि ।
पउंबर्वृहि वृषभाय् ब्राहु मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्
ऋ० १० । १० । १० अर्थव॑ १८ । १ । ११ में भी ॥

आगमिष्यन्ति तान्युन्तराणि यगानि, यत्र जामयः
करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । जाम्यतिरेकनाम वालिशस्य
वा समानजातीयस्य । बोपजन उपधेहि वृषभाय ब्राहु-
मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति ठायाख्यातम् ॥ निरु४१२॥

अर्थ—“जावेंगे वे जगले समय, जिन में जानि करेंगी अजानियों के कान फैलाव तू सेवन में समर्थ पुरुष के लिये बाहु को, सुभगे । ऐसे निवाव भाव्य पति को चाह । जानि एक नाम है, मिर्बुहि वा समान जाति का” ॥

इस में सम्बद्ध नहीं कि इस सूक्त में यमयनी संवाद है जीर यह सम्ब्र यम की ओर से यमी को उत्तर है । यमयनी क्या बहस्तु है इस का विचार करना है । निपद्धटु १ । ३ में यम्या नाम रात्रि का है । निपद्धटु ५ । ५ में यमी प० नाम है । जिस का उदाहरण इमी सूक्त का (अन्यमूषुर्वृत्य यस्यन्य च स्वाऽ इत्यादि) सम्ब्र निरुक्त ११ । ३४ में दिया है । इस लिये यह सूक्त रात्रि दिन के संवाद ने यह सिखाता है कि विष्वन जी पुरुषों का संयोग नहीं हो सकता, समों का होना चाहिये । जिस प्रकार रात्रि नमोगुणयुक्त और दिन प्रकाशवान् है ये दोनों एक साप नहीं होते यदि ग्रानःनायं की सम्भ्या में रात्रि दिन से निलने को आती है तो उम समय विष्वनस्यदृपरात्रि से निलने को दिन असमर्थ होता है और पृथक् होता हुगा नामों कहना है कि तू अन्य दीर्घसेवन में समर्थ पुरुष को मास हो, अपात् मैं अपना प्रकाश तुम (रात्रि) में इत्यापित नहीं कर सकता ॥

इस दिग्दात्रि के संवादरूप अलंकार से भन्नयों को शिक्षा प्रदान करनी चाहिये कि जब कोई खी वर्ण्यास्वादि दीर्घों से इत्यं सन्तानोत्पत्तिः दूर में असर्वय हो तो पुरुष को अनुज्ञा दे कि वह अन्य खी द्वारा बंग चलावे और इसी प्रकार पुरुष जब सन्तानोत्पत्तिः में असर्वय हो तब खी को अनुज्ञा देवे कि अन्य पुरुष से अनुदान शास्त्रानुसार लेकर वंश चलावे यदि भन्नय इस संवाद से स्वयं शिक्षा न हो तो फिर यह कहानी क्या वेद में वृत्ता मनवहलाव को लिखी है ? और “भागे के समय में जानि जानि का काम करेंगो” इस कथन के साथ निकलानुसार “सजातीय” अर्थ “जानि” पद से लेकर यह आशय निकलता है कि भागे विजातीय अर्थात् विद्मणुजकमे स्वभाव वाले खी पुरुष भी योग चाहेंगे, परन्तु यह भसंभव है। उनानुग्रह कर्म स्वतावाय वाले ही संयुक्त हो सकते हैं। इस लिये समर्पादनमर्यादूप विष- सता वाले खी पुरुषों को चाहिये कि अन्य समर्यादनमर्यादूप को प्रचलित करें॥

स्वामी जी ने जो पति के विदेश गये पीछे नियोग की व्यवस्था भनु। अध्याय ९ छोड़ ७६ के अनुसार लिखी है, उस का खण्डन करते हुवे ८० लिं ७ भा० पृ० १५६ में उस से विचले प्रकरण के ७४ । ३५ दो छोड़ लिखे हैं और कहा है कि—

[जब कोई पुरुष परदेश की जाय तो प्रथम खी के खान पान का प्रबन्ध करता जाय, ज्योंकि विना प्रबन्ध सुधा के कारण कुलीग खी भी हूँमरे पुरुष की इच्छा करेंगी ॥ ७४ ॥ खान पान करके विदेश जाने के लैनलद उस पुरुष की खी नियन भर्तीत् पतिव्रत से रहकर जपना समय व्यतीत करे। और जब भोजन को न रहे था पुरुष कुछ बन्दोबस्तु न कर गया होय तो पति के परदेश जाने में गिरवकमे जो निनित न हों भर्तीत् सून कातना हस्त से काढ़ना आदि फर्गी से गुजारा करे ॥ ७५ ॥ यदि वोह भर्तीकार्य को परदेश गया हो तो ८ वर्ष, विद्या पढ़ने गया हो तो ६ वर्ष, खन यश को गया हो तो ३ वर्ष तक बाट देखे “पश्चात् पति के पास वहाँ हो वहाँ दलो जावे” । यह विष्टु जी कहते हैं] ॥

प्रत्युत्तर—यह तो ठीक है कि विदेश जावे तो भोजनादि का प्रबन्ध करजावे। परन्तु यह भनु के किसी अक्षर का अर्थ नहीं है “किर खी पति के पास चली जावे” ज्योंकि यदि पति जानादि का प्रबन्ध भी न कर जावे और अपने रहने की सूचना भी न दे कि मैं कहाँ हूँ ? तब उस के पास

कहां-चली-जों बेने मनुस्मृति के इलोकों कर जर्दे करने में वहि छुत्सृति का बदल जोड़ कर जर्दे करता, सन्धाय की बात है और कटुवा। दिनों जो को तो जोड़ कर पुरापद्मपदा। बिवाह तत्काल कर लेवे, वसे तो जाप मारते हैं और कटुवारीं पुक्ष को जोड़ ज्ञानी भी दूसरे से निकोब करे, इस स्थाय-संगत बात को इंहोंनी को बताता है। ज्ञाप जाप को लिखिदिस नहीं है कि लियों की दुर्गति करने का समय जब ईश्वर को कृपा और गवर्नर्मेंट के मताप से दूर भाया॥

६० तिथि भाद्र पूर्ण १४५ पं० २० मे० [अङ्गार] यह स्थानेत का बदल नहीं।

प्रत्युत्तर-निष्ठक ३४ मे०-सदेतद्रुक्कृष्णोक्तम्यामुक्तम्-अर्थात् यह बात अहरा और इलोक-में कही है। इस से आगे (अङ्गारङ्ग-त्वंभव) यह ज्ञाता लिखी है जो निष्ठक की ज्ञाप को और स्वामी जी को भी जाननांय है॥

६० तिथि भाद्र पूर्ण १४५ पं० १२ मे०-बात एक और बात जुनिये जो कि लिखे ही बुद्धि भूषि कर्यों नहो, कैसे ही नशे में चूरकर्यों न हो, परंपरों के शिर पैर की बात नहीं कह सका। म० पूर्ण १२० पं० २५ “गर्भवती ज्ञानी ऐ पृथक उर्ध्व-भाग्यमन-ग-करने के विषय में पुरापदा ज्ञानी से न रहा जाय तो जिसी ने नियोग करके उस के लिये पुरापद्मपति कर दें समीक्षा।—देखिये इस अस्थायों को असंविनी ज्ञानी से न रहा। जाय तो जिसी ने नियोग करके उन्नतानांत्यपति कर दें करिये अब महात्मा जी का मृहिकन कहां चला गया? ऐ चालक तो सुन जुद्या जी गई दूररा के से उत्पत्त हो सका है। (इत्यादि)

प्रत्युत्तर-यह टोक है कि ऐसी बात कोई अवृद्धि द्वारा नशेबाज भी नहीं कह सका, किर स्वामी जी सी पूर्ण जिसन्निद्रप, बुद्धिमाल, मग्नों के अनेक और भाँग तक न पाने वाले थे, भला वे केमे यह ऊटपटोंग बात निखते। जिसवय यह पुराने खण्डे सह्यायेश्वराश में लाये की अशुद्धि था। और शुद्ध पाठ स्वामी जी का लिखाया इस प्रकार था, जो अब संवत् १९५४ के पांचवर्षी बार मुद्रित भव्य घंटकाश शृ० १२५ पं० २ से है। यथा-

“गर्भवती ज्ञानी से एक वर्ष सनागम न करने के समय में पुराप ने, वा दीर्घरोगों सुख जी स्थी ते न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुरापद्मपति करदे, परम्पुर वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे”

इस पाठ में पूर्वोक्त दोष नहीं भारका और सत्रों को व्यक्तिचार तथा सुख दो वंशागमन जी आदिका इस कार्य को अड़ा बताया है। कुछ

शावहयक भी नहीं जाता या। एक हथाह में हिलोपदेश में नीतिका वचन है कि:-

“वरं वेश्या पत्नीन पुनरवनीता कुलवधुः

शप्तेष्व-शविनीत कुलवधु से वेश्या भवती॥

जिस प्रकार इस का यह तात्पर्य नहीं है कि वेश्या को पहनी जाना अचान्का है। फिन्तु अविनीत स्त्री की निष्ठामात्र में तात्पर्य है। इसी प्रकार इवानी जी का भी वेशमागमन वा अभिव्याह की निष्ठामात्र में तात्पर्य है॥

८० तिं भा० पृ० १५० पं० ४ में—ग द्वितीयइव साध्वीनां क्वचिद्वर्तीप-
दिव्यते । भा० ५१ ५३ ॥

प्रत्युत्तर—यह तो हम भी जानते हैं कि पतिव्रता का भर्ता दूसरा नहीं होता। परन्तु भरणपोषणादि करने से विश्वाहित पति को भर्ता कहते हैं ऐसों द्विजस्थियों को पुत्रशिखावृत्त करने से दूसरा भर्ता (विश्वाहित पति) निष्ठु है। नियुक्त का विवेचन से नहीं हो सकता॥

८१ तिं भा० पृ० १५० पं० १३ में (सहकृत्या भवीयते), कन्यादान एव
ही वार किया जाता है॥

प्रत्युत्तर—इवानी जी भी नियोग में कन्यादान की विधि नहीं जाते॥

८२ तिं भा० पृ० १५० पं० १ (इयं नारी०) के अर्थ में लिखा है कि कन्द मूल फल के भोजन करती हुई उत्तम गति को प्राप्त होती है, और धनयुक्तादिक प्राप्त करती है, इस सब घटतों का सिद्धान्त यह है कि नियोग कर्त्ता नहीं करता॥

प्रत्युत्तर—इस सन्दर्भ में कन्द मूल फल का गाम तक नहीं, और कन्द मूल फल साकर विधवा अपनम् पतिद्वास नियावेति भाव के लिखे था सन्तान रखे विना नियोग कहाँ थे प्राप्त हों? इस सन्दर्भ से अगला अन्त्र (उदीर्ण नारी०) नियोग प्रकरण का है, जिसका अर्थ कर चुके हैं। अब इस का अर्थ लुनिये—

इयं नारीं पतिंलोकं वृण्णाना निर्पद्यत् उपं त्वा मर्त्यं प्रेतम् ।

धर्मं पुराणमनुपालायन्ती तस्यै प्रजां इविणं चेद्व धेहि ॥

(अथर्व १८ । ३ । १)

(इयं नारी०) यह जी (मेतम् अम्) पति जरने पश्चात् (पतिलोकं-
कृषाना०) पति के दर्शन आइती हुई (पुराण अर्थे पालयन्ती) जनास्ति लि-

योग धर्म का प्रालेख करती हुई (गृह्ण) है मनुष्य ! (इवा उप नियम्यते)
तेरे समीप प्राप्त होती है (तस्यै) इस विधवा के लिये (प्रजां द्रविणं च)
सन्तान और धन (इह) इस सोक में (थेहि) धारण कर ॥

इस में (इह) पद से अत्यन्त स्पष्ट होगया है कि इसी लोक का
बर्णन है । यह बर्णन नहीं कि जो जी पति मरने पर सृतपति के लोक
की काशना करती हुई कश्च मूल कल से गिराँह करे, वह दूसरे जन्म में धन
सन्तान फो पावे ॥

इस प्रकार स्वामी जी की लिखी नियोगव्यवस्था वेदाभ्यासानुकूल,
बंशप्रवर्तक और व्यजितार को करने वाली भीर लोकोपकराक तथा
स्त्रियों पर प्रवृत्त मन्याय को हटा कर न्याय का प्रकाश करती है ॥

इति जी तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे
चतुर्थ समुद्दलाभगवहनम् ॥ ४ ॥

—::():::—::():::—

अथ पञ्चमसमुद्धासमण्डनम्

४० तिथि भा० ए० १५१-१५२ में सत्यार्थप्रकाश के संन्यासप्रकरण के ल्लोक लिखकर उनका खदहन गदहन ती नहीं किया किन्तु स्वामी जी के निज संन्यासव्यवहार पर दोष लगाये हैं ।

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने यहस्पादि न करके जो संन्यास गदण किया, सो वहीं देखलीजिये कि—

**यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रब्रजेद्बनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्म-
चयदिव प्रब्रजेत् ।**

अर्थात् जिस दिन वेरारप्य हो उनी निः त्वागदे, चाहे ब्रह्मचर्य से चाहे गृहस्थ से, और चाहे वानप्रस्थ से संन्यस्त हो जावे और सगातमधर्मी चाषु ती चब तीर्ण भाग्निर्माणों को पूरा करके ही संन्यासी बनते होंगे ? रहे भोग, सो स्वामीजी ने जो अगायास प्राप्त हुआ उस शाल दुशाले पलंग तकिये आदि का गदण किया और जब न हुआ तब नवत लंगोटमात्र तस्वार लुडा और गाघ गास के श्रीत को भी बड़े भागनद में सहन किया । लक्षणों की प्राप्ति का प्रबन्ध जगत् के उपकरणार्थ किया, अपने खार्षे को नहीं । अपने विरह कहने वालों का उत्तर देने में जशान्ति कारण न थी, किन्तु उत्तर न देने से अधर्मे का प्रचार बलवान् न हो जाये, इन कारण उत्तर फट देते थे । राजा शिवप्रसाद जी को वा सत्यार्थप्रकाश ११ वें समुस्लाल में जो कुछ लिखा है वह अपने गान प्रतिष्ठा और घमखल से नहीं किन्तु सत्य के प्रकाश्य कहा है और निज स्वामी जी को तो सहजः भजानियों में छानेक कुवार्यादि कहे और उन के शिष्यों ने उन कुवार्यादि कहने वालोंको उष्टु दिल्लीका उद्योग किया, तब भी स्वामी जी ने स्वयं कहकर खुड़ादिये । इस के अनेक दृष्टान्त हैं । यह वित्त की स्विरतन का ही फल है कि जो जब सत्य प्रतीत हुआ तब उसी का प्रकाश किया, पिछले अन्न वा अचानका प्रत्यपत्त न किया । सहजा मस्तक पाखिस्पानिनाम में नहीं किया, किन्तु घर्मे के प्रबन्धरार्थ किया । यदि अपने खण्डन को पाखिस्पत्य-

मिनान सारेंगे तो जेनमतखश्वन से स्वामी शङ्कुराजायं में भी उक्त दोष
आवेगा ॥

मुक्ति मे पुगरावृत्ति वी भमीका जब आप आगे करेंगे वहां ही उमका
उत्तर दिया जायगा ॥

यदि हम काशी के संन्यासदासा परिव्राजकाचार्यों के चरित्रों की भमा-
लोचना करें तो आप आगे कि क्या २ लीकायें होती हैं । परन्तु हमको
इन वास्तों से क्या लेना है ॥

“सर्ववेदमम्” का गार्थ “यज्ञोपवीतादि विच्छह” स्वामी ने नहीं किया
है किन्तु माजायत्य इह मे यज्ञोपवीतादि का त्याग भी संन्यासी के लिये
एक कार्य है, उसी को उम्होंने लिखा है इलोक का पदार्थ “हीं लिखा
है । तात्पर्य मात्र लिखदिया है । उम्होंने परस्पर विच्छु शास्त्रप्रतिकूल और
मुक्तिरहित कुछ गहीं लिखा । जहां २ आप को भान्ति हुई है उमका भमा-
धान हम प्रथम मे यथावत्तर कियाही गया है (मन्त्रङ् गित्यमास्तेयिण्न्)
जिस मे गित्य भले प्रहार रहें वह “ब्रह्म” संन्यास पद का वाच्य है (यद्वा
सुऽप्यङ् न्यस्यन्ति दुष्टानि कर्मणि ये ग स संन्यासः) अथवा जिस से भले
प्रकार सब दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह संन्यास कहाता है ।
संन्यास बाला संन्यासी हुआ । हम स्वामीजी के लिये अर्थ को आपने भगवा-
नहीं । आप जो वस्तु मात्र का त्याग संन्यास बताते हैं जो गरीब रहने तक
यह नहीं हो सका । जिस मे स्वामी जी ने छान्दोग्य का प्रमाणजी दिया है
न वै सुशीरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्ति । छां०दा०१२

परन्तु आपने हम पर दूषि गहीं दी ॥

द० नि० भा० प० १५४ प० ३० से प० १५५ प० १० तक ॥

नानाविधानि रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् मनु०

नाना प्रकार के रक्त सुवर्णोदि धन विविल अर्चात् संन्यासियों को देवे ॥

भमीका— यह भीर भी द्रव्य लेनेको कषट जाल प्रकट कर ननु के भास
से इलोक कसपगा किया है, चारी सनुसमुति देखिये जहीं भी यह इलोक
नहीं लिखा है, यतियों को धन देने से भगवाप होता है, कोई दयानित्वी
एस के उत्तर मे यह इलोक देते हैं कि स्वामी जी ने हम इलोक के भास्य
से यह इलोक बगाया है ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।

वेदवित्सु विविक्षेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते । अ० ११ श्लो० ६

हो विद्वान् लोग इस के भर्तु को विचारें इस में सन्त्यासियों को द्रश्य देने का कोइ भी पद नहीं है, किन्तु इस इलोग का यह भर्तु है कि अनेक प्रकार से धन यथाशक्ति ब्राह्मणों का देने चाहिये, जो तिं वेद पढ़े हैं और (विविक्षेषु पुत्रकलेशाद्यवक्तेषु) कुटुम्बी हैं ऐसे ब्राह्मणों को देने से शरीर त्यागने उपराजन स्वर्ग होता है ॥

प्रत्युत्तर- इस भी कहते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में (गानाविधानि रत्नानि) पाठ कहीं नहीं, आप ने बनावट बना दी है, किन्तु (विविधानि च रत्नानि) पाठ कहा है । यदि कहो कि इस से इस से पाठभेद होगया है, तो भेद नहीं । ती इस भी कह सके हैं कि मनु ११। ६ के पाठ से सत्यार्थप्रकाशस्थ पाठ में भी भर्तु भेद नहीं है । आप जो (विविक्षेषु) का भर्तु "पुत्र खो भादि में फर्ने कुटुम्बी" करते हैं ऐसे "विविर एष ग्रनावे" धात्वर्थ से उलटा है । उस का भर्तु पुत्र भी ने पृथक् संन्यस्त है, आप पुत्रादि से फर्ने गृहस्थ कुटुम्बी का भर्तु करते हैं ॥

इति श्री तुवभीरामस्वामिकृते भाष्करप्रकाशे

पञ्चमसुल्लासमण्डगम् ॥ ५ ॥

ओःम्

अथ पष्टुसमल्लासमण्डनम् ॥

द०ग्रिंभात्पृष्ठ० १५६ गे कहे स्याग पर राजकार्यों में कुलीन लोगों के घटेण पर यह शहू की है कि यहांती स्वामी जी जन्मानसार वर्णवयवस्था मान गये

प्रत्यक्षर-राजकार्य में वर्णवयवस्था से तात्पर्य नहीं है। किन्तु एक ही व्रत स्थान वा लक्षिय वा वैश्यादि वर्णों में भी कहे प्रकार के पुरुष होते हैं। कोई स्त्रीकिंच प्रतिष्ठानि में न्यून, कोई अधे। इस लिये प्रतिष्ठित कुल से तात्पर्य है। सभी वर्णों में प्रतिष्ठित और न्यूनप्रतिष्ठित वा अप्रतिष्ठित भी सम्मुख होते हैं। पृथ्वी के सिवाय अन्यथा जीव जन्म नहीं होते। यह स्वामी जी ने कहीं नहीं लिखा। परन्तु आप के पौराणिक विलोकादि इस से नहीं मिहु छाते क्योंकि स्वामी जी का जागना यह है कि पृथ्वी आदि जिस लोक में जो जन्म लेता है वह यावज्जीवन सुगरीर अन्य लोक में नहीं जाएका और आप विश्रादि का आगा जाना गाना है। इस लिये इन में भेद है।

बेदानुमार का तात्पर्य यह नहीं है कि साक्षात् वेद में देखा ही जाय वही बेदानुसार माने, किन्तु जो २ वेद से विरहु न हो, वह च हे वेद में साक्षात् हमारे देखने में न भी आवे तब भी उसे साग सक्ते हैं। तदनुमार आवश्यकतानुमार गये २ राजनियत वेद से अविरहु जानगा हानिकारक नहीं, ऐसा हो जी सगि जी सामते हैं—

त्रिरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादमति ह्यनुमानम् ॥ मी०१३३ ॥

आरोत् वेद से साक्षात् विरोध हो तो ह्याज्य है अन्यथा बेदानुकूलता का अनुमान करना चाहिये ॥

इति श्री तुलभीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे
षष्टुप्मुक्ताभगवद्गीतम् ॥ ६ ॥

ओ३म्

अथ सप्तमसमुल्लासमण्डनम्

द० तिं० मा० प० १५७ चे-

यद्यपि देवता पूर्वं प्रतिपादन कर आये हैं परन्तु स्वामी जी ने जो यह पुनः लेख किया उस से अब किर कुछ योहा सा लिखते हैं, कहीं तो स्वामी जो के विद्वान् देवता हो जाते हैं, कहीं इन्द्र ईश्वर हो जाते हैं, परन्तु कहीं निहृषि पाणी लकड़ी देवता हो जाते हैं, इन्द्र जो बिजली जग जाते हैं(त्रय-स्त्रियस्त्रियता) जिस के अर्थे ३० ३१ देवताओं के हैं, स्वामी जी ने ३३ ही के किये हैं, वह अर्थ तो बदले ही पर हिंसाव में भी गड़बड़ी, वह आप को तेनीस से अधिक गिर्भी नहीं आती जो १०१३ के ३३ ही रहगये देखिये देवता तो अनेक हैं जिन के नाम जपने से पाप दूर होता है ॥

यजुर्वेद अ० ३९ मं० ६ प्रायश्चित्ताहुति० धर्मं के भेद होने में

सविता प्रथमेहन्त्रगिनिद्वितीये वा युस्तुतीय आदित्यधृतुर्थे

चन्द्रमाः पञ्चमऋतुः पुष्टे मृहतः सप्तमे बृहस्पातिरष्टमे

मित्रो नंवुमे वर्षणो दशमङ्गलन्द्रै एकादशे विश्वेदेवा द्वादशो ६

प्रथम दिन का सविता देवता है, दूसरे दिन का अग्नि, तीसरे दिन का वायु, चौथे दिन का आदित्य देव, पांचवें का चन्द्रमा, छठे का चतुर्थ, चातवें का चहत, आठवें का बृहस्पति, नवमे का मित्र, दशमे का बहुष, एयरहृषे दिन का इन्द्र, बारहवें का विश्वेदेवा देवता है, इन देवताओं के गिरित १२ दिन तक प्रायश्चित्त के अर्थ आहुती दी जाती है अब स्वामी जो अतावें इन्हें में यह देवता कहां से आये ॥

प्रत्युत्तर-(त्रयस्त्रियस्त्रियता) में पाठङशुद्धि छप गई है। शहू पाठ (त्रयस्त्रियता) यजुर्वेद अ० १४ मन्त्र ११ का देखिये जिस में ३१ से अधिक का वर्णन नहीं। तथा—

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासः । ऋ० ६ । २ । ३५ । १

इस में भी ३३ ही देवता लिखे हैं। जोर

यस्यु त्र्यंखिंशदेवा निधिम् अर्थव॑ १० । ७ । २३ तथा

यस्यु त्र्यंखिंशदेवा अङ्गे० । अर्थव॑ १० । ६ । २७

इत्यादि अनेक प्रमाणों से देवतों की इस संख्या प्रमाणित होती है और शतपथ ब्राह्मण के गनुसार भी ३३ ही मिछु होते हैं और विद्वानों को देवता मानना सूर्योदि के देवता मानने का आधक गहरी हो सकता । क्या १ प्रकरण में एक पदार्थ को देवता मान कर दूसरे प्रकरण में दूसरे पदार्थ को देवता मानना कोई विरोध की आत है ? देखिये गिरुक्ततार क्या लिखते हैं :-

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्यानो भवतीति
था ॥ निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १५

हान्, दीपग, द्योतन और द्युस्यान [प्रकाशस्थान] होने से “ देवता ” होता है, (होती है,) यद्यपि पूर्णदान, पूर्ण प्रकाश, पूर्ण द्योतन (जाना) का स्थान ती अचिन्तनीय उपोतिष्ठानान् सचिन्तानन्द परमात्मा ही है और इस कारण ये सब अर्थ असीमभाव से उन्हीं में मुरुग करके बढ़ते हैं, तथापि सांनारिक शुखभीम के अभिलाषी गड्यन अधिकारियाँ के लिये उन्हें उन के असीष्ट शनिद्रयोपभोग स्वादु रम सुगन्धादि से होने वाले शुखों की प्राप्ति के अर्थ सूर्योदि भीतिक पदार्थ भी (जो ब्रह्मबुद्धि से उपाध्य नहीं है) सभीन प्रकाशादि दिघयुगों के चारण करने वाले हाने से गोण भाव से “ देवता ” हैं । जिन का वर्णन वेद में इस प्रकार है :-

अग्निदेवता वातो देवतासूर्येदेवता चन्द्रमा देवतावसेवोदेवता
रुद्रादेवता आदित्यादेवता मरुतो देवता विश्वेदेवोदेवता बृह्म-
स्पतिदेवतेन्द्रोदेवता वरुणोदेवता ॥ यजुः १४ । २० ॥

ब्रह्मघोषी, रुद्राएकादश, अदित्या द्वादश, महतक्षस्त्यजा-महतइत्यत्य-
क्षमामषु मिद्याटी पठितम् ३ । १८, विश्वेदेवाः सर्वे ब्रह्माशहस्या दिव्याः
पदार्थ चनुद्याक्ष, इन्द्रोविद्युत, वरुणोजलं वरगुणाक्षोर्योर्यन्थो था । अस्यत्
इष्टष्टम् परे देवता भवन्ति इतिशेषः । यतोक्तं शतपथे कां० १४ प्रपाठ०६८०३।१०॥

सहोवाच महिमान एवैषामेते ग्रयस्ति थं शस्त्रेषु देवा
इति । कतमे ते ग्रयस्ति थं शदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा
द्वादशादित्यास्त एकत्रिथं शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च ग्रयस्ति थं
शाविति ॥३॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च
वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च दौश्च चन्द्रमाश्चनक्षत्राणि चैते
वसव एतेषु हीदल्लं सर्वं वसु हितमेते हीदथं सर्वं वासयन्ते
तद्वादिदल्लं सर्वं वासयन्ते तस्माद्व ववहति ॥४॥ कतमेव रुद्रा इति
दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मत्याच्छरीरादु-
त्कामन्त्यथरोदयन्ति तद्वद्वोदयन्ति तस्माद्रुद्राइति ॥५॥
कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवस्तरस्यैत आदित्या
एतेहीदथं सर्वमाददाना यन्ति तद्वदिदथं सर्वमाददाना
यन्ति तस्मादादित्याइति ॥६॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापति-
रिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमः
स्तनयित्नु रित्यशनिरिति कतमो यज्ञहति पशवद्वति ॥७॥

जपर लिखे यजु मन्त्र में इन प्रकार देवतों के नाम बातये हैं जि-
आग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा द वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, मन्तरिक्ष, आदित्य, श्ची,
चन्द्र और ग्रहत्र) ११ रुद्र (प्राण, आग्न, उदान, ममान, व्यान, नाम,
कूर्म, रुद्र, देवदत्त और घनझूर) । १२ आदित्य (वर्ष के १२ नाम) महत्
श्च त्वं त्वं लोग, विष्वेदेवाः-संसार भर के दिव्याग्रजयुक्त पदार्थ शीर मनुष्य,
वृहस्पति-परमात्मा, इमद्व-विज्ञाली और वहण-जल वा अन्य पदार्थों को
वरणीय गुणों के युक्त हो । ये उब पदार्थ देवता हैं । पूर्वोर्लं ८ पदार्थ वद्व
इति लिये हैं कि (एतेषु हीदथं सर्वं वदुहितम्) इति में ही यह संबंधार्दि-
धन रखता है (एतेहीदथं पर्वताचयन्ते) ये ही इस उब [जगत्] को
बसाते हैं । इस वे यह भी सूचित होता है कि सूर्योदि लोकों में सी वसित्यहै
है । पूर्वोर्लं ११ पदार्थ वद्व वर्तम किये हैं कि-(यदाहेवाक्महत्याच्छरीराकुर्त्वा-

मन्त्रयथ रोद्यन्ति तद्यद्वा०) जब मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ लड़ निकलते हैं तब इह भिन्न सद्बन्धियों को रोदन कराते हैं । अब रोदन कराने से कदम नाम पड़ा । पूर्वोक्तसंवृत्तर के १२ नाम भाद्रित्य इस लिये हैं कि (एतेष्वीदश्च सर्वेनावदाग्ना यतिः) ये ज्ञेयादि द्वादश सास ही सब जगत् को लिये हुवे आते हैं, इन ने भाद्रित्य नाम पड़ा ॥

महत्—यह निष्पद्धु ३ । १८ में ऋतिकर्त्तों का नाम है । विश्वेदेवाः—सब ब्रह्माक्षरस्थ द्विधय पदार्थ और मनुष्य, ब्रह्मपति-देवतों का भी राजा परमात्मा, इन्द्र—विजली और वहण—जल वा अन्यवरणीय पदार्थ ये सब देवता हैं अर्थात् प्रकाशादि दिव्यगुणयुक्त पदार्थ हैं । यह यजुर्मन्त्रार्थ हुवा ॥

अब क्य पर तिले शतपथब्राह्मण का अर्थ सुनिये—शाकस्य अविष्ट याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि १५ देवता कीन से हैं । ८ वसु ११, लड़ १२ भाद्रित्य ये ३१ हुवे । इन्द्र और प्रजापति ये निष्कर ३३ हुवे । इन्द्र किसे कहते हैं ? शतपथित्वा अर्थात् विजुली की । प्रजापति कीन सा है ? यजुर्मन्त्रापति है । प्रजापति क्या है ? पशु ही प्रजापति हैं क्योंकि प्रजा का पालन हरा ने होता है ॥

भला स्वामी जी ती आप की समझ में हिंसाब सूल गये । परम्परा शतपथब्राह्मण भी हिंसाब सूल गया ? जिस ने आपके मतानुसार ३०३१ देवता नहीं गिनाये और ३३ का व्याख्यान स्पष्ट किया ॥

द० तिऽ भा० प० १५० पं० ४ से सविता प्रथमे० इत्यादि मन्त्रस्थ देवतों को पूँडा है कि ये कहां से आये ?

प्रत्युत्तर—सविता, अस्मि, वायु, ब्रह्ममा भादि १२ देवता इन्हीं लोकों तत्त्वों और ३३ पदार्थों के अन्तर्गत ती हैं, इन ने बाहर क्या है ? ॥

अथ द्वैश्वरविषय प्रकरणम्

द० तिऽ भा० प० १५० में द्वैश्वर अपराध करा करता है । इस के छिन्ह कराने के लिये नीचे का मन्त्र और अर्थ लिखा है—

सन्तोवन्धुर्जन्ति सविधाता धामानिवेदु मुच्नानि विश्वा ।

यत्र देवा अमृतमानशुनास्तुतीयेषामन्त्वैर्यन्त १४ जुः ३२ १०

(सः) बोह परमेश्वर (मः) हनुमारा (वन्धुः) किंविष्ठ प्रभार की जहा-यना रक्षा करते से बन्धु है (जनिता) उत्पन्न करता है (मः) बोह (विभाता) विभाता जालिक विता है (सः) बोह (विश्वा) सब (भुवनागि) प्राणी (धानागि) स्थानों को (वेद) जाला है (देवाः) देवता (यत्र) जिन देहर में (असूत्) भोजनापक ज्ञान को (जागशानः) प्राप्त करते (वत्तीये धामन्) स्वर्ग में (अध्यैरयत्न) स्वेच्छानुसार बत्तते हैं जागन्द करते हैं ॥

प्रत्युत्तर-जला जाप के किये अर्थ से भी अपराधों को ज्ञान करके दशह न देना और दया करना कहां पाया जाता है ? इंसे परमात्मा की दया, वस्तुता, धयार, बन्धुत्व, पितॄत्व सब के साथ है ॥

५० तिं० भा० प० १६० प० ५ से-

शावातुः शांतिहिते धृणिः शन्ते भवुन्त्विष्टकाः ।

शन्तैभवन्त्वानयः पार्थिवास्तोमात्वानिशुशुचन् । यजुः३५मं०८

जावार्थ यह है कि ईश्वर दयाहृष्टि से कहता है वे यज्ञमान । भक्त बायु तेरा सुखदृप हो, सूर्ये छिरण तुके सुखदृप हो नाय गे भीर दिशाओं में स्पायित हषिता तेरे लिये सुख स्वदृप हों तुके तापित नहीं कहें ॥ ॥ अब विचारना चाहिये कि यह वायु दयाहृप है वा नहीं, इस कारण व्याय दया प्रकृत है, ईश्वर में सर्वशक्तिनामता होने से दोनों वाते बनती हैं ॥

प्रत्युत्तर-इस में भी जाप के किये अर्थ से ही “ अपराधों को मैं ज्ञान करता हूँ ” यह परमेश्वर में नहीं कहा ॥

निराकारप्रकरणम्-

५१ तिं० भा० प० १६० प० २२ से

समीक्षा-ऐसा विदित होता है कि दयानन्द जी ने ईश्वर को ननु व्यवस्थ समझ लिया है यदि बोह साकार हो जाय तो व्यापक न रहे, उस का कोई बनामे जाला हो जाय । जब कि ईश्वर सर्वशक्तिनाम है, तो वह साकार जाला होकर शक्ति वा ज्ञान से रहित नहीं हो सकता । जिस समय प्रलय होती है उस समय बोह निराकार, जब उस ने स्वष्टि रचना की इच्छा होती है तभी उस को समुक्त वा साकार कहते हैं, यह न्याय वयालु आदि जाग जापार में ही पड़ते हैं यजुर्वेद ने शतपथ ज्ञासुख में इपह लिखा है ॥

उभयं वा एतम् प्रज्ञापति निःस्तक्ष्याऽनिस्तक्ष्य पुरिमितश्चाप-
रिमितश्च तद्यद्यजुपा करोति यदेवास्य निःस्तक्ष्य पुरिमितश्च
स्य तु न सुस्करोत्युथ यत्तूष्णीं यदेवास्य निःस्तक्ष्य मपुरिमितश्च
तद्यस्य तेन संस्करोत्तीति ब्राह्मणम् श. का. १४ अ०१ ब्रा. २ मं १८

प्रभेश्वर दो प्रकार का है परिमित अवरिमित निःस्तक्ष्य और अनिःस्तक्ष्य इन कारण जो कम्ये यजुर्वेद के मन्त्रों में करता है उम के द्वारा परमेश्वर के रूप का संस्कार करता है जो मिहक और परिमित नाम है और जो तूष्णीं भाष्य मम्पत्ति है अपार्त गण्डवास्म मन्त्र का ही मनन करता है उम से परमेश्वर के उपरूप का संस्कार करता है जो शनिःस्तक्ष्य और अपरिमित नाम है इस द्वे प्रत्यक्ष परमेश्वर में निराकारता साकारता पाई जाती है ॥

प्रत्युत्तर-यहां प्रथम तो प्रजापति शङ्कृ से यज्ञ का ग्रहण है ज्योंकि (यज्ञो वे प्रजापतिः) यज्ञ प्रगा का पालन करता है और कम्येश्वर दो सांसारिक अविन वायु ऋगादि देवतों के लिये होता है तथा ज्ञागकाशङ्क वा उर्ध्व-समाकाशह ईश्वरविषयक होता है इस लिये यहां कम्येश्वर के प्रकरण में भीतिक पदार्थों का यज्ञ ही प्रजापति समझना चाहिये और ऐसी मानने पर यह जर्य होगा कि-

(उपर्युक्ते एतत् प्रजापतिः) यज्ञ निश्चय दो प्रकार का है (निःस्तक्ष्य-अग्निःस्तक्ष्य) निःस्तक्ष्य तिस का निर्वचन किया जाय और अनिःस्तक्ष्य ग्रिष्म का निर्वचन न किया जाय तथा (परिमितश्चाऽपरिमितश्च) परिमाणाद्युक्त और परिमाणारहित (तद्यद्यजुपा करोति) सो जो कि यजुर्वेद से करता है तथा (यदेवास्य निःस्तक्ष्य परिमितश्च रूपम्) जो इस यज्ञ का निःस्तक्ष्य और परिमित स्वरूप है (तद्यस्य तेन संस्करोति) इस के उपरूप का उपरूप यज्ञ से संस्कार करता है (अप्ययत्तूष्णीम्) और जो कि चुप होकर होनान्ति करता है तथा (यदेवास्याऽनिःस्तक्ष्यमपरिमितश्च रूपम्) जोही इस का अविकल्प और अपरिमित रूप है (नदंस्व तेन संस्करोति) उपरूप का इन्द्रियों की करके संस्कार करता है (इनिद्वाऽस्मिन्म्) यह ब्राह्मण पूरा हुआ भी अपार्त यज्ञ का छोड़ा वर्जन मनुष्य कर सकता है समस्त गङ्गा, यज्ञ के घोड़े स्वरूप करने वाल्य परिमाण जान सकता है तथा को नहीं । यह जहाँ तक

जाग भक्त है, वहां तक वर्णन कर भक्त है, जहां तक वर्णन कर भक्त है, वहां तक परिमाण जाग भक्त है। जहां तक वर्णन और परिमाण जागता है वहां तक यजुर्वेद के मन्त्रों से वर्णन करता हुवा अग्निहोत्रादि करे। और उपर्योक्ति कुछ यज्ञ का स्वदूप वर्णन और परिमाण से बाहर है इसलिये कुड़ी खुप ही कर भी करना चाहिये ॥

और यदि योही देर के लिये यह भी मान लें कि वैश्वर का ही वर्णन है तो भी उमका साकार निराकार होना इस से नहीं पाया जाता। परमेश्वर भी उभयस्त भाव से गिर्वचन में नहीं भाता भगवत् होने से परन्तु योहा सारा विवेचन उस का शास्त्र द्वारा हो भक्त है, अम जितना कि परमात्मा का इस वर्णन कर भक्त हैं उस अंग में वह निरुक्त और शेष से उनिहक्त और वर्णन करने तक परिमित और वर्णन से बाहर अपरिमित है जेमा कि—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बृद्धितः ॥ यजु । ४० । २

यह सब जगत् के भीतर और जगत् से बाहर भी है अप जगत् के भीतर जितना परमेश्वर है उतना कथज्ञित् उनिहक्त और अपरिमित तथा जो उभयस्त जगत् के बाहर है उतना अनिहक्त और अपरिमित है। परन्तु साकार और निराकार इस से भी नहीं पाया जाता ॥

४० तिं० भ०० प०३ १६१—इस वाव ब्रह्मणोरुपे मूर्त्ते चामूर्त्ते चेतिं० वैश्वर के दो रूप हैं एह मर्त्तिमान् एह भमूर्तिमान् (एक रूप बहुधा यः करेति) और एह रूप को जो बहुत प्रकार का करता है। इस मन्त्र से तथा भीरों से ही सर्व कारण वीजस्यापक परमात्मा से साकारता इस प्रकार से प्रगट है ॥

प्रत्युत्तर-ब्रह्म के दो रूप हैं। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म इवदूपः दो प्रकार का है। किन्तु यह तात्पर्य है कि मूर्त्ते चामूर्त्ते दो प्रकार के पदार्थों का इवानो ब्रह्म है। यदि लोक में यह कहा जावे कि देवदत्त के दो गी हैं एक लोल एह काली। तो क्या इन दो कोई यह उभयस्त भक्ता है कि देवदत्त स्वयं काली और लाल गी के आकार का है? कसी नहीं। और अपने एक आरम्भ का टुकड़ा लिख दिया। यदि इस से जगता पाठ भी आप लिखते सो इष्टष्ट प्रतीत हो जाता तिं ब्रह्म के निजके दो रूप नहीं हैं किन्तु दो रूपों का स्वामी ब्रह्म है। जेसा कि ठीक पाठ यह है:-

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्ते चेवाऽमूर्त्ते च

आगे चल कर हसे स्पष्ट किया है कि—

तदेतन्मूर्त्यं यादन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाञ्च

चृहदारथयक सप्त० प्रपाठक ४ ब्राह्मण ३ का० २ ॥

भर्तुत् यह मूर्त है जो वायु भीर अन्तरिक्ष से भव्य पदार्थ है। भर्तुत्
एविवी तल भग्नि मूर्त भर्तुत् दृश्य है ॥। फिर आगे—

अथाऽमूर्त्यं वायुश्चान्तरिक्षं च ॥ का० ३

और वायु तथा अन्तरिक्ष भर्तुत हैं। अब विचारिये कि पांच तत्वों में
२ भर्तुते ३ मूर्ते स्पष्ट गिराये हैं वा निज के ब्रह्म दो प्रकार के बताये हैं ?

अथ अवतारप्रकरणम्

द० ति�० सा० प० १६२ प० १३ चे

सनीका-सवानी जी ईश्वरक अज अकाश बता कर ईश्वर के जवतार होने
में बद्देह करते हैं तो, जीवात्मा जी अज और व्यापक अवण कराजाता है,
उसका जी जन्म न होगा चाहिये ॥

न जायते मिथते वा विपश्चिकायं कुतश्चिक्षयभूव कश्चित्
अजोनित्यः शाश्वतोयम्पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे १८
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुथःहतश्चेन्मन्यते हतम्

उमो ती न विजानीतो नायंहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निःहतोगुहायाम्
तमक्रतुः पश्यतिश्रीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः २०

कठवल्ली ३ उपनिषद् वल्ली २

(विपश्चित्) सर्व का इष्टा जीवात्मा जो कि पूर्वेवाश्वयायनमात्य में
लिखा है (सर्वस्य इष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वानुभवः) इत्यादि वाचों से भीर
(यज्ञतामात्रः प्रतिपुरुषः चेततः । इत्यादि चेत्युपनिषद् में निर्जीत है जो जन्म
भरण से रहित है भीर यह जाप किसी से नहीं उत्पन्न होता भीर न हस्ते
(फश्चित्) कुछ भी उत्पन्न होता है जब नित्य एवरन वृद्धिरहित है भीर
शरीर के नाश से हस का नाश नहीं होता १८ यदि कोई हन्त जर्ता मुहूर
ही हन्त जर्ता जारनाचिन्तन कर्ता है तैसे यदि कोई हत तुम्हा

आत्मा को हितचिन्तन करते हैं, वे दोनों आत्मा के यथायत् स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न हगत करता है ग हगत होता है १५ इस जन्म की गुहा अर्थात् पंचकोशरूप गुफा में (निहित) स्थित यह आत्मा अणु से भी अग्रुतर है अर्थात् दुर्लक्षण है इस से अणुतर कहा परन्तु वहे आकाशादि से (महीयान्) महत्तर है (धातुः प्रसादात्) ईश्वर की प्रभ-क्षता में (अक्रतुः) विषय भोग संकल्प रहित पुरुष आत्मा को देखता है ती आत्मा की महिमा को देखकर शोकरहित होता है ॥

प्रत्युत्तर- जीवात्मा केवल स्वरूपतः आज है परन्तु सर्वदेशीय नहीं, यदि सर्वदेशीय हो तो सूत्यु न होना चाहिये । तथा एक देश में होने वाले कानों का सत्तान्त अन्य देशस्य कीवात्माओं को जान नी होना चाहिये । इवामीं जो केवल आज भक्ताय होने से ही प्राप्तात्मा को निराकार अवतार-रहित मानते हों सो नहीं किन्तु वह सर्वठायापक होने से देहविशेष के बन्धन में गही आसकता । यह स्वानीजी का कथन है । आपने जो तीन शोक कठो-पनिषद् के लिखे हैं उन का अर्थ यह है कि—

(विष्वित्) ज्ञानी जीवात्मा (न जायते चियते या) न कभी जन्म लेता, न मरता है । क्योंकि (नायं कुत्सित्) न यह किसी अन्य कारण से कार्य होकर बना और (न ब्रह्म विश्वतः) न इसमें कोई अन्य कार्य बनता है किन्तु (अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः अयम्) आज नित्य मनातन पुराण यह (शरीरे हन्त्यमने) शरीर मरने पर (न हन्त्यते) स्वयं नहीं मारा जाता ॥ १६ ॥ (हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतयेत्) यदि कोई मरने वाला यह जानता है कि मैं जीवात्मा को मारता हूँ वा कोई मरने वाला यह जानता है कि मैं जीवात्मा मरता हूँ तो वे दोनों अज्ञानी हैं । न जो-आत्मा मरता, न उने कोई मारता है ॥ १७ ॥ (अस्य जन्मोः) इस प्राणी आत्मा के (गुहायाम्) हृदयावकाश में (शणोरणीयान्) सूक्ष्म से अति सूक्ष्म स्वरूप वाला (महतो गहीयान्) महान् वे महान् सर्वदेशीय सर्व-अपी परमात्मा (निहितः) स्थित है (तस्) उस (आत्मनः महिमा नम्) जपने से अत्यन्त महान् परमात्मा को (वीनशीकः अक्रतुः) शोक रहित वस्त्यहर्नीं ने उपरत जीवात्मा (धातुः प्रसादात्) परमात्मा की कृपा से (पश्यति) शुभ्र भारता है ॥

इस में स्पष्ट जाया है कि (आत्मनः नहिमातम्) अपने जीवात्मा के स्वरूप से अत्यन्त महान् परमात्मा को । जब कि जीवात्मा अल्प और परमात्मा महान् है, तो जीवात्मा देहजन्यन में आसकता है परन्तु परमात्मा नहीं ॥

१० निः भा० पृ० १६३ पं० ७ से—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । यो० पा० १ सू० २

चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमादश्चित्तविषया शुद्धा चागन्ता च
व्याप्त भाव्ये—अर्थे (चितिशक्ति) जीवचेतन अपरिणामी है (अप्रतिसंक्रमा)
किया रहित है (दशिंतविषया) सर्व विषयों का द्रष्टा है शुद्ध और अगन्तव्या
प्रापक है इस प्राप्त व्यापतया काणाद क्षयि के मत में जीवचेतन व्यापक है
और जीव का गत्तम वे मानते हैं इनके व्यापक का जन्म नहीं होता यह
क्षयन के ना होगा, क्योंकि व्यापक कर जन्म व्यापादिक मानते हैं, यदि यह
कहो कि “इन ती युक्ति ही मानते हैं जन्म भरण जाना जाना परिक्ली
यदार्थ में घन सत्ता है, इस कारण जीवात्मा का स्वरूप व्यापक नहीं
मानते” इसका उत्तर । तब तौ यह विचार कर्तव्य है । विभूपदार्थ से जिन्हें
जणुपरिमाणवान् वा मध्यम परिमाणवान् होता है जात्मा जणुपरिणाम है
अथवा मध्यम परिमाण है यदि कहो जणुपरिमाणवान् है तो मारे गरीर
में शीतल जल संयोग से शीतस्पर्श की प्रतीत न होनी चाहिये, क्योंकि
आत्मा गुण है, सो एक देश में स्थित होकर शोत का ज्ञान करमहता है,
आत्मा रहित अंगों में शीतस्पर्श का ज्ञान कैसे होगा (प्रश्न) जात्मा यद्यपि
एक देश में है, तथापि जैसे कस्तूरी की गंध सर्वत्र विस्तृत होती है
तैसे ही आत्मा का ज्ञान गुण सर्वत्र विस्तृत है, इसमें शीतस्पर्श की
सर्वत्र प्रतीति हो सकती है अथवा जैसे सूर्य प्रभाव वाला द्रव्य है तैसे ही आत्मा
भी प्रभावत द्रव्य है (उत्तर) यह नियम है कि गुण अपने आत्मव्य
को त्याग कर आन्यत्र गमन नहीं करमकता, क्योंकि गुण में किया होती
नहीं, और कस्तूरी के दूषान्त में सी कस्तूरी के सूक्ष्म अवयव विस्तृत होते हैं,
इसी कारण कस्तूरी कर्पूरादि द्रव्यरक्त क तिम को बंदकर किसी छिड्ये मादि
में रखते हैं और जो वह खुले रक्खे जांप तौ वे उड़ जाते हैं, और प्रसा
गुण नहीं किन्तु विरल प्रकाश प्रभा है और घन प्रकाश सूर्य है, ऐसे ही
आत्मा को मानते हैं ज्ञान रूप हीसिंहु होगा, सो ज्ञान एकरस है कहीं सघन

और कहीं विरल ऐमा कहमा बनता गहीं, यदि अनेकरस मानोगे तो ज्ञानित्यत्व प्रसक्ति होगी, और सर्वथा अणुवादी के मत में किया तो ज़हर माननी होगी तो (शब्दलेयं सनातनः) इत्यादि गीता के वचन से विरोध होगा और भास्मा विनाशी क्रियावृत्तात् घटवत् इस अनुमान प्रभाण से विनाशित्व प्रसक्ति तो शब्दश्य होगी और भृत्यम परिमाण पक्ष में रुपृष्ठ ही जन्मत्व विनाशित्वादि दोष हैं भास्मा जन्मः भृत्यन परिमाणवृत्तात् भास्मा विनाशी मध्यम परिमाणवृत्तात् घटवत् इस कारण अनादि जीवात्मा को भानकर भृत्यमपरिमाण कैसे मानोगे क्योंकि भृत्यम परिमाण मानने से जन्मत्व की प्रसक्ति होगी इस से विना इच्छा से भी दयासादि महात्माओं के वचना भ्रात्यार भास्मा व्यापक और अज्ञ शब्दश्य मानना पड़ेगा तो जन्मशंका ईश्वर वत् जीव में भी बन सकती है तो किर जीक को जन्म कैसे हो उक्ता है जब जीव का जन्म हो तो ईश्वर का भी शब्दतार होगा ॥

प्रत्युत्तर-चिति शक्तिपद से यहाँ जीवात्मा का गङ्गण करना बड़े अज्ञान की बात है । शक्तिशब्द भाववाचक है इस में भावार्थ किन् प्रत्यय है । तब शक्तिसान् जीवात्मा को शक्ति बताना, द्रव्य को गुण बताने से अज्ञान नहीं तो क्या है ? जो लोग द्रव्य और गुण का भेद नहीं जानते वे भास्मविद्या को क्या समझ सकते हैं यूँ किसी के ग्रन्थ से उद्घृत करलेना दूसरी बात है । असमझाध्य का अर्थ सुनिये—

(चितिशक्ति :) चेतनता शक्ति (अपरिणामिनी) न बदलने वाली है अर्थात् चेतनता कभी जड़ता नहीं बन जाती (अप्रतिसंकल्पा) एक की चेतनता दूसरे में संकल्प नहीं कर सकती (दर्शितविद्या) वह रूपादि विषयों को दिखाने वाली है । (शुद्धा च) और शुद्ध है उस में कोई निलावट नहीं (जनन्ता च) और उस का अन्त नहीं अर्थात् कालान्तर में भी चेतनता का नाश नहीं ॥

अब बतलाइये इस में जीव को सर्वठपापक कहाँ माना है ? और अणुपरिमाण मानने में यह शब्द गहीं बनती कि श्वेत स्पष्टोदि का ज्ञान देह के एक देश में भास्मा को न हो सके । यद्यपि भास्मा एक देश हृष्य में रहे परन्तु भास्मा की समीपता मन से, मन की इन्द्रियों से, इन्द्रियों की विषयों से, इस प्रकार—

“आत्मा मनसा संयुज्यते मन हन्दियेण हन्दियमर्थेत्”

जब स्वचा हन्दिय को जीतादि का स्पर्श होता है सब पद्धति आत्मा स्वचा में व्यापक नहीं परन्तु स्वचा से मन का सम्बन्ध और मन से आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा को परम्परा से जीतस्पर्शादि का ज्ञान होता है । जीर भाष के मानवार आत्मा को सर्वडयापक मानें तो हन्दियों वा मन के विना भी आत्मा को विषय का गमनपत्र होना चाहिये । जो प्रत्यक्षविहृत है । क्योंकि जो आत्मा एक मनुष्य में है वही सर्वव्यापक हो तो सब जगह के विषयों का ज्ञान एक साथ आत्मा को होगा चाहिये । कस्तूरी के सूक्ष्म हस सूक्ष्माप्रयवों के समान आत्मा को अवश्यक रूप से शरीर में फैला नहीं मानते, न सत्यार्थप्रकाश में लिखा । आपने स्वयं गिर्बल पक्ष कलिपत करके अवहन किया, उस का फल आन को ही हो वा न हो, इस को कुछ नहीं न इस रूप के समान जीवात्मा की स्थिति शरीर में भानते हैं । इस लिये अनेकरन की शङ्का और अनित्यत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती । हाँ, भाष परगात्मा को सर्वव्यापक एकरस मानते हुवे भी किसी देहविशेष में भवतार युक्त मानेंगे तो भाष के नत में एकरसत्व का भङ्ग होगा और अनित्यत्वादि की प्रसक्ति होगी ॥

अचलोऽप्य सनातगः । इस जीता के वचन में अचल शङ्क जीवात्मा का विशेषशब्दप से अवश्यक का बोधन है । देश से अचलत्व का नहीं । क्योंकि जीवात्मा के निराकार चेतनमात्र स्वरूप में चलता नहीं अर्थात् अदल बदल नहीं । परन्तु देशकृप चलता तो स्पष्ट है कि जीवात्मा एक देह छोड़ दूसरे देह को जाते हैं । और भाष भी आद्वि सिद्ध करते समय तो सन का शरीर त्यागना, आकाश में घूमना इत्यादि सब कुछ मानने लगते हैं किर पहां भाषने ही विरहु क्यों घल पड़े । इस लिये हमारे नत में-

आत्माऽविनाशी अकार्यत्वात् ।

अजस्त्रात् । असंयुक्तवस्तुत्वात् ।

आत्मा विनाशी नहीं क्योंकि कायं न होने, कशना होने और रुदीणे से बाहा न होने से ॥

८० तिं भा० प० १६४ मे—

चराचरव्यवाश्रयस्तुस्यात्तद्विषयेशोभाक्षतद्वावगावितत्वात्। भा० ३२१८

. यह सूत्र और इस का भाव लिख कर यह ताहार्य निकाला है कि जिस प्रकार जीवात्मा न भरता न जन्मता परन्तु सोक में इस के (चराचर) के भरने जाने के गीव उपवहार जीव में भारोपित होते हैं और मुख्यता ये तो देह भरते जाते हैं । इसी प्रगार परमात्मा में भी अबतार लेने से जन्म भरण वास्तविक गहरी ॥

प्रत्युत्तर-इस यह पूछते हैं कि जिग रामकृष्णादि को भाव परमेश्वरा-उत्तरार बताते हैं वे जीवभाव से जीने और जीव जन्म लेते भरते हैं अर्थात् देहों से संयुक्त वियुक्त होते हैं उसी प्रकार राम कृष्णादि का जीव भी देहों से संयुक्त वियुक्त हुआ तब तो इस को कोई विवाद नहीं । और यदि सर्व-ठापापक जगचियन्ता का देहबन्धन मानते हैं तो एकरस सर्वठापापक वस्तु किसी किशेष देह में विशेषता से नहीं रह सकती । विभु पदार्थ जो कि अगम्त सर्वठापक है वह अन्तःकरणादि उपाधियों से घिर गहरी सकता । फिर जीवात्मा को एकदेशीय माने बिना किसी का मिर्वाह नहीं हो सकता । और परमात्मा सर्वदेशीय है, सर्वठापापक है । तथा जीवात्मा देह-कृत जोगों को जोगता है और परमात्मा भोगरहित है । जीना कि—

अनश्चन्नन्यो अभिच्छाकशीति ॥ ऋत० १ । १६४ । २० ॥

अर्थात् भोगरहित केवल साक्षी है ॥ इसलिये देह के जन्ममरण जीवात्मा में भारोपित होते हैं, परमात्मा में नहीं । यह ठीक है कि जिस पदार्थ का किसी भी रूप से पूर्व अभाव हो उसी का जन्म होता है । जीव विशेष का देहविशेष से सम्बन्ध विशेष का पूर्व अभाव या इस लिये जीवविशेष का देहविशेष से संयुक्त होता जन्म कहाया ॥

८० तिं भा० प० १६५ प० ८ से (प्रश्न) जीव का तो लिङ्गोपाधि विशिष्ट रूप है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यह पूर्वपक्ष सर्वार्थप्रकाश में नहीं लिखा, न हम लोग भागते हैं इस लिये इस प्रश्न को रख कर भाव का उत्तर लिखना उपर्युक्त है ॥

८० तिं भा० प० १६५ प० २६ से-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । इत्यादि अवगेदमन्त्र से अबतार सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का ठीक अर्थ सुनिये । रामकृष्णादिका इस में नाम तक नहीं ॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रेतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुहूपं ईयते युक्ताह्यम् हरयः शुता दशं ॥

ऋ० ६ । ४७ । १८

धर्म—(इन्द्रः) इन्द्रियों वाला जीवात्मा (रूपं रूपं प्रतिरूपः) प्रत्येक देहरूप में ताकार सा (बभूव) होता है परन्तु यह रूप इस जीवात्मा का साक्षात् नहीं किन्तु (तत् भस्य रूपं प्रतिचक्षणाय) वह इस का रूप प्रत्यक्ष कथनमात्र के लिये है । ५०—फिर क्यों यह रूपवान् जाग पड़ता है ? चत्तर—(मायाभिः) बुद्धियों से अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहङ्कारादि सहित होने से (पुरुहूप ईयते) अनेकरूप जान पड़ता है । वास्तव में इस का एक ही स्वरूप सचिन्मात्र है । प्रश्न—बुद्धियें भी तौ साकार नहीं हैं, उन सहित भी क्यों रूपवाला जान पड़ता है ? चत्तर—(भस्य) इस जीवात्मा के (हि) गिस कारण (दश हरयः) दश इन्द्रियरूप घोड़े (युक्ताः) जूँड़े हैं और (शता) चैकड़ों नस नाड़ी जुड़ी हैं । सो उन इन्द्रियों और नाड़ियों आदि के सहित होने से जीवात्मा के अनेक देहरूप जाग पड़ते हैं । केवल जीवात्मा के नहीं ॥

यदि आप इस अर्थ को न स्वीकार करें तो सायणाचार्य के अर्थ को देख कर ही अपना ज्ञान दूर करें कि इस मन्त्र में अवतार का वर्णन नहीं है ॥

सायणाचार्य ने निज का अर्थ तौ यह किया है कि इन्द्रदेवता अनेक वज्रमानों के यज्ञों में अनेक देवतों के रूप धार कर जाता है और फिर अन्यों की सम्मति से दूसरा अर्थ यह लिया है कि परमात्मा ही मायोपाधि से उप-हित जीव भाव को प्राप्त हो रहा है । और अनेक योनियों में जन्मता प्रतीत हो रहा है ॥

सो इन दोनों अर्थों को यद्यपि इस नहीं मानते परन्तु स्तुतनधर्मियों पर यह भार अवश्य है कि सायणाचार्य के विपरीत रामकल्प अवतार की गट्टप न होंके ॥

३० तिं भा० पृ० १६६ पं० १३ से-म तद्विषयुस्त्ववते वीर्येण-इत्यादि से अवतार सिद्ध किया है ॥

प्रथमतर—इस का भी अर्थ इनसे-

प्रतदिप्णिः स्तवत वीर्येण मूर्गोन भीमः कुचुरोगिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिपुरुषिकमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

ऋ० १ । १५४ । २

शर्षे-(यस्य) जिस सर्वव्यापक विष्णु के रचे (त्रिषु) जन्म स्थान नाम
इन ३ (विक्रमणेषु) विविध स्थृष्टिकर्ताओं में (विश्वा भुवनानि) समस्त
लाक्षणोकान्तर (अधिक्षियन्ति) आधार में निवास करते हैं (तत्)
[लिङ्गव्यापयः] वह (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (वीर्येण) पराक्रम से
(प्रस्तवते) सब लोकों को प्रस्तुत करता है । दृष्टान्त-(न) जैवे (गिरिष्ठाः)
पर्वतकन्दराओं में स्थित (भासः मूर्गः) भयानक मूर्ग अर्थात् सुगेन्द्र=सिंह ॥

अर्थात् कोई भी पदार्थ और स्थृष्टि के नियम को नहीं लांघ सका
जो परमेश्वर धार्मिकों को मिश्रतुल्य आगच्छदाता और दृष्टों को पर्वतधारी
भयानक सिंह के तुलने भयपढ़ है । इस में नरसिंह का नाम तक नहीं किन्तु
सिंह के दृष्टान्त में परजात्मा का उद्य पराक्रम दिखाया है । देखो ऋग्वेदभाष्य
शी स्वामी दयानन्द सरस्वति महाराज कहत ॥

परमेश्वर का भय=भीषास्माद्ब्रह्मतःपवते इत्यादि । अथवा ।

यद्यपाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति यद्यपात् ॥

इत्यादि उपनिषद्वाच्चर्णों में इष्ट वर्णित है कि परमेश्वर के भय से सूर्य
आय आदि अपना २ काम कर रहे हैं । यही भायणाचार्य ने भी लिखा है
नृसिंह अवतार सायणाचार्य ने भी नृसिंह नहीं किया ॥

द० तिं० भा० पृ० १३६ पं० २६ में त्वं स्त्री त्वं पुमानसि । यह मन्त्र
अवतारनिहि में दिया है ॥

प्रत्युत्तर—सन्त्र का अर्थ सुनिये—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसी त्वं कुमारो उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णी दण्डेन वज्रसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

अर्थव १० । ४ । २७ ॥

शर्षे- तू कभी लड़ी कभी पुरुष होता है लड़की और लड़का बनता है
तू बूढ़ा होकर लटिया के सहारे चलता है । क्योंकि तू विश्वतोमुख अर्थात्
सब और रुख फेरता है और (जातो भवसि) जन्म लेता है ॥

इस प्रकार अक्षरार्थ से किसी राम कृष्णादि विशेष जीव का वर्णन नहीं
किन्तु प्रत्येक जीव लड़ी पुरुष योनियों में घूमता, बाल सुवा वह अवस्थाओं

में जाता है। इस में राम कृष्णादि भवतार का कुछ भी वर्णन नहीं है। सायणाचार्य का इस पर भ डप ही नहीं है॥

३० तिं भा० पृ० १६७ पं० ८ मे०—इदं विष्णुर्विचक्षमे। इस सामवेद मन्त्र से भवतारमिहि का प्रयत्न किया है॥

प्रत्युत्तर-इस का डायाख्यान भी सुनिये-

अथ गवस्तुः-संधा॒तिथिर्व॑विः। इन्द्रो॒देवता॒ गायत्री॒ छृदः॥

२४८ ३१२ ३१२० २२ ३२

इदं विष्णुर्विचक्षमे त्रेधा॒ निदधे॒ पदम्॥

१२ ३ २

समूढमस्य पाठ्यसुले॒ ॥ ६ ॥ (२२९)

पदपाठः—इदम् २। विष्णुः १। विचक्षमे किं०। त्रेधा अ०। निदधे किं० पदम्, समूढम् २। अस्य ६। पाठ्यसुले ७ ॥

अन्वितपदार्थः—(विष्णु) यज्ञः परमेश्वरो वा (इदम्) जगत् (त्रेधा) पृथिवी अन्तरिक्षं द्वौश्रेति त्रिभिः प्रकारैः (विचक्षमे) विक्रमते विक्रान्तवान्वा। तथा (अस्य) जगतः (पाठ्यसुले) रजसि प्रतिपरमाणु (समूढम्) अन्तर्हितम् (पदम्) स्वरूपम् (निदधे) नितरां दध्यात् दधाति वा॥

अनुष्टीयमानो यज्ञः, परमेश्वरश्च वृथिव्यामन्तरिक्षे दिविच्चेति त्रिपुलोकेषु व्याप्तोति। अन्तर्हितमदृश्यं स्वरूपं च अस्य जगतः प्रतिपरमाणु निदधाति इति भावः॥

यज्ञो वै विष्णुः॥ अत्र सायणाचार्यं विष्णुशड्डेन त्रिविक्रमाऽवतारग्रहणं निर्मूलमेव कृतम्। परमेश्वरस्याऽकायत्वान्विराकारत्वात्क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वात्। न च निरुक्तकारेणाऽपि तादुशब्दाख्यानस्यकृतत्वात्। यथा—“यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णु स्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवोति शाकपूणि;। समारोहणे

विष्णुपदे गयशिरसीत्योर्णवाभः । समूढस्य पांसुरेण्यायने
अन्तरिक्षे पदं न दृश्यते । अपि वोपमार्थे स्यात्समूढस्य पांसुल
इति पदं न दृश्यते इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पक्वाः
शेरत इति वा, पसनीया भवन्तीति वा ॥” निरु० १२ । १६ ॥

गयशिरसीत्यत्र गय इत्यपत्यनाम । निरु० २ । १० ॥
प्राणावै गयाः । शतपथे १४ । ७ । १ । ७ । ऋत्वेदे तु १ । २२ । १७
पांसुरे इति पाठः ॥ यजुर्वेदेऽपि ५ । १५ ॥ एष्टे ६ ॥ (२२)

जागार्थः—(विष्णुः) यज्ञ वा परमेश्वर (इदम्) इस जगत को [त्रिधा]
पृथिवी आन्तरिक्ष और द्यौः इन ३ प्रकार में (विचक्षणे) पुरुषार्थेयुक्त करे वा
करता है और (शश्य) इस जगत के (पांसुले) प्रत्येक रज वा परमाणु
में समूढम् । अद्वैश्य (पदम्) स्वरूपको (निरुधे) निरन्तर धारण करे वा करता है ॥

भले प्रकार अनुष्ठान किया हुवा यज्ञ, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक
में फैले और अपने अद्वैश्य स्वरूप को जगत के रज २ में पहुंचावे । अपवाह
व्यापक परमात्मा ने पृथिवी आन्तरिक्ष और द्युलोक को तीन प्रकार से वि-
क्रम=पुरुषार्थेयुक्त किया है और जगत के प्रत्येक परमाणु तक में अपने
अद्वैश्य स्वरूप को अन्तर्यामी रूप से वर्तमान कर रखता है ॥

इस मन्त्र को सायणाचार्य ने त्रिविक्कमपुत्रतार पर लगाया हो सो
निर्मूल है । क्योंकि परमेश्वर असाध होने से निराकार और क्लेश कर्म विपाका-
शयांसे लुप्ता हुवा नहीं है । और निहक्तकार ने भी इस में वामनाद्व-
तार का ग्रहण नहीं किया । जैसा कि निरु० १२ । १९ “ व्यापक विष्णु ने
इस सब जगत को तीन प्रकार के होने को विक्रान्त किया है १ पृथिवी, २-
आन्तरिक्ष, ३ द्युलोक, यह शाकपूर्ण जागार्थ का भत है । १ समारोहण, २
विष्णुपद, ३ गयशिर, यह और्णवाभ का भत है । उस का पद अद्वैश्य हो जहा
उपमा है कि जैसे रेत में पांव नहीं दीखता । पांसु रेणु का नाम है क्योंकि
वे पांवों से उत्पन्न होतीं वा पहीं सोती हैं ” इत्यादि ॥ गयशिरसि में नष्ट
सम्भान का नाम निरु० २ । १० के अनुसार और शतपथ १४ । ७ । १ । ३ के
अनुसार प्राण का नाम भी गय है ॥ ऋ० १ । ७२ । ७३ और यजु० ५ । १५ में
“ पांसुरे ” पाठ है ॥ एष्टे ६ ॥ (२२)

४० तिथि भा० १६३ में-

भद्रोभद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारीअभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठव्युशद्विर्वर्णेरभिराममस्थात् ॥

यदा (भद्रः) भजनीयः श्रीरामः (भद्रया) भजनीयया
श्रीसीतया (सचमानः) सहितः (आगात्) आगच्छति
देहे प्रादुर्भवति तदा (जारः) रावणः (स्वसारम्) कृष्णीणां
रुधिरेणोत्पन्नत्वाद्भगिनीतुल्यां सीतां (अभ्येति) अभि-
गच्छति (पश्चात्) अन्तकाले (अग्निः) क्रोधेन प्रज्वलितो
रावणः (अभिग्निष्ठन्) युद्धे श्रीरामस्य सन्मुखे तिष्ठन् सन्
(सुप्रकेतैः) सुप्रज्ञानैः (उशद्विः) श्वेतैः (वर्णैः) द्युतिभिः
कुम्भकर्णदीनां जीवात्मभिः सह (रामम्) श्रीरामरूपं
विष्णुं (अस्थात्) विष्णोः सामीप्यतां प्राप्नवान् ॥

भाषार्थ—भद्र राम भद्रा सीता जी के पास प्रकट हुवे तब जार रावण ने
ऋषियों के सुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समाग जानकी को हरण
किया पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सन्मुख होकर कुम्भकर्ण
आदि के जीव आत्माओं के माथ श्रीराम की सामीप्यता को पाया ॥

उत्तर-धन्य हो । भद्र=राम । भद्रा, स्वमा=सीता । अग्नि=रावण ।
वर्ण=कुम्भकर्णदि के जीवात्मा । ये जो आपने अर्थ किये, इन में व्याकरण
गिरहक्क कोष निघट्ट ब्राह्मणयन्पादि किसी का भी कुछ प्रमाण है वा आप
को आकाशवाणी हुई ? रूपा करके संदिता के पुतलक में देखिये कि इस
मन्त्र का “ अग्नि ” देवता है । गिरहक्क के मतानुसार-

या तेनोच्यते सा देवता

जिस का मन्त्र में वर्णन हो वह देवता उस मन्त्र का होता है । तदभु-
सार अग्नि देवता का वर्णन इस मन्त्र में है । इस जो अर्थ करेंगे सो तो
सामवेदभाष्य (हमारे किये) में देखियेगा ही, परन्तु अग्नी साप्तशाखार्थ के

भाष्य से ही सन्तोष करिये और जानिये कि इस में राम छीता का घण्टा नहीं है। इस गन्त्र से पूर्वसे-

३ १८ २२ ३ १८

कृष्णां यदेनीमभि-इत्यादि

गन्त्र का भी अधिग देवता है। और इससे अगले-

१ २ ३

कथा ते अग्ने अङ्गिर-इत्यादि

गन्त्र का भी अग्नि देवता है। किर बीच में रावण कहां से आय कूदपड़ा?

सायणाचार्यभाष्यम्

३ २ ३ ३ १ १५ ३ २ ६ १ २ १ २ ६ १२ १२ ३
भद्रोभद्रेया सचमानआगात् स्वसारञ्जारोअभ्येति पश्चात्।

३ १८ २२ ३ २ ३ २ १ १५ ३ १ २ ३ ३ १ १२ ३
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निवितिष्ठनुशद्विर्वर्णरभिराममस्यात् ॥३५ ॥

“भद्रः” भजनीयकल्याणः “भद्रया” भजनीयया सचमानः “आगात्” आगच्छति । ततः पश्चात् “जारः” जरयिता शत्रूणां “सोऽग्निः” “स्वसारं” स्वयं सारिणीं भगिणीं वा आगतामुषसम् “अभ्येति” अभिगच्छति । तथा “सुप्रकेतैः सुप्रज्ञानैः” “द्युभिः” दीप्तिभिस्तेजोभिः सह “वितिष्ठन्” सर्वतोवर्त्तमानः सोऽग्निः “उग्रद्युभिः” इवेतैः “वर्णः” वार-कैरात्मीयस्तेजोभिः “रामम्” कृष्णं शार्वरं तमः “अभ्यस्थात्,, सायंहोमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ ३ । ५ ॥

सायणकृत भाष्य का भाष्यार्थ-भजनीय भजनीया के सहित जाता है। (तिष्ठन्) शत्रु गों का नाशक वह अग्नि, स्वयं चलने वाली वा अग्निनी जाई हुई उषा के सामने जाता है। तथा भले प्रकार प्रश्नान्-तेजों के साथ सब ओर वर्तमान वह अग्नि, इवेतवर्णं रोकने वाले अपने तेजों से “रामम्” काले रात्रि के अधिष्ठारे को सायं होमकालमें तिरस्कार करके स्थित होता है॥

आप तो 'राम' का अर्थ दाशरथि करते हैं और सायणाचार्य 'राम, का अर्थ "काला अंधियारा" करते हैं, कहिये आप का अर्थ साजें वा आप के माननीय सायणाचार्य का ? आप ने तो "व्यत्यय" के महारे और बहुल के महारे बेद का अर्थ करना हमी ठट्ठा भगवत् लिया है । हम यह नहीं कहते कि सायणाचार्य का भाष्य सन्देहरहित है परन्तु हाँ, आप के पक्ष के आचार्य का भाष्य भी आप के अर्थ का पोषक नहीं, इस लिये हमने यह भाष्य उद्धृत किया है ॥

जब तौसरे लक्षणाऽवतारमाध्यम मन्त्रकी व्यवस्था सुनिये:—

४० निः भाः पृः १८ से मन्त्र और उमका अर्थ हम मकार है:—

कृष्णं तए मरुशतः पुरोभाश्चरिणवर्चिर्वपुषामिदेकं ।

यदप्रवीतादधते ह गर्भं सद्वशिच्चज्ञातोभवस्तोदुदूतः ॥

ऋ० मं० ४ मू० ३ मं० ८ अ० १

पद-कृष्ण ते एम रुशतः पुरः भाः चरिणु अर्चिः वपुषाम् इत् एकम् यत् नप्रवीता दधते ह गर्भम् भद्यः चित् जातः भवसि इत् उदूतः ॥

कृष्णं तेएम इति, हे भूमन् ! ते तत्र रुद्ररूपेण पुरस्तिस्तो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहान् ग्रसत-स्तुर्यस्त्ररूपस्य यत्कृष्णं भाः सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत् एम प्रामुख्याम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिज्ज्वालात्रदंश-मात्रं समप्तिजीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिणुभोक्तृ-रूपेण वर्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्गतिर्निंगडे ग्रस्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकीपुत्रायेति-छान्दोग्यं दंत्र व्या एव कृष्णमातृत्वदर्शनात् सा गर्भं स्वगर्भं दधते धार-यति दध धारणे इत्यरुप रूपमह प्रसिद्धुं सः त्वं जातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य इदुसद्य एव उनिश्चितं दूतः दुनोतीतिदूतः मातुः खेदकरोऽतिवियोगदुःखप्रदी भवसीत्यर्थं एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धूतमिति सूचितम् ॥

भावार्थः—हे भूमन् ! आप का जो सत्यानन्दचिन्मात्र रूप है और रुद्र रूप से तीर्ण पुर को भाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को अपने वाला रूप तुरीयाहना तिस कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होक्ये, जिस आपके स्वरूप की एक ही अर्चिं भर्योत् ज्वालावत् अंशमात्र समर्पित जीव अनेक देहों में चरिणु भर्योत् भोक्तृ रूप से वर्तमान है, और जो कृष्णगा को अपवीता भर्योत् निगहप्रस्त देव की गर्भ रूप से धारण करती भई । छन्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी भुवी है, हे भूमन् आप प्रसिद्ध हो गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए, इसमें ओं कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और गहेश्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिदशत्व बोधन किया

प्रस्तुतर—कहिये ! ये अनर्थ कहां से उड़ाया है ! जिस में—यस्त, जीव, वर्तते, इदं, उनिश्चितं, यस्त का अर्थ अपने वाला । धन्य भाष्यकर्ता जी ! यथार्थ में इस गन्त्र का भी (देखो संहिता चाहे जहां की छारी वा लिखी) अनिन्दी देवता है । जिस से इस में भी अग्नि का वर्णन होना चाहिये । आपने अपने अर्थ में इस को सर्वेषां उड़ा दिया । इसका भी सायणमाड्य देखिये :—

**“हे अग्ने ! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शददेनं
गमनमार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति । भाःतव्र
सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरुस्ताद्भवति । चरिणु संचर-
णशीलम् अर्चिंस्त्रदीयं तेजःवपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेज-
स्विनामित्यर्थः । एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वम्
अप्रश्रीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं
दधते ह धारयन्ति खलु । स त्वं सद्वश्रितसद्वएवजात उतप-
न्नः सन् दूतोभवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव”**

सायणाचार्य कृत भाष्य का भावार्थ—हे अग्ने ! तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है । तेरा प्रकाश आगे रहता है । चलने वाला तेरा सेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है । जिस तेरे समीप न गच्छे हुये यजमान लोग उयोंही तेरे गर्भ रूप भरणि को धरते हैं त्योंही तू उत्पन्न होता ही दूत भर्योत् यजमान का दूत बन जाता है ॥

सत्यपर्यं पहुँ है कि भारित का भार्या काला है। जहाँ होकर आग निकलती है वहाँ काला पड़ जाता है। आग के साथ २ जाने २ उस का प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का ही प्रकाश तत्परता से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में सुख करके है। अग्नि को यज्ञकर्ता यजमान लोग जब दो आरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं; तत्काल उत्पन्न होकर दूत का दान देने लगता है भर्यात् यजमान के दिये हुवे हविभर्ण, वायु आदि दंयों को पहुँचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेरों में बहुधा गायायगा है॥

इस भार्ये के अनुमार, जिस के मानने से सगतानी लोग इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि हमारा किया अर्थ नहीं है कि किन्तु सायणाचार्य का किया है इस में कहाँ देवकी और कृष्ण का पता नहीं चलता॥

३० तिं ३० भा० प० १६८ १६९ में—सपर्यगाच्छुकमउकायम० । इस मन्त्र में परमात्मा के देहरहित होने के स्पष्ट कर्णन को द्विपाने का उद्दीपन किया है। परमात्मा में भी स्वयंप्रकाशतत्त्व माना है। जितने प्रकार के आकारों को सगतनधर्मी भाज कल पूजते फिरते हैं उन सब आकारों का और देहों का तो यहाँ आपने भी निषेध ही स्वीकार किया है। हाँ, “स्वयम्भूः” पद से ब्रह्मा विष्णु आदि अवतार सिद्धुकरने में गीता का प्रमाण दिया है। सब लोग जानते हैं कि स्वयंभू का भर्या जनादि, स्वयं वर्तमान, किसी से जन्म न लेने वाला, है। गीता के श्लोक का अर्थ यह है—

अजोऽपि सन्नवययात्मा भूतानामोश्वरोपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ गी०४१॥

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मैं जीवात्मा (अग हूँ) भर्यात् भरीर का जन्म हुआ है, मुझ जीवात्मा का नहीं। और मेरा जात्माभविनश्ची है भर्यात् भरीर का नाश होता है, मैं (अव्ययात्मा) भविनश्ची हूँ। (और भूतोंका हेतु) भर्यात् पञ्चमहाभूतों का स्वामी हूँ। मेरे अधीन पञ्चमीतिक भरीर चलता फिरता है। (अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता होकर अपनी प्रकृति के साथ 'जन्म लेता हूँ') भर्यात् प्रकृति और जीवात्मा से निलकर सेरा जन्म कहाता है॥

सो कृष्णचन्द्र जानी हूँसे से यह भेद जानते थे कि जीव भजर है। भरीर जन्मते भरते हैं। इस में परमेश्वर का कुछ भी वर्णन नहीं। श्री कृष्ण को परमेश्वर जगतकर्ता जानना जग्नान और जग्नाय है॥

८० तिथि भा० प० १६६ यं० २३ मे०—“ चक्रपाण्ये स्वाहा ॥ ”। इस को भैत्र-
घरी शरस्वता का वाक्य लिखकर भाकार भवतार दोनों भिन्नु किये हैं ॥

प्रत्युत्तर-चक्रप्राणि शठद भाने भान्र से अगकश्चुतिप्रतिपादित परमात्मा
के प्रकरण स्वरूप में बाधा नहीं भाती, न उस की साकारता भिन्न होती है ।
चक्र संसारचक्र पाणी अधीनतया वर्तमानं यस्य स चक्रप्राणिः ॥ संसारचक्र
जिम परमेश्वर के हाथ में है अपरोत् परमेश्वर के अधीन है । हाथ कहने से
अधीन होना ही तात्पर्य है । लोक में भी “हाथ” का अर्थ “तदुपीन” देखा
जाता है । जब कहते हैं कि पदाना गुरु का काम है परन्तु याद करना
विद्यार्थी के “हाथ” है । तो क्या “हाथ” से याद किया जाता है ? नहीं,
थहाँ हाथ का तात्पर्य अधीन है । अथवा कहा जाता है कि सारी प्रजा
राजा की मुट्ठी में वा हाथ में है । तब क्या प्रजा भाकार मुट्ठी में बन्द होती
समझी जाती है ? कभी नहीं । किन्तु अधीन ही समझी जाती है । इतेता-
इवतरोपतिष्ठृ में भी कहा है कि—

सर्वनिद्रयगुणाभासं सर्वनिद्रयविवरजितम् ॥ ३ ॥ १७ ॥

परमात्मा के कोई इन्द्रिय नहीं परन्तु मबहन्द्रियों से होने वाले काम
विग्रह इन्द्रियों के भर सकता है और करता है ॥

८० तिथि भा० प० १६६ यं० २५ से—प्रजापतिश्वरति गर्भेः । इस सत्त्र से
भवतार साधे हैं ॥

प्रत्युत्तर-गन्त्रार्थ सुनिषेद—

**प्रजापतिश्वरति गर्भे श्रुत्तरऽजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुभुवनानि विश्वा ॥**

यजुः ६१ ॥ १९ ॥

अर्थ—जो (भजायमानः) भाव देहयुक्त नहीं होता (प्रजापतिः) प्रजा
का रक्षक (गर्भे) गर्भस्थ जीवात्मा में भीर (भन्तः) सब के इदय में
(चरनि) वर्तमान है (बहुधा) बहुत प्रकारों से (विजायते) विविध
प्रकट है (तस्य) उस के (योनिम्) स्वरूप को (धीराः) भीतर भ्याम
करने वाले लोग (परिपश्यन्ति) सब भीर देखते हैं । (तस्मिन् इ)
इस ही में (विश्वा भुवनानि) सब लोक लोलान्तर (तस्युः) ठहरे हैं ॥

भला इस से जन्म धारण करना भ्रा गर्भवास को छाप होना भजिप्राप्त

होता ती ” (परिपश्यन्ति) सब जोर देखते हैं । क्यों कहा जाता । क्योंकि दैध्यारी सब जगह गहरी देखा जाता । और “ ध्यान करना बाले देखते हैं । इस का यही तात्पर्य है कि चमे घस्तु से गहरी दृख्यता किस्त आएगा । ही में ध्यान करने से दीखता है । और बहुत प्रकार प्रकट है का तात्पर्य यही है, कि जहाँ देखो वहाँ परमेश्वर की महिमा दृष्टि पड़ती है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिस में उस की भासीखी कारीगरी न दीखती हो ॥

इस गम्भीर के भाषीधरताव्य में सी शवतार विशेष का प्रतिपादन नहीं है। हां जीव ब्रह्म को एक मान कर सब जगत् में जितने जीव उत्पन्न होते हैं, कोट पत्रादि सब ब्रह्म ही हैं। यह सी शास्त्रवय प्रतिपादित किया है ॥

ੴ ਤਿਓ ਗਾਓ ਪ੍ਰ੦ ੧੭੨ ਪੰਨੋ ੩ ਸੇ

समुद्रासि विश्वव्यचाञ्जोस्येकपादहिरसिबुध्न्यो वागस्यन्द्रमसि
सदाऽसि कृतेस्यद्वारौमासासन्तस्मध्वनामध्वपते प्रमांतिरस्व-
स्तिमेस्मिन्पृथिवैवयानेभ्यात् ॥ यज० । अ० ५ मं० ३३

पादोऽस्यविश्वाभृतानित्रिपादस्यामृतंदिवि

यह ब्रह्माण्ड एक पाद में स्थित है और त्रिपाद हम ब्रह्म का स्वर्ग में स्थित है और आप अहिर्बुद्धरूप मध्यस्थान देवता हैं हमी कारण निः चंड च० ४ ख ५ में अहिर्बुद्धानाम मध्यस्थान देवता कहा है वहाँ हन्द्र का नाम अहिर्बुद्ध है हेमगवन् आप ही १ परा २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ वैखरी वाग रूप हैं, और हन्द्र को सपा रूप भी आप ही है, हेपरमात्मन् (कलत्स्य) घन वा सत्य के द्वारा उपाय मुक्तू प्राप्त होते हैं (अध्यवपते) देवयानमार्ग के अधिष्ठाता आप शास्त्रम् परमात्मरूप (शाश्वतान् प्रतिर) मुझे मार्ग को

प्राप्त कर उत्तीर्ण करो, हे भगवन् ! इस देवयानपार्ग में सुके कल्पाणा प्राप्त हो, इत्यादि भवतार बोधक सहस्रों ही मन्त्र हैं, जिने विद्या हो चारों देशों ने देखले, इन मन्त्रों से त्रिपाददत्त्वान् में अग्रस्व वा मायाकृत जन्म होने से भी अग्रस्व मिहु होगया ॥

प्रत्युत्तर—यदि आप महीधर को भी मानते होते तो भी यह विहृत थार्थों न करते । गहनंधर ने इस मन्त्र को पछ में १-ब्रह्मासनम् (मसुद्रोसित) २-शालद्वार्यम् (भजोमित) ३-प्राजहितम् (अहितमित) ४-सदोऽभिन्न-थैनम् (वाग्नित) ५-द्वार्ये (ऋगस्य०) ६-मूर्योऽभिमन्त्रणम् (अध्यपतित) इस पक्षार कात्यायन के (९।८।२२-२३) के प्रमाण से यक्षाङ्गों पर लगाया है । शर्यत १-ब्रह्मासन की प्रशंसा । २-शालद्वार में स्थित भगित की प्रशंसा । ३-पक्षीशाला के पश्चिमकी ओर पुराणा गार्हपत्यनामक भगित=प्राजहित कहाता है उसकी प्रशंसा । ४-सदप्रकाम्यथंसा । ५-द्वारग्नाखाभों की प्रशंसा और सूर्यकी प्रशंसा में जागाया है । आप भवतार मिहु करते हैं । यह भन्धेर । (विश्वठपचाः) का शर्यत प्रत्यक्ष है कि विश्व=गगत में व्यापने वाला । आप उस में स्वयंसर्वकापक बताते हैं । समुद्र की उपमा आप बुद्ध्युदादि विकारांश में लेते हैं, ब्रह्म निर्विकार है । (भजोऽस्मिएकपात्) में आप “या दोस्य विश्वासूनानित” का प्रमाण चलटा देते हैं । क्योंकि आप के लेखानुसार भी विश्व भज है और पक्षपात् स्थिति में है इस लिये सज्जना हुआ तो “भजोऽनि एकपात्” की संगति नहीं लग सकती । और “एकपात्” का अर्थ जिस के एक देश में जगत् है “जग” का अर्थ अग्रन्ता लेने में स्वासी जी का पक्ष ठीक रहता है कि वह एकरस होने से किसी देहविशेष में विशेष गाव ये गहीं रहता, अर्थात् भवतार नहीं लेता । और अहित्युध्य शहद ने यहाँ निघरटु में लिखे मध्यस्थान देवता का ग्रहण करोगे और परमेश्वर विषय में इस मन्त्र को लगा भोगे तौ तुम्हारे भत में परमात्मा द्युत्स्थान और पृथिवीस्थान नहीं । केवल मध्यस्थान है । अतः आप का परमात्मा सब्दश्चापक भी नहीं रहा अब इस का ठीक अर्थ सुनिये-

हे परमेश्वर ! आप (मसुद्रोसित) ऐसे हैं जिस में सब ग्रन्तियों का गमनागमन है (विश्वव्यचाः) जगत् में व्यापक और (भजः) अग्रन्ता (भजित) हैं (एकपात्) जिसके एकदेश में जगत् स्थित है (अहितः) व्यापक (मुख्यः) भाकाश में होने वाले (लक्षित) हैं (याकृ भनि) आप

जगत् की वाली हैं, भाव के विना कोई खोल नहीं सका । (ऐन्त्रंसदःअसि) ऐश्वर्य का उपान है । (ऋतस्यद्वारी) उपवहार के दो द्वार प्रस्तुत अमर्त्यस(मा) मुझे (मा सत्तासम्) दुःख गर्दें (अध्वपते) हे घर्ममार्ग के पालक ! (मा) मुझे (अध्वनाम्) घर्म और शिल्प के मार्गों को (प्रतिर) पार कीजिये और (मे) मेरे (अस्मिन् देवयाने) इस देवों के चलने थोथ (पथि) मार्ग में (स्वस्ति भूयात्) सुख हो ॥

(य भास्तव्य निष्ठृत्) इस में स्पष्ट यह कथन है कि जो परमात्मा, जीवात्मा में उपापक है (पश्यत्मा जारीरम्) जीवात्मा जिस के शरीरवत् है । शरीर में जीव रहता है, जीव में परमात्मा रहता है ॥

५० तिं० भा० प० १७३ प० २७ म०— (प्रजापतिश्वरति गर्भे) इस श्रुति से प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होने से देवश्वर को एकदेशीय होगा चाहिये । उपापकत्व का भङ्ग होगा ॥

प्रत्युत्तर-भाव तौ (प्रजापतिश्वर०) का अर्थ यह कर लुके हैं कि राम कृष्णादि होने के लिये गर्भ में आता है । उब भूल कर सब के शरीरों में प्रविष्ट बताने लगे । नहीं २ यह पाठ भाव ने किसी भाष्यसिंहादि से लिया होगा और वह पाठ अन्य किसी से । भावका चरा दोष है । भाव का कुछ घर का घोड़ा ही है ॥

भला कोई पूछे कि सब शरीर में एक ही परमात्मा व्यापक है तो व्यापकत्व का भङ्ग और एक देशीयता का प्रसंग कहाँ जाता है ? प्रत्युत राम कृष्णादि जे किसी देवविशेष में जाने से उपापकत्व का भङ्ग होता है । सब शरीरों में भोगरहित परमात्मा का मानना दोष नहीं । परन्तु रामकृष्णादि में भोगायतन शरीरधारी मानना उस में दोषरोपण है । आकार शब्द का अर्थ स्वरूप नहीं है किन्तु चक्षुः का विषय है । और यदि भाव अपने मनमाता भाकार शब्द का अर्थ स्वरूप जानते हैं, तो सच्चिदानन्दस्वरूप भात्र तो हम भी परमात्मा को मानते हैं । शून्य नहीं । परन्तु भाव जहाँ की पूजा को सिद्ध करना चाहते हैं वह पूजा परमात्मा के ऐसे सुकृपतपस्वरूप में कि जहाँ जांख आदि इन्द्रियाँ तौ च्या । मग बुद्धि आदि भी नहीं पहुँच सकते हैं, वहाँ मूर्तिपूजा को भाव के लेल से क्या सहारा दहुँच सकता है ?

५० तिं० भा० प० १७१-१७२ म०— भावाभारत और रामायण के इसीक अवतार विषय में प्रमाण दिये हैं ॥

प्रत्युत्तर-भावाभारत के प्रभागों के विषय में आगे उत्तराधि^१ एकादश
समुद्धास में भोज केसंजीवक यथा का प्रकरण देखिये। और रामायण के लिये
भी वहीं “भग्रपूर्वं नहादेवः”^२ के उत्तर में देखिये ॥

द० तिं० भा० प० १७२ पं० १२ से—

यह उन की भूल है जो कहते हैं कि वेद मन्त्रों में इतिहास नहीं होता
बहुत से मन्त्र इतिहासनिश्चित निहक्क में व्याख्यान किये हैं। यथाहि—

**त्रितः कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबधभौतत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृद्ग्
मिश्रगायामिश्रं भवति निं० अ० ४ पा० १ खं द**

कूप में पढ़े हुए त्रित नामक ऋषि को यह अघो लिखित सूक्त प्रतीत
हुआ वहां ब्रह्म वेदवाक्य इतिहास निश्चित ऋषायुक्त हैं और गाया निश्चित हैं

त्रितः कूपेऽवहितोदेवान् नहवत ऊतये ऋष० मं० १ अ० १५

सू० १०५ मं० १७

अर्थ कूप में गिरा हुआ त्रितऋषि देवतामों को ऊति नाम रक्षा के
वास्ते (इवते) नाहूदाग करता हुआ, यहाँ यह इतिहास शास्त्रायान शास्त्रा
में प्रमिहु है एकत्र द्वित और त्रित नामक ऋषि ये, वे तीनों एक समय पर
महसूनि में द्यास के मन्त्रस हुए एक कूप पर पहुंचे तिगतीनोंमें सैत्रित जल
पान करने को कूप में प्रवेश कर जल पों सुन दीनों के अर्थं भी जल लाया,
उन्होंने जल पों लिया पीछे फिर तीनों कूप के द्विग पानी पीने के बहाने
मध्ये, और त्रित को कूप में ढकेल उस के ऊपर रथचक्र घर सब उस का
नालमता लेके चल दिये तब त्रित ने देवतामों को इनरण किया और कूप
से निकले यह इतिहास इन मन्त्र में गर्भित है इस से जो कहते हैं वेद में
इतिहास नहीं है वे अस्वप्न हैं ॥

प्रत्युत्तर-(त्रितः कूपे) पाठ निहक्क में नहीं है किन्तु—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबधभी ।

तत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृद्ग्निश्रं गाया मिश्रं भवति । निरु० ४ । ६

अर्थात् निहक्ककार कहते हैं कि—एक उमय त्रित नाम ऋषि कूपे में उड़े
हे। उम्हे उस समय (संकातपन्थ्यभिग्निः०) इत्यादि सूक्त याद व्यागया
(उस) उस समय—वेद, इतिहास, गाया निल गये ॥

अर्थात् वेद में वागादि काल से योगदृष्टि त्रितापन्थ्युक्त सूक्तवर्त्तमान या

किन्तु इतिहास वा गाया न पोः परन्तु त्रित को दैवयोग से यह सूक्ष्याद आया। तथ उपने गपने कर घटाया। इनमे शाखोरुक्तइतिहास और मूल अध्यात्म के मन्त्रों का भाव गिजाया। जो गाया गाप त्रित आदि तीन भावों को लिखते हैं उसे शाखा में ही आप भी बताते हैं। मूल में नहीं। वेद के व्य स्पात रूप शाखाओं में भी स्वामी जी भी इतिहास मानते हैं, परन्तु मूल वेद में नहीं। शब मन्त्र का अर्थ सुनिये—

त्रितः कूपेवहितो देवान् हृवत ऊरये० ऋ० १ । १०५ । १७

(त्रितः) त्रीन्विषयान्विद्वाशिक्षाव्रह्मचर्यस्व्यान् तनोति सः। अत्र इयुपपदात्तनोतेरौणादिकोडः। “त्रितस्तीर्णत-योमेवया” इत्यादि निरु० ४ । ६॥ (कूपे) कूपाकारे गर्भारे हृदये। “कुरुपतेव्रा०” निरु० ३ । १६॥ यस्माद्गृह्यदयात् क्रोधादय उत्पद्यन्ते तत्र (अत्रहितः) अवस्थितः (देवान्) दिव्यगुणान्वितान्विदुषो दिव्यान्गुणान्वा (हृवते) गृह्णति॥

अर्थ—(त्रितः) इविद्या शिक्षा ब्रह्मचर्य गामक विषयों का विस्तार करने वाला पुक्ष (कूपे) गहरे हृदय में (अवहितः) व्यानादिवस्थित हुआ (देवान्) विद्वान्तों वा दिव्य गुणों को (हृवते) ग्रहण करता है॥ उणादि-कोष, निरुक्त ४ । ६ और ३ । १६ के प्रमाण संस्कृत में कृपर देखिये॥

८० तिर० भा० प० १७२-१३ में—

“अपां फेनेन०” और “इन्द्रोदधीचः०” इग दो मन्त्रों में इतिहास का चरण किया है॥

प्रत्युत्तर—इग मन्त्रों का अर्थ सुनिये—

अथाऽप्यभ्याः—शोषूक्ष्यश्वसूक्तिगावृषी। इन्द्रोदेवता। गायत्री छन्दः॥

३११ २२ १२ ३ १२ ३ १२

अपां फेनेन नमुच्चः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः।

३ १२ २२ ३ १२

विश्वा यदजयः स्पृधः ॥ ८ ॥ (२११)

पदपाठः—अपाम् ६ । फेनेन ३ । नमुच्चः ६ । शिरः २ । इःश्रू च० । उद्दय-र्त्तयः किं० । विश्वा० २ । यत अ० । अजयः किं० । स्पृधः ३ ॥

अन्वितपदार्थः- (इन्द्र) परमेश्वर ! वा वृष्टिकर्त्तः !
 (अपाम्) जलानाम् (फेनेन) वृद्धया सह वर्तमानम्
 (नमुचेः) यदा जलं न मुञ्चति तदा तस्य मेघस्य (शिरः)
 उवताङ्गम् (उद्भवर्त्यः) त्रिनत्स (यत्) यदा हि (विश्वाः)
 समस्नाः (स्पृधः) स्पर्धमामाः मेघराजीः (अजयः) जयसि
 पक्षान्तरे पाप्मा वै नमुचिः । शतपथे १२ । ७ । १ । ४ ॥

पूर्वमन्त्रोक्त्यज्ञफलमाह—यज्ञेन परमात्मा पापस्य,
 वृष्टिकृद्विद्विशेषो वा जलमसुञ्चितो मेघस्य शिरशिठुनत्ति
 वर्षाः करोति च ॥

स्फायो वृद्धो इत्यस्मात्, फेनमीनौ (उणा० ३ । ३)
 इति फेनशब्दो निपात्यते ॥ प्रातरिति—स्वरादि निपातमव्य-
 यम् (१ । १३०) इत्यन्तोदात्तत्त्वेन पठितत्वादन्तोदात्तत्वम्
 तत्र तथाविधगणपाठपाठ एव नियामकः ॥ ऋग्वेदे ८ ।
 १४ । १३०पि ॥ ८ ॥

भावार्थः— (इन्द्र) परमेश्वर ! वा वृष्टिकारक इन्द्र ! (अपाम्) जलों
 की (फेनेन) वृद्धि के सहित वर्तमान (नमुचेः) जल को न छोड़ने वा ले
 मेघ के (शिरः) उवताङ्ग को (उद्भवर्त्यः) छिक करता है (यत्) जब
 हि (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धां करने वाली बैगा के समान मेघ की
 पक्षियों को (अजयः) जीतता है ॥

पक्षान्तर में—शतपथ १२ । ७ । ३ । ४ के अनुसार नमुचि पाप का नाम
 है । सूर्य नन्त्र में लिखे यज्ञ का जल इस नन्त्र ये वधो होना कहा गया है ।
 अष्टाव्यायी१ । ३ का प्रमाण संकृत भाष्य में देखिये । अ०पा० १४ । १३ में भी ॥८॥

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री द्वदः ॥

१ २ ३ ३ ६ १३६१८ ८८ ३ १३ ३ ६ १८ ८८
 इन्द्रो दधोचो अस्थभिर्वृत्राएयप्रतिष्कुतः । जघान नवतीनवधु
 पदपाठः—इन्द्रः १ । दधीचः ६ । अस्थपतिः ३ । दधायि २ । अप्रतिष्कुतः १ ।
 जघान किं । नवतीन । नवः २ ॥

अन्वितपदार्थः—(अप्रतिष्कुतः) परेरप्रतिशब्दितः
 (इन्द्रः) परमैश्वर्यशान् सूर्यइव राजा (दधोचः) “प्रत्यक्तम-
 स्मिः ध्यानमिति” निरु १२ । ३३ दध्यहृ तस्य समीचः पदार्थ-
 जानस्य (अस्यभिः) अस्यन्ते प्रक्षिप्यन्ते तैः किरणैरिव
 बाणैः (नव, नवती) दधोत्तराण्यष्टयतानि ८१० (वृत्राणि)
 आवरणकराणि तमांसीव शत्रुसैन्यानि मेघान्वा (जघान)
 हन्ति ॥

अस्यभिः इत्यत्र—असु क्षेपणे इत्यस्मात्, अविचञ्जि-
 भ्यां विथन् (उणा० ३ । १५४) इति विथन् ॥

संख्याङ्केषु नवाङ्कोहि सर्वैर्गुणितोऽपि नवभावमापद्यते।
 यथा—द्वाभ्यां गुणिता नव १८ । तत्र १+८=९ ॥ त्रिभिर्गुणिता
 नव २७ तत्र २+७=९ ॥ चतुर्भिर्गुणिता नव ३६ । तत्रापि
 ३+६=९ ॥ पञ्चभिर्गुणिता नव ४५ । तत्रापि ४+५=९ ॥ एषमग्रेऽपि
 सर्वत्र, अतएव इयं नवात्मकैव संख्या पुनः पुनस्तद्भावमा-
 पद्यमानासु शत्रुसेनासु मेघावयवेषु वाऽत्युचिता विन्यस्ता-
 स्ति । आदौ गुणव्यभेदभिन्ना त्रिधा सेना, ततः कालभेद
 भिन्ना नवधा ६, ततः शक्तिभेदभिन्ना सप्तविंशतिधा २७ ।
 प्रभावोत्साहमन्त्रजाञ्छिविधाः शक्तयः । तत उत्तमाऽधम
 मध्यमभेदेन एकाशीतिधा ८ । तत्रापि दधदिग्न्तर्गतत्वा-
 दृशधात्वे दधोत्तराणि शतान्यष्ट ८१० ॥ एतत्संख्याका मेघ-
 प्रकारास्तरस्थानप्रकारा वा ॥

श्रीसायणाचार्यस्तु

“ अन्नभाकटायनित इतिहासमाचक्षते—आथवंणस्यदधी-

चो जीवतो दर्शनेन असुराः परायभवः । अथ तस्मिन्स्थ-
गंते असुरैः पूर्णा पृथिव्यमवत् । अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह यो-
हुधुमशक्तुवस्तमृषिमन्विच्छन्, स्वर्गं गत इति शुश्राव ।
अथ पप्रच्छ तत्रत्यान्-इह किमस्य किञ्चित् परिशिष्टमङ्ग-
मस्ति ? इति । तस्मा अत्रोचन्-अस्तयेतदाशवं शोषं, येन
शिरसा अश्रितभ्यां मधुविद्यां प्राऽब्रवीत्, हन्तु न । विद्मः
तदाप्राभवदिति । पुनरिन्द्रोऽब्रवीत्तदन्विष्यतेति । तद्वा
अःवेषिषुः । तच्छर्यणावत्यनुविद्याजहुः (शर्यणावहु वै
नाम कुहक्षेत्रस्य जघनार्थं सरः स्पन्दते) तस्य शिरसोऽस्य-
भिरिन्द्रोऽसुरान् जघानेति” इत्याह ॥

ऋग्वेदेऽपि १ । ८४ । १३ तत्र श्री १०८ स्वामी दया-
नन्दसरस्वती तु—

“पदार्थः—(इन्द्रः) सूर्यलोकः (दधीषः) ये दधीन्
वायवादीनञ्जन्ति तान् (अस्यभिः) अस्त्विरञ्चञ्जलैः किरण-
चलनैः । अत्र, छन्दस्यपि दृश्यते । अ० ७। १। ७६ अने-
नाऽनडादेशः । (वृत्राणि) वृत्रसम्बन्धभूतानि जलानि
(अप्रतिष्कुतः) असचलितः (जघान) हन्ति (नवतीः)
नत्रतिसंख्याकाः (नव) नव दिशामवयवाः ॥

अन्वयः—हे सेनेश यथाऽप्रतिष्कुतिन्द्रोऽस्यर्भनवनव-
तीर्दधीचो वृत्राणि कणीभूतानि जलानि जघान हन्ति तथा
शत्रूनिहन्ति ॥

भावार्थः—अप्रवाचकलुप्तो—मनुष्यैः स एव सेनापतिः
कार्यैः सूर्यवच्छत्रूणां हन्ता स्वसेनारक्षकोस्तोति वेक्षम्” इति

सायणोक्तेतिहासादन्यथाविवरणकारमतं आसन्ध्यव्रतः
सामश्रम्याह । यथा—“कालषज्ञा नाम असुरः । असुरं ची-
ध्यमाना देवा ब्रह्माणमुपगम्योक्तवन्तः—भगवन् ! कालषज्ञे
रसुरैवध्यामहे । तेषां मारणोपायं विधत्स्वेति । अच्छुत्वा
स तानुवाच । दधीचिन्नाम ऋषिस्तमुपगम्य ब्रूत, स मार-
णोपायं विधास्यति । ते तच्छुत्वा तथैत्यद्गीकृत्य तं दधीचि
मुपगम्य उक्तवन्तः—भगवन् ! अस्मदीयान्यस्त्राणि शुक्रस्तेषां
पुरोधा अपहरति, तानि रक्षसत्र । ततः स ऋषिस्तानुवाच—
मम मुखे प्रक्षिपध्वम् । तत इन्द्रादिभिर्देवैः समरुद्धौः तस्य
मुखे प्रक्षिप्तानि, पुनः कालेन देवासुरसंग्रामे पर्युपस्थितं
एत्य, देवा ऊचुः—भगवन् ! तान्यस्त्राणि प्रयच्छुस्वास्माकम् ।
ततस्तेनोक्तम्—तानि मे जीर्णानि न तानि पुनः प्राप्तं
शक्यानि । ततः प्रजापतिमुखा देवा ऊचुः—भगवन् ! प्राण-
त्यागं कुरुष्व । इति श्रुत्वा पुनः कृतश्च तेन प्राणत्यागः
तस्य धधीचः स्वभूतैरस्थभिरिन्द्रो वृत्राणि जघान इति ॥”

वेदेष्वितिहासस्याऽपौरुषेयत्वव्याघातकत्वात्, इतिहा-
सस्य परस्परविरुद्धत्वात् मूलविरुद्धत्वाज्ञनाऽस्मन्मनोमन्यतेषु

भाषार्थः—(अप्रतिष्ठकुनः) गिम के मामने कोइ न ठहर सके ऐमा
(इन्द्रः) परमेष्वर्यवान् सूर्य के तुल्य राजा (धधीचः) लक्ष्य पर ध्येन पहने
योग्य पदार्थ के रचित (अस्थानिः) किरणतुल्य वाणीं से (नव, नवानीः)
भौमठबे १० (वृत्राणि) रोकने वाले शक्तिधार वा मेघतुल्य शत्रुंना को
(जघान) भारता है वा मारे ॥

संहया के छहों में ९ छहों ऐसा है जो किसी संहया के साथ गुणों, योग
से ९ ही रहता है । जैसे ९ को २ से गुणों तो १८ हुवे, १८ के १ और ८ मिलाने
से किरण ही हुवे । ९ को १ से गुणा ही २७ हुवे २+९=१८ हुवे । ९ की

४ से गुणा ती द्वि हुवे $4+6=10$ ही आये । फिर ८ को ५ से गुणिये ती भी ४५ हुवे $4+5=9$ ही आये । ऐसा ही जागे जानो । जिस कारण ८ की संख्या दूसरी किसी संख्या से इनन करने पर भी पुनः पुनः उनी अपने स्वरूप में हो जाती है इस कारण नव नठवे के अङ्ग से शत्रुघ्ना को गिना है जो बार बार जुड़ कर उसी स्वरूप से सामने आये ॥

सहव रजः तमः इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की सेना होती है । फिर भूत भवित्व वर्तमान इन ३ कालकृत भेद से ३ प्रकार की हुई । फिर प्रजाव उत्साह और भन्न इन ३ शक्तियों के भेद से २७ गुणी हुई । फिर उत्तम सभ्यता और अधन भेद से ८१ प्रकार की हुई । और दूर दिशाओं के भेद से २१० प्रकार हुए ॥

सायणाचार्य इस में इतिहास लिखते हैं कि—“शाकटायनी सोग इस में इतिहास कहते हैं कि जीवते हुवे आथर्वा दधीचि के दर्शन मात्र से असुर हार जाते थे । फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा तो समस्त पृथिवी असुरों से जार गई । तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में अमर्य हो; इस ऋषि (दधीचि) को ढूढ़ते हुवे उन कि वह तो स्वर्ग को निधार गया । तब इन्द्र ने वहां वालों से पूछा कि यहां उस का कुछ शेष अङ्ग कोई है? । उस (इन्द्र) से कहा कि उस का शिर शेष है जिस शिर से उस ने ऋषियों को भधुविद्या कही थी । परन्तु हम यह नहीं जानते कि वह कहाँ है? । फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूढ़िये । उस्होंने ढूढ़ा । उसे शर्येषावती में पाय कर ले आये । (शर्येषावत् कुरुक्षेत्र का नाम है) उस के शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को जार ॥”

ऋग्वेद १। ५४। १ में भी ऐसी ही ऋचा है और उस पर श्री १८८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इस प्रकार भाष्य करते हैं कि—

“पदार्थः—हे देनापसे । जैसे (अप्रतिष्ठकतः) सब और से स्थिर (इन्द्रः) भूर्य जोक (अस्यभिः) अस्तिर किरणों से (नव नवतीः) जिक्कानवे प्रकार के दिशाओं के अवयवों को मास हुवे (दधीचः) जो धारण करने हारे वायु भादि को मास होते हैं उन (वत्राणि) भेघ के सूक्ष्म अवयवरूप जलों का (जपान) इनन करता है जैसे तू अनेक अपनी शत्रुओं का इनन कर ॥

भावार्थः—अब बाचकलु०—वहां सेनापति होने के योग्य होता है जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हत्ता और अपनी सेना का रक्षक है ॥

सायणचार्यों इतिहास से विरहू विवरणकार का नत सत्यव्रत साम-अभी जी बताते हैं कि—

“कालबल्ल नाम असुर थे, उन असुरों से सताये हुवे देवताओं ने ब्रह्मा के समीप जाकर कहा । भगवन् ! कालबल्ल असुर सताते हैं । उन के मारने का उपाय कीजिये । यह सुन वह (ब्रह्मा) उन से बोला कि दधीचि नाम अविष्ट है, उस से जाकर कहो, वह मारने का उपाय करेगा । वे (देवता) यह सुन, “अहूत अचक्षा” कह कर उस दधीचि के समीप गये और कहा कि भगवन् । उन (असुरों) का पुरोहित शुक्राचार्य हमारे असुरों का अपहरण कर लेता है । उन (असुरों) की रक्षा कीजिये । तब उन अविष्ट ने उन (देवतों) से कहा कि मेरे मुख में केंक दो । तब उन्द्रगणों सहित इन्द्रादि देवतों ने (अव) उस के मुख में केंक दिये । फिर समय पाय देवाः सुरभद्र्यान् हुमा ती देवतों ने भाकर कहा कि भगवन् । वे हमारे अख दीजिये । तब उन्ने कहा कि वे ती मुझे पच गये, अब वे फिर नहीं मिल सके । तब ब्रह्मादि देवतों ने कहा कि भगवन् । प्राणत्याग कीजिये । यह सुन उन्ने प्राण त्याग दिये । उस दधीचि की अस्थि=हड्डियों से इन्द्र ने वृत्रों को मारा ॥

वृद्धों का ऐतिहासिक अर्थ उन की अपौरुषेयता का बाधक, और पर-स्पर सायण और विवरण का विरोध होने, तथा मूल में इस प्रकार की कथा न होने से, यह अनर्थ हमारे मन को नहीं भाता ॥

निहत्त १२ । ३३ उणादि ३ । १५४ वा० १११३६ तथा सायणाचार्योदि की सम्मतियां संस्कृतमाध्य में ज्यों की त्यों उद्घृत हैं ॥ ५ ॥

८० तिठ भा० पृ० १७२ पं० २१ और फिर पृ० १७३ पं० १६ से “शाकटायन” की शाखा को “शाक्यायन” करके लिखा है । छापेखाने की मूल एक जगह होती परम्परा दोनों जगह एक ही सी मूल नहीं हो सकती । क्या आप ने सायण के भाष्य में भी शाकटायन शब्द स्पष्ट न देख पाया ?

८० तिठ भा० पृ० १७३ पं० ८८ में—“मूलं भठयं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रतिष्ठिते ॥ ममु० लिखकर बतलाया है कि वेद में त्रिकाल की बातें जासक्ती हैं तब इतिहास होना कुछ दोष नहीं ॥

प्रत्युत्तर-इस का तात्पर्य यह है कि प्रवाह से सदा होते रहने वाले

उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि का सब वर्णन वेदों में है । और भूत भविष्यत् वर्तमान काल में जब कभी कोई ऋषि ने किसी विद्याविषय को प्रकटकिया, करता है, वा करेगा, सो सब मूलदृष्टि से वेद में है, उसी से प्रसिद्ध मात्रकरता है, नया नहीं । परम्पुरामहात्मादि के नाम घरने उन के पिताभादि जे अधीन ये और जिन रावणवधादि का करना रामादि से स्वतन्त्र अधीन था, उन नामों वा कामों का वर्णन वेद में नहीं आ सकता । क्योंकि यदि ऐसा हो कि लोगों से किये जानेवाले पापपुण्यादि कर्म भी वेद ने प्रथम से ही नियत कर रखे हों तो फिर पाप वा पुण्य ही क्या रहे । मनु में पाठ भी “प्रसिद्धिति” है । “प्रतिष्ठते” यह आप का अशुद्ध कल्पित पाठ है । विशेष जीव की स्वतन्त्रता का प्रमङ्ग आवेगा तो लिखेंगे ॥

इत्यङ्गतारप्रकरणम् ॥

—○:○—

अथ सर्वशक्तिमन्त्रप्रकरणम्

जो लोग सर्वशक्तिमान् का भर्ते यह समझते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इस लिये असम्भव देहादिधारायापूर्वक जबतारादि ले सका है । उत्पर इत्यामी जी का स्तेतु है कि सर्वशक्तिमान् का ऐसा तात्पर्य समझना भूल है । किन्तु जो कुछ वह अपने सर्वशक्तिवादि बनन्त सामर्थ्य से करता है उसमें किसी की सहायता की आपेक्षा नहीं रखता । और यदि असम्भव और निष्प्रयोजन बातों में सर्वशक्ति को काम में लाना समझा जावे तो अपने आप को क्या मार भी सका है ? क्या अनेक ईश्वर अपने सदृश बना सकता है ? इत्यग्दि आशय है ॥ इस पर द० लिं० भा० प० १९५ में—

नेन द्विन्दन्ति शखाणिं इत्यादिप्रमाणं गीता से देकर लिखा कि छठ छठ और भर नहीं सकता ॥

प्रत्युत्तर-ती किर भी यह नहीं जान सके हैं कि सर्वशक्तिमान् होनेवे वह असम्भव करसका है । क्योंकि असम्भोगजन्मव्य अनादि फूटत्व अजर असर प्रदार्थ में जन्मयस्व सादित्वविकार जरूर मरणादि असम्भव हैं । जिस म्रकार इन असम्भ बातों को आप सर्वशक्तिमान् से समझवा नहीं जानते हैं तभी प्रकार भृहव के प० १९५ प० १. में के (उत्र को इच्छा मात्र से सब जगत् उत्पक्ष हो जाता है) मनुपार जिस की इकड़ा जात्र से उत्पत्ति हो जाती है

उस की इच्छामात्र से हिंयति और प्रलय भी हो सकता है और फिर किन्हीं रावणादि क्षुद्र राक्षसों के प्रलय का तो कहना ही क्या है जिन के मारने को अवतार की कुछ भी आवश्यकता नहीं। गीता का इतोक जीवात्मा के विषय में है, परमात्मा के नहीं ॥

४० तिथि भाषा पृ० १३५ पं० १४ से नृत् विद्याधि यजु ११ । ५१
मन्त्र लिख कर यह शङ्का की है कि इस मन्त्र में कहा है कि (नृत् विद्याधि)
अर्थात् उस परमेश्वर को तुम नहीं जानते। फिर यह स्वामी जी ने कैसे जान
लिया कि वह अवतारादि धारण गहीं कर सकता । परन्तु इस बूफते हैं कि
आप ने यह कैसे जान लिया कि अवतार धारण करता है ? जब कि कहते
हो कि उने कोई गहीं जानता । इस तो (नृत् विद्याधि) का यह तात्पर्य
समझते हैं कि परमात्मा मन और बुद्धि का विषय नहीं हो सकता ॥

४१ तिथि भाषा पृ० १३५ पं० २५ से-एतावानस्य महिमा० यजु: ३१ । ३
मन्त्र जिखकर तात्पर्य निकाला है कि जितनी गहिमा परमेश्वर की सब
ब्रह्माण्डों में है वह चतुर्थेश है ३ अंग और विष्णुलोक में है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- ३ अंश और १ का तात्पर्य संख्या में नहीं । संख्या अविद्यतिक्ष वै । तात्पर्य यह है कि सब जगत् परमात्मा के एक देश मात्र में है ।
शेष परमात्मा जगत् के बाहर अनन्त वा त्रिपात् है । वह भी एकरम होने
से ऐपा ही मान सकते हैं जो न कि जगत् में है । इससे यह तात्पर्य नहीं
निरुलता कि वह असंसद कर सकता है ॥

४२ तिथि भाषा पृ० १३६ में-नासदासीत् नस्त्युरासीत् इत्यादि दो मन्त्रों
से यह निदु किया है ति जब साधा, जीव, सहृ, रग, तम, मात्काश, जल
इत्यादि कुछ न था और परमेश्वर ने सब कुछ रच लिया तो सर्वशक्तिनाश का
बही तात्पर्य व्यों नहीं, जो इस कहते हैं ॥

प्रत्युत्तर- आप ने जो आगे पृ० २६६ में-“जीवेणौ च विषुद्धाचिद्विस्तेष्व
तयोर्द्वयोः । अविद्या तच्छितोर्योगः षड्हस्माकमनादयः ॥”

इन वाक्य को वार्तिकाकार सुरेश्वराचार्य का कह कर स्वीकारा है और
इस इतोक में जीव, रैश्वर, शुद्र चेन, दोनों का भेद, अविद्या, अविद्या और
चेन का योग; इन दो पदार्थों को भनादि माना है तब आप इन मन्त्रों
के अर्थ में भी भनादि जीव जो कैसे बताते हैं कि वह नहीं था ॥ ठीक
अर्थ सुनिये:-

ना सदासीन्नो सदासीत्तुशार्नि नासीद्रज्ञो नो व्योमाऽपुरोयत् ।
किमावर्दिविः कुहकस्य शास्त्रव्रम्भः किमासीद्विहनं गभीरम् ॥
ऋः ॥ १० । १२९ ॥ मृत्युरासीदिमृतं न तर्हि न रात्या
जहं आसीत्प्रकेतः । अनीद्वातंस्वधया तदेकं तस्माऽङ्गान्यन्न पुरः
किञ्चनास ॥ २ ॥

अर्थे—(न अस्त आसीत्) प्रथम न तौ असाव था, (नो सत् आसीत्)
और न प्रतीयमान जगत् था, (न रजः आसीत्) न धूलि थी, (नो व्योम)
न शून्य था (यत्) जो (अपरः) अपरम्-जिन वे परे कुछ नहीं ।
(तदानीम्) तब प्रलयकाल में (किम्) क्या ? (कुहकस्य आवरोधः शर्मन्)
कोहरे का आवरण वह [निधं० ३ । ४] में था ? (किम् गहनं गभीरम् अस्तः
आसीत्) क्या घन-गहरा जल था ? कुछ नहीं था (तर्हि) तब (न मृत्युः
आसीत् न असूतम्) न मृत्यु होता है न जीवन । अर्थात् संसार के माणी
तब न तौ मृत अवस्था में रहते न जमत में किम्लु सर्वतःसुप्त सी विलक्षण
दशा में रहते हैं । (न रात्रयः अहूः प्रकेत आसीत्) न रात्रि और दिन
का चिन्ह था । ती फिर कुछ था भी ? हाँ, (तत् एकम्) वह एक
(धावातम्) निश्चल (स्थिता) अपनी धारण की हुई प्रकृति और जीवात्माओं
सहित (आनीत्) जीवित रहता है । (तस्मात् ह अन्यत् परः) उस स्थिता-
सहित ब्रह्म के अतिरिक्त (किञ्चन न आस) कुछ नहीं था ॥

इस में स्पष्ट स्थिता शब्द से ब्रह्म के धारित प्रकृति और जीवात्मा का
होना वर्णित है ॥

३० तिं० भा० प० १३३ प० १ से—यहमा विश्वा भुवनानि—इत्यादि यजुः०
१३ । १३ का ग्रनाण देकर परमेश्वर को जगत् का कक्षा और संहस्रे बनाया
है । यह तो इस भी जागते हैं, परन्तु इस से यह नहीं चिह्न होता है कि
परमेश्वर सर्वशक्तिमान् होने से अवतारलेन। रूप बन्धन में भी भासकार है ॥

३० तिं० भा० प० १३३ प० १६ से—अपाणिपादोनवगो ग्रहीताऽ भीर
न तस्य कायें करणं च० । ये दो इलोक इवेताइवतरोपनिषद् वे और इन का
सत्यार्थप्रकाशस्थ अर्थे लिख कर शब्दा की है कि इनके भर्तौ में स्वानीद्या०
जी ने कुछ सेव किया है और पाठ में भी । परन्तु उस से भी उस की

सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है और स्वामी जी ने जो परमेश्वर में हस्त-पादादि न होने पर अपनी शक्ति से सब कुछ करना लिखा है उस पर आप के लेख का भाव यह है कि हस्तपादादि उपाधिसहित होकर वह हस्तपदादि के काम करता है। और शक्ति, ब्रह्म से जिक्र है वा अभिक्ष वा विलक्षण। जिक्र कहो तो तीन पदार्थों के अनादित्व में ४ पदार्थ होगये। अभिक्ष मानो तो शक्ति जह है उस का चेतन से अभेद बाधित है। विलक्षण मानों तो अद्वृत शक्ति वाले को प्रकृति की सहायता अपेक्षित नहीं॥

प्रत्युत्तर-पाठ में जो महान्तम् का पुराणम् । वेद्यम् का विश्वम् । और अस्ति पद का छूट जाना है आत है, उन का उत्तर तो यह है कि-कठउत्तरस्थ लिखने अदि कारणों से पाठ भेद होगया था जो अब संवत् १५५५ के लिये सत्यार्थप्रकाश पृ० १९९ में ठीक शुद्धपाठ कर दिया गया है। यदि शुद्धपाठ से इमारे विशुद्धकुद्ध भाव हो जाता होता तो फिर शुद्ध वर्णों किया जाता। यूं तो छपाई की अशुद्धियें सहस्रः भाव के पुस्तक में भी हैं। इसी पृ० १९६ पं० १२ में शम्भवमस्तः, का शम्भवमस्तः लिया है। पृ० १३ में—प्रसिद्धति, का-प्रतिष्ठिते। इत्यादि अनेक हैं। अपेभेद में भाव उपाधि लगाते हैं जिन का वर्णन मूल में किञ्चित्तमात्र नहीं। और ब्रह्म सब से बड़ा होने से उपाधि से उपहित अर्थात् घेरे से घिर भी नहीं सका। शक्ति शक्तिमान् का समवाय सम्बन्ध है। इन लिये शक्तिमान् कहने से शक्ति का शवयं यहाँ हो जाता है। स्वामी जी ने तीन पदार्थ अनादि माने तो क्या वे शक्तिरहित भाने हैं? नहीं, जीव, ईश्वर, प्रकृति, तीनों अपने गुण कक्षे इवभावसहित अनादि हैं। इतने से कोई चीजा द्रव्य अनादि नहीं हो गया। शक्तिमान् द्रव्य है, शक्ति उस का गुण है, गुण गुणी में समवाय=नित्यसंस्बन्ध है॥

द० तिं० भा० पृ० १९६ पं० २५ से—

का॒मस्तवद्ये॑ सम्वर्त्तताधि॑ मनसा॑ रेतः॑ प्रथ॒मं॑ यदासीत्॑ ।
स॒तो॑ बधुमर्त्ति॑ निरविन्दन्॑ हृदि॑ प्रतीष्या॑ कृवयो॑ म-॑
नीषा॑ ॥ ऋ० १० । १२१ । ४

इस मन्त्र का भावार्थ यह लिकाला है कि जगत् का बन्धनहेतु काल है, जो मन से उत्पन्न हुआ है। तो शक्तिरूप हस्त से रचना कहना दूषान्तर, जी का वेदविरह है। और यहीतो पद से पूर्वरचित पदार्थ का यहाँ करने

वाला जर्ये होता है। रचना का जर्ये नहीं होता। और वेगवाला भी ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म वेदा नहीं है। इत्यत्रि अशय है॥

प्रस्तुतर-प्रथम तौ मन्त्र का जर्ये छुनिये—

इस जे पूर्व मन्त्र ३ में (महिनाऽज्ञायतैकम्०) में महतत्र की उत्पत्ति अह-चुके हैं। (तद्ये कामः सभाचिवत्तं) उम महतत्र के पश्चात् काम=अह-द्वार उत्पत्ति होता है, उमी को मन कहते हैं (मनसःरेनः प्रथमं यत् आसीत्) उस मन का बोज जो पूर्व या (कवयः मनीषा हृदि प्रतीक्ष्य) विद्वान् लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके (असति सतो बन्धुम् निरविन्दन्) असत्- अप्रतीयमान अवस्था में सत्-प्रतीयमान जगत् के बन्धु=आधने वाले कर्त्ता को जागते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्व कल्पकृत कर्त्ता हेतु होते हैं। निधयोजन जगद्वचना नहीं होती है। इस सब से जो व ब्रह्म प्रकृति और जीवों के कर्म प्रवाह से अनादि सिद्ध होते हैं॥

आप जो मन से जगत् को मान कर परमेश्वर की शक्ति से उत्पत्ति नहीं मानते सो भूल है। परमेश्वर की शक्ति निनित्तकारण है, महतत्र मनभादि उपादान कारण हैं। दीनों बातें ठीक हैं। इन में विरोध नहीं है। ब्रह्म अन-न्त है अह उपाधि में नहीं घिर सकता, अतः उपाधि रूप हाथों से कहना भी ठीक नहीं। जगत् के कुम्भकारादि लोग भृत्तिकादि उपादान को इत्य में लेकर रखते हैं। इस कारण समझ में आने के लिये यहाँ करके रचना स्वागती जी ने बोधित कराई है। ब्रह्म एक देश को त्याग कर दूसरे देश में बेग से नहीं जाता, परन्तु सर्व देशों में व्यापक होने से सर्वत्र काम ऐसे ही कर सकता है जैसे कोई बेग वाला यहां भी काम करे और बेग से दौड़ कर बहार भी। उपनिषद् के मूल में “जगतः” पद है जिस का अर्थ बेग वाला ही आप भी कर सकते हैं। बेग शब्द से गति विवक्षित है, गति के ज्ञान गमन प्राप्ति इ अर्थ हैं। प्राप्ति अर्थ यहाँ करने से भी उत्तम दोष नहीं आता। “ब्रह्म वेदा भी नहीं है”। इस कहने का तात्पर्य यही है कि मन बुद्धि का विषय नहीं है। मन बुद्धि के विषय साधारण पदार्थ होते हैं। ब्रह्म निरवधिक है। इस लिये स्वामी जी का यह कहना ठीक है कि उस को कोई अवधिसहित नहीं जान सकता॥

—#—

अथ पापनाशनाऽसंभवत्वप्रकरणम् ।

इस विषय में द९ तिथि भाद्र पू० १५० । १८१ । १८३ में इतने तक ॥-

- १-जब पाप क्षमा नहीं करता तो उस के अस्तित्व स्थीकारने में क्या लाभ ?
 २-उस का भजन करना क्या ?
 ३-अष्ट कर्म का अष्ट फल है तो पवित्रात्मा परमात्मा की नामस्मृति का उत्तम फल क्या न होगा ?
- ४-उसका जानकुद्गुण प्रभाव नहीं रखता तो उस से अपने आचरण के सुधारें ?
 ५-गुण कर्म सुधारना प्रयोजन है तो किसी भले जादी के आचरणों को बेख कर सुधार सकते हैं ?
 ६-ईश्वर से भेल होने पर पाप के रह सकते हैं ?
 ७-ईश्वर के प्रत्यक्ष होने का अर्थ जाप ने नहीं खोला । क्या प्रत्यक्ष कहने में साकारता नहीं पाई जाती ?
- ८-जो स्वयं काम कर सके वह ईश्वर से क्या अन्य से क्यों चाहायता जांगे ?
 ९-हमारे शत्रुओं को नारो, सुभके सब से अधिक करो । यदि यह प्रार्थना ज करनी चाहिये तो शतशः बेइश्वरों में से एकावर्णन क्यों है ?
- १०-ईश्वर के भरोसे जालनी रहना मुर्खता है । यह लिखना नास्तिकता है । क्योंकि ईश्वर का भरोसा आस्तिकता है ॥
- ११-जो शुद्ध चित्त से क्षमा जांगते हैं, ईश्वर अन्तर्यामी होने से यह जानकर कि यह फिर करेगा, क्षमा कर देता है ॥
- प्रत्युत्तर-
- १-क्या जो अपराध क्षमा न करे उस का अस्तित्व (होना) ही नहीं स्थीकारना चाहिये ? अन्य ! जब कोई नेत्रिस्ट्रोट किसी के अपराध क्षमा न करे, दण्ड दे, तो क्या अपराधी को यह समझता चाहिये कि नेत्रिस्ट्रोट का अस्तित्व नहीं है अर्थात् नेत्रिस्ट्रोट है ही नहीं ? जब जापने न्याय तो अड़का पड़ा है ॥
- २-उस का भजन हम लिये दूषा नहीं कि उस की उपासना से ज्ञान बढ़ता है । ज्ञान से अगुम कर्मों का भविष्यत के लिये त्याग होता है । जिन से उत्तरोत्तर सुख बढ़ता है ॥
- ३-कर्म ज्ञान उपासना हम इन ३ कारणों को एक समझता अज्ञान है । ईश्वर को उपासना को शुभ " कर्म " बताना भी इसी से ज्ञान है । क्योंकि उपासना वा ज्ञान, कर्म से भिन्न हैं । उपासना का फल संख्या २ में ऊपर कहा गया । शुकर्मों में अनिहोन वापी कूप तड़ागादि पुरुष कर्म हैं । उपासना उस से अगली उत्तम कथा है । वह कर्मसंशक नहीं है ॥

५-उसका नामशरण अर्थ विचारपूर्वक अवश्य प्रभाव रखता है । जो संख्या२ में जपर हमने लिखा है । स्वामी जी का तात्पर्य उग बगला भक्तों के दामिनी नामशरण को अर्थ बताने से है जो बाह्याहस्त्र भाग्र नाम शालादि जपते भीर चित्त से कुछ नहीं भीर हसी चे न उनका छान बढ़ता, न भावरण बुधरते ॥

६-भले भादमी के शुद्धाचरण भी परमेश्वर की बराबरी नहीं कर सकते । हम लिये भले भादमी के भावार देखकर अपना भावार बुधारणा भी भड़ाती है परन्तु परमात्मा सर्वोत्तम है, उचकी उपासना को बराबरी अन्योपासना से मिहु नहीं हो सकती ॥

७-ईश्वर से भेल होने पर पाप नहीं रह सके, परन्तु पापों के रहते हुवे ईश्वर का पूर्णसाकात् भी नहीं होता । जो ईश्वर का साकात् आहता है उसे पूर्व पापों की भोगसे निवृत्ति कराते हुवे भागे पाप से बचते रहता चाहिये ॥

८-ईश्वर का प्रत्यक्ष भास्मा को होता है, इन्द्रियों को नहीं । ईश्वर ५ इन्द्रियों का विषय नहीं है हम लिये ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ क्या यदर्थन के प्रत्यक्ष से नहीं भिलसकता । भीर न्यायदर्शन में जो इन्द्रियार्थ सक्रिकर्ष को प्रत्यक्ष कहा है, वहां भी पांचों इन्द्रियों से से किसी एक इन्द्रिय का सक्रिकर्ष भी प्रत्यक्ष माना है अर्थात् कोई पदार्थ भाँख का विषय न हो भीर कान का विषय हो वह भी प्रत्यक्ष कहा जाता है । हम लिये आप जो प्रत्यक्ष कहते ही साकार ले दीड़े, यह दर्शनों की अनभिज्ञता है ॥

९-अपने सामर्थ्य से आगे सामर्थ्य प्राप्तकरने के लिये अधिक सामर्थ्य बाले की प्रार्थना के समान ईश्वर की प्रार्थना भी सर्वोत्तम फलदायक है ॥

१०-क्या आप एक भी वेदमन्त्र ऐमा दिखा सकते हैं कि जिस में यह प्रार्थना हो कि हमारे समान अन्य कोई नहीं ?

११-ईश्वर का भरोसा करना सीठीक है परन्तु भालमी बनने की स्थानी भी मिन्दा करते हैं अर्थात् करो भीर फल का भरोसा ईश्वर पर रख लो ॥

१२-शुद्धचित्त से क्षमा मांगने वालों को क्षमा दी जावे तौ अन्य लोग भी पाप करके शुद्ध चित्त में क्षमा मांग लेने के भरोसे से पाप अधिक करें ॥

१३-तिं भाठ पू० १८१ पं० १ में-सुमित्रिया० इम यजुः १६ । १३ मन्त्र वे यह सिद्ध किया है कि जल जोषधि भावि इमें दुषदायी भीर हमारे अन्-

को दुखदायी हों। इस वे जैसी प्रार्थना वेद में पाई गई जैसी स्वामी जी नहीं करनी चाहते हैं॥

प्रत्युत्तर-इस में यह नहीं आया कि इन ही सर्वोपरि हों, इनारे समान कोई नहो॥

३० तिं० भा० प० १८३ पं० ७ में यद्यपाजे यद्रवयेऽ इत्यादि यजुः ३ । ४५ से यह निष्ठुकिया है कि इस मन्त्रमें उन पापों की ज्ञाना भाँगी है जो धारा, वन, सभा और इन्द्रियसमूह में पाप किया है, उसे खिलाश करता हूँ॥

प्रत्युत्तर-(इदं तत् अथामहे) का अर्थ यह है कि “यह उसे इन क्षोड़ते हैं”। इस का तात्पर्य यह नहीं कि इन उनका फल न भोगे गे। फल भोगने में तुम परतन्त्र हो। परन्तु हाँ, यह तीक है कि इन धारों को धारा, वन, सभा भादि में पाप करना यह क्षोड़ते हैं अर्थात् न करेंगे॥

३० तिं० भा० प० १८३ पं० १७ में तनूपा अग्नेसि तन्वं से पात्यायुऽ इत्यादि यजुः ३ । १७ में यह दिखायाया है कि परमेश्वर से अपनी रक्षादिकी प्रार्थना है॥

प्रत्युत्तर-यह कीन कहता है कि प्रार्थना न करो। परन्तु शुद्धाचरण पूर्वक भक्तिभाव से करो। इसमार्य नहीं॥

३० ति भा० प० १८३ में सामवेद के ३ मन्त्र लिख कर यह सिद्धु किया है कि एक में शत्रु का नाश, दूसरे में अपने हिंसकों को भस्म करने की प्रार्थना, तीसरे में परमेश्वर से यश धनादि की प्रार्थना है॥

प्रत्युत्तर-यदि इन मन्त्रों का अर्थ देखना है तो इनारे किये सामवेद-भाद्रप प० ११ में (नमस्ते हरसेऽ) का अर्थ भीर प० ४८ प० में (अग्ने रक्षाणः) का अर्थ, तथा प० १२ में (आनो अग्नेऽ) का अर्थ देखिये परन्तु आप के किये अर्थों में भी यह नहीं नहीं किखा कि इनारे समान कोई न हो॥

३० तिं० भा० प० १८४ पं० ८ में एवेवापापरेऽ इत्यादि ऋ० १० । ४४ । ३ का ग्रन्थान देकर उपासना का फल कहा है॥

प्रत्युत्तर-इस में “पाप क्षीण व नष्ट हो जाते हैं” यह किसी पद का अर्थ नहीं॥

किर ३० तिं० भा० प० १८४ पं० २४ में-सन्ध्या में का प्रसिद्ध मन्त्र (तच्च-सुर्देवद्वितम०) यजु० १६ । २४ लिखकर प्रार्थना दिखलाई है॥

प्रत्युत्तर-यह किस का पता है कि प्रार्थना गकरनी चाहिये ? हाँ, कर्म

न करना केवल प्रार्थना ही करते रहना, फलपाना, पाप भर्त्य स्वामी जी ने नहीं गाना सो आपने जितने मन्त्र दिये, किसी में वर्णित नहीं है। समष्टि सूर्तिं धायापक परमेश्वर का गर्थ किसी पद का नहीं। अवतार अरित्र भी किसी पदका अर्थ नहीं। अध्याहार योग्य पदोंका ही सकता है। ईश्वर में दोषारोपण रूप अवतारचरित्र अध्याहार भी नहीं हो सकता॥

सत्यार्थप्रकाश में जो लिखा है तिं १-सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्म की उपासना समुण्ड। गन्धादि प्राकृत गुणोंसे पुण्यक् ब्रह्ममी उपासना निर्गुणकहा ती है २-परमेश्वर के सभीप होने वे दोष तुःख छूटकर पवित्रता होती है ३-ईश्वर का साक्षात् करना। इस पर—

४० तिं ७० पृ० १५६-१५७ में ये तर्क हैं १-स्वामी जी के लेख परस्पर-विद्धु हैं। यहां उपासना सार्थक बतायी २-सर्वज्ञत्वादि वे बाकारत्वादि भी सिद्धु हैं। ३-सभीपता सूर्तिं सान् ही की हो सकती है। सूर्तिरहित की क्षमा सभीपता ४। ४-सूर्तिं सान् विना हुवे प्रत्यक्ष कैसेहो । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी के लेख को आप मनभे नहीं। परमेश्वर (सर्वज्ञादिगुणकोधर्मरूपः) सर्वज्ञत्वादि आपने गुणों से युक्त-भीर चत्वर रज तम आदि प्राकृत भीर गन्धादि पृथिव्यादि ने गुणों से रहित होने से निर्गुणहै। प्रार्थना करण्ड ठप्यं कहीं भी नहीं बताया। हां प्रार्थनामात्र करने को बेठ जाना, हाथ पैर का पुढ़वार्थ सबंधा त्यागदेना, व्यर्थ कहा है। सर्वज्ञ होने से बाकार होना मानने का कोई कारण नहीं। ३-सभीपता सूर्तं की नहीं हो सकती किन्तु असूर्तं ही की हो सकती है। क्योंकि सूर्तिं पदार्थभिक्षदेश में रहता है। कह सभीप भी हो तो कुछ न कुछ दूर ही रहता है। असूर्तं परमाहना को इद्य के भीतर ढायापक जानना अत्यन्त सभीपता प्राप्त करगा है। ४-प्रत्यक्ष होने का उत्तर पृष्ठ ६५ में दे चुके हैं॥

४० तिं ७१ पृ० १५९-१६० में—भरंदासो न भीदुषेऽ इत्यादि ऋ० ३ । १६१ ५ में जो “भरम् कराणि” पद है उन से परमेश्वर को भलडूकत=सूर्यित करना कहा है भीर भूषित, सूर्ति ही हो सकती है। यह कहा है॥

प्रत्युत्तर-परमेश्वर निराकार है, उसका भूषित करना असंभव है। भीर मूल में “भरंदकराणि” का कर्म “देवम्” भी नहीं है। किन्तु “देवाम् नीदुषे” ये चतुर्पर्णं विभक्ति हैं। इस लिये “परमेश्वर को” भलडूकत करना

अर्थ भगुदृ भी है। यदि अत्यय नामो तौ भी ठीक नहीं। क्योंकि अतुर्धी विभक्ति के संसब अर्थ को त्याग कर अत्यय से असंसब अर्थ करना लेखा-लाजी है। और आप ने अन्वय करते हुवे "देवाय" का "देवम्" कर्म परिणत किया भी नहीं है इस से आप के लेखानुसार भी आप का अर्थ अशुद्ध है। शुद्ध अर्थ सुनिये:-

अरं द्रासो न मीढुवे कराण्युहं देवाय भूर्णयेऽनागः । अचत-
यदुचितोदुवो अ॒योगृत्सं राये कृवित्तरो जुनाति । ४० ७१६।७

(अहम्) में (अनागः) निष्ठाप होकर (दासो न) दासवत् अपने को (भीढुवे भूर्णये देवाय) सब कामनाओं के बर्षणे वाले और धनादि के अहुतायत से दाता देव के लिये (अरं कराण्यु) पर्याप्त करूँ । (अचितः देवः) चपन=मूर्तिरहित देव (अर्थ) स्वामी (कृवित्तरः) अत्यन्तमेधावी परमात्मा (अवेतपत्) इस प्रकार इसे चिताता है । (राये) विद्यादि धन के लिये (शतम्) मेधावी पुष्ट एवं (जुनाति) प्राप्त होवे ॥

उपमार्थीय उपरिष्टात्० निरुक्त १ । ४

के अनुसार "न" का अर्थ 'उपना' इसे स्वीकृत है। अरम्=मलम् का अर्थ-
भूषणेऽलम् । १ । ४ । ६४ ॥

के अनुसार "भूषण" होता तौ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती और "देवाय" अतुर्धी न होकर द्वितीया और नित्य समाप्त भी होता । अचितः-यह चिन्मूर्ति का अहुता का प्रयोग है। नज् का समाप्त है मूर्ति में चपन होता है। अचित अहुते में मूर्ति का निषेध ही भाता है। शतमः निष्ठ० ३ । १५ में मेधावी का नाम है। (जुनाति) जुन गते तुदादि परम्मे पदी धातु का लेट् का प्रयोग है ॥

तात्पर्य इस का यह है कि जिस प्रकार कोई दास, स्वामी को प्रसन्न करके अभीष्ट सिद्ध करना चाहता है, इसी प्रकार मनुष्य भी अपने को प्रथम अल्कृत भर्तृत रवाभी की भक्ति के योग्य बनावे। पाप करने छोड़े। सब परमात्मा प्रसन्न हुवे उस के संपूर्ण काम पूर्ण हरते और सब पदार्थ उस को बाहुल्य से देते हैं ॥

इस में पाप नामा करने का मूर्ति पूजने का वर्णन तौ नहीं है, मत्युत वस्त्र है ।

द० तिं भा० प० १८८ पं० २२ मे० -जीव यहां कहा कि-ईश्वर की ब्राह्मण
गुणकर्म स्वभाव जीव के हो जाते हैं, जीव भी ईश्वर के जब गुण कर्म स्वभाव
एकसे हुवे तो जन्मर कैसा । जो वस्तु एक सी रक्ष रूप में हों उनमें जन्मर
कैसा ॥ “गणोऽरमन्तरं कुरुते भयं तस्य भयं भवति द्विनीयाद्वै भयं भवति” ४०३०

प्रत्युत्तर-धन्य हो । गुण कर्म स्वभाव “एकसे” का तात्पर्य “अविरह्णु”
है । अर्थात् जीव उस जागरूकता में ईश्वर के विरुद्ध अविहित गुण कर्म स्वभाव
नहीं रखता । आप जो गुण कर्म स्वभाव की ब्राह्मण एकसापेक्षा वा अविरह-
हुता को रूप रक्ष की एकता लिखते हैं यह कैसा बड़ा अल्पान है । जीव
ईश्वर दोनों के स्वरूप में रूप रक्ष है दी नहीं ॥

इहां रथयोगीप्रविष्ट हैं जो वचन आपने उद्धृत किया उसका तात्पर्य
ती यह है कि जो पुरुष ब्रह्म से योहा भी जन्मर अर्थात् भीद वा विरोध
करता है उसे भय होता है क्योंकि दूसरे अर्थात् आपने विरोधी से भय
बुझा करता है ॥

द० तिं भा० प० १८८ पं० २७ मे० -यजुर्वेद अ० ४० मं० १३ योसावादित्ये
पुरुषः सोसावहम् । जो यह आदित्य में पुरुष है सो मैं हूँ । इत्यादि जीव
ईश्वर में एकताबोधक बहुत भ्रुति है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आगे चलकर आप जीव को ईश्वराधीन परतन्त्र लिखेंगे ।
यहां दोनों को एक बताते हैं । एक में स्वतन्त्रता के अतिरिक्त परतन्त्रता
का व्याकाश ? और यजुर्वेद के व्याकाश का जाये आप का लिखा भी जानलें
तब भी परमेश्वर के यह कहने से कि “ जो यह आदित्य में व्यापक पुरुष
है सो मैं हूँ ” जीव ब्रह्म की एकता तो नहीं पाई जाती किन्तु भूर्य का भी
धारक भी उस में व्यापक परमात्मा सिद्ध होता है ॥

द० तिं भा० प० १८९ मे० -सर्वधर्मानुपरित्यज्य इस से सब धर्मकर्म छोड़
कर जी कठण के शरण जाना जाताया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का प्रकरणानुभार यह भर्तु है कि:-

सर्वधर्मानुपरित्यज्य मामेकं शरणं द्रज ।

अहं तत्रां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः । गीता

लड़ाई के समय अर्जुन की जब जाति शशुर्मों के वध में दोष प्रतीक
होने लगा भीर वह धर्म के विचार से हिंसा से पीछे छूटने लगा तब भीकठण

ने कहा है कि—“तू मब धर्म कर्म के विचार छोड़ दे । केवल मेरा सहारा ले, मैं तुम्हे मब पापों से बचा लूँगा । शोक मत कर ।”

अर्थात् तू अल्पज्ञ है इन लिये स्वयं धर्म का विचार मत कर । किन्तु मैं जो बहुत हूँ, मेरा सहारा ले । अर्थात् मैं तुम्हे पाप कर्म में गहरी हूँ तो ने दुःख देंगा किन्तु क्षाप्रधर्मानुसार युद्ध कराता हुआ इस सोक और परसोक का दुखिया बना सकता है । तू कुछ शोच मत कर ॥

—————=०:०:०=————

अथ जीवात्मस्वातन्त्र्य-प्रकरणम्

३० तिथि भाद्र पूर्ण १८९-१९१ में इतने तर्क है-

१-जब कि स्वामी जी के लेखानुसार जीव जीव कर्म करेगा ईश्वर ने पहिले ही अपनी सर्वज्ञता से जान रखता है ती जीवकर्म करने में स्वतन्त्र कहाँ रहा ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने यह गहरी लिखा कि “जीव जीव कर्म करेगा, ईश्वर ने पहले ही अपनी सर्वज्ञता से जान रखता है” किन्तु स्वामीजी ने यह लिखा है कि—“ जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है ”

इस में स्पष्ट यह पाया जाता है जीव का कर्म करना, और ईश्वर का कर्म को जानना, एक साथ होते हैं आगे पीछे नहीं । अर्थात् न तो यह कि जीव पूर्वकाल में कर्म करे और ईश्वर उत्तरकाल में उसे जाने । और न यह कि ईश्वर पूर्वकाल में जान लेता है फिर उत्तरकाल में जीव कर्म करता है । तथा जब जीव ने कर्म गहरी किया तब उस कर्म की सत्ता गहरी है, और स्वतन्त्र होने से जीव किसी कर्म को करे वा न करे, इस कारण कर्म की सत्ता भविष्यत् काल में नियत नहीं है । तब वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालों में जनियत कर्मसत्ता को यदि ईश्वर नियत माने वा जाने तो ईश्वर को “अन्यथाज्ञानी” मानने का दोष जाता है । और यह कहना कि भविष्यत् कर्मों के ग जानने से ईश्वर ने अज्ञान वा अल्पज्ञता भाती है, ठीक नहीं है । क्योंकि जो कर्म न सो दुख, न भविष्यत् में नियत है, वे यथार्थ में अवस्था हैं, वस अवस्था को अवस्था ही जानना जात है और अस्था को अवस्था वा अवस्था को वस्तु जानना अविद्या है ॥

२-प० १८८ पं० २६ चे-स्वासी जी ने प० १९७ पं० २५ में लिखा है कि पापफल भोगने में परतन्त्र है, स्वासी जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल भोगने से स्वतन्त्र और इस चे यही उनि मिकलती है कि पापर्हमे ती परतन्त्रता से भोगने पड़ेंगे, ती पुण्य फल में स्वतन्त्र हुवा चाहे ग्रहण करे वा नहीं सो इस में जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता। ती दयामन्द जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल शुभ है और उस का ग्रहण और त्याग जीव के आधीन है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आपने पुण्यफलभोग में स्वतन्त्र न होने में कोई भी युक्ति वा ग्रन्थाण नहीं दिया। पुण्य का फलभोग ईश्वरदत्त जब जीव को प्राप्त हो और जीव उसे स्वतन्त्रता से त्याग दे। ती भी उसका भोग तो उसे मिल गया। व्योंकि जो वस्तु किसी को मिले ही नहीं, उसका त्यागकै ना? उस त्यागने से मिलता मिलू है और त्यागना आगे के लिये और एक शुभ कर्म है जिस का भविष्यत में कोई फल फिर मिलेगा ॥

३-प० १९० पं० ३। ४ में-इस असी स्वासी जी के लेखानुसार कि (जीव जैसा कर्म करेगा ईश्वर पहले ही से जानता है) मिलू कर चुके हैं० इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-स्वासी जी ने अपना गत्तव्य कहीं नहीं लिखा था कहा कि “ईश्वर पहले ही से जानता है” इस लिये आग के असत्य लेख का उत्तर ही स्था दें ॥ और यदि कोई बात जीव के आधीन नहीं तो मीता आदि में निष्काम अर्थात् फलभोगेवढारहित शुभ कर्मोंका विधान व्यर्थ होगा। क्या आप उसे भी गही भानते?

४-प० १९१ पं० ५ चे-विद्यमान शरीर से जो जो कर्म किये जाते तथा उख दुःख भोगे जाते हैं वे सब अपने ही पूर्व कर्मों के अनुकूल होते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यदि पूर्व कर्म, फल का भी हेतु हैं और आगे के कर्मोंका भी हेतु हैं तो पाप करने वाला फिर कभी पुण्य न कर सके। व्योंकि विछले पाप उसे पुण्य न करने दें। यदि ऐसा हो तो किसी पापी को पापत्यागार्थ और पुण्याद्यनष्टानाथ उपदेशादि करना सभी व्यर्थ हो जावे। इस लिये यह ठीक नहीं है कि कर्म ही कर्मोंका हेतु है किन्तु कर्म केवल फलभोग का हेतु है। कर्म का नहीं ॥

५ प० १९१ पं० ६ से-यद्यपि जीव कर्म करने में सर्वथा परतन्त्र है परन्तु उन्हि ईश्वर उसी के पूर्व कर्मानुकूल कियमाण कर्म को कराता है ती इन का फल भी अवश्य पुनः जीव को होना चाहिये, ईश्वर पर लेशमान भी दोष नहीं भासता है ॥

प्रत्युत्तर-ईश्वर परदोष क्यों नहीं जाता, पूर्वक सेमी ईश्वरकी प्रेरणा ही में कियेथे?

६-पृष्ठ १५१ पं० २७ में—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो योनः प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र चारों बेदों में आया है। संक्षेपार्थ यह है कि उस जगत्प्रकाशक सविता देवता के वरणीय प्रकाश को हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है। किसी कर्म के करने में हम स्वतन्त्र नहीं ॥

प्रत्युत्तर—यहां भी ईश्वर का ध्यान करना कर्म है और बुद्धियों का स्तकर्म में प्रवृत्त करना उस का फल है। उस जीव ध्यान करने में स्वतन्त्र है, उस का फल बुद्धि का अच्छे कामों में प्रेरित होना। ईश्वर की ओर से है। उस कर्म करने में स्वतन्त्रता और फलभोग में ईश्वरतन्त्रता रही ॥

द० तिथि भाषा पृष्ठ १५२ पं० ११ से—यः सर्वेषु भूतेषु० इत्यादि शहदारयक
के ८ प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि परमात्मा ही उब भूतों में, प्राण में,
वाणी में, भाँख में, कान में, नज़ में, त्वचा में, और आत्मामें जन्तर्यामिकृपसे रह
कर इन्हें उस २ कर्म में प्रवृत्त करता है, इसलिये सबकाम ईश्वरेच्छा से होते हैं ॥

प्रत्युत्तर—जनवाणी आदिका जन्तर्यामी होने से भी ईश्वर हमारी वाणी आदि से कर्म करने में हमें परतन्त्र नहीं करता है। किन्तु उन वाणी आदि को इस योग्य जनाता है कि जीव यदि वाहे तो उन वाणी आदि से वह काम कर सके। ईश्वराधीनता इसमी ही है कि ईश्वर जन्तर्यामिता से उन वाणी आदि से न रहता। और उन्हें अपने अपने कर्म करने में सार्थक न करता तो जीव उन वाणी आदि से कोई काम न लेसके। जिसप्रकार रथादि बनाने वाला रथादि न बनाता तो कोई सवारी आदि का काम न ले सकता। परन्तु रथकार ने रथ बना कर भी रथ में चलने वालों को परतन्त्र ती नहीं किया कि अमुक २ समय पर अमुक २ पुनर्ष अमुक २ हथानों को अमुक २ रथादि द्वारा जावें ही। किन्तु जाने वाले स्वतन्त्र हैं। हमी प्रकार जीव स्वतन्त्र है, भाँख से बुद्धि परे वा कुदूषि, वाणी से दुर्वचन बोले वा बुवचन इत्यादि ॥

द० तिथि भाषा पृष्ठ १५३ में=सर्वेष्य वशी० एको वशीं सर्वभूतान्तरात्मा०
इन प्रमाणों से सिद्ध किया है कि उब कुछ परमात्मा के वश में है ॥

प्रत्युत्तर- वर्षी तो इसने से भी कहा जा सकता है कि कोई कुकर्मी कु-
ब में बरके उन से अच नहीं सकता। अर्थात् यह नहीं हो सकता कि कोई जीव
परमात्मा के नियमानुसार फल भोगते में ईश्वर के बद्ध से आहर होजावे ॥

८० तिं० भा० पृ० १६३ में—एको देवः इत्यादि इवेताश्चतरोपांशुष्टु का
प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर- इस का अर्थ यह है:—

**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माच्छक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ६११**

भा०—(देख:) दिठयगुणयुक्त(एकः) भक्तेला (सर्वभूतेषुगूढः) सब भूतों में द्विपाँ
(सर्वव्यापी) सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) सर्व प्राणियों का अन्तर्यामी
(कर्माच्छक्षः) कर्मफलमदाता (सर्वभूताधिवासः) सब प्राणियों में अधि-
कारी होकर वसने वाला (साक्षी) साक्षिमात्र (चेताः) चेतन (केवलः)
असंयुक्त (च) और (निर्गुणः) महव रज तम से उत्पन्न है ॥ ६ ॥ ११ ॥ इस
से जीव की परतन्त्रता का लेश भी कर्म करने में नहीं जाता ॥

८० तिं० भा० पृ० १६४ पं० १ में—पष्ठ्येव सुकर्मेकारयतिं इत्यादि कीशीतकी
उपनिषद् के वचन से सिद्ध किया है कि परमेश्वर जिसकी उत्तिं चाहत है उस
से सुकर्मे कराता है और जिस की भथोगति चाहना है उससे कुकर्मे कराता है ॥

प्रत्युत्तर- हाँ, वस ऐसा स्पष्ट वचन आप किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में
दिखाते तो आप का पक्ष सिद्ध हो जाता। परन्तु आप का पूर्व लेख तो इस से
खण्डित ही हो जाता है कि “ईश्वर विद्यमान शरीर से जो कर्म करता है,
सो सब पूर्वजन्म के कर्मानुसार करता है।” अब तो आप इस प्रमाण से
मुख्यमानों के समान यह सिद्ध कर करने लगे कि ईश्वर जिसे गिराना चाहता
है वही के पास शेतान भेजकर कुकर्मे करवाने लगता है ॥

८० तिं० भा० पृ० १६४ पं० ६ में—गीता के झोक से जीव की परतन्त्रता सिद्धकी है
प्रत्युत्तर- गीता के इसोक का तात्पर्य यह है कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति ।

ध्रामयन्सर्वभूतानि यन्नारुद्धानि मायथा ॥

हे गर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वर्तमान है और प्रकृति से
यन्न पर चढ़े, सर्व प्राणियों को सुमाता है अपात् जीवों के कर्मानुसार

देहादि देकर उन् २ के फल भोगवा रहा है। इस में यह कहीं नहीं कि कर्म भी वही करता है ॥

४० तिं भा० प० १६५ प० १० में महाभारत के झोक का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का अक्षरार्थ भी सुनिये (इदं) यह (सर्वं जगत्) सब जगत् (दिष्टस्य वशे) प्रारंध कर्म के वशं में (धात्रा तु) और धारण करने वाले ईश्वर से धारित (चेष्टित) चेष्टा करता है, (न स्वतन्त्रम्) स्वतन्त्र नहीं अर्थात् परमेश्वर के खेल धारण करने वाला है, परन्तु जीव सब पूर्व प्रारंध कर्माधीन हैं। और उन्हें प्रारंध कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। वे स्व-तन्त्र नहीं जो फल भोग से भाग सकें ॥ इस से भी कर्म करने में परतन्त्रता नहीं पाई जाती किन्तु (दिष्ट) अर्थात् प्रारंध के वश भोग में परतन्त्रता है ॥

४० तिं भा० प० १६५ प० १३ से महाभारत सभापर्वणि ५१ अ० ५७ अत्राप्युदाहरन्तीमनितिहासं पुरातगम् ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ इत्यादि २१-२८ तक ८ झोकों से जीव की परतन्त्रता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम सी यह बताइये कि इस प्रथम झोकानुभार पुरातग इति-हास इस विषय में क्या बताया कि ईश्वर के वश में खोक हैं, अपने वश में नहीं। इतिहास कहने की प्रतिज्ञा करके इतिहास न लिखना भी इस लेख की अस्तव्यस्तता सिद्ध करता है। दूसरे यदि इस फल भोगने ही में इन झोकों में कहीं जीव की परतन्त्रता को लगालै तो आप क्या दोष दे सकते हैं। अर्थात् कठपुतली वा नाथे बैल वा सूत में पोचे हुवे मणियों को घुमाने वा लाजिन प्रकार चाहे उस प्रकार घुगा सकता है। ईश्वर भी इसी प्रकार सब को उग के कर्मानुभार आहे जिन सुख वा दुःखों में घुसता है। वे स्वतन्त्र नहीं कि भोगने का निषेध करें ॥

४० तिं भा० प० १६५ में महाभारत का एक और झोक लिखा है परन्तु उस से भी जीवान्मा की स्वतन्त्रता नहीं छिनती। यथा-

यद्युपर्यं पुरुषः किञ्चित्कुरुते वै शुभाशुभम् ।

तद्वारुविहितं विद्वि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ सभापर्वणि ३० । २२

अर्थात्-(अयं पुरुषः) यह मनुष्य (यत् हि) जो कुछ (शुभाशुभम्) पुरुषपापभोग (कुरते) करता है (तत्) उसको (धात्रुविहितम्) ईश्वरदृष्ट (पूर्वकर्मफलोदयम्) विष्टुते कर्मों के फल का उद्य (विद्वि) जात ॥ इस

में जीव की परतन्त्रता कर्म करने में नहीं किन्तु पूर्वकर्मकलोदय में देश्वरा-
धीनता कही है ॥ फिर वगपर्व ३२ । ८ में—

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।

चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥

अर्थ-पापात्मा=जिसे जीव का संकल्प कर लिया है उसे पापों
से रोका भी जाता है परन्तु (स्वतन्त्र होने से) पाप को ही चाहता है
जीव शुभात्मा=जिसे पुण्य कर्मों का संकल्प ठान लिया है वह पाप से
ग्रेहित हुआ भी (पाप नहीं किन्तु) पुण्य ही की इच्छा करता है ॥

इस में स्पष्ट भाव के उस कथन का खण्डन है जो जीवने पूर्व लिखा है कि पूर्व
पापों की मेरणा से जन्मुच्य पुनः पाप करता है जीव पुण्यों के प्रभाव से पुण्य ॥

द० तिथि ३० जात् प० १६६ पं० १ में—

न ह्येव कर्त्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।

अत्यतन्त्रोहि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

अर्थात् पुरुष शुभाशुभ कर्मों का करने वाला नहीं, पुरुष अत्यतन्त्र है
काष्ठ के यन्त्रों की छटूशता कर्मों में नियुक्त किया जाता है । उद्योगपर्व अ० १५९

प्रत्युत्तर-कल्कते से प्रतापघन्द्रूराय के छपाये महाभारत उद्योगपर्व अ० १५९
धयाय १५९ में यह श्लोक नहीं है किन्तु अध्याय १५८ में है । और १५४वाँ नहीं
किन्तु १४-१५ में उत्तरार्थ पूर्वार्थ रूप से आया है । जीव धृतराष्ट्र ने सख्य
से युद्धवत्तान्त पूछा है, उस के उत्तर में प्रथम श्लोक ८-९ इस प्रकार है—

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं ग्राघ्न्यान्वरः ।

न स कर्त्तं न वा दैवं वक्तुमेतदिहाहंति ॥

अर्थात्—जो सुरुच जपने कुकर्मों से हुःख को प्राप्त हो वह काला वा देव
को कुछ नहीं कह सका ॥ अर्थात् तुम को जो हुःख कुमा वह तुम्हारे उन
कर्मों का कल है जो तुमने पालवन्तों को न कुनी जीव तुम जो कहते हो कि—

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं चार्यनर्थकम् ॥

(देव को ही अलबाल मानता हूँ, पुरुषार्थ व्यर्थ है ।)

चो ठीक नहीं । किन्तु तुम्हारे काम ही ऐसे थे । अब विचारिये कि
जीव का कहा १४ वाँ श्लोक इस प्रकरण में जीव को कलभोग में कठपुतली

सिद्ध करता है वा कर्म करने में ? इस शोक का सात्पर्य यही है कि तुम अपने किये अन्याय के फलभोग में स्वतन्त्र नहीं, जो न भोगो, किन्तु पर-तन्त्र करके तुम्हारे कर्मों ने कठपुतली सा गच्छाया । और यह ध्वनि यहाँ भी निकलती है कि तुम देव को दोष देते हो सो ठीक नहीं, किन्तु तुम स्वतन्त्र थे, पाखड़वरों पर अन्याय न करते तो तुम्हें यह फल काल वा देव न देत ॥

८० तिं० भा० प० १५६ पं० ५ में-(एतत्प्रधानं) इस शोक को शान्ति आपद्वर्म पर्व अ० १३ का ४८ वां शोक बताकर जीव की परतन्त्रता दिलाई है ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम ती शान्ति पर्वान्तर्गत अध्याय ३३ में आपद्वर्मवर्णन ही नहीं है किन्तु राजधर्मानुशासन है । और ३३ । ४८ शोक यह है-

कुम्भाश्रम नगरद्वारि वासिपूर्णि नवा दुर्ढाः ॥

आप का लिखा (एतत्प्रधान) नहीं है । और विधिशब्द इस शोक में प्रारंभ अर्थात् पूर्व कर्म का वाचक है । ईश्वरवाचक नहीं ॥

८० तिं० भा० प० १५६ पं० ११ से-

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ४२

जीव अत्यन्त पराधीन है अ० २ पा०३ और ईश्वर में कुछ दोष नहीं जाता ॥

प्रत्युत्तर-यथार्थे में यह वेदान्तदर्शन का २ । ३ । ४२ वां सूत्र है, आप ने धर्म का नाम नहीं लिखा । इस से पूर्व-

परात्त तच्छुतेः २ । ३ । ४१

यह सूत्र है । इस में से " परात् " पद की अनुवृत्ति करके यह अर्थ होता है कि (परात्) पर=ईश्वर से (विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः) विधान किये और निषेध किये कर्मों की ठार्येता न हो इत्यादि हेतुभी से (तु) सी (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवात्मा किये बुद्धे कर्मों की अपेक्षा बाला है ॥ अर्थात् यदि जीव को स्वतन्त्र न जान कर ईश्वराधीन जाना जावे तो विधि निषेध बाक्य अर्थ हो जावें । क्योंकि ईश्वर ही जब कर्म करावे तो ईश्वर ही वेद-द्वारा किन्हीं कर्मों की विधि और किन्हीं कर्मों का निषेध करें करे । इस सूत्र से आप का पक्ष सिद्ध नहीं होता, किन्तु स्वामी जी का पक्ष सिद्ध होता है । आप ने अर्थे न जान कर इसे स्वपक्षपोषक समझा ॥

८० तिं० भा० प० १५६ पं० १३ में-

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्ने लिप्यते चाक्षुषैर्द्वाहृदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुखेन वाह्यः ॥

कठ० २ । ११

प्रत्युत्तर-इस का भी भावार्थ प्राप्त के पक्ष का पौष्टक नहीं । क्योंकि इस में यह कहा गया है कि “जिन प्रकार सूर्य सब संसार की आंख है परन्तु बाहरी किसी आंख में दोष हो तो वह दोष सूर्य पर गहीं लगता । (किन्तु उस पुष्प की गिज आंख का स्वतन्त्र दोष है) इसी प्रकार सब प्राणियों—जीव-तमाओं के अन्तर्यामी परनात्मा पर भी संसार के दुःख का प्रभाव नहीं होता । ” सब पूछो तो इस में यह वर्णन ही नहीं कि जीव स्वतन्त्र है वा ईश्वराधीन । किन्तु इस में तो यह वर्णन है कि ईश्वर सब का अन्तर्यामी है तो उस को कुछ दुःख दिये क्यों नहीं आपसे । इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार सूर्य की सब को देखने में सहायता है परन्तु किसी की आंख फूटने से सूर्य में कुछ विकार नहीं आता । इसी प्रकार परमेश्वर सब का अन्तर्यामी होने से सब को सब कामों में सभर्य करने वाला है परन्तु प्रवर्तक नहीं होने से उस में कोई दोष नहीं पहुंचता ॥

४० तिं० भा० प० १९६ प० १८ से—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

प्रत्युत्तर- इस में भी भाग्य, सूर्य, विजुली, वायु, मृत्यु इग जड़ पदार्थों को ईश्वराधीन कहा है । जीव को नहीं ॥

इति जीवात्म-स्वातन्त्र्य-प्रकरणम्

—०•०•०—

अथ जोवात्मलक्षणप्रकरणम्

द० तिं० भा० प० १९७ भूलतन्त्र के विना, सूत्रों से जीव के स्वरूप का निरूपण करने से स्वानी जी की प्रतिष्ठा भङ्ग होती है कि मैं सन्त्र भागको देवतः प्रमाण लानता हूँ, कोई जीव के स्वरूप की श्रुति लिखी होती ॥

प्रत्युत्तर-बेदों में बहुत से मन्त्र हैं जिन में जीवात्मा का वर्णन है, जैवात्मा सुपूर्णा सुयुजा लखायां० इत्यादि० ऋ० १ । १६४ । २० वायुरसन्तिलमृतमयेदं भस्मान्तुष्टिशरीरम् । यजुः ४० । १५

**धर्मोत्त-जीवात्मा और परमात्मा में, जीवात्मा वह है जो उपादयठयाप-
क्षत्वादि सम्बन्ध से परगात्मा के साथ रहता है, उस का मित्र के समान चेत-
नत्वादि साधन्य रखता है, भोक्तृभाव से प्राकृत पदार्थों का भोक्ता है ॥
बायु=गन्मन्तर वा योन्यन्तर को जाने वाला, जन्म और अप्राकृत है ॥**

परन्तु स्वामी जी ने वेदस्य जनेन्स्थलों में कहे गाथयानुभार जी गोत-
मादि ऋषियों ने जीवात्मा के देह से मिल पहिचाने के चिन्ह लिखे हैं उन्हीं
को इस लिये लिख दिया कि वे वेदविरुद्ध न थे। स्वामी जी की यह प्रतिक्रिया
कहीं नहीं कि हम मन्त्रसंहिता के अतिरिक्त किसी विषय में किसी अन्य ग्रन्थ
का प्रमाण ही न देंगे, किन्तु मन्त्रसंहिता स्वतःप्रमाण और अन्य ग्रन्थ मन्त्र
संहिता के अविरुद्ध होने से प्रमाण जाने हैं। यदि आप गोतमादि के इन
सूत्रों को मन्त्र संहिता से विरुद्ध समझते हैं तो किसी मन्त्र से विरोध दिखाइये ॥

जीवों के पवित्रस्वरूप होने पर भी शरीरसंहित जीवों में जले बुरे दोनों
भ्रकार के कर्म प्रत्यक्ष हैं। इस में कुछ विरोध नहीं है ॥

स्वामी जी ने भी न्याय वैश्वेषिक सूत्रोंका इच्छा द्वेष प्रयत्न को जीवात्मा
का स्वरूप नहीं लिखा, किन्तु ये गुण जीवरहित शरीर में नहीं देखे जाते
किन्तु आत्ममहित में ही दीखते हैं, इस से देहातिरिक्त आत्मा का जनुपान
से छान करना चाहिये ॥

८० तिं० भा० पृ० १६८ पं० ५ में—

विभवान्महानाकाशस्तथा चाऽऽत्मा । वै० ७ । १। २८

प्रथ्युत्तर-इस सूत्र में जो आत्मा को विभु कहा है सो परमात्मा को कहा है । और आत्मा पद से यदि दोनों का सामान्य ग्रहण करें तो परमात्मा एक सर्वत्र है और जीवात्मा अनेक सर्वत्र फैल रहे होने से कोई दोष नहीं। अर्थात् परमात्मा स्वरूप से विभु और जीवात्मा को जाति विभु भांगनी ठीक है ॥

८० तिं० भा० पृ० १६८ पं० १० से—दुःखजन्मप्रवृत्ति० इत्यादि न्यायसूत्र से
स्वामी जी पर यह दोष विधा है कि जीवात्मा स्वरूप से गतिजान होता तो,
नोक्त में प्रवृत्ति का गमाव कर्यों होता ॥

**प्रथ्युत्तर-इस उपर कहा चुके हैं कि स्वामी जी ने यह जीवात्मा का
स्वरूप वर्णन नहीं किया किन्तु वह में आत्मा को पहिचान लिखी है। इस**

लिये आप स्वरूप भाग कर दोष न दें । परन्तु इस सूत्र को मानते हुवे भी जीवात्मा को गतिसान् भाव सकते हैं । क्योंकि हम भीक्षे भी पुनरावृत्त भाव से हैं जिसे प्रकरण आने पर हम सिद्ध करेंगे । स्वामी जी ने जो इच्छा हृषादि बो भास्मा के गुण लिख दिया है, वहां गुण शब्द दार्थगिक नहीं है किन्तु लीकिक बोल चाल का गुण शब्द है । जैसे लोक में मनुष्यों को गुणी वा निर्गुण कहते हैं । परन्तु दार्थनिक रीति पर कोई वस्तु गुणगुणी के निव्य समवाय सम्बन्ध होने से निर्गुण नहीं बहा जा सकता ॥

४० तिं भा० ४० २०० पं० ८ से—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो न विरोधः । गौ०

अर्थात् आत्मा का लिङ्ग छाग है, यहां मनु जी ने सब का लिङ्ग पृथक् ९ कर दिया केवल शुद्ध छाग लिङ्ग आत्मा का वर्णन किया ॥

प्रत्युत्तर-हम भी मानते हैं कि आत्मा सत्त्वित्वरूप है और हम लिये केवल जीवात्मा का लिङ्ग “ज्ञान” है । परन्तु इच्छाहृषादि भी ज्ञान का ही प्रपञ्च है । “इच्छाद्वेषप्रयो” इस सूत्र का वारस्यायन भाष्य देखिये—

यज्जातीयस्यार्थस्य सञ्चिकर्षात्सुखमात्मोपलदधत्रान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्तु पादानुमिच्छति । सेयमादातुमिच्छा एकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानाद्ववति लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति । एवमेकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानादुःखहेतौद्वेषः । यज्जातीयोयस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्तादातुं प्रयतते, सोऽयं प्रयत्नएकामनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्पात, नियतविषय बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति, एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः । सुखदुःखस्मृत्या आयं सत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते । सुखदुःखे वेदयते, पूर्वोक्तएवहेतुः । अभुतसमानः खलवयं विमृशति किं स्वदिति ? विमृशन्

**जानीते इदामिति, तदिदं ज्ञानं व्यभृत्साविमशाभ्यामभिन्न-
कर्त्तकं गृह्यमसामात्मलिङ्गम्, पूर्वान्त एव हेतुरति ॥**

भाष्य का तात्पर्य यह है कि—१-इच्छा—जिस प्रकार के विषय से आत्मा ने सुख प्राप्त किया है, उस उस प्रकार के विषय को देखता हुआ, ऐसा चाहता है। यह जो लेने की इच्छा है जो एक ऐसे आत्मा को होती है जो एक ही और अनेक विषयों का देखने वाला है। उसी का यह “इच्छा” लिङ्ग है। यदि देह से भिन्न आत्मा न माना जावे और किसी विषय की लिप्ति को केवल बुद्धि का भेद माना जावे तो जैसे अन्य देहों के अनुभूत विषयों का अन्य देह को ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार यहाँ भी न होना चाहिये। क्योंकि बुद्धि और देह के अवयव ती प्रतिज्ञण बदलते रहते हैं। जो पूर्वक्षण में थे, वे वस्तमानक्षण में नहीं हैं। इस लिये आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु न हो तो पूर्व जिस प्रकार के विषय से समुद्दय को सुख हुआ है उस प्रकार के विषय को पुनः देखकर उसके लेने की इच्छा न होनी चाहिये। इस प्रकार एक आत्मा अनेक कालों में अनेक विषयों का द्वष्टा जो शरीर की भान्ति शीर्ण नहीं होता, उस के सामने ही यह बन सकता है कि वह पूर्वानुभूत विषयों को अनुभूयमान विषयों से भिन्नता करे और चाहे कि यह उसी प्रकार का विषय है, जिस से मुझे सुख हुआ था, इस लिये इसे लूँ॥

२-द्वेष-जिस प्रकार क्षण २ में बदलने वाले शरीर वा बुद्धि को आत्मा भानने से “इच्छा” नहीं बन सकती, इसी प्रकार द्वेष भी नहीं बन सकता। क्योंकि जिस काल में जिस प्रकार के पदार्थ से दुःख हुआ था, उस प्रकार के दुःख से विषय को देखने के समय देहान्तरादी के मतानुभाव वही पुराणा एकरस रहने वाला आत्मा न मानने से “द्वेष” भी उस प्रकार के विषय से न होना चाहिये॥

३-प्रयत्न-जिस प्रकार का विषय जिस को सुख का हेतु होता है उस प्रकार के विषय को देख कर वह लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न तब न होता जब कि एक ही पुराणा आत्मा सदा न रहता। जैसे अन्य देहों से मोगे सुख की प्राप्ति के लिये अन्य कोई प्रयत्न नहीं करता॥

इसी से दुःखदायक विषयों से बचने का प्रयत्न भी समझ लीकिये॥

४-५ सुख, दुःख-सुख और दुःख को स्मरण करके सुख दुःख के साथानों से सुख दुःख को प्राप्त होता है। इस में भी हेतु वही है कि आत्मा देह और बुद्धि के साथ बदल जाता तो ऐसा न हो सकता॥

६-जब कि आत्मा समझना वा जानना चाहता है तो शोचता है कि “यह क्या है” । फिर शोचने से जानता है कि यह “यह है” । जब जानना चाहते हैं कि जानने की इच्छा और शोचने का कर्ता ही इस जानने का भी कर्ता है, उस से मिल नहीं । यदि हम (आत्मा) देह ही होते और क्षण २ में बदलते (विपरिणाम होते) तो जब जानने की इच्छा की थी तब वह जागना चाहने वाला अन्य कोई था, फिर विचारने वाला अन्य होगया और जानने वाला कि “यह है” अन्य है । तब यह कैसे बन सकता है कि आत्मा यह मन्तोष करे कि मैंने जो कुछ जानना चाहा था, जान लिया । यह तो तभी बन सकता है कि जब एक ही आत्मा अशीर्यताव से जानने की इच्छा, विचार और यथार्थज्ञान का कर्ता साना जावे ॥

८० तिर्थ ज्ञात पृ० २०० पं० १३ से—शशरीरम् इस कठोपनिषद् वाक्य से आत्मा को विभु कहा है ॥

प्रत्युत्तर-विभु मानने का उत्तर, “ विभवान्महानाकाशस्तथा आत्मा ” इस सूत्र में ऊपर हम कह चुके हैं ॥

८० तिर्थ ज्ञात पृ० २०० पं० २३ में—(नायमात्मा०) इस कठोपनिषद् के वाक्य से निर्दिष्ट पुरुष को अपने ही ज्ञान से ब्रह्मज्ञान बताया है ॥

प्रत्युत्तर-अपने ज्ञानमात्र से ब्रह्मज्ञान वा सोक नहीं होसका, किन्तु जीव ब्रह्म प्रकृति इन के भिन्न भिन्न स्वद्वप्यूर्वक ज्ञान से ज्ञानी कहाता है । जैसा कि इवेताश्वत्रोपतिष्ठ—

उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लोना ब्रह्मणि तत्परो
योनिमुक्ताः ॥ १ । ७ ॥

भा०-पूर्व ६ श्लोकों में सब कारणों और उन से बने संसारचक्र का वर्णन किया गया और जीवात्मा को कर्मात्मार इन चक्र में घूमना पड़ता है यह कहा गया । जब इस संसारचक्र से निकलने का उपाय बताते हैं—

(एतत्) यह जो (उद्गीथम्) जर र कहा गया है (तस्मिन्) उस में (अथम्) तीन का समृद्धय है (परमं ब्रह्म)१ पर ब्रह्म (तु) और (सुप्रतिष्ठा०)२ प्रकृति (च) और (गन्तरम्) ३ जीवात्मा । (अत्र) इन में (गन्तरम् भेद की (विदित्वा) ज्ञानकर (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लोगः)

लीग हुवे (तस्पराः) उमी में लगे (योनिमुक्ताः) योनियोंसे छुटे [हो जाते हैं] ॥

पहले इ श्लोकों में जो कारण कहे उन में तीन (ब्रह्म, प्रकृति, जीव स्वा). प्रथान हैं, इन में जो कुछ अन्तर है उन को जान कर ब्रह्मज्ञानी विवेक में मुक्ति को पाते हैं। अर्थात् मुक्त में और परमात्मा में व्या और कितना अन्तर है तथा मुक्त में और प्रकृति में वा प्रकृति और परमात्मा में कितना अन्तर है, जब यह जान लेता है तब पूर्ण आदितक, हृष्टरभक्त, ज्ञानी और विवेकी होकर सोक को पाता है ॥ ३ ॥

अब अपने (नायमात्मा प्र०) का अर्थ लुनिये-कठोपनिषद् २३—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥

अन्वयः—नायमात्मा, प्रवचनेन लभ्यो गान्ति, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः, तिन्तु प्येव पूषः वृणुते [स्वीकृतेऽनिकरणा] तेनैव लभ्यः तस्प पूषः आत्मा स्वां तनुं [मिजां तनूनिव] वृणुते [स्वीकरणीनि] ॥

यह परमात्मा केवल प्रवचन [किसी के बताने] से नहीं जाना जाता, न केवल सुन्दिले, न बहुत पढ़ने से। किन्तु जो पुरुष अपने भास्त्रा से उन का अद्वा भक्त से वरण [प्रहण] करता है उसे परमात्मा ऐने स्वीकार करके जीवे जीवात्मा देह को, रूपया भगवा स्वकृप ज्ञात करा देते हैं। अर्थात् भास्त्रा को ही मासात् परमात्मा का अनुभव होता है, किन्तु मन वाणी इन्द्रियादि भास्त्र में नहीं हो सकता और होना चाहिये भी नहीं क्योंकि प्राकृत इन्द्रियां प्राकृत भागत के विषय करने ही में फाल दे सकती हैं। प्रकृति से परे सूक्ष्मतम चेतन परमात्मा के अनुभव करने से प्राकृत इन्द्रियां कैसे काना दे सकती हैं? किन्तु अप्राकृत आत्मा ही परमात्मा का अनुभव कर सकता है ॥

— ८ : * : ८ : —

अथ जीवात्मनएकदेशीयत्वप्रकरणम् ॥

द० ति ३०० ए० २०२ में-स्वागी जी के निखे देहधारी जीवात्मा के जल्द सरण जाना जाना जागरण निद्रा जादि में दोष देते हुवे कहा है कि जीवात्मा जीव भाव कर ज्ञानवाला छहना परस्परविद्ध है। और “अभाव प्रत्ययालम्बनात् तर्तन्द्रा । योग सू० १। १० ” इस से मन की अभाव प्रत्यया-लम्बनात् द्रा को निद्रा जाना गया है, न कि जीवात्मा की त

प्रत्युत्तर- जीवात्मा के स्वरूप को स्वामी जी मे भजन्ना नहीं कहा। अजन्मा स्वरूप से ही और सजन्मा देहयन्धग से है। इस लिये परस्परचिद्-रोध नहीं। निद्रा गत की वृत्ति तो ही परन्तु आत्मसहित शरीर मे जब की वृत्ति है। ग कि सूत अनात्मशरीर मे, इस लिये जीवात्मा का निद्रा से सम्बन्ध कहा॥ वेदान्तसूत्र (तद्गुणः) का असरार्थ आपने कुछ नहीं लिखा, केवल जे समझे बूझे कहीं से गक्कल करदी। यदि आपने समझा है तो जीवात्मा से वह गणेशिकालिये॥

तद्गुणस्वारस्यात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् वेदान्तदर्शने २३२६

इस का अर्थ सुनिये। इस से पूर्व सूत्र यह है—

पृथगुपदेशात् २ । ३ । २८

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के पृष्ठक् २ शास्त्रों मे चपदेश होने से भ्रेद है। अब यह शब्द रही ति यदि दोनों भिन्न हैं तो दोनों को भास्त्रा जीवों कहते हैं। उस का उत्तर अगले सूत्र मे दिया है कि—(तद्गुणस्वारस्यात्) परमात्मा के चेतनत्वादि घर्माँ का माध्यम्य होने से (तु) भी (तद्व्यपदेशः) जीवात्मा को भी भास्त्रा शब्द से व्यवदिष्ट [विशिष्ट] किया जाता है। (प्राज्ञवत्) जीसा विद्वान् मे॥

अर्थात् जीवे लोक मे योहे विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं और वहे विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं क्योंकि विद्यम्=जानना रूप साधक्य दोनों मे है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म दोनों भास्त्रा कहाते हैं क्योंकि दोनों मे चेतनत्वादि जीव जीवों की वरावरी (साधक्य) है। परन्तु जीसे विद्वानों मे शब्दज्ञ बहुज्ञ कहे भ्रेद होने से दोनों सर्वेण मे वरावर नहीं हो सके, इसी प्रकार जीवात्मा एकदेश स्व होने से अनपत्त भीर परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ है। इस लिये दोनों वरावर या एक से नहीं हो सके॥

३० निः भा० ए३ न०३ प० २ “ ब्रह्माऽभिज्ञस्यात् विभुज्ञिः ब्रह्मवत् ॥ ”

प्रत्युत्तर- ऐसे व्याप इन भी यह सके हैं कि—

“ ब्रह्म भवत्वात्परिचिन्मो जीवः परमाणुवत् ॥ ”

अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न होने के कारण इसी ब्रह्मवर परि-चिन्म=एवंदेशीय है जिस प्रकार एक परमाणु। और आप दो वह छह भी भी निष्ठकल हैं कि जीव परिचिन्म है तो वही जीव हाथी भीर वही चौटी वे

के ने बाबेगा । क्योंकि देह के ममान परिगाया वाला हन औव को नहीं जानते, किन्तु परमाणु के प्रकार से ज्ञाना छोटा मानते हैं कि असरेक्ष में भी आसके । और जीव का सुकुड़गा फैलना भी हम नहीं मानते इस लिये बिनाशी होने की शङ्खा भी अर्थ है ॥

इति जीवात्मनएकदेशीयत्वप्रकरणम्

~~~~~

### अथोपादानप्रकरणम्

३० तिं भा० ए० २७१ पं० ५ में—प्रकृतिश्च=ब्रह्म ही उपादान वो निमित्त कारण मानो ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—“प्रकृति” शब्द का अर्थ भी आप “ब्रह्म” करने लगे तब जिन्हा अनर्थ हो सो योड़ा है । सूत्र का अर्थ तो यही बनता है कि—  
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । वेदान्तद० १।४।२३

प्रकृति उपादान कारण है । इस का, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त ( भूत्तिका, घट, कुम्भकार ) में विरोध नहीं जाता ॥

३० तिं भा० ए० २७४ पं० ३ में चतुर्तमादेशमप्राक्षयो येनाऽप्रुतं शुतं सब-  
त्यःसतं गतमज्ञितात्वं विज्ञातमिति । दृष्टान्त-एक के जानने से शन्य सब जाना  
जाता है वह उपादान कारण के जानने से सब का जानना संभव है ॥

प्रत्युत्तर—आप का तात्पर्य यह है कि एकब्रह्म के जान लेने से समस्त  
मनुषी बातें मुश्ली जाती हैं; सब न मानी हुई, मान ली जाती हैं और सब  
न जानी हुई, जान ली जाती है । जैसे मिठी के जानने से घटादि समस्त  
कार्य जान लिये जाते हैं । इस लिये ब्रह्म उपादान है ॥ उत्तर-ब्रह्म के जा-  
नने से सब का ज्ञान इस लिये गहरी हो जाता । कि वह सब का उपादान है,  
किन्तु इस लिये हो जाता है कि ब्रह्म सब से सूक्ष्म है, जब उसे किसी ने जान  
लिया तो शन्य स्थूल पदार्थों का जानना किस गिनती में है ? अर्थात् सब  
कुछ जान लिया । और उपादान कारण के ज्ञानमात्र से समस्त कार्यों का  
ज्ञान भी नहीं होता । देखो लोग में सुवर्णों को मध्य जानते हैं, परन्तु उस के कार्य  
जानेका प्रकार के ज्ञानसूचणों को लुनार ही बना सकता है, सब गहरी । आठे  
को पीसना जो जानते हैं, वे रोटी उत्तम बनाना भी जाने, सो ज्ञावश्रयच  
नहीं । पक्षुतत्व को जानने वाला पुरुष समस्त सूष्टि के कार्यों को नहीं  
जानता । कल्प पित्त वात मात्र के जानने से सारी पुष्पिवी ते गनुरुद्यादि की

सब अवश्यकों का ज्ञान युगपत (एक यारंगी) एक पुरुष को नहीं होता। इस लिये चेतन परमात्मा के जागने से उस की कपा द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है, परन्तु वह इन्हें से उपादान नहीं हो गया॥

इसी प्रकार इस २४४ एष के लिखे (मृतिका, पृथिवी) आदि दृष्टान्तों का उत्तर जानिये॥

४० तिं भा० पृ० २४४ पं० २४ (यतो वा इमानि प्रजानि प्रजायन्त) ०००  
“जनिकर्तुः प्रकृतिरिति” इस से यह सिद्ध किया है कि ऊपर के वाक्य में “पतः” पद में उपादान पञ्चमी है जो “जनिकर्तुः प्रकृतिः” इष्ट सूत्र से विहित है। इस लिये जगत्कर्ता ब्रह्म ही उपादान है॥

प्रथ्युत्तर-पाठकों को यह (इमानि प्रजानि) अमीखा पाठ देखकर हँसी आवेगी। जाज तक किसी ने प्रजा शब्द को गयंसकलिङ्ग भी कही छाना है? भस्तु, यद्युपाठ तो उपनिषदों के पढ़ने वाले जानते हैं, परन्तु वास्तविक शङ्कु का उत्तर यह है कि (यतः) पद में जो पञ्चमी है वह अवश्य उपादान में है, किन्तु “यतः” पद यहाँ प्रकृति जीवात्माओं सहित ब्रह्म का द्योतक है। केवल ब्रह्म का द्योतक नहीं, केवल ब्रह्म जगत् को रचता भी नहीं, इस लिये केवल ब्रह्म को जगदुपादान मानना ज्ञान है और नवीन वेदान्तों भी प्रकृति सहित अर्थात् मायासहित ब्रह्म को ही जगत्कर्ता मानते हैं, केवल को गहीं॥

४१ तिं भा० पृ० २४४ के अन्त और २४५ के आदि में (अभिध्योपदेशाच्च) सूत्र भी उनी का खेवातानी वाला ताराघन्द्रकृत भाषाटीका लिखदिया है॥

प्रथ्युत्तर-इष्ट सूत्र का सर्वोपनिषदसम्मत अर्थ यह है:-

### अभिध्योपदेशाच्च १ । ४ । २४

अभिध्यान अर्थात् ज्ञानपूर्वक सूष्टि की उपस्थिति का उपदेश पायर जाता है। इस से जाना जाता है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान होता तो कार्य-जगत् भी चेतन होता, चेतन से जड़ोत्पत्ति उसंबन्ध है, इस लिये पूर्व सूत्रोक्त प्रकृति ही उपादान कारण है। इस से अगला सूत्र भी छनिये-

### साक्षाच्चोभयाम्नानात् १ । ४ । २५

अग्रम और नाश उपर्युपदोनों एक साक्षात् प्रकृति से छुने जाये हैं। यदि ब्रह्म से अग्रम और नाश हो और वह उपादान माना जाये तो ब्रह्म में अग्रम और नाश द्वय द्वय विकार द्वय भावे हैं॥

द० तिं० भा० प० २०५ मे० ६ सूत्र और ताराचन्द्रीय गायं चाहूँ दिया है। यथा—  
स्वात्ययात् १ । १ । ६

ब्रह्म ही में सब का लय कहा है, तिस से भी प्रधान विश्वनिदान गहरी है॥

प्रत्युत्तर-ब्रह्म में आधाररूप से सब का लय है, जो कि उपादान भाव से इस लिये ब्रह्म निमित्त कारण है, उपादान गहरी और इस से ६ सूत्र पूर्व (नन्तु समन्वयात् १ । १ । ४) कह चुके हैं इस लिये प्रकृतिमहित वा प्रकृतिसमन्वयत ब्रह्म का वर्णन है। इस से प्रकृतिरहित केवल ब्रह्म में उपादानव नहीं ॥

द० तिं० भा० प० २०५ प० २१ से:—

### गतिसामान्यात् १०

जैसे नेत्रादि इन्द्रियां रूपादि में सगान गति वे धर्ते हैं, जैसे सब वेद वे ब्रह्म को ही जगत्कारण कहते हैं न कि तार्किकों के समान भिन्न कारण हैं।

“ यथा नेत्रादिः सर्वादिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेत्येतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठुन्ते प्राणेभ्यो देवता देवेभ्यो लोकाः इति” तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संसूत इनि ॥ “ आत्मनपृथेदं सर्वमिति ” “ आत्मन एषः प्राणो जायत इति” जैसे जलनी हुई अग्नि से विनगारी निकलनी है, इसी प्रकार आत्मा से प्राण प्राणों से देवता देवताओं से लोकादि प्रतिष्ठित है, उसी परमात्मा से यह आकाशादि उत्पन्न हुआ है। यह सब कुछ गात्मा ही है। आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुवे हैं ॥

### श्रुततत्त्वाच्च ११

वेद से उपादान कारणकर्त्ता सब वेतन ही सुना है ॥

प्रत्युत्तर-वेद में किस स्थान पर कहा है कि केवल ब्रह्म जगत् वा उपादान है ? कहरी गहरी । और प्रकृति चहित ब्रह्म को उपादान और निमित्त करमशः जातने में आप के लिखे काष्ठमहित अग्नि की विनगारी भादि जैसे बृहस्पति से कुछ दोष नहीं आता । जब यह सुनिये कि उपनिषद् में उपहनिषेध किया है कि ब्रह्म का कोई कार्य नहीं । यथा—

न तस्य कार्यं करणं च विक्रते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च तुश्यते ।  
पराऽस्य एक्तिविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानव्यालक्रियाच्च ॥

( ६ । ८ )

पा०-( तस्य ) उच्च का ( कार्यम् ) कार्यं ( च ) और ( व्यालक्रू ) व्यालक्र

( न विद्यते ) नहीं है । ( सत्त्वम् : ) उस के समान ( च ) और ( ३० स्वविदिः ) उस में जयिता ( न दूरयते ) नहीं दीखता । किन्तु, ( अस ) इस की ( परा, शक्तिः ) वही, शक्ति ( च ) भी । ( स्वभाविकी, ज्ञानबल-क्रिया ) स्वभावित ज्ञान बल और क्रिया ( विविधा, एवं ) विचित्र ही ( श्रूयते ) बेदों में वर्णित है ॥

इस में जो बह कहा है कि “उस का कार्य नहीं” इस से अद्वैतवादियों का ब्रह्मको जगत् का अभिकर्त्तव्यित्तोपादान सामग्रा विचुद्ध हुआ और “उसका साधन नहीं” इससे साकारवादियों का उनके हाथ पर सामग्रा विचुद्ध है ॥ ८ ॥

—○—#—○—

### अथ महावाक्याऽमासप्रकाणम् ॥

स्वामी जी ने लिखा है कि “तत्त्वमस्यादि” वाक्यों की गहावाक्य संज्ञा प्राचीन ज्ञानों में नहीं लिखी, इस पर ८० तिं ४० भा० प० २०९ पं० १८ से— “जैवे पाणिनी ऋषि के सत से वृद्धि शठ वरिसापा मे आ ऐ भी का छोध होता है वैसे व्यास, शङ्कुरस्वामी भट्टेत्रि चिह्नान्तावायों के सत में “महावाक्य” शठ भी भेदभन्ननिवारक वाक्यों में पारिभावित है । ”

प्रत्युत्तर-यदि इग वाक्यों की वेदान्तसिद्धान्त में “महावाक्य” संज्ञा है तो व्या जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने—

वृद्धिरादैच्य १ । १ । १५ ॥

इस सूत्र से आ ऐ भी की वृद्धिनज्ञा की है, क्या इनी प्रकार इन वाक्यों की महावाक्य संज्ञा विधायक कोई वेदान्तसूत्रादि भाष्य बता सकते हैं? अथवा ठायास भी ने अपने वेदान्तदर्शन में अन्यर्थ संज्ञा सामनकर भी कहीं “महावाक्य” शठ एक प्रयोग किया है? यदि नहीं किया है तो स्वामी जी का कहना ठोक है कि ये वाक्य प्राचीन ऋषि मुनियों ने “महावाक्य” गान से नहीं मुकारे हैं ॥

८० तिं ४० भा० प० २०९ में-एक यह दोष स्वामी जी के भव्य में दिया है कि उन्होंने कहीं तो “श्रीवास्त्रा में परमात्मा व्यापक” कहकर जीवात्मा को आपार और परमात्मा को आधेय कहा, और कहीं “मैं ब्रह्मस्य हूँ” कहकर ब्रह्म को आधार और जीव को आधेय कहा है । यह परम्पर विरोध है ॥

प्रत्युत्तर-यह परम्पर विरोध नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तु आपम में व्याप्त व्यापक नहीं उन में आपम में दोनों की आधारता है, वा आधेयता संसंगत होती है । परम्पर जिस में व्याप्त व्यापकता है, उन में विवक्षाधीन

दोनों को आधाराधेयता कही जा सकती है। हम दो दृष्टितात् देते हैं जिनमें सप्तमस्थ में आगायगता ॥

जैन “जीका में पुण्य” व्याधय ठायापक गहीं है। इस लिये जीका आधार और पुण्य आधेय ही रह सकता है, और पुण्यको आधारवा जीका को आधेय नहीं कह पाते। परन्तु दूसरे दृष्टितात् में जैनों के बाबाश वा वायु में प्राणिग-वर्ग यहाँ आकाश वा वायुठायापक और प्राणिवर्ग ठायाधय है। तौ दोनों को परस्पर आधाराधेयता कही जा सकती है। भर्तृत् प्राणिवर्ग में आकाश वा वायु ही और आकाश वा वायु में प्राणिवर्ग है। इस लिये स्वामी जी का लिखा संगत और आप का असंगत हुआ ॥

८० तिं भा० प० १०० पं० १३-१४ में- उद्भालक याज्ञवल्क्य के संवाद की अनुति को, जैनेयी याज्ञवल्क्य के संवाद की वर्णन करी है ॥

प्रत्युत्तर-इस में मिहुच्छानि तौ कोई नहीं केवल मनुष्यों के नाम की यदि भूल हो तौ चिन्ता नहीं। और आप नौ जभी पृ० १०० पं० ९ में गीतगूत्र को “मनु जी ने” करके लिख चुके हैं ॥

८० तिं भा० प० २०८ में इतने तक और हैं ।—यदि जीवनिकटस्य और दूसरे पदार्थदूरस्य और मुक्ति में साक्ष तमस्वन्ध और बन्ध में परम्परा सम्बन्ध और जीव के भाय रहने वाला है तौ ब्रह्म एवं देशी परिचित्त लियावत् होगा ॥

९—और जो जीव को ब्रह्म वा अविरोधी रूप अपवा ब्रह्म को जीव का अविरोधी रूप कहा, तौ क्या जीवभिन्न पदार्थ ब्रह्म के विरोधी हैं?

१०—वह एक भवकाश कीन है जिस में समाधिकाल में ब्रह्म और जीव स्थित हैं?

प्रथ्युत्त-१—समीपता और दूरता यहाँ देशकृत नहीं, किन्तु विचारकृत है अपर्यात समझने वाला ब्रह्म के समीप और न समझने वाला दूर। साक्षात् सम्बन्ध भी जानने की अपेक्षा ऐ ही है। और देश की अपेक्षा ऐ तौ ब्रह्म सब में समन्वित है, किसी से पृथक् नहीं ॥

११—ब्रह्म का विरोधी कोई ऐसा नहीं जो उससे बलबान् हो और उस के दिये दण्ड को न भोगे। परन्तु स्वतम्ब्रता में जो सोग पाप करते हैं वे परमात्मा के विरोधी वा अपराधी हैं और जो नहीं करते, वे अविरोधी कहे जा सकते हैं ॥

१२—जीवात्मा और अन्य सब पदार्थ यद्यपि प्रतिकृण ब्रह्म में ही रहते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य जागते और साक्षात् करते नहीं कि हन ब्रह्म

में हैं। और समाधिष्य पुनर्व मात्रात् करता है, इस लिये उस का विशेष रूप से यह कहता बन सका है कि “ मैं ब्रह्मश्य हूँ ” ॥

२० तिं० भा० पृ० २०६ में ( य आत्मनि तिष्ठन्० ) इस उपनिषद्वाक्य के स्पष्टवित्तिपादित भेदवाक्य को जीवाधिक भेद बताकर उस के उत्तरभाग में अभ॑ बताया है ॥

प्रत्युत्तर—पूर्वभाग के भेद को जीवाधिक भेद मानने में गमक कुछ नहीं दिया । पूर्व और उत्तर भाग को अर्थ महित नीचे देखिये—

यआत्मनि तिष्ठक्षात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा  
शरीरम् यआत्मनोन्तरोयमयति एषतआत्मान्तर्याम्य-  
मृतोऽद्वृष्टोद्रष्टाऽन्नुतः श्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातोविज्ञाता  
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति  
मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैषतआत्मान्तर्याम्यमृतोऽतो-  
ऽन्यदार्तम् ॥ वृह० २३ । अ० ५ ब्रा० ७ ॥

अर्थ—( य आत्मनितिष्ठन्० ) जो परमेश्वर जीवात्मार्गे व्यापकता से स्थित हुवा ( आत्मनोन्तरः ) जीवात्मा के भीतर है ( यमात्मा न वेद ) जिस को भूलपन्न जीव नहीं जानता ( यस्य आत्मा शरीरम् ) आत्मा, जिस का शरीरधृत रहने की जगह है, ( य आत्मनः अन्तरः ) जो जीवात्मा के भीतर ( यस्यात्मा ) इसे नियम में छलाता है ( एषः अस्तः आत्मा ) यह आगर परमात्मा ( ते अन्तर्यामी ) सेरा अन्तर्यामी है । [ यहां तक पूर्वोर्धे का स्पष्ट भेदवाद है कि जिस के जीवाधिक सानने का कोई हेतु नहीं क्यों कि उपाधि परिचिक्ष पदार्थ में हो सकती है, अपरिचिक्ष विभु परमात्मा उपाधि से अतीत है । अब उत्तरार्थ का अर्थ सुनिये जिस में आप अभेद प्रतिपादण करते हैं ] ( अद्वृष्टी द्रष्टा ) जो परमात्मा देखने में नहीं आता पर सब को वह देखता है ( अन्नुतः श्रोता ) जो शब्द के समान काग का विषय नहीं पर वह सब की सुनता है ( अस्तः आत्मा ) वह मन का विषय नहीं पर वह सब को मानता है ( अविज्ञातः विज्ञाता ) वह बुद्धि का विषय नहीं पर सबको जानता है ( आतः अन्यः ) इस के अतिरिक्त कोई ( द्रष्टा न अस्ति ) सर्वदर्शी नहीं है ( असोन्यः श्रोता नास्ति ) न इस के अतिरिक्त कोई सब की सुनने वाला है ( अतोन्योमन्ता नास्ति ) न इस से पृथक् कोई सब का जानने वाला ( अतोन्योविज्ञाता नास्ति ) और न इस से भिन्न कोई सर्वज्ञ है ।

(एषमसुगः भास्त्वा) यह भासर परमात्मा (ते अन्तर्योनी) तिरा [जीवात्मा का] अन्तर्योनी है। ( भतोऽन्यदार्थम् ) इस से भिन्न सब चल पदार्थ हैं, यही एक निश्चन है। अब विचारिये कि इस में अभेद की कौन सी बात है?

८० तिर० भा० ८० २१०-२११ में “तत्त्वमसि” वाक्य को अभेदप्रतिपादन जाने के लिये ज्ञान्दार्यपुणिषद् का समस्त प्रकरणावाक्य लिखा है।

प्रत्युत्तर—भाष पूर्व के भी अर्थ को सामने रखें तो अभेद सिद्ध नहीं होता। यथा—

अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रथतो वाहूमनसि संपद्यते, मनःप्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषोणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं सआत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥

### छा० उ० ६

( सौम्य ) हे सौम्य ! ( अस्य प्रयतः पुरुषस्य ) इस भरते हुवे ननुष्टप की ( वाक् मनसी संपद्यते ) वाणी मन में लीन हो जानी अर्थात् बोलना बन्द हो जाता है, परन्तु मन से बोलने की इच्छा रहती है। फिर ( मनः प्राणे ) गन प्राण में लीन हो जाता है। ( प्राणस्तेजसि ) प्राण तेज में लीन हो जाता है। किर ( तेजः परस्यां देवतायाम् ) तेज परले देवता में अर्थात् दो [ जीवात्मा व परमात्मा ] में से परले परमात्मा देवता में लीन हो जाता है। ( यः एषः ) जो यह परमात्मा है ( सः अणिमा ) वह अति सूक्ष्म है ( इदं सर्वम् ) यह सब जगत् ( ऐतदात्म्यम् ) इस से व्यष्य है अर्थात् यह परमात्मा सब का आत्मा=आपक है ( तत् सत्यम् ) वह सब काल में एकरस है, ( सः भास्त्वा ) वह विभु है, ( श्वेतकेतो ) है श्वेतकेतु ! ( तत् ) तत्स्य ( त्वमसि ) तू है ॥

यह तौ वह अर्थ हुवा जिस से स्वामी जी महाराज का लिखा तात्स्थयो-पादि याता अर्थ ठीक घट जाता है। और यही यथार्थ है भी। परन्तु यदि भाष की तात्स्थयोपादि लगाना नहीं सुनता और गौरव जान पहता है तो इस एक और अर्थ दिखल ते हैं, उस से भी अभेदवाद नहीं रहता, न तात्स्थयोपादि लगानी पहती है। सुनिये—

“इस भरते हुए मनुष्य की वाणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परमात्मा में। परन्तु ( सः यः एषः अणिमा ) वह जो कि शत्यक्त सूक्ष्म जीवात्मा है ( ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ) वह सब का

जाति होने से भात्मा है अर्थात् भात्मा भी किंविना कोई शरीर कभी स्थिर नहीं हो सकता । ( तत्सत्यम् ) वह जिविनाशी है अर्थात् लीन नहीं होता ( सः भात्मा ) वह भात्मा कहाता है । ( वेतत्केतो ! तद्वस्तु ) हे श्वेतकेतु ! तू वह है । अर्थात् तू देह नहीं, तू भात्मा भगर भगर है, शरीरस्य जारामरण का तुम्हे भय नहीं । इस में न तात्स्थयोपाधि है, न गम्भेदवाद है । इस लिये यदि भाष्य को स्वासी जी लिखित अर्थ में तत्सत्ययोपाधि के समझने में कठिनता हो तो आप इस अर्थ से सम्झोप करें । परन्तु शर्वेऽ के अन में न पड़ें । भाष्य लीन का अर्थ यह उगम्भते हैं, जैसे पानी में पानी मिल जावे और इन यह समझते हैं कि जैसे पानी में भीठा घुल जाये । पानी भीठे का उपादान नहीं, पर भाष्यार है ॥

३० तिथि भाद्र पूर्ण २११ में इस उपर वाले उपनिषद् वाक्यस्य “ऐतदा-त्मपूर्व” पद का शङ्कुरभाष्य और उन का भाषाये लिखा है परन्तु शङ्कुराचार्य स्वर्यं इस प्रकारण के साथ पञ्च में हैं इस लिये उनका लेख ही प्रसाण में नहीं देना चाहिये या ॥

३० तिथि भाद्र पूर्ण २१३ पूर्ण १० में-कार्योपाधि तत्संस्कार विशिष्ट सदंश शु सो तो जीव और कारणोपाधिविशिष्ट सदंश परमेश्वर है ॥

प्रत्युत्तर-इस लेख से शङ्कुत को द्वितापत्ति भाती है । अर्थात् जितना सदंश=ब्रह्मांश कार्य सन भाद्रि उपाधि से उत्तित=चिरा है उतना अंश जीव कहाता और जितना ब्रह्मांश कारणोपाधि अर्थात् प्रकृति से चिरा हुवा है उतना परमेश्वर कहाता है । ती यहाँ ब्रह्म से प्रकृति पदार्थ वा कारणपदार्थ तिक्त निहृ है । ‘नहावाक्य’ नाम धरनेकी कोई परिभाषा वेदान्तियों के किसी अर्थ से आपसे न दिखाई और लिख दिया कि यह परिभावित शब्द है ॥

### प्रज्ञानं ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म

इन दोनों वाक्यों का अर्थ तो किसी प्रकार की भ्रान्ति से भी अभेद-प्रतिपादक नहीं । सीधा अर्थ यह है कि “ब्रह्मउत्कृष्ट ज्ञान वाला है” तथा “यह भात्मा=[ सर्वत्रात्मति तथापत्तिः ] ब्रह्म है” ॥

३० तिथि भाद्र पूर्ण २१४ में जो लेख है उस का संक्षिप्त भाश्य यह है कि-अनेनात्मना जीवेनानु प्रविश्य नामस्तु प्रयाकरवाणि । छां द्वातत्त्वसृष्टा तदेवानु प्राविशत् । तैऽब्रह्मानन्दबल्ली । अनु० ६

इन वाक्यों में “अनु” को कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और कर्मप्रवचनीय के योग में अष्टाभ्यायी महात्माभ्यानुमार द्वितीयाविभक्ति होती है। जो “अनु” का अर्थ “लक्षण” है। “पञ्चात्” अर्थ नहीं है ॥

प्रत्युत्तर-अनुलेखणे १। ४। ८४ सूत्र में लक्षणार्थ “अनु” कर्मप्रवचनीय होता है। और [ कर्मप्रवचनीययुक्तेद्वितीया ] २। ३। ८ से द्वितीया विभक्ति होती है, परन्तु मूलवाक्य (अनेनात्मनःजीवेनानुप्रविश्य) में वृत्तीया विभक्ति है। जो सह=साप के अर्थ गे है। इसमें जाना जाता है कि “अनु” का यहां लक्षण अर्थ नहीं किन्तु स्वामी जी के कथनानुमार “पञ्चात्” अर्थ है। यदि आप के लेखानुमार लक्षण अर्थ और कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती तो द्वितीया विभक्ति होती, जो कि प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं है ॥

दूसरे तैतिरीय के वाक्य में जो द्वितीया “तत्” है, वह कर्मप्रवचनीययुक्त में द्वितीया नहीं है किन्तु “अनुमाविश्वात्” का कर्म होने से—

### कर्मणि द्वितीया २। ३। २

इस सूत्र में द्वितीयाविभक्ति है, इसलिये आपका लक्षणार्थ मानना अयुक्त है ॥

३० तिं० भा० प० २।५ में—आत्मैवेदमय० इत्यादि वृहदारथयक वाक्य से अमेऽप्रतिपादित किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का अर्थ सुनिये—

**आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोनु बीक्ष्य नान्यदा-  
त्मनोऽपश्यत् सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्तोहन्नामाऽभवत् ॥**

बृह० अ० ३० ब्रा० ४

अर्थात् ( पुरुषविधः आत्माऽव ) व्यापक स्वरूपआत्मा ही ( ज्ञे जा-सीत् ) स्तुचिट के आरम्भ में या ( सः ) उपने ( इदम् अनुवीक्ष्य ) इस उपदेश-मान जगत् को देखकर ( आत्मनः आन्यत् ) अने से अन्य उपने समान को ( न अपश्यत् ) न देखा और ( ज्ञयमाहमस्मि इति व्याहरत् ) प्रथम वह पर-मात्मा में हूं, यह कहा ( ततः ) तथ ( अहंनामा ) अहङ्कारतत्त्व ( अभवत् ) उत्पन्न हुआ ॥

इस में स्पष्ट इदम् पञ्चाभ्य जगत् को देखना लिखा है इस लिये “अपने अतिरिक्त और कोई नहीं देखा” का यही तात्पर्य समझना चाहिये कि आपने अतिरिक्त जगत् को देखा। परन्तु दूसरे परमात्मा को न देखा ॥ अब इस वाक्य से अमेऽपश्यत् अपनामा की आत है ॥

३० तिं० भा० १० २१६ में स्वामी जी लिखते-(जीवेगो च विशुद्ध) चित् भीर-कार्योदायित्वयं जीवः० ) इन दोनों छोटों को लिखा है कि स्वामी जी इन को संझेत शारीरक भीर शारीरकभाष्य में कारिका लिखते हैं। परन्तु ये दोनों छोट उक्तप्रन्थों में नहीं हिन्तु पहला तो वातिंककार सुरेश्वराचार्य का है, दूसरा आर्योपनिषद् का है ॥

प्रत्युत्तर-भीर आपने जो पृ० २०० पं० ९ में गोतमसूत्र को मनु कह कर लिखा है वहां आपने वा मनु का दर्शन नहीं किया था। यदि मूल पुस्तक संहेर शारीरक भीर शारीरकमाष्य में ये छोट न भी हों तो जिसी लिखित पुस्तक पर टिप्पणी की रीति पर लिखे होंगे भीर स्वामी जी ने पूर्व काल में गवीन वेदान्त पढ़ते समय देखे होंगे। जब कि ये दोनों छोट ऐसे प्रन्थों में उपस्थित हैं जिन्हें आप मानते हैं, तो आप इन के खण्डन का समाधान करते तब शारा का पक्ष सधता। परन्तु प्रन्थ के नामभेद मात्र का उलाला देने से काम नहीं चलता ॥

स्वामी जी ने (भयोदरमन्तरं कुहते०) इस के अर्थ में लिखा है कि जो परमात्मा को न माने वा उस को जाज्ञा गुण कर्म स्वप्राप्ति से विशुद्ध होवेत् इत्यादि। इस पर द० तिं० भा० १० पृ० २१७ पं० १९ में लिखा है कि “भला इस में जीव परमेश्वर का निषेध देशकाल परिच्छिद्धत गुण कर्म स्वप्राप्ति । यह कहां से लिख दिये ॥

प्रत्युत्तर-यह “अन्तर” शब्दार्थ का प्रपञ्च है। अन्तर विचार के भीतर को कहते हैं ब्रह्म से अन्तर अर्थात् विचारभेद रखता कि उस से इन को अन्तर है, वह हमारा उपास्य नहीं वा हमें उस के गुण कर्म स्वप्राप्तानुसार आपने गुण कर्म स्वप्राप्ति की जावश्यकता नहीं इत्यादि अन्तर शब्द से तात्पर्य है। आप के समझने के लिये लौकिक दृष्टान्त उपयुक्त होगा कि जैसे कोई शिष्य अपने गुण से अन्तर रखते अर्थात् उस की जाज्ञा ग माने वा उस से कुछ छिपाना चाहे। इत्यादि अन्तर कहाता है ॥

३० तिं० भा० १० पृ० ११९ में किर एक वाक्य लिखा है भीर नमेद सिद्ध किया है। वह वाक्य यह है-

अभयं वै जनक प्राप्नोसि तदात्मानमेव वेदाऽहं ग्रह्यास्मीति  
तस्मात्सर्वं सभवं तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतद्विति॥

प्रत्युत्तर-इस वाक्य मी यही अर्थ है कि “हे जनक! तू अभय को प्राप्त

है और मैं आत्माको जानता हूँ कि “मैं ब्रह्मस्य हूँ” इस से “सर्वस्य हूँ” उस में शोक क्या और सोहः क्या, एकत्र को देखते हुवे को ? ” ॥

अथात् जीवात्मा की परमात्मा के साथ जक्ष पक्ता=मित्रता अनुकूलता हो जाती है तब भय शोक सोहः कहां रह सकते हैं ? इस वाक्य में भन्ति ममाग्न ब्रह्माक्ष चदृधृत किया हुआ है और वह वेदमन्त्र पञ्चुर्वेद का ४०।१ वां यह है—

**यस्मिन्नत्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानुतः ।**

**तत्र को मेहुः कः शोक एकत्रमनुपश्यतः ॥**

और इस से गी पूर्व का मन्त्र यह है—

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मनेवानुपश्यति ।**

**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ४० । ६ ॥**

अब दोनों मन्त्रों का अर्थ कल्पूर्बक देखिये तौ यह होता है कि “जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है तब वह संगय में नहीं पहता ॥” । और जिस ज्ञानी की द्वृष्टि में सब प्राणी अपने समान हैं उस एकत्र देखने वाले में शोक और सोहः क्या ? ॥ ७ ॥

यदि इस में तत्त्वल्प अर्थ न लगावें और सब आत्मा ही आत्मा समझे तो “सब में”—यह भण्धिकरणमस्तु उपपत्त न हो सके ॥

४० तिं० ३०० ४०० ५२३ में—शास्त्रदृष्ट्यात् पदेशो वामदेवतस् ॥ ५० ५०० अ० पा० १ जैसे तत्त्वमसि इस वाक्य को देख कर वामदेव ऋषि ने कहा है कि मैं ही गन्तु सूर्य और कक्षीयान् हुवा था तेसा ही इन्द्र ने कहा है जि मैं ज्ञान रूप हूँ तू इसी को उपासना दर (अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीयानित्या । दिः)

प्रत्युत्तर—जिन “तत्त्वमसि” और “गहं मनुरभवं” से जाप इन सूत्रार्थ को जोड़ते हैं वह वाक्य और वेद मन्त्र इस से संबद्ध नहीं है। तत्त्वमसि वाक्य इवंतकेतु के प्रति और जनक के विषय में है। वामदेव के विषय में नहीं। और “अहं मनुरभवं” यह प्रश्नवेद ४ । २६ । १ का मन्त्र है जिस में वामदेव का वर्णन नहीं, क्योंकि सायणादि सब टीकाकार भी इस मन्त्र का इन्द्र देवता मानते हैं, वामदेव देवता नहीं। और गिरक ने लिखा है कि—

**या तेनोच्यते सा देवता**

जिस पदार्थ का मन्त्र ने वर्णन किया हो, वह उस मन्त्रका देवता कहाता

है। वास, शब्द इम मन्त्र का इन्द्र देवता है तो इम में इन्द्र=परमेश्वर का वर्णन है, वामदेव ऋषि का नहीं। हाँ, वामदेव इम मन्त्र का द्रष्टा अर्थात् मन्त्र रुपा ऋषि है। और निचक्के के गमुमार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं, न कि शास्त्रार्थ। और देवता मन्त्र का वर्णनीय पदार्थ होता है। तदनुमार इम मन्त्र में इन्द्र का वर्णन है। वामदेव का नहीं। शब्द मन्त्र का अर्थ सुनिये—अथ सप्तर्चस्य पद्मविंशतितमस्य सूक्तस्य वामदेवऋषिः। इन्द्रोदेवता। तत्राद्यायाः पद्मक्तश्चन्दः। पञ्चमस्वरः॥  
अहंमनुभवं सूर्येच्चाहं कुक्षीवृँ ऋषिरस्मि विप्रः।

( इत्यादि ) ज्ञ० ४ । २६ । १

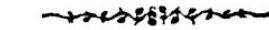
हे गन्धो ! ( अहम् ) मैं इन्द्र=ईश्वर ( मनुः ) विचारवाच ( सूर्यव्याख्या ) और प्रकाशक ( वामदेव ) हूं और ( अहम् ) मैं ( कक्षीवान् ) संपूर्ण वृष्टि की कक्षा अर्थात् परमपराओं से एक ( ऋषिः ) वेदज्ञ ( विप्रः ) विद्वान् हूं ॥ अब अपने सूत्र का अर्थ सुनिये:-

शास्त्रद्रुष्ट्या तूपदेशोवामदेववत् ॥

अर्थात् जैसे वामदेव दृष्ट मन्त्रों के देखने से किसी को यह भग छो कि इन मन्त्रों में वामदेव अपने को परमात्मा वा इन्द्र कहता है, इसी प्रकार अन्य वेदमन्त्रों=शास्त्रों में जानो। अर्थात् यह भग है कि शास्त्र के द्रष्टान्मों को शास्त्र का कक्षी माना कर यह समझना कि यह २ ऋषि अपना वर्णन करता है। फिल्म सप्त २ ऋषि ने शास्त्र=वेद को देख कर अन्यों को उपदेश दिया है, जैसा कि वामदेव जे ॥

४० तिं० भा० पृ० २१८ पं० १४ में ( एक रूपं बहुधायः करोति )

प्रत्युत्तर-इस से क्या असेंद निहृ हुवा कि “जो एक रूप को बहुत प्रकार कर करता है” अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व एक कारण वा, उसको परमात्मा जे बहुत कार्यदृपों में परिणत कर दिया ॥



अथ वेदप्राप्तिप्रकरणम् ॥

४० तिं० भा० पृ० २१८ से २२० तक यह सिद्ध करने को कि वेद ब्रह्मा पर प्रकट हुवे और अग्नि वायु आदित्य ब्रह्मिरा पर नहीं हुवे, प्रथम कहे

मनाण इस विषय में दिये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ही उत्पन्न हुए, अरन्यादि गहर्ते। पहला प्रसाण गथवंबेद १०। २३ + १० का यह है—

**ब्रह्म उयेष्टा संभूता वीर्याणि ब्रह्माण्ये उयेष्टुं दिवमाततान् ।  
भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥**

भूतानां ब्रह्म प्रथमो ह जज्ञे—सब प्राणियों में ब्रह्मा जो प्रथम उत्पन्न हुवे।

प्रत्युत्तर-मन्त्र तौ आप ने पूरा लिखा पर अर्थ केवल तृतीयपाद का लिखा, यदि चारों पादों का अर्थ लिखते तौ ज्ञान होजाता कि इस में ब्रह्मा ऋषि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है और न वेद में अन्यत्र कहीं किसी ऋषि के गन्ना नरणादि का वक्तान्त हो सकता है। इस का अर्थ सुनिये ॥

(ब्रह्म) ब्रह्मा=परमात्मा ने (उयेष्टा) उयेष्टानि=बड़े (वीर्याणि) पुरुषार्थ मामध्ये (संभूत) चारण किये हैं (ब्रह्म) परमात्मा ने (अये) आरम्भ में (उयेष्टुं दिवम्) बड़े शुलोक को (आततान) विश्वत किया है (ब्रह्मा) परमात्मा (भूतागाम्) पञ्चगहाभूतों के सध्य में (प्रथमः ह) पूर्वे प्रमिद्व (जज्ञे) साकात् द्वया (तेन ब्रह्मणा) उस ब्रह्म के साथ (कःस्पर्धि-तुम् अर्हति) कौन इवर्धी कर सकता है ? कोई नहीं ॥

इस में ब्रह्मा ऋषि का नाम तक नहीं आता। ब्रह्म शब्द नयुं सकलिङ्ग ती ३ बार और पुलिङ्ग १ बार आया है ॥

२-प्रसाण मनु का दिया है कि—“तस्मिन्ज्ञज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः”

प्रत्युत्तर-इस का चतुर देना इस लिये यद्यपि अनावश्यक है कि ब्रह्मा के आरम्भ में उत्पन्न होना सिद्ध होने से भी यह मिद्व नहीं होता कि वेद भी उसी के हृदय में परमात्मा ने प्रकट किये, परन्तु आप जो मनु का आपा शुलोक प्रसाण देते हैं इस का प्रमद्व पीछे से लगाया जाय तो पीराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा ऋषि का वर्णन यहां मनु से नहीं पाया जाता। न कगल से उत्पन्न ब्रह्मा का वर्णन है। किन्तु—

**सोभिध्याय शरीरात्स्वातिससृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अपएव सस-  
र्जादी तासु वीजमधाः मृजत् ॥ ८ ॥ तद्देवमभवद्वैमं सहस्रांशु-  
समप्रभम् । तस्मिन्ज्ञज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥ अ०९**

(स्वात्) अपने [स्व स्वानि संबन्ध वे] (शरीरात्) शीण होने वाले

उपादान कारण तत्व से (विविधः प्रजाः सिद्धुः सः) विविध प्रजाओं को रचना आहने वाले उम परमःतमा ने (अपः एव आदी सर्वे) अप् को ही प्रयत्न रचा (तातु) और उन अप् में (बीजम् अवाऽस्त्रजज्ञत्) बीज थोरा यहां शरीर शठद से उपादान कारण का यथा है। परमेश्वर उस का अधिकृताऽस्त्रामी है। इस लिये उसे “परमेश्वर का” कहा गया है ॥ ८ ॥ (तत् सहस्रांशुसमप्रभं हैमम् अष्टमम् अमवत्) वह सूर्य के समान चमकीला तेजोमय गोला होगया और (तस्मिन्) उस ब्रह्माख्णामक गोले में (सर्वलोकपितामहः) सब लोक का पितामह (ब्रह्मा) प्रकृतिसहित परमात्मा (जग्ने) प्रभिद्वुभा ॥ ८ ॥

अर्थात् प्रकृति भी पहले अव्यक्त थी, अब व्यक्त हुई। और परमात्मा भी अब प्राकृत जगत् द्वारा जागने योग्य हुआ। हम ने यहां “प्रकृति सहित परमात्मा” यह “ब्रह्मा” शठद का अर्थ किया है सो अपनी ओर से नहीं, किन्तु १० वें श्लोक में नारायण शठद का अर्थ करके उन्हीं ही ब्रह्मा शठद का अर्थ बतलाने के लिये ११ वां श्लोक लिखते हैं। यथा—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(यत् तत्) वह जो (नित्यं, सदसदात्मकं, कारणम्, अव्यक्तम्) नित्य, सद और असद की प्रकृति भूग, उपादान कारण, अव्यक्त=गमकट सूक्ष्म है (तद्विसृष्टः सः पुरुषः) उस कारण से संयुक्त वह पुरुष (लोके) संसार में (ब्रह्मा इति कीर्त्यते) “ब्रह्मा” इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

अब आप क्या कह सकते हैं? जो कि आप ने आधा श्लोक इस रहस्य के छिपे रहने के लिये नहीं लिखा था?

३-फिर सुषड़कोपनिषद् का वचन लिखा है। यथा—

**ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबंधूत विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता**

प्रस्तुतर- इस में भी ब्रह्मा ऋषि का वर्णन गहरी किन्तु ब्रह्मा परमात्मा का नाम है। क्योंकि “ब्रह्मा देवतों में प्रथम है जो सब का कर्ता और जगत् का रक्षक है” इस में यदि पुराणप्रतिपादित ब्रह्मा का वर्णन होता तो “सब का कर्ता” तो कहा जाता परन्तु “सब का रक्षक” न कहते। क्योंकि पुराणानुसार ब्रह्मा उपादक और विद्यु रक्षक है ॥

**४-यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपौ रुद्रो महर्षिः ।**

**हिरण्यगर्भं जनयामा स पूर्वं स नो वदु याशुभया संयुनक्तु॥३४३॥४५**

प्रत्युत्तर— जो देवतों के उत्पत्ति और प्रलय कास्थान है, नवेश्वर दुष्ट-दमन और अनन्तज्ञान वाला है सृष्टि के भारक्त में जिम ने “हिरण्य-गर्भं” का उत्पन्न किया वह हम को पवित्र बुद्धि से युक्त करे ॥”

इस में हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मा का गढ़ी किन्तु उसी समुलिखित ब्रह्मास्त पिण्ड गोले का नाम हिरण्यगर्भ है ॥

**५-आश्रमस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकान् । कपिं सूर्यं**

यहां (ब्रह्मा से लेकर) इस शब्द से ही ब्रह्मा का सृष्टि को भादि में होगा सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर—सूर्य में ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि कही गई है । इस का स्तम्बपर्यं यदि आप समय पर लगाते हैं कि भारक्त काल में ब्रह्मा हुए तौ प्रलय के सर्वोप काल में “स्तम्ब,, इोगा शब्द कृपया बतरहये कि स्तम्ब कीन सा ऋषि का अवतार होगा और उस का वर्णन पुराणादि में कहाँ किस प्रकार लिखा है ? कहाँ नहीं । यथार्थ में यहां सृष्टि के दो पदार्थों का वर्णन है, एम बहुत बड़ा और दूसरा बहुत छोटा । ब्रह्मा=ब्रह्मायहपिण्ड जो बहुत बड़ा पदार्थ है उस से लेकर स्तम्ब=भङ्गर पर्यन्त जो बहुत छोटा पदार्थ है । स्तम्ब कोई भङ्ग पदार्थ नहीं । अगरकोष वैश्यवर्ण झोक २१ में

**स्तम्बो गुच्छस्तणादिनः**

तणादि के गुच्छे को स्तम्ब कहा है । और भगवकोष वनीविधिवर्ग झोक ८ में—

**अप्रकाण्डे स्तम्बगुलमौ**

यहां वीज में भङ्ग ही तगा हो शीर कायद शाखादि ग हों उस का नाम स्तम्ब है । ती आप के विचारानुसार यह तात्पर्य हुवा कि सृष्टि के भारक्त में ब्रह्मा और अन्त में इनस्त उत्पन्न होगा । जिम का वेद पुराण ज्यांनिचादि किसी में कोई माहा नहीं । इस लिये ब्रह्मा=ब्रह्मायह से लेकर तुच्छ भङ्ग=स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि का सूत्र में वर्णन है । ब्रह्मा ऋषि का नहीं ॥

**६-सकलजगतात्पृथ्वीपराशरं सूत्रं का प्रमाण दिया है । जो वेद-वैद्यक उपाङ्गादि प्राप्तिक घन्यों में गही है ॥**

जिदाग हम यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा असैशुनी सृष्टि में नहीं हुवे, परन्तु आप के लिखे प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता । दूसरा भाग वेदप्राप्ति

विषय में यह है कि वेद ब्रह्मा क्रिया के द्वारा प्रकट हुवे, अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा द्वारा गहरे । इस विषय में ८० तिं० ११० ए० २२० में वही इवेतास्ततो-परिषद् का प्रमाण दिया है कि—“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वंम्” इत्यादि । यद्यपि इन का उत्तर स्वामीजी ने सनु के प्रमाण से स्वयं देखिया है, परन्तु हमने भी आप के ज्ञापणार्थ इस वाक्य का पूरा अर्थ लिखे देते हैं । यथा—  
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।  
तथ॑ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥  
( इवेता० ६। १५ )

“जो शाति में ब्रह्मा=वेदवेता को ब्रह्माता और उसे लिये वेदों का प्रदान करता है, निश्चय उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक देव को मैं नोक्तार्थी शरण आता हूँ” इस में ब्रह्मा का अर्थ वेदवेता अविमानात्य करो तभी—  
अग्निवायुरविभ्यस्तु व्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

इस सनु के कथग से विरोध हटेगा, अन्यथा नहीं । और ब्रह्मा पद यहां जात्यनिपाय में बहुवचन की जगह एकवचन आगमना चाहिये । आपने अपने पक्ष को पुष्ट करते हुवे सनु के छोकर्स्य “दुरोह” इस क्रिया का कुछ भी ठिकाना नहीं लगाया, वहा आप उसे गहरी भावते ।

८० तिं० ३० ए० २२१ में ( यस्मिकष्टासः ) इत्यादि अ० १० । ११ । १४ गच्छ में भावे ( वेदसे हृदा भवि जगये ) इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद प्रकट करना बताया है ॥

प्रत्युत्तर—‘वैद्यम्’ शब्द वेद में ब्रह्माक्रिया का वाचक नहीं किन्तु निघटदु३ । १५ में मेधावी=विद्वान् का गान वेद्या है । तदनुसार यह अर्थ हुवा कि परमात्मा उन मेधावी पुरुषों के हृदय में वेदों का प्रकाश करते हैं, जो पूर्वस्तप कृत कर्मानुसार धारणावती भेदा=बुद्धि से सम्पन्न होते ॥

८० तिं० ३० ए० २२१ में ( अग्निर्देवता० ) इत्यादि यजुः १४ । २० से बतलाया है कि अग्नि अविभवती नहीं किन्तु देवता है ॥

प्रत्युत्तर—यहां अग्नि, वायु, सूर्योदि जड़ पदार्थों का प्रकरण है और भला वेद में जिसी अविविदेय अग्न्यादि का वर्णन आता ही होते । वहा यह नियम है कि वेद में वा अव्यय जो नाम किसी जड़ पदार्थ का हो, वह नाम किसी सनुर्य का न हो । यदि ऐसा होता तो उद्वाला=अग्निलपंट जड़ पदार्थ का नाम है, वस उद्वाला देवी का नाम वा सनुर्यादि का नाम न होना चाहिये ॥

द० तिं भा० प० २२२ में शतपथ ब्राह्मण के पाठ में जो पूर्व छवि सत्यार्थ-  
प्रकाशों में पाठभेद द्वौगयाचा, उस का उलाहना देकर स्वयं (तेभ्यस्तम्भयः०)  
इत्यादि शतपथ का पाठ लिख कर अर्थ किया है कि “अग्निं वायुं आदित्यं  
इत्य सीनं तपस्त्रियों से तीनों बेदं ऋग्यजुं सामं प्रकाशं तुवे”

प्रत्युत्तर-ठीक है “जागृती वह जो शिर पै चढ़के बोले” आप जे भी अग्नि  
वायु आदि तपस्त्री महात्मा ही बेदों के ऋषि लिखे। अब विवाद ही क्या है ॥

आगे जो आप लिखते हैं कि ( अर्थात् बैच्छ्रविद्वित कर्त्ता का प्रचार  
हुआ ) सो आप की टिप्पणी हमारे पक्ष को हानिकारक नहीं ॥

द० तिं भा० प० २२२ पं० १९ में (दुरोह) किया को धातुओं के अनेकार्थ  
होने से द्रवी=दानार्थ लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्निं वायुं आदित्यं को बैच्छ्रविद्ये ॥

प्रत्युत्तर-सदाचार्य ( अनेकार्थ अपि धात्रो भवन्ति ) ६ । १ । १ के  
शतुसार जब धातु के प्रमिहु अर्थ से समन्वय=ठोक सङ्कृति नहीं निलंती तब  
किसी अप्रमिहु अर्थ की कल्पना की जाती है और यह नहीं कि “अग्नोधासं  
खाद्यति” का यह अर्थ कर लिया जावे कि घोड़ा घास खोदता है, किन्तु घोड़ा  
घास खाता है, यही अर्थ किया जाता है। जब कि “अग्निवायुरविद्यः” इस  
को पक्षीया विजकि गानते हुवे “दुरोह” का अर्थ प्रपूरण प्रमिहु अर्थ ठीक अट  
जाता है कि ब्रह्मा ने अग्नि भावि से बेदों को प्रपूरित किया। तब शतप-  
थानुसार भी वही सङ्कृति जगगई। अब अनेकार्थ कल्पना गौरव और व्यर्थ है ॥

द० तिं भा० प० २२२ में लिखे ( तदश्वमनवत् ) का अर्थ हम पूर्व कर  
चुके हैं। और उसी से द० तिं भा० प० २२३ में लिखे मनु के दो इलोकों का  
चतार भा चुका कि मनु में जो इलोक ८ में ब्रह्मा का वर्णन है वह व्यक्ति  
विशेष वा अविविशेष का नहीं है ॥

द० तिं भा० प० २२३ में ( स ब्रह्मविद० ) इत्यादि मुख्यकोपनिषद्द से यह  
द्विखाया है कि ब्रह्माविदि ने अपने बड़े पुत्र अपर्वा को ब्रह्मविद्या पदार्थे,  
उस ने अङ्गिरा को, उस ने भरद्वाज को। इत्यादि ॥ इसमें अङ्गिरा को शिद्ध  
कहा है, स्वामी जी गुरु बताते हैं। यह भाशय है ॥

प्रत्युत्तर-क्या एक गाम के अनेक ऋषि अनेक वा एक समय में नहीं  
होते ? जिस अङ्गिरा पर बेदों का परमात्मा ने प्रकाश किया। वह ब्रह्मा के  
बड़े पुत्र अपर्वा का शिद्ध नहीं किन्तु अन्य वा और आप वही माने तो  
मनु के इलोकार्थे में तो आप अङ्गिरा दि को ब्रह्मा वा शिद्ध लिख चुके हैं।

यहां ब्रह्मा के बड़े पुत्र का प्रशिष्य क्यों लिखते हैं। क्या यह विरोध नहीं?  
४० तिं० भा० प० २२४ में-

**तद्वेदगुह्योपनिषत्सुगूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् । श्वेता०**

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है कि जो ब्रह्म योनि शर्योत् जगलिमित्तकारण ब्रह्म वेदों और उपनिषदों में गूढ़भाव से प्रतिपादित है, उसे ब्रह्मा=वेद उपर जानता है ॥

४० ति भा० प० २२४

### अग्निर्बा अकामयत अक्षादो देवानां स्थाम्

प्रत्युत्तर-यह गणिन जो देवों वायुआदि के शक का खाने खाका है सो होन जा जड़ गया है। न कि आपका नाम हुआ पूर्वोक्त वेदप्रकाशक तपस्वी ऋषि॥

पराशर शूल के प्रमाण से ४० तिं० भा० प० २२४ में लिखा है कि ब्रह्मा के इहने अंगूठे से दक्ष, दक्ष से अद्विति, अद्विति से सूर्य उत्पन्न हुआ, इस से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष का भेदता सूर्य हुआ ॥

प्रत्युत्तर-इन गावें देवतार के गीत, आप गावें नकान के। आप सूर्यलोक की उत्पत्ति कंहते हैं। इन गीर नकानी जो आप के नाने शतपथ धार्मिक नाम ऋषि से सागवेद का प्रकाश बताते हैं। न कि सूर्यलोक से ॥

### इति वेदप्राप्तिप्रकरणम्

### अथ मन्त्रब्राह्मणप्रकरणम् ॥

४० तिं० भा० प० २२६ प० १२ से प्रथम ती आप ही ने उपनिषदों की ओर जीवेद नामा है। स० प० ११ प० २ “देखिये वेदों में ऐसे २ प्रकरणों में जोइच आदि परमेश्वर के नाम हैं” जोनित्वेतद००० यहां उपनिषदों वे प्रमाण दिये और सब वेद के नाम से उच्चारण किये ॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके सत्यार्थप्रकाश ने देखिये, “वेदों के ऐसे २ प्रकरणों में जोइच आदि परमेश्वर के नाम आते हैं” इस वाक्य के शिर पर-

**ओइम् स्वं ब्रह्म ॥ ( यजु० ४० । १ )**

यह वेदवाक्य लिखा है। उसे न छिपाये। नकानी जी इसी की कृपा करके कहते हैं कि “वेदों में सेवेर प्रकरणों में जोइच आदि परमेश्वर के नाम आते हैं” न कि उगले “जोनित्वेतदक्षरम् ० इत्यादि को वेद नरम् से कहा होता

हां, उपनिषद् का भी प्रभाग इस विषय में दिया है कि जोऽम् परमेश्वर का नाम है और यूं तौ भागे स्वामी जी ने मनु के भी १ छोक लिखे हैं जो ( जोभित्य०, सर्वे वेद० यत० ) से भागे-

**ग्रथाभितारं सर्वैषामणीयां समणोरपि० हत्यादि ॥**

व्याकु जित इवामी जी मनु को भी वेद गामते थे ? वा आप गामते हैं ?

४० तिं भा० पृ० २३६ पं० १६ में लिखा है कि “प० १०० पं० १० अुतिरिष्य ग्रथागकार्यत्वश्य” सांख्य सू० इस के अर्थ में इवामी जी लिखते हैं कि “उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहता है” यहां देखिये अुति शठ० उपनिषदर्ते तक का गाम भिन्न होता है ॥

**प्रत्युत्तर-स्वामी जी का** यह पता नहीं है कि अुति शठ० उपानिषदर्ते के बाब्य का नाम नहीं । एक शठ० के अनेक अर्थ होते हैं । तस्मान् अुति शठ० वेद्याचक भी है और उपनिषदर्ते के छोकादि का नाम भी अुति रहते । इतने से उपनिषद् अपौरुषेय वेद नहीं हो सकते । कल्पना करो कि सूक्ष्म राजा के पुत्र का नाम “ अीवति ” है और एक वैद्यपुत्र का नाम भी “ अीवति ” है ती व्या दोनों का गाम अीवति होने से वह वैद्यपुत्र कभी दाकपुत्र नाम जामकता है ? कभी नहीं । इसी प्रकार “ अुति ” नाम दोनों का भी है और उपनिषदर्ते के बाब्यों का भी है ती व्या इतने से उपनिषद् वेद हो गये ।

५० तिं भा० पृ० २२६ पं० १५ से-यदि वेद शठ० से व्यवहार्य बाब्यकलाप को दूसरे पर्दों से अर्थ करने को व्याख्यान कहते हैं तो स्वामी जी इसे व्या कहते हैं

**प्रजापते न स्वदेतात्मपृष्ठो विश्वादृपाणिं ( इत्यादि यजुः २१ । ६५ ) और प्रजापते न स्वदेतात्मपृष्ठो विश्वाजातानिं ( इत्यादि ) अ० १०१ । १२२ । ५ और नवो नवो भवति जायनानः ( इत्यादि अथव० ) और-नवो नवो भवति जायनानः० इत्यादि अ० १० । ५४ । १५ )**

इन में पहले नवने (विश्वादृपाणि) ऐसा पद है और दूसरे में विश्वाजातानि) ऐसा पद है, तीसरे में (भवति जायनान स्वदेतात्मपृष्ठो विश्वात्मपृष्ठो) ऐसे विलक्षण पद हैं तो इन सिव० नवनों में वेदपर्दों के पदाभ्यार से अर्थ कथनशुद्ध स्वामी जी का पूर्वोक्त ऋग्वेदाग्राम्यमूलिका) वेदव्याक्यानस्व तो वपहता से प्रतिपक्ष होता है, किंतु वेद जी व्याख्यान कहलाकैगता ॥

**प्रत्युत्तर-एक ही वेद में कोई नमन्त्र कहै बार जावे वा एक वेद के समान पाठ बाला नमन्त्र उसी वेद में वा दूसरे वेद में किंतु से भावे, वा कुछ**

पाठभेद से जाये, तो इन का तात्पर्य यह नहीं होता कि पूर्व कहे मन्त्र के अाशयानार्थे पुनर्वार अन्य पदों से उपाख्यान करने को यह २ मन्त्र पुनर्वार आता है। किन्तु इसमें सामवेदभाष्य में स्पष्टता से सिखा है कि जिस प्रकार एक भक्त वार २ जाता है जब २ उप की आवश्यकता हो। इसी प्रकार एक पद भी कहेवार आता है। तथा एक मन्त्र वा सुक्त वा अध्याय भी पुनर्वार जातक्ता है, जब २ उप की आवश्यकता हो। और भाष्य के भवनामूल्य यह भागलें कि वे २ मन्त्र जो पुनर्वार अन्य पदमिलित आये हैं वे पूर्व आये तुमों की उपाख्या हैं, तो कृपया यह बताइये कि ओ २ मन्त्र विना पदमेद के त्यों कहेवार एक वा अनेक वेदों के त्यों में आये हैं वे किस लिये? त्योंकि जब किसी पद के स्पान में दूनरा पद भी नहीं आया तब अाशय ही हो जाये। जोसा कि-

### तत्सवित्तुर्वरेण्यं भग्नीदेऽ

यह मन्त्र ऋग्वेद अष्टक ३ अध्याय ४ उपर्य १० में तथा यजुर्वेद ३। इस पिर २२। ८ पिर ३०। २ पुणः १६। ३ भौद्र सामवेद उत्तराचिंक अध्याय १५ खण्ड ४ कथा १ में भी आया है। इस लिये एक मन्त्र का समान पाठ से वा पाठभेद से एक वा अनेक वेदों में कहेवार आगा अाशयान् होने का साधक नहीं (परन्तु जैव शतपथ आश्वरण में पदों के अर्थ बताये जाते हैं कि-आत्मा वा अस्तिः। श० १। २। ३। २ अर्थं वा अस्तिः प्रजात्मा मजाय-तिष्ठ। श० ९। १। २। १२ अस्त्राश्वरूपितः। श० १। ४। २। ११ अर्थसः। श० ५। १। २। ८ श्रीहिंडिप्रश्नः श० १। ६। १। ३६ मजावैपश्चातः। श० १। ४। ६। १७

इत्यादि स्थलों में जिस प्रकार शब्दों के अर्थ बताये हैं। इस से चिह्न होता है कि आश्वरण यन्य वेदों के अाशय हैं॥

८० सित० शा० प० २२३ प० ११ से ( लीकिकानामर्थपूर्वकटवात् ) ऐसा कात्प्रायण ऋषि ने प्रतिशाश्वर में कहा है इस का अर्थ यह है कि लीकि-कानामर्थात् “ गामानय शुक्लां दश्छेन ” इत्यादि लीकिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भाष्य का आशय यह है कि जैव शुक्ल में ओ वस्तु पूर्व होते हैं उन से उत्तर काल में उन का कथन बन सकता है। ऐसा वेद में नहीं। किन्तु ओ २ इतिहास आश्वरण नामक वेदभाग में आते हैं वे २ घटनान् व वैरी तभी वेद में पूर्व से भविष्यत् वा वर्त्तन किया। वस्त्रिहात्र वेद अनित्य नहीं

होते । परन्तु जानना चाहिये कि आप के लिखे प्रातिशास्यशास्य का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म में जिस प्रकार वस्तुसत्ता के होने पर उम के नामादि का उच्चारण होता है, उस प्रकार वेद में गहरा । अर्थात् वेद अनादि है । उम में गजत् के पदार्थों का वर्णन उस प्रलय काल में भी ईश्वर के ज्ञान में रहता है जो पदार्थ उम काल में वर्तमान नहीं होते किन्तु स्थिरकाल में उत्पन्न होते । इस का कारण यह है कि ईश्वर अनेक उत्पत्ति विषय प्रलय का कर्ता है और अनेक वार धूमे और होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, अन्न आदि पदार्थों को जानता है और इस से उन के उत्पन्न होने से पूर्व भी प्रयोग कर सकता है । परन्तु यथार्थ में वस्तुसत्ता से पूर्व प्रयोग नहीं करता किन्तु जिस प्रकार वेद और ईश्वर अनादि हैं, इसी प्रकार सूर्योदि पदार्थों में प्रवाह से जो अनादिता है, उम कारण परमात्मा जानता है और जानता हुवा ही प्रयोग करता है । किन्तु जगकादि स्वतन्त्र जीवात्माओं के स्वतन्त्रता से उच्चारण किये पश्चोत्तरों को प्रवाह से अनादिता नहीं है और इस कारण ऐसे प्रश्नोत्तरादि इतिहास भूलवेद में नहीं आवकते । और ब्राह्मणपर्यांते में जाते हैं । अतः ब्राह्मण यन्त्र अवीरवेद वेद नहीं ॥

३० तिं भा० प० २२३ य० २२ में ( त्रित कूपे० ) इस नम्बर से त्रित ऋषि का इतिहास नम्बरसंहिता में दिखलाया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का उत्तर प० २११ से दिया जा सकता है ॥

३० तिं भा० प० २२० में भीमांसा के इन दो सूत्रों से नम्ब्र ब्राह्मण दोनों को वेद बतलाया है कि-

**तञ्चोदकेषु मन्त्राख्या ३१ शेषे ब्राह्मणशब्दः ३२**

भाषण का तात्पर्य यह है कि (शेषे) नम्ब्रभाग से शेष वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं ॥

प्रत्युत्तर-भाषण कृपा करके भीमांसा का इस से पूर्वला अर्थात् ३० वाँ सूत्र और देखते तौ ( तञ्चोदकेषु० ) इस ३१ वें से तत् शब्द से पूर्वले किस प्रवर्तन की अनुवृत्ति हो सकती है, वह जान लेते । इस पाठकों के ज्ञापनार्थ ३० । ३१ । ३२ तीनों सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं और अर्थ सहित लिखते हैं-

**३०-विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दमात्**

**३१-तञ्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥**

## ३२—शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥

१०-विधि भीर मन्त्र का एक अर्थ है, एक शब्द होने से। अर्थात् मन्त्र संहिता का ही दूसरा नाम विधि है। ११-तत्त्वोदयेषु०=उग विधिवाक्यों में मन्त्र नाम प्रभिद्वृ है। १२-इस में शेष पद का मन्त्र से शेष=बचा हुआ अर्थ नहीं किन्तु भीमांसाकार जैमिनि जी शेष का अर्थ स्वयं गिर्भतलिखित सूत्रों में करते हैं। यथा हि-

अथातः शेषलक्षणम् ३ । १ । १ शेषः परार्थत्वात् ३ । १ । २

अर्थात् अब शेष का लक्षण कहते हैं (जिस में “ब्राह्मण” शब्द का व्यवहार है) १ । १ । १ कि शेष परार्थ होने से अर्थात् ब्राह्मण को शेष इस लिये कहते हैं कि वह परार्थ है, पराया=मन्त्र का अर्थ वर्णन करता है। कहीं अक्षरार्थ, कहीं भावार्थ भीर कहीं मन्त्रों के कर्मकाल में विनियोग को दिखाता है। अतएव वह वेद का व्याख्यान तो है परन्तु मूल वेद नहीं ॥

१० तिं० भा० प० २२८ प० १४ । मैं-तेवासूयग्रार्थवशेषं पादव्यवस्था । इत्यादि ३ सूत्रों से ऋग्यजुः साम के लक्षण कहे हैं। उन का सम्बन्ध इस से कुछ भी नहीं कि ब्राह्मण भी वेदमाग है। परन्तु हाँ, जाप के विनष्ट भीर स्वामी जी के अनुकूल तो इस सूत्र का भाव होता है। क्योंकि—

तेषामृग्यन्नार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २ । १ । ३५

अर्थ—जिस में अर्थवश से पादव्यवस्था है वह ऋक् कही जाती है। वस्यदि ऋग्वेद का ब्राह्मण भी ऋग्वेद में गिना जावे तो उस में भी पादव्यवस्था छान्दोवद्वृ होनी चाहिये। सो नहीं है। इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ॥

१० तिं० भा० प० २२८ । २२८ मैं-बुद्धिपूर्वी वाक्यकृतिर्वदे ॥ इत्यादि ३ सूत्रों में ब्राह्मण के वेद होने का भ्रम उत्पन्न किया है ॥

प्रश्नत्तर-जापने पूर्व तो भीमांसा का सूत्र अण्डु लिखा अर्थात् (तेषामृग्यन्नार्थविशेषादव्यवस्था) लिखा, जिस का अर्थ किया जावे तो “अव्यवस्था” वेद के शिर भड़ी जाती है। उद्दू पाठ हम क्षपर लिख ही चुके हैं, अब जाप विशेषिक सूत्र का पाठ भी अन्यथा लिखते हैं। उद्दू पाठ भीर अर्थ नीचे लिखे अनुसार है:-

बुद्धिपूर्वी वाक् प्रकृतिर्वदे ६ । १ । १

**ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धि लिङ्गम् ६ । १ । ३**

**बुद्धिपूर्वी ददातिः ६ । १ । ३**

**तथा प्रतिग्रहः ६ । १ । ४**

इनसे सूत्र में ( लिङ्गम् ) पर आप का रेफ अशुद्ध है । तो सरे वदरति के विसर्ग नहीं लिखे जो अशुद्ध है ॥ अर्थ यह है—वेदों में वाक्यरचना बुद्धि-पूर्वक है ॥ १ ॥ क्योंकि ( वेदों का टयारूपाग करते हुवे ) ब्राह्मण में नामकरण सिद्धि का चिह्न है । अर्थात् ब्राह्मण में वेद के जिस मन्त्र का विनियोग जिस कर्म में किया है, वह २ मिठु होता है । यदि वेदवाक्यरचना बुद्धिपूर्वक न होती तो ब्राह्मणोक्त प्रकार से वेदप्रयोग मिठु न होते । इस से यह पाया जाता है कि वेद ( कानून ) विधि है और ब्राह्मण उस के वर्ताव की विधि बतलाने वाला ( जातका ) है । ब्राह्मण वेद नहीं है ॥ २ ॥ इसी प्रकार ददाति अर्थात् वेद में लिखा दानप्रयोग भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ३ ॥ तथा प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ४ ॥

इस से ब्राह्मण के वेदव्यवहार की शङ्का नहीं हो सकती । हाँ, जिन टीकाकारों ने आधुनिक परिपाटी से उदाहरण में वेदवाक्य की अनुपस्थिति में ब्राह्मणवाक्य रख दिये । यह उन टीकाकारों की सम्मति हुई कि ब्राह्मण भी वेद है परन्तु मूल वैशेषिक दर्शनकार कणाद की नहीं ॥

८० तिं भा० पृ० २३० में—तद्प्रामाण्यम् इत्यादि न्यायदर्शन के ३ सूत्र लिखे हैं और इन के उदाहरण और टयारूपा में वात्स्यायन जी ने ब्राह्मण वाक्य लिखे हैं । इस से ब्राह्मणों के वेदसंज्ञक होने का भन किया है ॥

प्रत्युत्तर—आप ने एक अशुद्धि यष्टां भी की । न जाने क्या बात है कि दर्शनशास्त्रों का विषय भाते हों आप से एक न एक अशुद्धि पाठ की अवध्य हो जाती है । शुद्ध पाठ ( विध्यर्थवादानु० ) है । आप ने ( शुद्धव्यवहार-दानु०) लिखा है जिस के अर्थ में विधि का बुद्धि हो जाने से पृथिवी अ-काश का सा अन्तर होजाता है ॥ शब्द मूल बात सुनिये । तद्प्रामाण्यम् यह सूत्र न्यायदर्शन अध्याय २ आनिषक १ सूत्र ५६ है और इस से पूर्व सूत्र ५७ से न्यायोक्त प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द इन चार प्रमाणों में से शब्द प्रमाण की परीक्षा भारमन हुई है । अर्थात् शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत होने की शङ्का करने को ५७ वां सूत्र किया है कि—

**शब्दोऽनमानमर्थस्याऽनुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ २ । १ । ४७**

यहां से शङ्काममाधान करते हुए इस ५६ वें सूत्र में शङ्का की है कि—  
**तदऽप्राभाएयमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ २ । १ । ५६**

वह शङ्क ग्रमाण नहीं । क्योंकि शङ्क प्रमाण में (पुस्तक लिखित प्रमाण में) अनुत्त=भ्रस्त्य, परस्परविहृ और पुगहक दोष हैं । जैसे कि बातस्या-यन जो ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वदनों में असत्यादि दोष शङ्कापक्ष में दिखाये हैं और अगले सूत्र में इस का उत्तर दिया है कि—

**न कर्त्तकर्मसाधनवैगुण्यात् ५७**

अर्थात् शङ्क अप्रमाण नहीं । और जो तुम अनुत्तादि दोष देते हो कि शङ्कप्रमाणलिखित पुत्रेष्टि यज्ञादि करने से पुत्रोत्पत्ति आदि प्रायः नहीं होती । सो कर्त्ता कर्म और साधनों में दोष रह जाने से नहीं होती । किन्तु जो आप पुरुषों का उपदेश किया शङ्क है, वह तो प्रमाण ही है । अब आप सुनकर सकते हैं कि ४७ वें सूत्र से यहां शङ्कप्रमाण की अनुवृत्ति और शङ्कप्रमाण की परीक्षा का प्रकरण है और शङ्कप्रमाणान्तर्गत वेद सूत्रित आदि समस्त जापोक्त सत्य शाख हैं । न केवल वेद ही शङ्कप्रमाण है । इसां वेद स्वतःप्रमाण और अन्य शङ्क परतःप्रमाण अपर्त्त वेदाऽचीन प्रमाण वा वेदाऽविहृतसा में प्रमाण हैं । इस से गोतमसूत्रों के उदाहरणों में ब्राह्मण वाक्य के उदाहरण से क्या इनि है ? प्रत्युत् रामायण और महाभारत का अनु आदि के वाक्य भी शङ्कप्रमाणान्तर्गत होने से दोष नहीं । परन्तु शङ्क प्रमाण होने से उस २ कीं वेद संहा नहीं हो सकती ॥

**४० तिं० ज्ञात् पृ० २३। प० ९ में—( तमितिहासक्ष पुराणं च गायाच्छ० )**  
इस अथवेद में इतिहास पुराण के आने से क्या वेद इतिहास पुराण के पीछे बना है । कही नहीं ॥

**प्रत्युत्तर-इस अथवेद १५। ३७। १। ४ के वाक्य में इतिहास पुराण का सामान्य नाम है । क्योंकि इतिहास पुराणादि भी प्रत्येक कल्प में बना ही करते हैं । परन्तु ब्रह्मवैकर्त्तर्णादि किसी पुराणविशेष का नाम नहीं जाने से यह शङ्का नहीं हो सकती कि वेद उस के पीछे बना । परन्तु यदि पुराण के किसी अनित्य पुस्तकविशेष भागवतादि का नाम आता ही अवश्य यह चिह्न होता कि यह वेदवाक्य उस के पीछे बना । जैसे वेरी में मनुष्य शङ्क आने**

तो यह शङ्का नहीं होती कि मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् वेद बने, क्यों कि मनुष्यों का होना प्रवाह से अनादि है। परन्तु रामचन्द्रादि वयुधि-ष्ठिरादि पुरुषविशेषों के जीवनचरित्र वा कुछ वर्णन वेद में आते (जो कि वेद में नहीं आते और ब्राह्मण में आते हैं) तो अवश्य यह चन्द्रेह होता था वह २ वेदभाग उस २ की उत्पत्ति के पश्चात् बना ॥

३० तिं भा० पृष्ठ २३१ पं० १२ से—पश्चाद्विभिन्नाऽविशेषात् । इस अपने ज्ञात्य की आप ही व्याख्या शङ्कराचार्य जी ने की है। और पातञ्जलभाष्य में भी भग्नशडदानुशासनम् । इस का—अथेत्यं शठोधिकारार्थः । इत्यादि व्याख्यान स्वयं भाष्यकार ने किया है ॥

प्रत्युत्तर—कहीं २ अपनी व्याख्या आपने ही की है। इस बेकार यह सिद्ध होगया कि समस्त व्याख्यायन्य भी सूलयन्यकारों ने बनाये हैं। ऐसा ही है तो रघुवंशादि के महिनाधारांदलतटीका भी कालोदासादिकृन समझियेगा? या मानियेगा? अथवा क्या सूलसंहिताओं की व्याख्या उन के आगे (अव्यवहित) इस प्रकार लिखी पाई जाती है? जिस प्रकार शङ्कराचार्य और पतञ्जलि के उक्त वाक्यों की व्याख्या उन्हीं के आगे संपर्कित है, नहीं २ ॥

३० ति भा० प० २३१ पं० १३ से—पश्च

**द्वितीया ब्राह्मणे २ । ३ । ६० अष्टाऽ**

**चतुर्थर्थे अहुलं छन्दसि २ । ३ । ६२**

**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५**

**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२**

यहाँ पाणिनि भाचार्य वेद और ब्राह्मण को पृथक् २ कहते हैं पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मा भावित्विषयों ने प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प वेदव्याख्यान हैं। इस से इन की पुराणेतिहास संज्ञा की गई है। यदि यहाँ छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूक्तकार को भग्नित होती तो (चतुर्थर्थे अहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्द ग्रहण न करते “द्वितीया ब्राह्मणे” इस सूत्र में “ब्राह्मणे” इस पद की भग्निति प्रकरणतः प्राप्त है इस से जानते हैं कि ब्राह्मण यन्य की वेद संज्ञा नहीं और यदि छन्द पद से ब्राह्मण का भी यन्य पाणिनि को भग्नित होता तो “छन्दोब्राह्मणे” इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण एवं

करते। केवल छन्दसि कह देते क्योंकि ब्राह्मण भी छन्द ही है “उत्तर” वाह। अकारण में भी आप की बहुत पहुंच है। यह कहना सर्वथा आप का अनुचित है। देखिये “द्वितीया ब्राह्मणे” इस सूत्र से ब्राह्मणविषयक प्रयोग में शापूर्वक है और पण धातु के समानार्थक दिव धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है यथा “गामस्यतदहः समायां दीरयेयुः” यहां गतस्य दीर्घतिः इत्यादि में की गाई “दिवस्तदर्थस्य” २ । ३ । ५८ इस सूत्र से गोरस्य ऐसी वष्टी प्राप्ती से जो वहां “गामस्य” यही द्वितीया की जाती है यहां ब्राह्मणदृप वेदैक-देश ही में द्वितीया। इष्ट है न कि सन्त्रब्राह्मणास्मन् अति छन्दः ब्राह्माय निगम वेद इत्यादि पव से व्यवहार्य समस्त वेद मात्र में और (अतुर्धर्ये बहुलं छन्दसि) २ । ३ । ६२ इस उत्तर सूत्र से सन्त्रब्राह्मणदृप छन्दोनाम के विषय में चतुर्यों के अर्थ में वष्टी का विधान किया जाता है “पुरुषसुग्रामद्रवतः” ‘पुरुषसुग्रामद्रवतः’ इत्यादि इस सूत्र से छन्दसि इस पद से सन्त्रब्राह्मणदृप समस्त वेद मात्र का संयह पाणिनि आचार्य को अभिमत है, अनेक इस के उदाहरण में (या खर्देण पिबति तस्ये खर्वो जायते तिस्तोरात्रिरिति तस्या इति प्राप्ते, यां मलवद्वासुः समवल्ति यस्ततो जायते सोमिश्रस्तो यामरये तस्ये स्तेनो यां परार्चीं तस्ये द्वृतमुस्यः प्रगल्मो या इनाति तस्या अप्तु माहको याऽप्यङ्के तस्ये दुश्मर्ता या प्रलिखते तस्ये खलतिरपश्नारी याङ्के तस्ये काणो यादीतो धावति तस्ये इयावदन् या नखानि गिरुत्तते तस्ये कुगखो या कुणिति तस्ये क्लीबो या रजुं सूजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या सन्मादुको जायते जाहलयाये जारमनाद्यै तत्तुः) इत्यादि बहुत से ब्राह्मणों ही को भाव्यकार ने दिया है यदि इस सूत्र में छन्दोपहृण न रहेगा तो पूर्व सूत्र से ब्राह्मणे इस पद की अनुवृत्ति लाने पर भी केवल ब्राह्मण ही में वष्टी होगी बेदमात्र से जहाँ इस कारण इस सूत्र में (छन्दसि) यद्यपि का विशिष्ट फल है और ब्राह्मण की छन्दोदृपता में भाव्यकार सम्मति देते ही हैं किर इस सूत्र में छन्दोपहृण को व्यर्थ कहते हुए भाप निरे स्वरूपद गहीं हैं तो भी कीरकीत हैं और जहाँ तो (सन्त्रेष्वेतवद्वोक्यशस्पुरोदायो यिवद् १ । २ । ७१ अवेयजः ३ । २ । ७२ विजुपे इछन्दसि १ । २ । ७१) ऐसे क्रनिक सूत्र में पाठ वे अनितम सूत्र में “छन्दसि” ऐसा कहने से सन्त्रभाग में भी छन्दोदृपता न चिह्न द्वाने पावेगी देखिये लैसे (ब्राह्मणे) ऐसा कह कर

( छन्दसि ) ऐसा कहने से ब्राह्मण का छन्द पद में उपवाहार पाणिनी को अभिन्नत नहीं है ऐसी उत्प्रेक्षा आप करते हैं तैसे ही पूर्व सूत्र में मन्त्र ऐसा कहकर ( विजुपेशदन्दसि ) ऐसा कहने वाले पाणिनी को मन्त्र भाग में भी छन्द पद में उपवाहार अभिन्नत नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा तब तो ब्राह्मणद्वयी आप के शिर पर भी महा अनिष्ट आपड़ेगा और भी “ अस्त्र-कुधरवित्युपयथाद्वन्दसि ८ । २ । १० ” इस सूत्र में पाणिनि ( छन्दसि ) ऐसा कहकर “ भुवश्च महाठयाहृतेः ८ । २ । ११ ” इस उत्तर सूत्र में महाठयाहृतेः ऐसा कहते हैं इस से महाठयाहृति की भी छन्दोभावचयुति गवइय ही जायगी क्योंकि “ ब्राह्मणे ” ऐसा कह कर “ छन्दसि ” ऐसा कहना ही ब्राह्मण का छन्दोभाव का भाव साधत करेगा और “ छन्दसि ” ऐसा कहकर “ महाठयाहृतेः ” ऐसा विश्वष्ट उपवाहृति का कहना महाठयाहृति का छन्दोभाव का गाशक न होगा ऐसी जांख में धूल ती आप नहीं हाल सकते इस हेतु से पाणिनि भावार्थ प्रयोग साधुत्व के भावसंग और उत्तिप्रसंग निवारण करने की हड्डा से कहीं सामान्य से ( छन्दसि ) ऐसा कहकर विशेष से “ महाठयाहृतेः ” ऐसा कहते हैं और कहीं तो विशेष से “ ब्राह्मणे ” “ मन्त्रे ” ऐसा कह कर सामान्य से “ छन्दसि ” ऐसा कहते हैं इस से यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को इष्ट न होती तो ( चतुर्थर्थं अहुलं छन्दसि ) इस सूत्र में छन्दोग्रहण वो क्यों करते क्योंकि ( द्वितीया ब्राह्मणे इस सूत्र से ब्राह्मणे इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः सिद्ध थी इस से जानते हैं कि मन्त्र ब्राह्मण का नाम वेद है और आप का कहना सब सिद्ध्या है और ( छन्दोब्राह्मणानीति ) ब्राह्मणों और मन्त्रों का छन्दोभाव समान होने से पृथक ब्राह्मण उपर्ये है ऐसा प्राप्त या तपापि ब्राह्मण ग्रहण यहां “ अधिकगच्छिकार्थम् ” इस न्याय से ब्राह्मण विशेष के परिग्रहार्थ है इस से ( याज्ञवलश्चादिस्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ) ऐसा कहते हुए इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण का प्रयोजन यही सूचित कराये हैं और “ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकर्त्येषु ४ । ३ । १०५ ” इस सूत्र में ब्रह्मण का पुराणप्रोक्त ऐसा विशेषण कहते हुए पाणिनि को यही अर्थ अभिन्नत है जन्यथा यदि ब्राह्मण विशेष के परिग्रह करने की इच्छा न होती तो ( पुराणप्रोक्तेषु ) इस से कहने से भावार्थ की प्रवृत्ति अर्थ होजाती । चाहे

इवामी जो आप कुद्र सगभें परन्तु भाष्य के अन करने वाले विद्वानों को  
यह बात कुद्र परोक्ष नहीं है इस हेतु इस में कुछ और नहीं कहा चाहे  
हते और मन्त्र भाग की जाई ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्यवारंवार सिद्ध  
कर आये हैं शतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापन के प्रसंग से ( प्रमाणेन रुद्रं  
ब्राह्मणेति हा सपुराणानां प्रामाण्यमध्यनुज्ञायते ) ऐना वाटस्यापन गहर्षिं  
ने कहा है यदि ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य न हो तो दूसरे की प्रामाण्य  
बोधकता के से उन में संभवित होसकी है क्योंकि ब्राह्मण भाग स्वयं जब  
तक प्रमाणपद्धति पर व्यवस्थित न होलेगा तब तक इतिहास पुराण के प्रा-  
माण्य का व्यवस्थापन करने में कैसे समर्थ हो सकेगा यह कहावत प्रमिद्ध है  
कि ( स्वयमभिद्धः कथं परान् साधियिष्यति ) इस से श्रुति वेद शब्द आक्षाय  
निनगृह इत्यादि पद मन्त्र भाग से लेकर चपतिष्ठद् पर्यन्त क्षेदों का बोधक है  
यह शास्त्र भार्मिक विद्वानों का परामर्श है शतएव ( श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो  
धर्मेशास्त्रतु वे स्मृतिः ) श्रुति को वेद कहते हैं धर्मेशास्त्र कू ऋस्तु कहते हैं  
ऐसा जास्तिक जगों के जीवनीषष्ठ भगवान् मनु जी ने भी माना है ॥

प्रत्युत्तर-सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न इस प्रकार आप के सत पर नहीं  
किया गया जैसा कि आप ने "द्वितीया ब्राह्मणे" इत्यादि किया है । फिर  
इस का उत्तर सत्यार्थप्रकाश के क्रमपूर्वक खण्डन में देना आवश्यक न था  
और "इत्यपि निगमो भवति । इति ब्राह्मणम् । निऽमध्येत्युत्तरं ३४" का उत्तर  
जो आप को देना था सो आप ने दिया नहीं । इस का कारण योंचने से  
ज्ञात होता है कि आपने सत्यार्थप्रकाशस्थ उक्तियों को समझा नहीं और उसे  
की जगह सूमिका पर भोक्षेण करके जो कर्णी के परिष्कृतों ने महामोहविद्वान्  
वाण नामक पुस्तक में लेख किया है उसका भावानुवाद करके आप ने लिख  
दिया है । परन्तु सत्यार्थप्रकाश के उत्तर से इस का कुद्र सम्बन्ध नहीं ।  
तथापि आप के समस्त पक्षों का निराकरण हो जावे, और साथ ही भहां  
मोहविद्वावण की भी समालोचना होजायिए, इस लिये क्रमशः उत्तर सुनिये—

### चतुर्थर्थ्ये बहुलं द्यन्दिषि २ । ३ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने छन्दोग्यहण की व्यर्थता दिखाई है सो  
विपक्षियों के ही सतानुसार दिखाई है । अपने सत से नहीं । आप जो  
"द्वितीया ब्राह्मणे" में "ब्राह्मणे" ग्रहण को वेद के एकमात्र वाचक गाग

कर निर्वाह करते हैं जो इस लिये ठीक नहीं कि ब्राह्मण का वेदैकदेश होना ही ती साध्य है। साध्य को हेतु बतलाना “साध्यसमहेतवाभास” नामक नियम स्थान है। गिरि प्रकार “अग्निसीहे पुरोहितम्०” अ० १।१।१। इत्यादि मन्त्र जो वेद का एकदेश हैं, क्या उन में छन्द आदि पदों से विहित कार्य नहीं होते? किन्तु यह शैली पाणिनि की नहीं है कि गिरि २ विशेष वेदैकदेशों में (मन्त्रों वा पदों में) वे कार्य पाये जावें उन २ का ही नाम सर्वत्र लिया हो। इस से जाना गया कि ब्राह्मण वेद वा वेदैकदेश नहीं किन्तु वेदव्याख्यान है॥

और “या खर्षेण पिबति०” इत्यादि ब्राह्मणवाक्य का उदाहरण “चतुर्घर्षेण बहुलं छन्दसि०” पर भङ्गाभ्यर्थकारने दिया है वह भी ब्राह्मण का वेदैत्य लिहु नहीं करता। यूं तो “छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति०” इस वेष्याकरणमत से सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य होते हैं, तो क्या इतने से व्याकरण के सूत्रों को भी अपीक्षेय वेद भानियेगा? पाणिनिकृत न भानियेगा? इसी प्रकार वेद के तुल्य प्रयोग ब्राह्मण में भाग्याने और भाष्य में ब्राह्मणवाक्योदाहरणमात्र से ब्राह्मण का वेदैत्य नहीं सिद्ध होता और ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं, तब व्याख्यान में व्याख्येय के समान पद भाग्याना कुछ उन दोनों को एक नहीं कर देता॥

और भाष्य जो (मन्त्रे इतेत० ३।२।३१) में कहते हैं कि मन्त्र पूर्णाचुका पा तब किर वे भगले—

अवे यजः ३।२।७२ विजुपे छन्दसि ३।२।७३

सूत्र में छन्दःपद क्यों भाया? स्वामी जी के भतानुसार भी छन्द और मन्त्र एकार्थ हैं। उत्तर यह है कि मन्त्र पद सामान्यतया वेदसंहिता भाष्य का वाचक है और छन्दः शब्द यहां लेखल गायत्र्यादिछन्दोबहु मन्त्रों का ही वाचक है। इस कारण यदि “मन्त्रे०” पद की अनुवत्ति लाते तो संहिता भाष्य लिखय हो जाता और इस कारण अतिव्यास्ति दोष रहता। इस के निवारणार्थ केवल गायत्र्यादि छन्दोबहु मन्त्रों का ही प्रहण होने के लिये—

### विजुपे छन्दसि

में छन्दः पद पहा है। भाष्य यह है कि मन्त्र शब्द के वाचक तो गायत्र्यादि छन्दोबहु मन्त्र तथा गद्य यजु आदि सभी हैं, परन्तु “छन्दसि०” पद से केवल छन्दोबहु ही लिये जायेंगे। और मन्त्र तथा छन्द अपवा दोनों से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु

भयसंसत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं। इसी प्रकार-

**अन्नरुधरवरित्युभयथां छन्दसि द । २ । ६०**

**भुवश्च महाठयाहृते द । १ । ७१**

यहाँ महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाठयाहृति के अतिरिक्त समस्त

वेदवाचक भूतः पद ( छन्दःपदानुष्ठिति से ) विषय हो जाता और अतिव्याप्ति

दोष जाता। यहाँ भी छन्दस् का “वेद होना” और महाठयाहृति का “वेद

का एक देश होना” दोनों पक्ष वालों का संनत है। यदि इसी प्रकार छन्द वा

मन्त्रादि का “वेद होना” और ब्राह्मण का “वेद का एक देश होना”

उभयपक्षसंसत होता, तब सौ इस दृष्टान्त से आप को लाभ होता। यहाँ हम

तो ब्राह्मण को न सामान्यतया वेदवाचक मानते हैं, न वेद का एक देश

मानते हैं और आप ब्राह्मण को वेदवाचक मानते हैं। इस दशा में ब्राह्मण

को वेदवाचक वा वेदवेशवाचक सभी आप का साध्य है। इस लिखे महाव्या-

हृति अविद्युष्टान्त आप का पक्षपोषक नहीं। और जो यह लिखा है

कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी का विशेष वाचक वा

एक देशवाचक है। यह भी साध्य ही है। छन्दः पद के सामान्यवाचक होने

में कोई प्रभाव नहीं मिलता, विशेषवाचक होने में प्रभाव है। यथा-

**चत्वारिं शूङ्गां चर्यो अस्यु पादाः त्रह० । ४ । ५८ । ५**

इस सन्त्र के व्याख्यान में निहक्तपरिशिष्ट में स्पष्ट कहा है कि-

**सप्त पस्तासः सप्त छन्दांसि । निरुक्त १३ । ७**

यहाँ सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं। यह भी प्रकट है कि छन्दों

में से ही संयह करके निघरटुपद लिखे गये हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्घृत करके

निघरटु में कोई पद नहीं लिखा। इसी कारण निहक्तकार से आरम्भ ही मैं

लिखा है कि-

**छन्दोभ्यः समाहृत्य० । निरु १ । १ । १ ॥**

कैवल्य छन्दोबद्ध मन्त्रों से संयह वाके इन् निघरटुस्य पदों का समान्य

किया गया है। इत्यादि ग्रन्थों से छन्दःपद पिङ्गलोक गायत्र्यादि ४ छन्दों

का वाचक होने से गच्छप ब्राह्मणों का वाचक नहीं हो सकता। इस लिये

सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मणग्रन्थ भागवाचक नहीं हो सकते ॥

## छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने यह कहा है कि यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों वेदवाचक होते सी पाणिनि जी इस सूत्र में छन्द और ब्राह्मण इन दोनों पर्यों को क्यों लिखते हैं कि यहाँ छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखते हैं कि (भाधिकग्रधिकार्थम्) इस ग्रन्थ से यहाँ पाणिनि जी को सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था । इसी लिये महाभाष्य में-

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥**

इस वार्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है । इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि—

## पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ ।

इस सूत्र द्वारा की गई है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मण ग्रन्थ अभिनत वा अभीष्ट होते तो—

**“पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋत्यियों के कहे, ब्राह्मण ग्रन्थ”**

ऐसा विशेषयुक्त क्यों लिखते । इस से प्रतीत हुत्रा कि छन्द और ब्रह्मण दोनों ही वेद हैं और यद्यपि छन्दः पदलिखकर ब्राह्मण पद लिखने की आय-श्यकता न थी, परन्तु किन्तु॑ २ ब्राह्मों का ही ग्रहण होने और किन्तु॑ याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से सक्त सूत्र में ब्राह्मणपद भधिकार्थ है ॥

हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मणपद लिखने ही थे कोई विशेष याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तवर्जित ब्राह्मणग्रन्थ विवक्षित थे तौ आप का लिखा-

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥**

यह वार्तिक भाष्यकार ने उपर्युक्तों बनाया । परन्तु यथार्थ में आप का अभिनत तात्पर्य पाणिनि वा पतञ्जलि(भाष्यकार)का न था किन्तु पाणिनि जी ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थ कर ब्राह्मण पद भधिक लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण न हो जाए, इस के लिये—

**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः**

यह वार्तिक लिख कर, याज्ञवल्क्यानि । सौलभागि । इत्यादिचरदाहरणों के द्वारा वार्तिक की सफलता दिखलाई है ॥

पुराणप्रोक्तेषु० इस से जो भाप उसी विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि “चौबे चले छठवे बनने को, गांठ के दो दे दुष्टे रह गये” । अर्थात् प्रतिपादन तौ यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्र वा छन्द के समान वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं । और जैसे वेद मन्त्र-संहिता भपीहृषेय हैं, वेदे ब्राह्मण भी हैं । यह भी भाप को प्रतिपादनीय था । उस के स्पान में ब्राह्मणों का व्याख्यवस्थादिकृत होना लिख कर भापने तौ ब्राह्मण ग्रन्थों की प्राचीनता भी (किन्हीं २ की) खो दी, केवल यात्रवलक्ष्यादिमोक्त वे शेष ब्राह्मणों की ही प्राचीनता आप के मत से रहगई । इसारे पक्ष में तो किन्हीं ब्रह्मण ग्रन्थों का पाणिनि की अवेक्षा प्राचीनमोक्त होना और किन्हीं का नूतनमोक्त होना दोनों ही ठीक हैं । क्योंनि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय है । प्रोक्ताधिकार में ग्रोक्त शब्द का गोण मुख्य भेद से दो प्रकार का भर्य है । एक भपीहृषेय और दूसरा पौरुषेय पुस्तकों में । भपीहृषेय पुस्तकों में जिन २ कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन उन ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम २ पदार्थे वे २ ग्रन्थ समझने चाहियें और जहाँ २ पौरुषेय पुस्तक वाच्य हों वहाँ २ जिस २ ऋष्यादिव्याचक शब्द से प्रत्ययविधि है, उम २ का व्याख्यान किया । पुस्तक का मूल भपीहृषेय से आशय लेकर अपने विचार को संतुलित करके वाचवा यह समझिये कि मूल के तात्पर्य को किन्हीं गपने दूसरे शब्दों में निष्कहु कर, प्रोक्त पद का भर्य समझना चाहिये । ऐना सामने पर ही—

### शैनकादिभ्यश्छन्दसि ४ । ३ । १०६

इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पठित पाणिनीय सूत्रों के उदाहरणों की सङ्कृति हो सकती है । वेदों के भपीहृषेय होने से मूलवेद वा छन्द किसी शैनकादि का व्यरूपान सानन्दा हसारा वा भाप का दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं है । अर्थात् दोनों को वेदों का भपीहृषेयस्व संभव है । यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेद वाच्य होने पर प्रोक्तशब्द का तात्पर्य प्रचारादि नान्तरे ही इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाच्य होने पर भी वही भर्य (प्रचारादि) लेवें तो क्या आधा है । इस का उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारितादि तात्पर्य समझना इस लिये ठीक नहीं कि—

तेन प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ और—तित्तिरिवरतन्तुखण्डको-  
स्वाच्छण् ४ । ३ । १०२

इन सूत्रों के महाभाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि-

### तित्तिरिणा प्रोक्ताः स्नोकाः

जिस से स्पष्ट है कि स्नोक भी प्रोक्त होते हैं। और इलोकों का वेदस्थ वा अयोक्षयेष्व निहृ करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं। बस जब पीहवेय स्नोकों को भी भाष्यकार प्रोक्त पद ने लेते हैं तो गीण मुख्य भेद ने प्रोक्तशब्द के दो अर्थ निहृ ही हैं। अर्थात् प्रोक्ताभिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है, वे २ ग्रन्थ पीहवेय हों तो जिन २ शब्द से प्रत्यय किया है, उस २ का डार्शयात किया ग्रन्थ समझना चाहिये। और यदि वह २ ग्रन्थ अपौक्षयेय हो तो उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये। इस कारण ब्राह्मण और कश्यपग्रन्थों के पीहवेय होने से उन २ के व्याख्यात वा महूलित पुस्तकों का यद्यपि करना स्पष्ट है॥

वात्स्यायन जो ने जो पुराणों को ब्राह्मण की प्रमाणना से प्राप्तार्थ किया है उस से यह निहृ नहीं होता कि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण है, वा वेद है। क्योंकि-

### सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

### वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

स्वत्तिप्रलयवंशात्रली मन्वन्तर और वंशावली चरित्रये पांच वर्णन पुराण में होते हैं। सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं और उन से पुराणों में भी हैं। इस लिये वात्स्यायन जो कहते हैं कि “ब्राह्मण के प्रमाण से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये” इस अंश में ब्राह्मणों का पुराण होना भवश्य मिहृ हुवा, जैसा कि स्वामीजी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है। बस जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशचरित्रादि लिया गया, भतः पुराणों का ब्राह्मणाधीन प्राप्तार्थ रहा। वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया, भतः ब्राह्मणों का मन्त्रसंहिताधीन प्राप्तार्थ रहा। यही स्वामी जी मानते हैं। रहा यह कि यदि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण न होते तो पुराणों की प्रमाणता में भावादर कैसे होते? यह नियम नहीं कि जो स्वतः प्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में भावादर हो। ऐसा जाता है कि जब हर किसी वस्तु के प्रमाणार्थ एक तोले भर का बाट बनाते हैं और उस से दूसरे, दूसरी से तीसरी, उस से चौथी भावादि वस्तु की प्रमाणता परपरा से भागे २ चलती जाती है। परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की

प्रमाणता का स्वीकार करते हैं, यदि वह अपने भाषार से प्रतिकूल हो तो प्रामाणिक नहीं भानी जाती। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणविरुद्ध इतिहास पुराण अपमाण है। ऐसे ही मन्त्रसंहिता से विरुद्ध ब्राह्मण अपमाण होने से परतः प्रमाण अप्रमाण हो रहे ॥

जल के इस कथन से कि “श्रुति वेद और स्मृति धर्मशाख है” यह मिठुन गहीं होता कि ब्राह्मण भी वेद हैं। किंवा श्रुतिशब्द वेद के अतिरिक्त अन्य घट्टों का वाचक नहीं हैं ॥

८० तिं भा० ८० ५४ प० ६ से-

**श्रुतेस्तु शद्दमूलत्वात् अ० २ पा० १ सू० २७**

**परात्त तच्छ्रुतेः अ० २ पा० ३ सू० ४१**

**भेदश्रुतेः अ० २ पा० ४ सू० १८**

**सूचकम्भ हि श्रुतिराचक्षते च तद्विदः अ० ३ पा० २सू० १४**

**तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेः अ० ३ पा० २ सू० ७**

**वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः अ० ४ पा० ३ सू० ६**

इत्यादि शूलों में वारवारं श्रुतिपद शब्दपद का उपादान करते हैं श्रुति से उपनिषदों का ही यहण किया है और श्रीकणादाचार्य ने भी दशार्थायी के अन्त में ( तद्वचनादाम्नायश्य प्रामाणयम् ) ऐसा भास्माय पद से वेद के प्रामाणय का उपसंहार किया है यहां भास्माय पद संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है ज्योंकि इस के समान तन्त्रगोत्रमीय न्यायदर्शन के (मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यात्प्रामाण्यात्) इस सूत्र में तत्पद से उपादेय उपनिषदों के संहितवाच्य कलाप ही के प्रामाणय का वाचधारण किया है और वहीं के तत्पद की मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद भास्म की बोधकता पूर्व में निश्चित कर ही चुके हैं और नम्बादि स्मृतियां इसी अर्थ के अनुकूल हैं देखिये—

**एताश्चान्याश्रसेवेतदीक्षाविप्रोवनेवसन् ।**

**विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धयेष्टुतीः अ० ६ । श्लोक २६ ।**

दीक्षा युक्त ब्राह्मण वन में वास करता हुआ भास्मायान के अनेक उपनिषदों की श्रुति विचारे यहां ( शौपनिषदोः श्रुतीः ) ऐसा कहने से उपनिषदों का श्रुति पद वाच्यत्व व्यषट् विद्व होता है और श्रुति शब्द वेद का

भास्त्राय पद का पर्याप्त शब्द है जोने कि मनु जी ने कहा है (अुतिस्तु वेदों विज्ञेयः) इत्यादि पूर्वे लिख आये हैं। जब मनु जी ने उपनिषदों को अुति माना और ठायवहार भी बैसा ही किया तब ब्राह्मणों का वेदभाव बबइय हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ही के शेष भूत ती उपनिषद् है इसी कारण वेदान्त नाम से विख्यात है ॥

प्रत्युत्तर—आप जो ठायससूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए ‘अुति’ ‘शब्द’, पदों से भीर वैत्रे ही मनुस्मृति में आये ‘अुति’ शब्द से भी पद अभिमाय निकालते हैं कि यहां अुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद् वाक्य ही टीकाकारों ने लिखे हैं इस से ठायासादि के मतानुमार ब्राह्मण उपनिषद् पर्यंत मध्य वेद है। मो प्रयत्न सी यह समझव है कि—ठायासादि को अुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों भीर शङ्कुराचार्यादि टीकाकार ही इस स्मान्ति के कारण ही गये हों कि जैसे उन्होंने—

“सन्त्रवणार्थं” इस वेदान्तसूत्र पर “तावानस्य महिं” इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के “एतावानस्य महिं” इत्यादि मन्त्र का उदाहरण वे सकते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सकते कि ठायासादि को अुति आदि पदों से उपनिषद् ही विषयित हैं। फिर गगले सूत्र—

“अपि च स्मर्यते” पर भी शङ्कुर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि “मनेवांशो जीऽ” इत्यादि। तो व्या गीता को कोई मन्त्रादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सकता है वा मानता है? अभिमाय यह है कि अुति आदिका योगकुरु भीर मुख्य अर्थ सी सन्त्रसंहिता ही हैं परन्तु अवश्यसामान्यार्थ को लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोंगों ने अुति कहा। जैसा शङ्कुर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्घटा किया। तो जिस प्रकार गीता मुख्यकर स्मृतिपद का वाक्य नहीं परन्तु स्मरणार्थ सामान्य से ली गई। इसी प्रकार शङ्कुरप्रमाणमानान्यान्तर्गत अवश्यार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण शङ्कुराचार्यादि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं। यूँ तो गीता के प्रतिअध्याय के अन्त में ‘भगवद्वीता भूनिषद्बु’ ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है। तो क्या इस से “गीता उपनिषद् हो जायगी? कहापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का चार यद्यण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन

किया गया है। इम लिये गौणताव से उम में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वेदों का ठारुल्यान होने के कारण वा वेदाश्रय को स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौण भाव से अनुतिपद आदि से यहण करना भारम्भ कर दिया। इसी से गो-तमसून्त्र के “तत्” शब्द से और कणादसूत्र के “आऽन्नाय” शब्द से जो उपनिषदादि का यहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर हो गया और मनु के उपनिषदसम्बन्धी अनुति पद का भी उत्तर इसी में आगया। रहा यह कि “उपनिषद् वेदका भन्त भाग ब्राह्मणों का वेष्टहृप हैं। इसी लिये इन को वेदान्त कहते हैं” यह भी अनुकूल है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तो तुम्हारे सत में भी तुम्हारे मुख से स्त्रीकार किये हुये व्याम-रचित मूर्त्रीं को भी तो तो वेदान्त कहते हैं। क्या यह भी वेद इस समझा जायगा? कह दो कि हाँ, ( अनन्ता वैवेदाः ) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद है !!! और यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वाभी जी का यह नत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है, किन्तु १० वा १२ उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वानी जी भी वेदान्त मानते थे, तब वेदा भागकर लिखना अर्थ है। यथार्थ में वेदान्त पद का अर्थ यह है कि वेदका अनन्त्य भाग नहीं किन्तु वेद का अन्त-अन्तिम-मुख्य तात्पर्य ब्रह्मप्रति-पादन है। इसी विषय का प्रतिदान जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त अन्त्य कहा खिंगे, चाहे उपनिषद् हों, चाहे सूत्र हों, चाहे अन्य कोई वेदानुकूल इम विषय का ग्रन्थ हो ॥

आप ने जितने उत्तर “गच्छब्राह्मणयोवैदनामधेयम्” की मनुकूलता में दिये, उग सब का प्रत्युत्तर होकर यह निष्ठु हुआ कि कात्यायन का यह वचन गहीं हो सकता कि “मन्त्र ब्राह्मण दोनों वेद हैं”。 वास्तव में यह कात्यायन का “वचन” गहीं किन्तु कात्यायन की यज्ञपरिभाषा है। अतएव उस की प्रवृत्ति कात्यायन ग्रीतमूत्र में ही हो सकती है, सर्वत्र नहीं। आश्य कात्यायन का यह है कि जहाँ २ यज्ञप्रकरण में इस “वेद शब्द का उद्घारण करें यहाँ २ इम् ग्रन्थ में गच्छब्राह्मण दोनों समझो। जैसा कि आगे उग्हों ने कहा है कि-

**यजुर्वैदनाधत्र्युः । का०**

यज्ञवेद से जहर्यु नामक ऋतिवज्ज्ञ कार्य करे। यहां यह समझाना आहिये कि यजुर्वेद संहिता भार तम के शतपथ ब्राह्मणोक्त कार्य जहां ३ यज्ञ में जावें वहां २ कार्य जहर्यु को करने चाहिये ॥

जैसे पराणिनि जी अष्टाव्यायी में कहते हैं कि—

### वृद्धिरादैच् । । । १५ अदेहुणः । १६

अथोत जहां २ व्याकरण में इन वृद्धि पद का प्रयोग करें वहां २ जा, ऐ, भी समझो और जहां २ गुण शब्द का प्रयोग करें वहां २ अ, ए, ओ समझो। इस से यह सिद्ध जहां होता कि भव्य ग्रामों में भी “वृद्धि” पद से जा, ऐ, भी वा “गुण” पद से अ, ए, ओ समझे जावें। जैसे सांख्य में गुण शब्द से सत्त्व रग तम के स्थान में जोड़े ग, ए, ओ जल्द समझे तो कैसा बहां अज्ञान हो जीर विशेषिक में—

### रूपरसगन्धस्पर्शाऽ । इत्यादि । । । ६

में कहे रूपादि गुणोंके स्थानमें कोइ अ, ए, ओ का प्रहण पाणिनि के संज्ञा सूत्रानुभार माने तो कैसा बहां अज्ञान होगा अपवा वेद्यकशास्त्र सुश्रुत में

### आपोदशाद्वृद्धिः

१६ वर्ष तक की अवस्था का नाम वृद्धि है। यदि आप वहां जा, ऐ, भी को वृद्धि कहने लगें और “वृद्धिरादैच्” इन पाणिनीय सूत्र का प्रमाण देने लगें तो विद्यों में कैसा बहास्य हो। इसी प्रकार सर्वत्र कात्यायन की यज्ञ परिभाषा से सर्व ब्राह्मण दानों को वेद मानना भी बहास्यजनक है ॥

इति भी तुलसीरामस्यानिकते भास्करप्रकारशे संत्यार्थकांशस्य सम्म

समुद्घासमयहनं, द० तिऽभास्करस्य च खदहनं भास

सम्मः समुद्घासः ॥ ३ ॥

## अथाऽष्टम समुद्घास मण्डनम्

स्वामी जी ने ८० ई० २०८ में “पुरुष एवेदश्चमर्बद्धम्” मन्त्र का तात्पर्य मात्र लिखा है कि परमात्मा प्रकृति और जीवों का स्वामी है। इस पर ८० ई० ८० ई० २३६ पं० १९ में—स्वामी जी के अर्थों की केनी विविच्छ महिमा है, इस मन्त्र में जीव प्रकृति और ईश्वर का वर्णन कर देठे हैं ॥

प्रत्युत्तर—भाग को अक्षरार्थ में ध्यान देना। उचित या तब फिर स्वामी जी के लिखे तात्पर्य पर महसूति देनी थी। स्वामी जी ने विद्वान् के लेख पर विभगके कल्पन लालाना बुद्धिमानी नहीं है। इस नीचे पदार्थ लिखते हैं, उसे पढ़कर जिता इये कि स्वामी जी का लिखा तात्पर्य ठीक है वा गहरी ॥

**पुरुष एवेदश्च सर्वं यद्गूतं यज्ञं भ्रात्यम् ।**

**उतामृतत्वस्येशानो यदनेनातिरोहति ॥ यजुः ३१ । २**

( यत् इदं सर्वसूतम् ) जो यह सब उत्पन्न हो चुका ( यत् भवेन अ-तिरोहति ) और जो अब चे उत्पन्न हो रहा है ( च ) और ( यत् भ्रात्यम् ) जो उत्पन्न होनेवाला है अर्थात् भविष्यत्काल में जो उत्पन्न होगा [ उत्पन्न ] ( उत् ) और ( भ्रात्यम् ) भ्रातरभाव वाले केवल भात्मा का ( ईशानः पुरुष् एव ) स्वामी परमेश्वर ही है ॥

क्या इस का यह तात्पर्य नहीं हुआ कि जह चेतन का स्वामी परमात्मा हो ? क्या भूत वर्तमान और भविष्यत् में उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ जह और प्राकृत नहीं है ? जीर क्या भ्रातर भात्मा चेतन नहीं है ? यदि हैं सौ क्या भ्रातृत्व प्राकृत और भ्रातृत्व पदार्थों का स्वामी परमात्मा को बताने से यह मन्त्र स्वामी जी लिखित तात्पर्य का विरोधी है ?

८० तिं० ८० ई० २३६ पं० २४ से—

**यतोवाद्मानिभूतानिजायन्त्येनजातानिजीवन्ति ।**

**यत्प्रयंत्यभिसंविशन्तितद्विजिज्ञासस्वतद्व्यह—तैत्तिरी० ॥**

८० २०८ में इस का अर्थ लिखा है, जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृष्ठियाँ भूत उत्पन्न होते हैं, जिस से जीव और जिस से प्रलय को प्राप्त

होते हैं वोह ब्रह्म है, उन के जानने की इच्छा करो ॥

समीक्षा—यह क्या स्वामी जी ! इतना ही पद लिखकर गङ्गा गये (जिस से जीव) इस से तो प्रत्यक्ष है कि जिस से परमेश्वर जीव स्वप्न होते हैं भीर आप आगे इन को नित्य मानते हैं, नित्य भी मानना और जन्म भी कहना यह ऐदिकविरोध रसातल में भर्ये करता कू ख्यों न ले जायगा, सूधा भर्ये है कि जिस से यह प्राणी स्वप्न होते और उसी से जाते भीर अन्त में उनी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानें अब प्रकृति जीव नित्य और पृथक् न रहे ॥

प्रत्युत्तर—किसी कारण “जीव” इन दो अकरों से आगे “ते” यह अकार ढूट गया है, उसी से भर्ये की समझ में भ्रन पड़ा है । ( येन जीवन्ति यत्प्रपत्ति ) का अर्थ स्वामी जी का लिखा ठीक है कि “ जिस से जीवते और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं, अब अतलाइये जीव प्रकृति की अनित्यता कहाँ रही ? और जीवप्रकृति को चाहे नवीन बेदान्ती लोग ब्रह्म से अभिक्ष मानते हैं, परन्तु अनित्य तो कोई नहीं मानता । देखिये आप के नवीन बेदान्त को गीता में क्या लिखा है—

“समैवांशो जीवसोके जीवसूतः सनातनः” इस में जीव को सनातन कहा है । आप अनित्य बताते हैं ॥

द० तिथि ० भा० पृ० २३७ और २३८ में स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्य ( द्वाषुपर्णो० ) क्र० १ । १६४ । २० से रूपष्ट भेदपतिपादन को जीवाधिक्षेप ठहराने के लिये एक क्रघ्वेद का मन्त्र और दूसरा वृहदारवयव उपनिषद् का वचन प्रमाण दिया है, परन्तु इस नीचे दोनों को पदार्थ सहित लिखते हैं, देखिये उन में भी उपाधि का शब्द तक नहीं जाता । यथा—

एकः सुपुर्णः स समुद्रमार्विवेऽ सङ्गुं विश्वं भुवनं विच्छेत् ।  
तं पाकेन मनसाऽपश्यमनितत्स्तं मातारोलिः स उरेलिमातरम् ॥

( क्र० १० । १६४ । ४ )

तिथक १० । ४६ में भी यह मन्त्र आया है और वहाँ कोई उपाधि आदि लगा कर भर्ये नहीं किया है ॥

सरलार्थ यह है—( एहः सुपुर्णः ) एक सुपुर्ण है ( स समुद्रम् आविवेश ) वह आकाश में व्याप रहा है ( स इदं विश्वं भुवनं विच्छेत् ) वह इस उप लगत को देखता है । मैं (पापेन मनसा) परिपक्ष ज्ञान से (अनिततः) उनीष

ही ( तम् अपश्यम् ) उस को देखता हूँ ( तं भाता रेतिः ) उस को आकाश व्याप रहा है ( सःऽ ) और वह ( भातरम् रेतिः ) भाकाल को व्याप रहा है ॥

ममुहः—यह निष्ठदु १३ में अन्तरिक्ष का भान है ॥ विचष्टे—यह पश्य-तिक्षणः=भर्त्रोऽ देखने भर्ते में निष्ठदु ३ । १२ में आया है ॥ निष्ठक ३ । १६ में भातरिद्या शब्द का गिरुक्ति के भवसर पर भाता शब्द का भर्ते अन्तरिक्ष किया है । यथा—

**सातरिश्वर वायर्दात्यन्तरिक्षे श्वसिति ॥ ७ । २६ ॥**

जीर भाता आकाश का भान इम् लिये भी है कि जैव भाता के गर्भ में एव प्राणी रहते हैं वैसे ही आकाश में भी एव प्रदार्थ रहते हैं ॥

इम् में कहीं उपराधि लगा कर एवं करने की आवश्यकता नहीं ॥ दूसरा वा १० का वचन वह है—

**लद्यथास्मिन्नाकाशे क्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य  
शान्तः संहत्य पक्षी सूल्यायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुषापुतस्मा  
धान्ताय धावति यत्र सुप्रो न कञ्जन कामं कामयते नकञ्जन  
स्वप्नं पश्यति ॥ वृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं० १६ ॥**

इस का सरलार्थ यह है कि—“जैव इस आकाश में इयेन वा सुपर्णे आमक पक्षी उड़ कर एवं पंख सकोड़ कर अपने घोंसले ( नीहः ) के लिये ही धरण किया जाता है । ऐसे ही यह पुरुष ( जीवः ) भी इस के अन्त के लिये दीड़ता है, पर जहां सोय जाता है वहां न किसी काम को छोड़ता न किसी स्वप्न को देखता है ॥”

भलः इस में उपाधि का एवा काम है । किन्तु जैव पक्षी अगस्त भाकाश में कामदर्श भर उड़ कर फिर एक जाते हैं जीर पहुँचकोड़ कर घोंसले में बेठ रहते हैं । ऐसे ही मनुष्य भी काम करते सज्ज बक जाता है तरी ऐसी गहरी नींद जाती है कि न ती बाल्यकेष्ट्र को होती जीर न नींद में द्वप्न तक दीखता है ॥

इ० तिथि भा० १० २५० में—समाजे कुलेऽहत्यादिः शब्दै० बरके यहः दिखाया है कि इवयं ईश्वर ही अग्निशुद्धि नीहः को प्राप्त होकर शोषता है । इत्यादि० १८

प्रत्युत्तर—इस वाक्य का विश्वाम पूर्वक भाव्य तौ हमारे किये इवेताह-तसेपनिषद्गाय में उपस्थित है । जहां चतुर्योद्यम्य ता फूर्छी अजामे काव्योन्

है। यदा द्वायुपर्णां है। सानवां समाने वृक्षेऽ यह है। उस छठे में जब यह कह चुके हैं कि दो खुवणे हैं तो ३ बैं में उनी आत को स्पष्ट करते हैं जोछठे के अन्त में जहा या कि दोनों तें से एक भोगी में फंसता है, दूसरा साजी है॥ ३ बैं में यह भी बतलाया है कि यह भोग के अन्त से कैमे छुटकारा पाये। यथा—  
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ॥  
जुष्टु यदापश्यतयन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः ४१७ ॥

भा०-जब सध्यस्य जीवात्मा के एक ओर प्रकृति है, उस के सङ्ग से अन्यत भी दूसरी ओर परमात्मा है, उन के सङ्ग से मोक्ष होता है। यह कहते हैं—( पुरुषः ) जीवात्मा ( समाने ) अपने सागर अनादि ( वृक्षे ) लिङ्ग भिन्न होने वाली प्रकृति के पार्थी में ( निमग्नः ) दूष्टा दुष्टा ( अनीशया ) परतन्त्रता से ( मुह्यमानः ) अज्ञानवश ( शोचति ) शोक करता है। ( यदां ) परम्परु जग ( जुष्टु ) अपने में अपापक ( अन्यम् ) दूसरे ( दैशम् ) स्ववश परमात्मा को भीर ( अस्प, नहिमानम् ) उन को बढ़ाई को ( पश्यति ) देखता है ( इति ) तब ( वीतशोकः ) शोक हित हो जाता है॥

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में दूष कर आये को भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो वहे शोक होते हैं कि हाय में दुर्बल हो गया, हाय मेरे कोड़ा निकला है, हाय मेरा हाय पांच आदि कट गया, हाय मेरी जी वा पुत्रादि मर गया। इत्यादि प्रकार से शोकसागर में दूषता है। परम्परु जब अपने ही में अपापक परमात्मा में अपन लगाता है तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से तिक्क में चेतन हूँ। मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता। मुझे तो अपने अदा सहवर्णी परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आगम्द है। ऐसी रीति से विशेषक हो जाता है॥ ३ ॥

इस में प्रकरणानुभार यह स्पष्ट है कि दोनों में से एक जीवात्मा मोहवश होता। भीर परमात्मा की रुपा से छुटकारा पाता है, न कि परमात्मा स्वयं जोह में दूषता भीर अपनी रुपा से आप छुटकारा पाता है। इस में ( अन्य-मीशम् ) इन पदों ने स्पष्ट परमात्मा को जीवात्मा से अन्य जलाया है॥

४० तिं भा० प० ४०० म००० में जो तर्क है उन का सार यह है—१—इवानी जी दध उपनिषद् भासते हैं, यहां जीव ब्रह्म का भैरु मिहुकरने में इवेता अवतर ११ वे

उपनिषद् का प्रभाण वर्णों दिया । २-किसी ब्रेदमन्त्र का प्रभाण वर्णों न दिया । ३-यदि “अजानेकां०” इस इवेताऽ के व व में जीव अरु जीव का वर्णन मानोन्मेती ( जहात्येनां भुक्तभोगाम० ) इस यह का अर्थ है कि जिस वे भोग भोगे लिया उन प्रकृति को एक परमात्मा त्यागे है । तदमुच्चार पूर्वकाल में ब्रह्म को भोगापति आई । ४-प० १३ में जीव को जन्म मरण सोने जागने वाला कहकर उस के विहृ यहां उने अज वर्णों लिखा । ५-प्रकृति, कार्य होने के घटवत् सादि हो सकी है, न कि अनादि ॥

प्रत्युत्तर-३-स्वामी जी ने दश उपनिषदों को प्राचीन और अन्यों की नवीन कहा है । अप्रभाण नहीं कहा । इवेताश्वतर और मेत्युपनिषद् भी दश उपनिषदों के समान परतःप्रभाण अवश्य हैं । और जो नवीन ब्रेदान्ती दश उपनिषदों के अतिरिक्त अन्यों को भी जानते हैं उन के अमेदमन्त्रव्युत्थान-कार्य यदि दश उपनिषद् से बाहर का भी प्रभाण दिया जाय तो अयुक्त नहीं ॥

६ ब्रेदमन्त्र भी ( द्वा सुपणो० ) यह ऊपर प० २०८ में लिख भाये हैं । आप ने उस पर सनीकाजास भी किया है । क्या भूल गये ?

३-(जहात्येनां भुक्तभोगाम०) में अन्येन अनेन जीवात्मना भुक्तो भोगों यस्याः सा भुक्तभोगा० इस प्रकार समाप्त करने से परमात्मा में भोगापति नहीं जाती किन्तु जीवात्मा में रहती है ॥

४-प० १३ में जीवात्मा को स्वरूप से जन्म मरण नहीं लिखे थे किन्तु देह के साथ होने का जान जन्म और देह से वियोग का जान मरण जान कर लिखा था, इतने से उस के स्वरूप से जग होने में बाधा नहीं जाती ॥

५-प्रकृति, कार्य नहीं किन्तु कारण का जान है । इस लिये घटवत् सादि नहीं हो सकी । घट कार्य है । प्रकृति कारण है । इस लिये (विमता प्रकृति जन्मया-रूपवृत्तात् घटवत्) यह अनुमान, पाठ से जगुहु ती पा ही, शर्यसे भी अशुद्ध है ॥

६० तिथि भा० प० २४० प० २७ से-और इस से पूर्व वाक्य देखने से ब्रह्म तादात्म्यापक जिकाऽभिज्ञविलक्षण प्रकृति सिद्ध होती है । यथादि-  
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्गूढाम् ।

( इवेताऽ १ । १ )

प्रत्युत्तर-“अजानेकाक०”वाक्य इवेऽ उप० से अप्याय ध का ५ का है और  
“ते ध्यानयोगान्” यह प्रश्नाप्याय का १ तीसरा है । भला इस का अचल

समये भविक किमे होनका है ? और आप "ते व्यानयोगाऽ" का उत्तरार्थ और लिख देते तो असेहु का भेद खुल जाता । यथा-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणी-  
र्निगढम् । यः करणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्ता-  
न्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वेत १ । ३ ॥

श्वेत इन प्रकार कालादि को स्वतन्त्र कारण न समझ कर ( ते ) उन ज्ञावियों ने (व्यानयोगानुगताः) व्यान में विज्ञ की एकाग्रता के साथ (निगृ-  
दाम्) लिपि हुई (देवात्मशक्तिम्) परमेश्वर की निजशक्ति को वा परमेश्वर  
जीव और प्रकृति को (स्वगुणैः) अपने गुणों से ( अपश्यन्) पहिचाना ( यः)  
जो (एकः) असेला (कालात्मयुक्ताति) काल और पुरुषसहित ( निखिलानि)  
समस्त (तानि) पूर्वोक्त (कारणानि) कारणों का( अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है॥

आशय यह है कि काल से लेकर आत्मा-पुरुष पर्यन्त द्वितीय छोरों में  
कहे जीव के स्वभाव, प्रबन्ध, पट्टुडाता, पञ्चभूत, प्रकृति इन सब कारणों का  
भी अधिष्ठाता परमात्मा है अर्थात् काल स्वभाव आदि भी अपने २ अंग  
में कारण हैं परन्तु कालादि जह होने भी जीवात्मा सुख दुःख भोग में परतन्त्र  
होने से स्वतन्त्रकारण नहीं किन्तु परमात्मा सब कारणों का अधिष्ठाता स्वतन्त्र  
कारण है । यह अन्य काल स्वभाव आदि सब कारणों को अपने आधीन रख  
कर सब जगत् को रखता पालता और प्रलय करता है । यह उस के गुणों से  
पहचाना जाता है । यद्यपि उस की यह शक्ति लिपि हुई अर्थात् सब किसी  
को नहीं जान पहचानी तथापि उन ज्ञावियों ने व्यानयोग से उसे पहिचाना ।  
इसी प्रकार असादाति लोग भी व्यानयोग से उस की लिपि शक्ति को जान  
सकते हैं । इस छोर में जो (देवात्मशक्तिम्) पद है उस का दूसरा अर्थ है यह  
भी हो सकता है कि देव=परमात्मा, आत्मा=जीव, शक्ति=प्रकृति इत्यतीनों को  
उन्होंने जगत् का कारण जाना भी १ इन तीनों में जीवप्रकृति तथा कालादि  
अन्य साधारण कारणों का अधिष्ठाता परमात्मा है, यह भी उन्होंने जाना  
और "यह एक परमात्मा अन्य काल स्वभाव ग्रारंध यट्टुडाता पञ्चभूत प्रकृति  
जीव इन कारणों का अधिष्ठाता है" इस कहने से इन जो भी कारण तीव्र  
जाना, विन्नु केवल परमात्मा को ही अभिज्ञनिभित्तोवादानकारण कही जाना ।  
किन्तु परमात्मा स्वतन्त्र इन का अधिष्ठाता है और काल स्वभाव प्रकृति-

आदि तथा शुभ दुःख भोग में जीवात्मा जी परमात्मा के आधीन है । इन्हीं कारण अवश्य है । यह १ । २ और ३ श्लोकों का संक्षिप्त भाग्य है ॥ ३ ॥

इन लिये भाव के भिन्नाभिन्न विलक्षण का तत्पर्य यह है कि प्रकृति यथार्थ में ब्रह्म से भिन्न तीव्र इस कारण नहीं कि ब्रह्म से भिन्न देश में नहीं रहती । और अभिन्न इस से नहीं कही जाती कि स्वरूप उस का परिणामी और जह है । ब्रह्म के समान एकरस और विवेतन नहीं । यही विलक्षणता है कि स्वरूप से भिन्न और देश से अभिन्न है ॥

३० तिं० भा० प० २४१ में कल्पनोपदेशां० इस सूत्र से प्रकृति को भाजा कहना कल्पित है । यह मिठु किया है ॥

पत्युत्तर-इस सूत्र का तात्पर्य सुनिये-

**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद्विरोधः॥वेदान्तसूत्रम् १ । ४ । १०**

जिस प्रकार भात्मा को शतपथ ने “नथु” कह कर कल्पना से उपदेश किया है इसी प्रकार वाणी की धेनु कल्पित करके उपदेश करने से भी विरोध नहीं तथा प्रकृति को (द्वा सुवर्णां०) इत्यादि मन्त्र में एक वृक्ष के समान कल्पित कर लिया है और पुरुष को पक्षी के समान । इस में जी विरोध नहीं ॥

इस से उपादान जह कारण की वस्तुता को कल्पित नहीं बताया, किन्तु उस के वृत्तस्वादि को कल्पित बताया है ॥

३० तिं० भा० प० २४१ प० १४ से-जीव जब कि सब कुछ ईश्वर ही से उत्पन्न बुवा है तो प्रकृति नित्य कैसे-

**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वा०००  
तैत्ति० ॥ १ ॥ इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्चेति । तै० ॥ २ ॥ आत्मा  
वा इदमेकाएवाग्नासीन्नान्यतिकञ्चन तै० ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥**

पत्युत्तर-भला भाष्यके यह ती बताया कि सब कुछ ब्रह्मने उत्पन्न किया, परन्तु भाष्यके लिखे तीनों वाक्यों में यह कहाँ लिखा है ? कि ब्रह्मने प्रकृति को रचा । जब नहीं लिखा तो प्रकृति अनित्य नहीं हो सकती । तीसरे वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति न जी किन्तु भात्मा और इदं पदवाऽय जगत् प्रयत्न एकमेक हो रहे थे, अर्थात् जगत् प्रतीयमाग न था । कारण इकृति में छोग होने से ॥ नासदासीत० का अर्थ इस जी पूर्व कर बुके हैं ॥  
बत्या० प० २०८ में एवानी जी ने “सत्त्वरजस्तमर्वा शाक्यावस्था०” इस

सूत्र के अन्त में भाष्ये “पुरुष” शब्द का गर्थ जीवात्मा और परमात्मा किया है। इस पर द० तिं भा० प० २४३ में लिखा है कि कपिलदेव को जीवात्मा परमात्मा दो विवक्षित हैं। तो तीव्र क्या बे गिन्ती नहीं जानते थे कि २५। २६ दोनों को भिन्न २ न कहा ॥

प्रत्युत्तर- कपिलदेव ने २५ पदार्थे गिनाने में पुरुष शब्द को ऐसा पाया जो जीवात्मा परमात्मा दोनों का साधारणगति है इस लिये २६ वां गिनाने की आवश्यकता न थी ॥

द० तिं भा० प० २४३ प० २५ से स्वामी जी की कैप्री वाजीगर के भी लीला है भाष्य ही प्रश्न करता हैं और भाष्य ही उत्तरदाता हैं स्वयं ही कहीं की ईट कहीं का रोड़ा लेकर उपनिषद् की श्रुति लिखी हैं जैसा ( मर्ये ) में ( नेहनाना ) यह श्रुति मिलादी भला यह प्रश्न किसने स्वामी जी से किये थे यह मिथ्या कल्पना इन के घर की है ( नेहनाना ) इस के गर्थ जो ( इह चेतन मात्र ) इत्यादि पूर्व लिखित किये हैं इह अक्षरार्थ में दृष्टि दी-जिये तो यह गर्थ होता है कि ( इह नाना किंचन नास्ति ) अर्थात् इस ब्रह्म में कुछ भी पृथग्भूत वस्तु नहीं है जैसे लोक में भी कहते हैं ( इह सुदि घटादिकं किंचन नाना गास्ति अर्थात् पृथग्भूतं नास्ति किन्तु यदेव घटादिकं-पैण प्रतीयते ) इन घड़ों में मिही के सिवाय कुछ नहीं है किन्तु यह मिही ही घड़ों के दृप से प्रतीत होती है) स्वामी जी ने जो इस का लक्ष्य घीड़ा अर्थ किया है घोड़ कौन से पदों का अर्थ है ( और परमेश्वर के भाषार में स्थित है ) तो क्या कोई परमेश्वर का भी भाषार दूषरा है सब का भाषार तो परमात्मा भाष्य है उस में भी भाष्य पृथग्भूतों का भाषार लगते हैं और उस में नाना वस्तुओं का भेल नहीं यह कहना भी भाष्य का असंगत है क्योंकि पृथग्भूतों के भेल विना कोई भी कार्य सिद्ध होता नहीं इसी कारण त्रिवृत्करण पृथग्भूतों का अर्थ होता है गब यह समय श्रुति लिखते ही जिस से स्वामी जी का खण्डन स्वतः हो जायगा—

**मनसैवेदमाप्तव्यंनेहनानास्तिकिञ्चन ।**

**मृत्योःसमृत्युंगच्छतियद्वहनानेषपश्यति ॥**

**कठ० उ० वल्ली ४ मं० ११ ॥**

प्रत्युत्तर- नवीग वेदान्ती इन दोनों को जोड़कर अन्नेद सिद्ध किया करते ही तदनुसार स्वामी जी ने पूर्वपक्ष लिखा। और भाष्य यदि इस को प्रत्यावृत्त

( वापिस ) लेते हैं वा वेदान्तियों का पक्ष नहीं गान्धे तौ न सही हगारी व्या इति है । और ( नेह नानास्ति किञ्चन ) का अर्थ आप करते हैं कि जैसे ( इह मृदि घटादिकं किञ्चन नाना नाऽस्ति ) यह उस काल में बग सकता है । जब सृतिका घटाकार परिणाम=रूपान्तरित न हुई हो । परन्तु यदि (इह जले मृदादिकं नाना नास्ति ) अर्थात् इस पानी में निर्णी आदि कुछ चिला नहीं किञ्चन केवल स्वच्छ जल है, इस प्रकार समझा जावे तौ त्रिकाल में केवल स्वच्छ चेतनभान्न ब्रह्म के स्वदृप में कुछ नाना=अनेक व्यवहस्तु नहीं हैं, यह अर्थ कैसा निर्भ्रंत हो जावे ॥

“ परमेश्वर के आधार में ” का तात्पर्य यह नहीं है कि परमेश्वर का कोई भिन्न आधार है । किन्तु “ परमेश्वर ही जो आधार है उस में ” यह तात्पर्य है । जैसे लोक में “ पात्र के आधार जल है ” इस का “ पात्रदृप आधार से जल ठहरा है ” यह तात्पर्य होता है । आप अर्थात् करने हैं ॥

ब्रह्म में (उसके स्वरूप में) अनेक वस्तु का भेल क्या आप मानते लगे ? जो कहते हों कि “नाना वस्तुओं का भेल नहीं यह फहणा भी आप का असंगत है”

अपनी समय श्रुति का अर्थ सुनिये । आप तौ पूरी श्रुति का गवे करते हैं । इस उस में पूर्वेष वाक्य सहित आप के किसेवा को अर्थ सहित लिख कर दिखाते हैं कि वहां क्या मरकरण है -

**यदेवेह तदमुन्न यदमुन्न तदन्विह ।**

**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४ । १० ॥**

**मनसैवेद्माप्नव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।**

**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४।११॥** कठू-

भत्यु और भविकेता का संवाद है कि—“ जो ब्रह्म यहां है ( इस लोक में है ) वही वहां ( परलोक में ) है । जो वहां है वो यहां है । जो इस में अनेक भाव देखता है ( इस लोक परलोक के अनेक ब्रह्म समझता है ) वह मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥४।१० ॥ यह मन=ज्ञान में प्राप्त करने योग्य है ( इन्द्रियों द्वारा नहीं ) लेंकि इस में नाना पदार्थों का संयोग नहीं । ( जो पदार्थ नानाद्रव्यों के संयोग से बनते हैं वे इन्द्रियों से प्रदण किये जाते हैं ) वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है जो इस (ब्रह्म) में चिलाषट समझा-

है। गणोत् यह समझता है कि जंगत् के नाना पदार्थों ही को पूर्वजों ने गिलाकर ब्रह्म नाम धर दिया है। जो ऐसा समझने वाला नास्तिक है, वह सृष्टुप् पर सृष्टुप् पाता है, जोक नहीं पा सकता ॥

द० तिं भा० प० २२४ में ( सर्वं खलिवदं ब्रह्म ) का अर्थ “ ब्रह्मस्य ” नहीं है, यह दिखलाने के लिये छान्दोग्य के ४ वाक्य प० २४५ में पूरे लिखे हैं, जिन के लिखने की आवश्यकता न थी, यदि प्रकरण का अर्थ दिखलाना पा ती एक वाक्य ही लिखदेना था। अस्तु, पाठकों के अनन्निरासार्थे चारों ही वाक्यों को इस प्रस्तुत करके अर्थ करते हैं और दिखलाते हैं कि ( सर्वं खलिवदं ) का जो अर्थ स्वानी जी ने किया है, वही ठीक है ॥

सर्वं खलिवदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत खलु  
क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंश्चोके पुरुषो भवति तथेतः  
प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ३ । १४ । १ ॥ मनोमयः प्राण-  
शरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्व-  
कामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ३ ।  
१४ । २ ॥ एषमआत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेवा यवाद्वा सर्ष-  
पाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतएडुलाद्वा एष म आत्मान्त-  
र्हृदये ज्यायान् दिवोज्यानेभ्योलोकेभ्यः ३ । १४ । ३ ॥ सर्व-  
कर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्य-  
नादरएषमआत्मान्तर्हृदयएतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवि-  
तास्मीति यस्य स्थादद्वा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह  
शागिडलघुः ॥ छान्दो० ३ । १४ । ४ ॥

अर्थ-(शान्तः) शान्तियुक्त गनुष्य ( इदं सर्वम् ) इस सब पूर्वप्रतिपादित (ब्रह्म) ब्रह्म को (खलु) निश्चय (वानीत) उपासित करे। और (पुरुषः खलु  
क्रतुमयः) भनुष्य गवश्य कर्ममय है गणोत् कर्मों के अनुभार जाति आयु भोग  
को प्राप्त होता है। (पुरुषः अस्मिंश्चोके पयाकातुः भवति) भनुष्य इस लोक में  
जैसे कर्म करने वाला होता है (तपा इतः प्रेत्य भवति) वैसा यहां से मर कर  
होता है। (इति) इस लिये (तज्जलान्) इस ब्रह्म के उत्पन्न किये और उची

भाधार में लीन होने वाले पदार्थों को (स:) वह भनुय्य (क्रतुं कुर्वति) कर्म वा यज्ञ करे। अर्थात् परमेश्वर की उत्पादित जौर भज्ञ में प्रलय होकर उसी में रहने वाली वस्तुओं को यज्ञ अर्थात् यथायोग्योपकार में लगवे ॥ ९ ॥

भाषा दूसरे वाल्य में जिन्ह 2 दो अस्माओं का वर्णन है—( सतीमयः ) चेतनस्वदृप ( प्राणशरीरः ) प्राण जिस का शरीर है ( भास्तुपः ) प्रकाश वाला ( मत्यसंकल्पः ) सत्य संकल्प करने वाला ( आकाशस्तुमा ) आकाश के समान चूषनस्वदृप ( सर्वकर्मी ) सब कर्म करने वाला ( सर्वकामः ) सब कागजाखोंवाला ( सर्वगम्यः मर्यादमः ) सब गम्य और रमें वाला ( इदं सर्वम् ) इस सब भोग्य पदार्थ को ( अपि भात्तः ) अभिव्याप्त करके लेने वाला ( अवाकी अनादरः ) वस्तुतः वायायपंलक्षित इन्द्रियों से वर्जित और तिर्भय है ॥ २ ॥

( एषः भास्त्वा ) यह भास्त्वा जो कि (मे अन्तर्हृत्ये) मेरे हृदय के भीतर है भी ( ब्रीहेश्वरा, यशाद्वा, सर्वपाद्वा, इयामाकाद्वा, इयामाकतयुक्ताद्वा ) पात्य से भी, जी से भी, मरसीं से भी, सर्वे से भी और सर्वे के चावल से भी ( अशीयान् ) अत्यन्त छोटा है ( एष भास्त्वा ) और यह दूसरा भास्त्वा ( मे अन्तर्हृत्ये ) मेरे हृदय ने है जो कि ( दिवः ज्यायान् ) द्युलोक से अत्यन्त बड़ा है ( ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः ) और इन सब लोकों से भी बड़ा है ॥ ३ ॥

( मर्वकमाः, सर्वकामः, सुर्वगम्यः, सर्वरसः ) [ यह हूमरा आत्मा भी ]  
 सब कर्माँ बाला, सब कामनाओं, सब गर्भों और सब रसों बाला है ( सर्वमू  
 ददम् गम्य तः ) और इस सब जगत् को अभिव्याप्त कर रहा है ( शबाकरै  
 भवाद्वरः ) बागादि इन्द्रियवर्जित और निर्भय है ( एषआत्मा भेषत्तद्वये )  
 यह परमात्मा मेरे हृदय के भीतर है ( एतद्ब्रह्म ) यह ब्रह्म है ( इतःप्रेत्य )  
 इस संसार से छलकर [ मर कर ] ( एतम् अभिसंविताऽस्मि ) इस परमात्मा  
 से मिलूँगा ( इति यश्य अद्वा श्यात् ) ऐसा जिस को साक्षात्कार होजावे  
 ( न विचिकित्साऽस्मि ) फिर उने चिन्ता शोक भोग्या गहीं ( शापिष्ठस्यः  
 इति ह अद्वा श्य ) शापिष्ठस्य ज्ञाति ऐसा कहते थे ॥४॥

इस में केवल यह कहा गया है कि भात्ता में जिस प्रकार चेतनता और सब कामों, कामनाओं, गम्भीरता और पदार्थों के यहाँ का सामर्थ्य है, इस प्रकार का अन्य प्राकृत पदार्थ कोई नहीं, केवल परमात्मा है, जिस में जीवात्मा से अधिक शमनत सामर्थ्य है, इस लिये जीवात्मा को चाहिये कि परमात्मा से निलम्बे का उद्घोग करे। वर्णोंकि साधस्थैयुक्त पदार्थों के

माय मे गानन्द और वैष्णव्ययुक्त पदार्थों के मेल मे दुःखों का भोग होता है । अतः माध्यम्ययुक्त परमात्मा से जीवात्मा को प्रीति भक्ति करनी चाहिये और आन्धों से वैराग्य वा उदासीनता ॥

जब कि इस मे पक भास्मा को अस्यन्त छोटा और दूसरे को अस्यन्त बड़ा कहा है तो जीव ब्रह्म का भेद बहुत रूपष्ट है ॥

४० तिं भा० प० २५६ मे- (सदेव सीम्येऽमये०) इत्यादि वाचदोध्य ६ । २  
के १।३।३ वाक्य लिखे हैं और क्योंकि तीमरे मे ( तदैक्षत ) पद आये हैं  
त्रिन का अर्थ यह है कि " उस ने देखा " इस लिये जाना भया कि देखने  
जाला घेतन ही हो भक्ता है, जहु नहीं । इस पर ४० तिं भा० प० २४७ पं०  
६ मे यह उल्लाङ्घना दिया है कि " इस अति मे सत शङ्क को जहु प्रकृति का  
झोपक मानना स्वामी जी की वेदान्तानभिज्ञता प्रकट करता है " ॥

प्रत्युत्तर स्वामी जी तो वेदान्त जाननं ये पर भाय सत्यार्थप्रकाश मे  
जी बोध कर रखते हैं । सत्यार्थप्रकाश मे सत शङ्क प्रकृतिवाचक लिखा है  
परम् ( सदेव सीम्येऽमये० ) इस वाक्य के अर्थे करते हुवे सत शङ्क को जहु  
प्रकृति वाचक मान नहीं लिखा किन्तु सत्यार्थ० खोल कर देखिए उस मे-

### तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मलमन्वच्छु०

इस वाक्य के अर्थ मे जो कपर को (सदेव सीम्येऽमये०) इस छां० प्रपाठक  
ई खण्ड२वाक्य १ है, उसमे (तेजसा सोम्यशु०) यह वाक्य छां० प्रपाठक ६ खण्ड  
८वाक्य ४२ नोने से बहुत दूर है । स्वामी जी ने इस के प्रार्थे मे लिखा है कि-

"तेजोरूप कार्य से महारूप कारण जो नित्य प्रकृति है यही सत्यस्वरूप  
प्रकृति सब जगत् का मूल घर और हिति का इथान है ।"

इस लिये भाय सत्यार्थप्रकाश को नहीं समझेवा स्वामी जी वेदान्त को नहीं  
समझे? यह भाय ही बताइये ॥ अब अपने लिखे तीनों वाक्यों का अर्थ सुनिये-

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तद्वैक  
आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तस्मादसतः  
सद्गजायत ॥ १ ॥ कुतस्तु खलु सोम्यैवथ्स्यादिति होवाच,  
कथमसतः सज्जायतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेक-  
मेवाऽद्वितीयम् ॥ २ ॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयति तत्त्वे-  
सोऽसृजत ॥ ३ ॥ छां० प्र० ६ खां० २ ॥

जानना चाहिये कि सत् किसे कहते हैं। सत् पद का अर्थ यह है कि जो तीनों काल में होते हैं। जो जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों गत्य हैं, इस लिये तीनों का जान “सत्” है। सत् के साथ यदि “चित्” जोड़ दें तो “सचित्” हो जाते। जिस का अर्थ “तीनों काल में होने वाला और चेतना” है। इस लिये “सचित्” शब्द जीवात्मा और परमात्मा का बोधक हुआ, प्रकृति की व्याख्या ही हो गई। जब यदि “सचित्” में “आगन्तु” और जोड़ दें तो “सचिदागन्तु” होता है, जो केवल परमात्मा का ही बोधक है, इस से प्रकृति और जीवात्मा दोनों की व्याख्या ही, परन्तु हम देखते हैं कि ऊपर के लिखे छान्दोग्यवदन में चित् और आगन्तु पद नहीं हैं, केवल “सत्” है। इस लिये सत् पद से यहां जीव ब्रह्म प्रकृति तीनों के समुदाय का अर्थ लेना ठीक होगा। अर्थात्—

( सदैव सोम्ये १० ) हे सोम्य ! प्रथम सत् ही या अर्थात् जीव ब्रह्म प्रकृति का समुदाय ही भद्रितीय अर्थात् अकेला या । ( तदैक आहुरउद्देशे० ) परन्तु कोई शून्यवादी कहते हैं कि असत् ही प्रथम या, असत् से सत् हो गया ॥ १ ॥ ( कुतश्चु खलु सोम्येवम्० ) परन्तु सीम्य । यह किसे हो सकता है कि असत् से सत् हो जावे अर्थात् यह होना असम्भव है । इस लिये ( ३ एवेदमये ) प्रथम सत्पदवाक्य तीनों का ही एक भद्रितीय समुदाय या ॥ २ ॥ ( तदैकत ० ) उस ने देखा कि मैं [ समुदाय ] जो एक हूं बहुत हो जाऊं और उस ने तेज को रथा ॥ ३ ॥

इस समझते हैं कि इस वचन में और इस के साथी अन्य इस के तुल्य वचनों में जब किसी को भ्रम न होगा ॥

तत्रैतच्छुङ्मुत्पतित० इस वाक्य में कोई ईक्षणार्थक पद नहीं है, इस लिये यदि स्वामी जी ने यहां “सत्” पद से प्रकृति का घट्टण कर लिया तो अनर्थ क्या है और जब इस में ईक्षणवाक्य कोई पद नहीं तब जाप जो द० तिं० आ० प० २४३ प० २३ में कहते हैं कि—

**ईक्षतेर्नाशददम् । शा० १ । १ । ५**

जो यहां ईक्षति क्रिया का प्रयोग ही नहीं, तब सत् पद से प्रकृति के घट्टण में दोषनहीं आमंकता । हाँ, जहां ईक्षति क्रिया=रेत्तना आया हो, वहाँ, सत् पद से प्रकृति जान सक यद्यपि स्वामी जी करते हो जाप का कहना ठीकः—

हो मकता था । सूत्र का अर्थ यह है कि-( ईक्षते: ) वेदों वा उपनिषदों में जगतकर्ता के प्रतिपादन में ईतिहिकिश=ईखना किया जाने से ( न ) केवल प्रकृति जगतकर्ता नहीं ( अशब्दप् ) यदि प्रकृति को जगतकारण माने तो शब्दप्रमाण के विरुद्ध है ॥

द० लिठ ३० प० १० २४८ चं० ८ मे—बब दूसरी श्रुति भी देखिये, जिस से ब्रह्मभिक्ष प्रकृति को उपादानकारणता मिटाने का खण्डन होता है—

सोऽकामयत । बहुस्यांप्रजापेयेति । सतपोऽतप्यत ।  
स्वतप्तप्तप्तवा । इदं तर्वमसृजत । यदिदंकिंच । ततस्त्वा ।  
तदेवानुप्राविशन् । तदनुप्रविश्य । सञ्चत्यञ्चाभवत् । निरु-  
क्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च ।  
सत्यञ्चानुतञ्च सत्यमभवत् । यदिदंकिञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते ।  
तदपेषम्भाकोभवति । अवद्वाइदमग्रआपीत । ततो वैसदजा-  
यत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तसुकृतमुच्यत इति ॥तै॥

प्रत्युत्तर—(मोक्षामयत०) से (झोको भवति) तक ब्रह्मानन्द बली का छढ़ा अनुवाक है और (असद्वा०) इत्यादि ३ थां अनुवाक है । आपने इसे जोड़ दिया । प्रभरण के अनुकूल इन दोनों वाक्यों से भी अभेद की निदिग ही होती । जिस प्रकार राजा के साथ सेना अविवक्षित होती है और कहते हैं कि “राजा ने चाहा कि मैं शत्रु का विजय करूँ और वह शत्रु पर चढ़ाई करने लगा” पर्वा यद्यपि राजा अकेला चढ़ाई नहीं करता किन्तु सेनासहित करता है, परन्तु सेना के अप्रधान होने से केवल राजा पद में सेनादि सब कुछ समझ लिया जाता है । इसी प्रकार यहां भी ( सः ) वह परमात्मा जिस के भीतर जीवात्मा और प्रकृति वस्तेजान हैं ( अकामयत ) चाहना करता हुआ कि ( बहुस्याम् ) जो मैं अश प्रकृति और जीवों सहित एकमेक हूँ सो बहुत हो जाऊँ अर्थात् जनेह नाम रूप वाली वस्तु बनाकर स्थित होऊँ । [ भागे कोई पद संशय में डालने वाला नहीं है ] उस ने ज्ञानमय तप किया और सब को रचा और रचित पदार्थों में जनुपवेश अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश के भी भीतर जगता जनुपवेश करके स्थित हुआ । तब पृथिव्यादि भूत सत् और वायवादि त्यत् हुआ । निरुक्त और अनिरुक्त सब हुआ । साधार और निराधार सब हुआ । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सब हुआ । सत्य और असत्य हुआ ।

इस सब जगत् को सत्य से उत्पत्त होने से सत्य कहते हैं। जो यह शांक गच्छ ग्रन्थ में कहा है कि-प्रथम अप्रतीयमान कारण था। उस में प्रतीयमान जगत् द्वितीयमान ने अपने को प्रतीयमान किया। इस में द्वितीयमान कहा जाता है॥

द्वितीयमान किया कर्म, उसे कहते हैं जिसके करने में कर्ता को बड़ी सुगमता रही है। और जब कर्ता को अपने काम में अत्यन्त सुगमता होती है तभी—

यदा सीकर्यातिशयं द्वीतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते,  
तदा कारकान्तराण्यपि कर्तृसज्जां लभन्ते ॥

शर्योत्त कर्ता को अत्यन्त सुगमता दिखाने के लिये कर्ता का आपार कहने में नहीं लाया जाता और कर्तादि कारकों को कर्ता के समान बोलते हैं। जैसे जब रसोई बगाने में अत्यन्त चतुर और बिना प्रयास रसोई बनाता है तब कहते हैं कि “रसोई बग रही है” कर्ता का नाम नहीं लेते। ऐसे ही यहां भी कहा गया है कि जगत् परमात्मा के द्वेषण से आप से आप बनता है शर्योत्त परम त्वा को इस के रचन में प्रयास वा अन नहीं करना होता, स्वाभाविक दैक्षण मात्र से सब स्फुटि अपने आप बनने लगती है॥

स्वामी जी ने वैशेषिक सूत्र (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः) से यह मिठु किया है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान कारण भाना जाय तो चेतन से जह जगत् उत्पत्त नहीं हो सकता क्योंकि “कारणगुणपूर्वक कार्यगुण देखा जाता है।” इस पर ३० तिं १० भा० १० २५० में (दृष्टयते तु ज३ २ पा० १ सूत्र ७) यहां तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के बास्ते है (एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः) इस में चेतन से जह का जन्म सुना है। बस स्वामी जी का वोह कथन कारण के सदृश कार्य होता है खिलित हो गया। विज्ञानघन एते-भ्योभूतेभ्यः समुत्पायेति) इस से जह से चेतन का जन्म है। लोक में भी चेतन से विलक्षण केश नख। दि का जन्म और चेतन गोमयादि से वृद्धि कादि का जन्म देखते हैं॥

प्रत्युत्तर-शब्दां क्या (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः) इस वैशेषिक सूत्र को आप नहीं भानते? क्या शब्दों में आपस में विरोध है? जो कणाद् के विरुद्ध आप आप का सूत्र प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में आप जिस सूत्र को

प्रश्न में देते हैं वह तर्हाभसाधिकरण का सूत्र है। अथवा २ पाद १ सूत्र ४  
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्

इस सूत्र के ऊपर ही भाके माननीय गाडिकार ने “ तर्हाभसाधिकरण ” अर्थात् निश्चय तर्हाँ का अधिकार लिखा है। बल यह सूत्र निश्चय तर्कं दिखाता है कि—

### दृश्यते तु २ । १ । ६

देखा तो जाता है कि जड़ से चेतन, चेतन से जड़ उत्पन्न होते हैं। जैसे गोब्रर से विड्ठु इत्यादि। परन्तु यह तर्कं निश्चय है क्योंकि गोब्रर से विड्ठु का जड़ शरीर ही बनता है, चेतन आत्मा तौ अन्य देहों से विद्युक्त होकर कर्मानुपार उस में आजाता है। इस लिये कारणगुणपूर्वक ही कार्य गुण होते हैं। यह बात अव्याध्य ठीक है ॥

४० तिं० भा० प० ४५० पं० २३ में ( नेवा तर्केण मतिरापनेया ) और ४०  
४१ पं० ४ में ( तर्हाभसाधिष्टानाऽ ) इत्यादि व्यासमूत्र से तर्कं की निन्दा की है ॥

प्रत्युत्तर-ठीक है, तर्काभसाधिष्टानाऽस्य कुनर्कों को स्थिति नहीं है। इस लिये असत्तकं जैसा कि ऊपर ( दृश्यते तु ) सूत्र का तर्क है। इस प्रकार के तर्कं सन्तोषदायक न होने से निन्दनीय हैं ॥

४० तिं० भा० प० ४५१ पं० १४ में ( यथा च प्राणादि ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यह सूत्र भी खासी जी के पक्ष की पुष्टि करता है। इस से पिछले दो सूत्र इस से निलाइये तब स्पष्ट दीख पड़ेगा कि नियत कारण से ही नियत कार्य बन सकते हैं। चेतन से जड़ादि वा असत् से सत् नहीं। यथा हि-

युक्तेः शब्दान्तराच्च । शा० २ । १ । १६ पटवच्च ॥ १६ ॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

युक्ति और अन्य शठं प्रमाणों से भी नियतकारण से नियत कार्य ही उत्पन्न होने सिद्ध होते हैं। जैसे निहीं से घड़ा और दृथ से दही। दृथ से घड़ा और निहीं से दही नहीं बनता ॥ १८ ॥ और पट अर्थात् वस्त्र के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध है ॥ १९ ॥ और प्राणादि वायुसेद, वायु से ही उत्पन्न होते हैं। इस से जागा जाता है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत अनन्य कारण होता है। यह नहीं कि चाहे जिन कारण से चाहे जो कार्य बन जावे॥

४० तिं० भा० प० ४५१ पं० २३ में ( देवादिवदपि लोके ) इस सूत्र से यह

मिहु करते हैं कि जैसे लोक में देवादि मिहु लोग विना सामयी के अपनी विचित्र शक्ति से पदार्थों को रच लेते हैं, जैसे बकुली बीर्य विना केशल मेघ-गर्जन से ही गर्भवती हो जाती है, वा भकड़ी सूत के विना ही जाला पूरती है, ऐसे ही विना प्रकृति के क्षेत्र ब्रह्म ने जगत् रच लिया ॥

प्रत्युत्तर-जिस प्रकार देवादि मिहु कोटि के अनुष्ठों के पास अदृश्यकृप से विचित्र सामयी वर्तमान रहती है, और बकुली के गर्भवती मेघगर्जन ही में वापु द्वारा बीर्य प्राप्त होता है और जिस प्रकार भकड़ी का आत्मा अपने रथूल शरीर में छिपे हुवे सूतों को फैलाता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अध्यक्ष अदृश्य प्रकृति को विकृति करके ही जगत् धो बनाता है । यदि नियत सामयी की आवश्यकता नहीं होती तो राजादि लोग देवादि मिहु पुष्टियों से राज्यादि करण्यार्थ नवीन पृथिवी बनवाकर राज्य करते, बकुली के समान काकी और सन्दृढ़ी की छीं भी मेघगर्जन से गर्भवती हो जातीं, भकड़ी के समान विना सूत के जुआं ही सो कपड़ा बुन लेते । परन्तु सामयी विना प्रथार्थ में कोई कार्य बनता नहीं । यह बात दूसरी है कि सामयी प्रत्यक्ष हो, वा छिपी अदृश्य हो ॥

४० तिं० साँ० ए० २५२ पं० १६ में-सहाप्रलय में ब्रह्म के विना और कुछ नहीं या, फिर प्रकृति गादि कहाँ र ये देखो ( नामीत ) आदि सत्र जो सहाप्रलय के वर्णन में पांछे लिख आये हैं ॥

प्रत्युत्तर-गहाप्रलय के वर्णन में नहीं, सर्वशक्तिमान् के प्रकरण में आपने “नामदासीत०” इत्यादि लिखा या, जिस का उत्तर भी हम अपने ए० २२१ में दे चुके हैं ॥ “सर्वशक्तिमान् का आर्य इतना ही है कि परभात्मा विना किसी की सहायता के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है ॥” इस सत्यार्थप्रकाश के छेष का तात्पर्य यह नहीं है कि उपादान विना जगत् को रच भकता है । किन्तु इतने बड़े जगत् को उपादान से तत्त्वज्ञ बना देना है और सहायतार्थ ( केसी अन्य जीव को नहीं बुलाता, यह तात्पर्य है ॥

४० तिं० साँ० ए० २३२ पं० २८ से-स्वामी जी पूर्व से लिख आये हो कि ( न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ) उसे कार्यं करणादि की कुछ अपेक्षा नहीं अब यहाँ यह गहबही ॥

प्रत्युत्तर-न तस्य कार्यम् इस वाक्य में वा स्वामी जी के अर्थ में क्या कहीं जानत्कारण का निवेद भी लिखा है ? कहीं नहीं । फिर कार्यं करणादि के निवेद से उपादान कारण का निवेद समझगा जाना नहीं तो क्या है ? “न

तस्य कार्ये कहने से यह अवश्य सिद्ध होता है कि देवरका कार्य कोई नहीं अर्थात् देवर किसी कार्ये पदार्थे का उपादान नहीं । किन्तु प्रकृति इसे उपादान है ॥

३० तिं भा० ए० २५३ पं० १४ गे—जैसे घटाकाश घट के टूटने से जाकाशमें गिलता है इसीप्रकार कर्मबल्धग टूटने से यह शुद्धभास्मा सर्वमासइर्युक्त होता है ॥

प्रत्युत्तर—जाकाश ने सिक्क घट वस्तु न हो तो घटाकाश वा घट का टूटना आदि अवश्यक नहीं बने, इसी प्रकार ब्रह्म से सिक्क जाप के मत में कोई वस्तु नहीं तो टूटना आदि कुछ नहीं जह सकते । यदि कहते हो तो जीतापत्ति न सही, द्वेषापत्ति तो आप पर पड़ी ही ॥

### आदिसुष्टिस्थानप्रकरणम्

३० तिं भा० ए० २५३ पं० २५ मे—यजुर्वेद में कहीं यह वाक्य नहीं कि (ततो मनुष्या जगायत्त) और दूसरे पद में लोट फेर किया है (मनुष्या अवश्यक ये) ॥

प्रत्युत्तर—“ततो मनुष्या जगायत्त” यह पाठ वातपथ ब्रह्मण काण्ड १४ प्रणा० ३ ब्राह्मण ४ कणिका० ३ के भाग में है । जिनको कि मन्त्रब्रह्मस्थानक वेद मानने वाले जाप यह नहीं कह सकते कि यह यजुर्वेद का वाक्य नहीं है ॥

सिद्धया कल्पना उसे कहते हैं कि जिन में भगवने प्रयोगन को मिठु करने और दूसरे को हानि पहुंचाने के अभिप्राय से किसी प्रकार के बन बटों प्रणाल्य का प्रणाल्य की रीति पर दिखलाया जावे, जिस प्रणाले को कि प्रणालय देने वाला जानता हो कि यह प्रणालय यथार्थ में जेरा पक्षरोध नहीं परन्तु मैं इन प्रणालय को झूट भूट बनाकर दिखला दूँगा तो जेरा प्रयोगन मिठु हो जायगा और दूसरे की हानि भी चाहे हो । परन्तु स्वामी जी के लिखे उन वाक्यों से जिन को उन्होंने ने वेदवाक्य करके लिखा है, क्या यह सिद्ध होता है कि उन्होंने भगवने प्रयोगन मिठु करने को कहिंत मन्त्र घट लिये ? विचारणा चाहिये कि वहां प्रकरण क्या है । सन्यार्थप्रकाश में वहां यह प्रश्न है कि—(प्रश्न) स्थिर की अःदि में एक वा अनेक मनुष्य वातपथ किये थे वा क्या ? इन प्रश्न के उत्तर में यह मिठु करने को कि एक मनुष्य नहीं मिठु अनेक मनुष्य अवश्य हुवे, स्वामी जी ने उक्त दो वाक्य लिखे हैं । वक्ता का तार्हीर समझने के लिये वाक्य के सम्पूर्ण अवयवों पर ध्यान देना चाहिये । इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देने में व्यापारी जी का तार्हीर यह है कि ज्ञान

का बीज एक २ सनुष्य पशु, पक्षी भादि नहीं है किन्तु सनुष्यादि अनेकों से सुहिं भारतम् हुई। केवल सनुष्य शब्द लिखने का कारण यह है कि सुहिं में सनुष्य प्रधान है, प्रधान के उपलक्षण से अप्रधान पशु, पक्षी, कीट पत-झादि का भी यहण होता है। जैसे किसी को दधि की रक्षापर्यं किसी वे कहना हो तो वह कहता है कि “देखो दही रखावे हैं, करवान खाजावे, देखते रहना” तो वक्ता का तात्पर्य दही की रक्षा में है, न कि केवल कठवे (काक) भाग से, किन्तु कठवा, कुता भादि सभी से दही की रक्षापर्यं कहने से तात्पर्य है। परन्तु काक का दही खा जाने को भाजाना अधिक समझ नहान कर वह केवल काक का नाम ही लेता है। तथा पि रखवारे को चाहिये कि कठवे के अतिरिक्त कुते भादि से भी दही को बचावे। इसी प्रकार स्वास्थी जी का मुख्य तात्पर्यं एह वा अनेक में है, न कि केवल सनुष्य में। अब सोचना चाहिये कि उग के इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद से क्या मिलता है कि सुहिं का भारतम् एक २ प्राणी से बुवा वा अनेक २ से १

यजुर्वेद के ३१ में भाष्याय में यह आठवां मन्त्र है कि-

**तस्माददर्शा अज्ञायन्त ये के चोभ्यादितः । गावो ह जाङ्गिरे  
तस्मात्तस्मांज्जाता अज्ञावयः । यजुः ॥ ३१ ॥ ८ ॥**

इस का अर्थ यह है कि उस पुरुष से घोड़े, नींवे और दांत वाले भी रुग्नी भादि एक और दांत वाले और बड़े भेड़ भादि सब उत्पक्ष हुवे ॥

यहां अद्वाः, उपर्यादतः, भावः, जाताः, अज्ञावयः, इतमेव बुद्ध्यचन आये हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणी को जाति में अनेक व्यक्तियां सुहिं के भारतम् में उत्पक्ष हुईं। किर इस के अगले मन्त्र में—

**तं यज्ञं ब्रह्मिष्टि प्रौक्षन् पुरुषं जातमंग्रतः । तेन देवा  
अैयजन्त सनुष्या ऋष्येयश्च ये ॥ यजुः ॥ ३१ ॥ ९ ॥**

इस का अर्थ यह है कि देव, साध्य और क्रवि लोग उत्पक्ष हुवे, उन्होंने उस अपने से पूर्ववत्तमान पूर्णतीय पुरुष को इत्यक्षण सुष्यानन पर दिपत पाया और पूर्णित किया ॥

यहां भी साध्या: देवाः और क्रवयः इन बहुवचनों से प्रतीत होता है कि साध्य और क्रवित्वक बहुत से समुच्च सुहिं के भारतम् में उत्पक्ष हुवे ॥

बस इस से प्रभागित है कि जिस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने दो वाक्यों से मिठु किया है कि स्थिति के आरम्भ में सनुष्यादि प्राणियों की अनेक व्यक्तियां उत्पन्न हुईं, न कि एक २। यो हन मन्त्रों से ठीक पाया ही जाता है। इन लिये स्वामी जी ने भवने पद के मिठु करने के लिये असत्य कल्पित गहों किया और जो कुछ लिखा है, वैसा भाव ऊपर लिखे दो बेदमन्त्रों में उपस्थित है। केवल यह भी है कि—

**“तस्मादश्वा अजायन्त” के स्थान में-**

**“ततो मनुष्या अजायन्त” है। और**

**“साध्या ऋषयश्च ये” के स्थान में-**

**“मनुष्या ऋषयश्च ये”**

इतना पाठमें है, परन्तु दोनों मन्त्रों में वह भाव उपस्थित है जो स्वामी जी ने लिखा है। तथा यह सम्भव है कि बोलने वा लिखने में यह भी एक पड़ गया हो। परन्तु यह फिरो प्रश्नार नहीं मिठु होता कि स्वामी जी ने स्वप्नयोजनार्थ कहना करते हैं।

१० तिथि शाह एवं २५६ में कुछ तर्क इस बात पर किये जैं कि स्वामी जी के लेखानुपार भावदि में सनुष्योत्पत्ति तिथ्वत में की हो, सो नीक नहीं। लेख बड़ा है, परन्तु संक्षेप से उस में जो २ प्रश्न किये जैं उस का क्रम में इस उत्तर देते हैं ॥

१-इस में कोई प्रमाण नहीं दिया कि निथ्वत में मानुषी स्थिति प्रथम हुई ॥

प्रत्युत्तर-तरमाद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः  
आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या  
अज्ञन् अनाद्रेतः रेतसः पुरुपः । तैत्तिः ब्रह्मानन्द  
बद्धो । अनु०१ ॥

अर्थात् प्रथम परमात्मा ने आकाश तत्त्व को उत्पन्न किया, किर वायु, किर अग्नि, किर जल, किर पृथिवी, किर भूमि, किर वीर्य और किर सनुष्य को ॥

इस में स्पष्ट है कि उत्पत्ताक्रम में पुनर्व को उत्पत्ति भूमि के पश्चात् है। अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, पृथिवी का कंचा भाग तिथ्वत ही प्रथम ठंडा और अन्न उपजाने योग्य हो सकता। या क्योंकि जब जैवे किमीलोहपिण्ड को गर्भ छरके पुनः ठंडा करो तो ऊपर का भाग ही प्रथम ठंडा होगा। इसी प्रक्रिये

शक्तिभव पिण्ड मे जलमयपिण्ड, तत्पञ्चात् सूरमयपिण्ड, तत्पञ्चात् शक्ति मे  
मनुष्यजाति की उत्पत्ति हो सकती है। इसी विचार से स्वामी जी ने तिथ्वत  
में मनुष्यों को आदि स्फुटि लिखी है ॥

३-सत्यार्थ २४ में लिखते हैं जब आर्यदस्युओं में आर्यत विद्वन्  
जो देव अविद्वान् गो असुर उन में सदालडाई बवेदा हुवा किया जब बहुत  
उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग मध्य सूर्योल में उत्तम इम भूमिक्षण को  
जान कर यहाँ भाकर बसे इसी से इस देश का गाम आर्योवर्त हुवा। पुनः  
पं० २९ में इस से पूर्व इम देश का गाम कोई भी नहीं था ००० इम में तर्क  
यह है कि ती फिर आर्य लोग मदा से आर्योवर्त के रहने वाले न रहे, जैसा  
कि स्वामी जी ने अपनी आर्योदैश्यतमाला में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर-शन्य देशों में आर्य कग और दस्यु अधिक होने से आर्यों के  
अमैकार्यों में नित्य की बाधा देखकर शन्य देशों में के आर्य भी आर्योवर्त  
मिवासी आर्यों में आर्यों से और इम देश को केवल आर्यों का ही निवास-  
स्थान बना लिया। इस में यह नहीं पाया जाता है कि जब शन्य भूमिक्षणहों  
में आर्य दस्युओं का अखेड़ा हुवा तब इम देश में आर्य न थे। नहीं, इम देश  
में ती तिथ्वत के उत्पन्न आर्यपुरुष आदि में ही आगये, जब कि तिथ्वत के  
पश्चात् यह देश गर्भों से निकल कर ठंडा हुवा और शब्दोत्पत्ति हुई, तभी  
तिथ्वत की स्फुटि इधर भी चली आई और इस से यह बात खण्डित नहीं  
होती कि सदा से आर्य ही आर्योवर्त में रहते थे ॥

४-त्रिविष्टप का शर्य तिथ्वत के से हुवा ?

प्रत्युत्तर-गौ का शर्य गाय के से होता है ? और कूप का शर्य कुवा के से  
होता है ? वैसे ही यह भी हुवा ॥

४-यदि यह देश सर्वथेषु है तो यहाँ ही परमेश्वर ने आदि स्फुटि क्यों न की ?

प्रत्युत्तर-हिमालय की सर्वोच्च ओटी ती ऋब तक हिमपात वे दबी रहती  
है और मनुष्य वहाँ नहीं जान सकते। आर्योवर्त तिथ्वत के पश्चात् शब्दो-  
उपतियोग्य ठंडा हुवा। यतः तिथ्वत में आदि स्फुटि होना सङ्गत था ॥

५-त्रिविष्टप का गाम आर्योवर्त क्यों न हुवा? जब आर्य वहाँ जन्मे ॥

प्रत्युत्तर-त्रि ३ वेदों वा ३ वर्णों वा शन्य त्रयी विद्याओं का रूपान होमे  
से उत्तम देश का गाम त्रिविष्टप होगया। जो आर्योवर्त गाम वे कुछ घटिया  
गाम नहीं। आर्य और दस्युओं का विभाग जब तक निजम देशों में न हुवा

सब तक किसी देश का नाम आर्यवर्त रखना आवश्यक न था । मैपाल अब तक आर्यस्थान है । तिथवत और सूटान गिरिकछदरा होने से बीडु खाखुदों से भाधित वासित किया, इस से अब बीडु हो गया ॥

### ६—सरस्वतीदृष्टपद्मदीर्घदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ मनु० २ । १७

सब से प्रथम ब्रह्मा जी ने यही देश रखा और उन के हारा मनुष्य की उत्पत्ति यहाँ ही हुई ॥

ग्रन्थ्यत्तर-इनोकार्ये तो यह है कि “सरस्वती भीरदृष्टद्वाती नाम दो देव-नदियों के बीच में जो देश है वह देव=विद्वानों से बनाया गया और इसी देव का नाम ब्रह्मावर्त विस्त्रात दुवा” क्योंकि समस्त आर्यवर्त और अन्य देवों में के मनुष्य ब्रह्मावर्त के भगवत्तर ब्रह्मविंश देश में सब विद्या सीखें, यह मनु की आज्ञा थी । जैसा कि मनु-

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मविंशदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ २-१६ ॥ एतद्वेशप्रसू-तस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २-२० ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन यह मिल कर ब्रह्मविंशदेश कहाता है जो ब्रह्मावर्त से भगवत्तर है ॥ १६ ॥ इसी देश के उत्पन्न हुवे ब्राह्मण से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपना २ काम सीखें ॥ २० ॥

यह मनु की आज्ञा थी । इस सब में यह कहीं नहीं लिखा कि ब्रह्मा अवधि में सूष्टि रची और प्रथम ब्रह्मावर्तदेश बनाया । ग्रन्थ्यत यह प्रकरण देशों के उत्पन्न होने का भी नहीं है, किन्तु मनु ने देशों और वहाँ के निवास की योग्यता को व्यवस्था की है ॥

द० तिद० साठ० प०० २५३ पं० १ ऊपर के आधे श्लोक का अर्थ गहृप ही नये हैं । युनिये यह श्लोक मनु जी से यों लिखा है—

मुख्याद्वृपज्ञानां या लोके जातयोद्यहिः ।

उलेच्छुत्रावश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः । मनु०  
इस का अर्थ यह नहीं कि इस से सिक्षा देश दस्युदेश कहाता है ।

**प्रत्युत्तर-** जाचा श्लोक बढ़ाने से क्या स्वामी जी का तार्ह ये न लिकला ? जब कि श्लोक में ( या लोके बहिः जातिः ) लिखा है । जिस का गार्थ यह है कि ( जो संवार में बाहर की जातियें हैं ) वे चाहे स्वेच्छामात्रा बोलती हों, चाहे आर्यमात्रा, सब दस्यु हैं । फिर उन जातियों के बाहरी देशों का नाम दस्युदेश वा स्वेच्छदेश जहाँ नहीं ॥ इन्द्र और देत्यां का संग्राम ही देवा अधुरसंघाम वा आर्यदस्युसंघाम है ॥

**४० नि० भा० प० २५६ प० १५ म०-पूर्व सौ कहा है कि वह सृष्टिक्रम की बदल नहीं सकता, अब उसमें बहुत समुद्दय के से उत्पन्न कर दिये । ख्यात विना खी पुरुष संयोग के भनुद्दय उत्पन्न नहीं हो सकता ॥**

**प्रत्युत्तर-** सृष्टिक्रम बदला नहीं कित्तु सदा का यही कहन है कि जब २ प्रलयःन्तर सृष्टि दुया करती है तब २ अनेषुनी होकर फिर मेषुनी का क्रम चलना है । बदलना नहीं । और हाँ, बहुत समुद्दय उत्पन्न हुए मानने में आप को सृष्टिक्रम की क्यों शङ्खा उत्पन्न हुईं, क्या ब्रह्मा आदि किसी एक समुद्दय का उत्पन्न होना मानने में यही शङ्खा उत्पन्न नहीं होती ?

**४० ति० भा० प० २५७ प० २६ से-स्वामी जी के लेख से विदित होता है कि इष्वाकु राजा से पहले सब तिड्डती थे परन्तु ननुस्मृति जो मनु जी ने रखी है उन्होंने मनु का राज्य भी हसी देश में होगा लिखा है जब कि ब्रह्मा जी ही का प्रादुर्भाव ब्रह्मावर्त देश में हुआ है तो जेटे पीते भी सब यहीं हुवे और स्वामी जी तो अग्नि वायु आदि से परमपरा लिखते ब्रह्मा से क्यों लिखी व्योंकि महात्मा जी ने तो प्रथम अग्नि वायु की उत्पत्ति लिखी है और प्रथम एक जाति भी नहीं पी चारोंवर्ण मदां से हैं यथाहि ( ब्रह्मणोस्य मुखमाच्चीनिति यजुर्वदे ) और मनु जी लिखते हैं**

**लोकानां तु विवृद्धयर्थं सुखवाहूरुपादतः ।**

**ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्जनिरकृतयत् मनु० ॥**

**प्रत्युत्तर-** इन से यह कैसे निहु हो जाया कि इष्वाकु से पूर्वं सब तिड्डती थे । और तिड्डती ही निहु हो जावें तो हाति वा शाला से विरोध ही क्या जाता है ? ब्रह्मा का जन्म ब्रह्मावर्त देश में हुआ, इन में क्या प्रभाल है ? प्रत्युत्तर, आप जो ब्रह्मा से ही सब पूर्णिव्यादि की उत्पत्ति मानते हैं कि जल से कमल, जल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि । फिर ब्रह्मा से पूर्वं कोई देश भी आप के जल में नहीं हो सका था । ब्रह्मावर्त हाँ से आया ?

अग्नि वायु भाद्रि से वेदपरंपरा स्थानी जी ने जिखा है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वेदपरंपरा वालों की ही वंशपरंपरा चले, अन्यों की ज चले, इन लिये ब्रह्मा की वंशपरंपरा लिखना परम्परविरोध नहीं। यह तो हम भी नहीं कहते कि चार वर्ण कर्मानुसार परमात्मा की उत्पादित भज्ञे-युनी मृष्टि में न थे। परन्तु गन्तु से उन की व्यवहारमर्पण का भेद प्रचलित हुया। आप के छोर और वेदमन्त्र का आशय यह नहीं है कि परमात्मा के वास्तविक मुखादि से व्राज्ञादि वर्ण जन्मे। देखिये—

**ब्राह्मणोऽस्य मुख्यमासीद् ब्राहू राजन्यः कृतः ।**

**कुरु तदस्य यदैश्यः पुद्भ्याणि शूद्रो अजायत ॥**

**यजः ० ३ १ । ११**

\* यदै मन्त्र कई कारणों से विचारणीय है। प्रथम तौ उन मन्त्रों में से है जिन पर आर्थेसमाज और सनातनधर्मसभा के बीच सदा वाद विचार होता रहता है। दूसरे यह मन्त्र उस महाहानिकारक जातिभेद व्यवहारिक नाममात्र की जन्मानुमारिण वर्णटयप्रस्था का पोषण मनका जाता है कि जो भूतलवालियों की भानाजिक शब्दति का मुख्य कारण है। इस लिये यह मन्त्र इस पोषण है कि इस पर अच्छे प्रकार लेख कियाजाय, और हम आशा करते हैं कि पाठकगण इस पर विशेष ध्यान देंगे।

### इस मन्त्र का आधुनिक अर्थ

हमारे हिन्दु परिषद, इस मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि—“ ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य वह है जो उस की जड़ाओं से और शूद्र पांवों से उत्पन्न हुया ” ॥

१—यह अर्थ वेदविरुद्ध है २—ठायाकरण की रीति से असुद्ध है, ३—और प्रकरणविरुद्ध भी है ॥

**१—यह अर्थ वेदविरुद्ध इस लिये है कि**

इस में यह मान लिया गया है कि इंद्रवरदेहथारी है और उस के शिर भुजा भाद्रि भी हैं। परन्तु वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं ( इन उन को हयां

# देखो बाट गङ्गाप्रसाद जी एम. ए. का पुस्तक ॥

लिखने की आवश्यकता नहीं समझते) कि जिन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर चेतनाकृप, निराकार, शरीरहीत और मर्बव्यापी है। इन के अतिरिक्त यह अर्थ भाज कल का भूटों वर्णव्यवस्था वा जातिभेद को पुष्ट नहीं करना है पर उन की पुष्टि करने वाला समझा जाता है, परन्तु यह जातिभेद विद्यकमय में कदापि न था। विद्यकमयों में ऐसे अनेक व्यवह हैं जिन से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था गुण का स्वामाव पर थी, न कि जन्म पर। विशेष कर महाभारत में इस प्राचार के अनेक लोक पाये जाते हैं, उन में से कुछ लोक इस विषय का ऐसी स्पष्ट रीति से समाधान करते हैं कि हम उन को यहां लिखना आवश्यक समझते हैं—

एकवर्णमिदं पूर्वं श्रिश्वमासोद् यधिष्ठृर !। कर्मक्रिया-  
विभेदेन चातुर्वर्णं प्रतिष्ठितम् ॥ वर्वं वै योनिजा मत्तर्पा-  
सर्वेऽन्नपुरीषिणः । एकेन्द्रियेन्द्रियार्थश्चतस्माच्छीलगुणै-  
द्विंज ॥ शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।  
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् \* ॥  
शूद्रे तु यदु भवेत्त्वक्षम द्विजे तच्च न विद्यते । न वै शूद्रो  
भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥ यत्रैतत्त्वक्षयते  
सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः । यत्रैतत्वं भवेत् सर्प ! तं  
शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥२६॥ महाभारत वनपर्व अ० १८० ॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! यह मारा जगत् पहले एक वर्ण था, परन्तु कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये । सब मनुष्य एक ही प्रकार उत्पन्न होते हैं, सब का एक सा ही मन मूल होता है, एक साँ इन्द्रियें और एक से ही इन्द्रियों के विषय हैं । इस लिये सनात्य अपने स्वामाव और गुणों ही के कारण द्विज अर्पोत् ब्राह्मण त्रिय या वैश्य कहलाता है । शूद्र भी यदि उत्तम स्वामाव और गुण से युक्त हो तो ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी यदि क्रियाहीन हो तो वह शूद्र में भी जोख हो जाता है । यदि शूद्र में महाभारत हों और द्विज में न हों तो न वह शूद्र शूद्र, और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है ॥२५॥ जिस में यह सदाचारणा पाया जाय उनों को शास्त्रों ने ब्राह्मण कहा है, जिस में यह न पाया जाय उनी को शूद्र बतलाया है ॥ २६ ॥

\* भारतम् के इन लोकों का पूरा पता जात न हो सका, जल्दि २ लोक दीक छवे पते पर है ॥

बाब इस विषय पर अधिक लिखना अनावश्यक है क्योंकि अब जात्य देशों तक के ब्रिटिश भी एकमत होकर मानते लगे हैं कि यह भाग कल का जातिभेद वैदिकसंस्कृत के पांचों फैला है ॥

## २ यह अर्थ व्याकरण से भी अशुद्ध है

जो कोई घोड़ा सा भी संस्कृत जानता है वह समझ लेगा कि इन अर्थ में व्याकरण की कहे असुद्धियाँ हैं। मुख्यम् बाहू और ऊह ये शब्द प्रथमा विभक्ति युक्त हैं, तभी पञ्चमी में। इन में कोई सन्देह नहीं कि पदभ्याम् शब्द पञ्चमी विभक्ति में है, परन्तु उस का "व्यात्यय" मानना पड़ेगा, जैसाकि मुख्यम् बाहू और ऊह शब्दों से स्पष्ट है और पूर्व सन्त्र से जिस को इस आगे लिखेंगे और भी स्पष्ट हो जाता है, इस लिये सन्त्र का ठीक और शाब्दिक अर्थ यह हैति "ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है, जो वैश्य है वह उस की जहाँ और शूद्र उस के पांच बनाया गया है" यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि ब्राह्मण उस के शिर से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय उस की भुजा भी वे निकले इत्यादि । हम नीचे इस सन्त्र का महीधर भाष्य लिखते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे भाष्यनिक परिचित किस प्रकार इस सन्त्र से भवता मनवाना अर्थ निकालना चाहते हैं:-

**ब्राह्मणोब्रह्मत्वविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुख-  
मासीत् मुखादुपत्त्वाद्यर्थः । राजन्यः क्षत्रियत्वजातिवि-  
शिष्टः पुरुषो बाहूकृतो बाहुत्वेन निष्पादितः । तत् तदा-  
नीम्, अस्य प्रजापतेर्यत् यावृह तदृष्ट्योवैश्यः सम्पत्तः  
उरुभ्यामुत्पादितइत्यर्थः । तथाऽस्य पदभ्यां शूद्रत्वजा-  
तिमान् पुरुषोऽजायतउत्पन्नः" ॥ ( महीधर भाष्य )**

अर्थ - "ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस प्रजापति का मुख था अर्थात् उसके मुख से उत्पन्न हुआ । क्षत्रिय अर्थात् क्षत्रियत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस की भुजा बनाया गया । अर्थात् उस की भुजारूप से रचा गया, तब उस प्रजापति की जो जहाँ थीं तदृष्ट्योवैश्य हुआ । अर्थात् जहाँओं से उत्पन्न हुआ तथा उस

के पांचों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ इन अपने पाठकगणों का उस भाशय की ओर विशेष ध्यान दिलाते हैं कि जो भोटे अवतारों में छापा गया है। यह स्पष्ट है कि महीधर ने मन्त्र का पहिले ठीक और सीधा अर्थ करके फिर उस के पदों में अपने भगवाने ढङ्ग पर खेचातानी की है। यह समझ में नहीं भाता कि मुखमासीत् (मुख पा) इन शब्दों का यह अर्थ कैसे हो गया कि मुखादुत्पन्नः और (जो जहाँ थीं तदृक्षप वैश्य हुवा इन शब्दों का यह कैसे तात्पर्य हो सकता है कि ऊरम्यामुत्पादितः (जहाँ से उत्पन्न किया)। यह बात स्पष्ट है कि यह अर्थ गन्ध के शब्दों में निरक्षता नहीं किन्तु उसमें बलाहतार से छाला गया है

३ यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध है ॥

इन से पहिला मन्त्र यह है:-

**मुखं किमस्यासीत् किं ब्रह्म किमूरुं पादा उच्येते ॥**

अर्थ-“ उस का शिर क्या पा, क्या भुजा थीं और जहाँ और पांच क्या कहे जाते हैं” यहाँ यह नहीं पूछा गया है कि उस के शिर से कौन निकले और उस की भुजाओं से कौन निकले। इन मन्त्रों से जो प्रश्न किया गया है उसी का उत्तर देनेके लिये वह मन्त्र है जिसकी इस क्षेत्र स्थापा करते जाते हैं इस लिये मन्त्र का आधुनिक अर्थ सर्वथा प्रशुद्ध है। भला यह कहीं हो सकता है कि प्रश्न तो यह किया जावे कि “उस का शिर क्या पा, उस की भुजा क्या थीं और उस की जहाँ और पांच क्या पे?” और उत्तर दिया जावे कि “ब्रह्मण उस के मुख से निकले और उत्तिष्ठ उस की भुजाओं से, वैश्य उस और जहाँ जहाँ से शूद्र उस के पांचों से?” इस लिये मन्त्र का ठीक और सत्य अर्थ जेवल वही हो सकता है कि हो इस क्षेत्र लिख चुके हैं ॥

**मन्त्र की पूर्णापर सङ्गति और उसका प्रकरणानुकूल सत्य अर्थ**

यह मन्त्र वेद के एक सुप्रसिद्ध सूक्तमें आया है कि जिस का नाम \* “पुरुषमूल” है। इस सूक्तमें सृष्टि की रचना का वर्णन है। इस को यहाँ पर पूरे सूक्त का अर्थ लिखनेसे प्रयोग नहीं। इस लिये इस के बाल उसके उत्तरे भाशय

\* देखो यजुर्वेद १, आथ्वेद १०-५०, ऋथर्ववेद १४-६। १५ मन्त्र है कुछ पाठ भी भी हैं ॥

को भोर संकेत कर्ते हैं कि जितना। इन मन्त्र की व्याख्या से सङ्गति रखता है ॥  
मन्त्र १ से मं० ४ तक यह वर्णन है कि ईश्वर इस जगत् का स्वामी और  
सर्वव्यापक है, उन की महिमा अनल और बपार है। इन के पश्चात् इन  
जंगत् की सृष्टि का वर्णन है। प्रथम ईश्वरने प्रकृति का, जिन जो प्रत्यय की  
व्यवस्था से भविष्यत् और भलक्षणदशा में थीं, प्रादुर्भाव किया। तब उसमें  
से पृथिवी और वान्य लोक रचे (मं० ५)। इनके पश्चात् उन अनेक वस्तुओं  
की रचना का वर्णन किया गया है जो इन पृथिवी पर पाई जाती हैं। प्रथम  
वगस्त्रति और विविध जीव जन्म रचे गये-

तस्माद्युज्ञात् सर्वद्वृतः सम्भृतं पृष्ठदाज्यम् ।  
पृथूस्ताँश्वंके वायुश्यानारुण्यां ग्राम्याश्चये ॥६॥

अर्थ-“ उम सर्वपूज्य परमेश्वर ने सब प्रकार के वनस्पति तथा। रसयुक्त  
पदार्थों को रचा और वायु में उड़ने वाले, ज़ङ्गों में फिरने वाले तथा। गांव  
आदि वनस्पतियों में रहने वाले इत्यादि सब जन्मते हैं को रचा। (मं० ६)। अन्तर  
में गनुद्वार रचे गये—

तं युज्ञे बुद्धिवे प्रौक्तन् पुरुषं ज्ञातमयतः  
तेन देवा अ॒यजन्त सुध्या ऋ॒षयश्चये ॥९॥

अर्थ-“ उसी परमात्मा ने मनुष्यजाति को, जिस में उस सर्वपूज्य और  
सर्वश्रेष्ठ, सर्वदायपक परमात्मा को हृदय में धारण करने वाले अनेक विद्वान्  
संघ और क्षविष्ठि, रचा” (मं० ९)। इसारे हिन्दू भाई इस मन्त्र में  
विराटद्वार से ईश्वर का वर्णन नहीं है, परन्तु वास्तव में यहां गुणव्यञ्जिति  
रूपकागङ्कार द्वारा एक पुरुषवत् वर्णन की गई है, किन्तु विना तूङ्महृष्टि से  
देखे और विचारे अगङ्कार ममाह में नहीं आता। कोई यह प्रश्न कर सकता  
है कि “गला अनेक पुरुष और द्विदेवों के मसूह ते और एक पुरुष के शरीर  
में, जिस में शिर, भुजा आदि वर्द्ध प्रकार के भङ्ग होते हैं, क्या उपरा हो  
सकती है ?” यह प्रश्न स्वभाव ने हर गन्तव्य के हृदय में उत्तर द्वारा हो सकता  
है और इस लिये बेद में भी यह प्रश्न इस प्रकार उठाया गया है कि—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यक्लपयन् ।  
मुखं किमस्यासीत् किं ब्राह्म किमुरुषं पादो उद्येते ॥१०॥

अर्थ-“जिस पुरुष का विचार किया और जिसको कहे प्रकार से भूमि बाला रहना किया- उसका शिर क्या है ? भुजा क्या है ? और गङ्गा और पांव क्या कहलाते हैं” (सं० १०)। इसी मन्त्र के उत्तर में अगला मन्त्र कहा गया है कि-

**ब्रह्मणे ऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्यः कृतः**

**ऊरु तदस्य यदैदयः पद्म्याद्धुश्च द्रो अजायन ॥ यजु ३।१।१**

अर्थ-“ब्रह्मण उस का शिर है, सांत्रिय उस की भुजा बनाया गया है जो वैश्य है, वह उसकी जङ्गा है और शूद्र उस का पांव उत्पन्न किया गया है”। मन्त्र १० में मनुष्यजाति पुरुषदूप से वर्णन की गई है। मन्त्र ११ में यह प्रश्न किया गया है कि उस पुरुष के अङ्ग क्या हैं ? उस का शिर क्या है ? उस की भुजा क्या हैं ? इत्यादि। मन्त्र ११ में उत्तर दिया गया है कि ब्रह्मण, सांत्रिय, वैश्य और शूद्रक्रम से उस मनुष्यजाति का पुरुष के शिर भुजा गङ्गा और पांव हैं। बस इन मन्त्रों ने किसी प्रकार जन्म से वर्ण सिद्ध नहीं होता॥

**पृथिव्यादि लोक भ्रमण ।**

६० निं० शाः पृ० २५८ पं० १५ से-

सुनोक्ता स्वार्गी जी परं विना ही अंयेजी पञ्चे बहुत कुठ अंयेजी विद्या का आमर है, मोचने की वात है यहि पृथ्यो घूमती होती तो जिस प्रकार यद्यारह रागियाँ में घूरते हैं उसी प्रकार पृथि भी रागियाँ में घूमती और इस की यद्य में संख्या भी होती और यहि लोक घूमने ही से स्थिररहते तो घूर का तारा नहीं घूरता इस बात को सभी सानते हैं और इसी कारण उस का नाम घूर है कि वोह घूरता नहीं तो घूरतारा भी नि० पहुना चाहिये तथा और भी तारागण हैं जो नहीं घूमते वे भी गिर पहुँचते ही यह आकाश गुन्य हाँगाय इस कारण यह कहगा ठीक नहीं कि जो नहीं घूरते हैं वे गिर पहुँच और जो पृथ्यो सूर्य के चारों ओर घूमती है तो गर्मियों के दिनों में सूर्य के जिकट होने से यत्किञ्चित् सूर्य बड़ा दूषि जाना चाहिये जो ऐसा भी नहीं होता और राहि का जो दूषि जा दिया है वोह भी जाशुद्ध है ख्योंकि आप ने लिखा है कि राहि को पहाड़ के सामने घूमते देर लगतो है यह कहना ही हास्यपुरुष है आप ने सूर्य को पृथ्यो में लालगुणा बढ़ा कहा और करोही को स दूर गामा है देर तो जब लगे जब राहि के बराबर घूमताहैं और राहि का लालगुणा पहाड़ नहीं हो चक्का यदि राहि को चावल की जराजर हो

मात्र लें नी तोला भार राहे में ६४५ दाने हुए तो १३ ही तोले में १०३५ रुप्त लाख से भी अधिक दाने हो जायेगे जिन का बोझ पावनर का भी नहीं हो सकता। इस कारण राह पर्वत का दृष्टान्त सम्पूर्णतः अशुद्ध है फिर एक पृथ्वी ही तो नहीं भगेक ब्रह्माण्डों में यही सूर्य प्रकाश करता और दूर होने से वहां परगत्या के प्रताप से अधिक वेग से गमन करता है क्योंकि ( सूर्य एकाकी चरित ) और ( द्विषययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ) अग्रोत् । "सूर्य असहाय अलता है" सुवर्ण के रथ में सूर्य देवलोकों को देखते जाते हैं यह यजुर्वेद वाक्य है। जिस में सूर्य का लोकों के चारों ओर घूमता निदृष्ट होता है और पृथ्वी चलती होती तो एक निमट में ५२ भील पृथ्वी घूमती है पृथ्वी का आप अंगेजो १२००० भील का लिखा है स्वासीं जी ने लिखा तो नहीं पर उन्हीं के नाम साता होगा भीर जो अधिक सार्वेगती अधिक ही चाल होगी इन हिमाव जब पराटे भार में ५०० भील पृथ्वी घूमती है तो जो कब्जे तर संचरे को उड़ते हैं और दुर्बहर को जाते हैं तो वे घर पर न आने जाहिये क्योंकि अः पराटे भार में पृथ्वी ३०० भील निकल जाती है ॥

प्रत्युषरूपदि को हेपुषष वेद और ऋषियों के ज्योतिष्यग्रन्थ में भी पढ़ा हो, कुछ मदरमें में ही भूगोल खोरों पढ़ा हो तो ऐपी ऊतपटांग शङ्का नहीं कर सकता। इत शङ्का औं का उत्तरदेना प्रत्यक्ष मदरमें के लड़के को भाता है इस लिये यहां विद्वान्पूर्वत जिखने की आवश्यकता नहीं। निन्तु सज्जेप में लिखते हैं। आप कैसे जानते हैं कि पृथ्वी १२ राशियों में नहीं घूमती, पृथ्वी आवश्य प्रह है। भ्रुव के देशमें न जान पहने का कारण उन की दूरों की अधिकता है। इसी सोटे विवाह पर उन का नाम भ्रुव रखा गया है। तारा कोई ऐपा नहीं जो कम से कम अपने स्थान में ही न खूंगे, इसी से गिर नहीं सकता, तथा आकर्षण के कारण भी। गरियों में सूर्य की सीधी किरण पड़ना तो सब कोई भानता है परन्तु उन का पृथिवी के समीप हो जाना भानना आप का हास्यावप्त और पुराणों के भी विहङ्ग है। पर्वत और राह का दृष्टान्त ठीक तील लगा कर नहीं परन्तु अत्यन्त छोटे बड़े मात्र सम्बन्ध को दिखाने के लिये है। अहो! आप ने हिमाव कहां पढ़ा है। आपल की १ रत्ती ८ रत्ती का १ मासा, १२ मासों का १ तोला, इस से तो १ तोले के १५८ आवल हुवे। आप ने तोला भार राह में ६४४ लिख भारे। इसी ताज पर भूगोल खोरों को समझना चाहते हो। और स्वासीं जी का उत्तम ॥

(भूर्ये एकाकी अरति) का अर्थ सूर्ये का चलना तौ है, परन्तु भगवने ही स्यान् में चलना जी तो चलना कहाता है और (हिरण्ययेन०) इस मन्त्र में याति:- पद् से जो चलना मानते हैं सो भी अपने ही स्यान् में चलते हैं। धूमना मानते से कोई दोष नहीं रहता। लोकों के चारों ओर धूमगा इस मन्त्र में किसी पद का नाथ नहीं। पृथिवी का व्यास १२००० मील न ती स्वार्मी जी ने लिखा न, योरप बाले मानते हैं। आप ने कुछ देखा भाला तौ है नहीं, गण मारती। योरपबाले पृथिवी की परिधि २४५६ मील और व्यास ७९१२ मील मानते हैं और हमारे उर्योत्तिष्ठ शास्त्र में यह लिखा है कि-

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दादध्यः ।  
तदृश्यासः कु भु जङ्गसायकभुव्रोऽथ प्रोच्यते योजनैः॥

( सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्यय )

पृथिवी की परिधि ४०६७ योजन अर्थात् ५ मीलका योजनमाने तीर४८३५ मील और डपास १५१ योजन=७११ मील होता है, परन्तु ५२३० मील का १ योजन मानें तो योरपबासियों और यहां के ज्यांतिष्ठान में समता भा जाती है। इस लिये भाष का लिखा १ घण्टे में ५०० मील पृथिवी का धूमना निरा अज्ञान है। पृथिवी अपने ऊपर के जल और ४६ मील वायुमण्डल को लपेटे हुवे धूमती है, इस से कबूतरआदि जो वायु के भीतर हैं और समुद्र जो कि वायु के भीतर है, इन की अस्तियस्तता की शक्ता ठृप्य है। जब बैदादि के शनुपार पृथिव्यादि का धूमना सुनिये—

आकृष्णेनु रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्मृतं मर्त्येष्व ।  
हिरण्ययेन सविता रथेन देवोयांति भुवनानि पश्यन् ॥

( अ० १ । ३५ । २ और यजु० श० ३३ म० ४३ )

अर्थ-(सविता देवः) मकाश्वरद्रप सूर्ये ( आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः) आकृष्ण गुण के साथ वर्त्तमान ( मर्त्यं निवेष्ट ) लोक लोकान्तरों को अपनी २ कक्षा में स्थित करता हुआ ( अमृतं च ) और सब प्राणी अमाणियों में अमृतरूप वृद्धि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश

करता हुवा भीर ( हिरण्ययेन रथेन \* ) प्रकाशमय और रमणीय स्वरूप से ( भुवनानि ) पृथिव्यादि लोकों को ( पश्यन् ) प्रकाशित करता हुगा ( याति ) जपनी धुरी पर धूमना है । यथा हि—

यदा सूर्यमुमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।  
आदित्यं विश्वा भुवनानि यमिरे ॥

( क्र० ८ । १३ । ६० )

अर्थ ( यदा ) जिस समय [ परमेश्वरने ] ( अमुम् ) इस ( शुक्रं ज्योतिः ) अनन्त तेजोमय प्रकाशस्वरूप ( सूर्यम् ) सूर्य को ( दिवि ) आकाश में ( अधारयः ) रख कर धारण किया ( अदित् ) तभी ( विश्वा भुवनानि ) पृथिव्यादि मबलाक ( यमिरे ) नियमपूर्वक अर्पण द्वारा सूर्य को जागरण शक्ति में जपनी २ कक्षा में विचरे ॥

इस प्रकार से भूमि जपनी कक्षा में स्थित होकर सूर्य की परिक्रमा करती है । यथा हि—

या गौवीन्तं तुर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।  
सा प्रेब्रुत्राणा वरुणाय द्राशुषे देवेभ्यो दाशद्विषां विवस्वतः ॥

क्र० १० । ६५ । ६ ॥

अर्थ—( या गौः + ) जो पृथिवी ( अवारतः ) निरन्तर अर्पण चरा ( पयो दुहाना ) जल, रस, फल, फूल आदि पदार्थों से प्राणियों को पूर्ण करती तथा ( व्रतनीः ) अपने नियम का पालन करती ( प्रब्रुत्राणा ) परमेश्वर की महिला का उपदेश करती ( दाशुषे वरुणाय ) जपनी और अष्ट जन को ( देवेभ्यः ) और विद्वांगों को ( हविषा दाशत ) भजेका द्वारा देती ( वर्त्तनिम् ) जपनी कक्षा रूप जार्ग में ( विवस्वतं ) सूर्य के ( पर्येति ) धारों ओर धूमती है ॥

\* रथ=रमणीय । निह० च० १ ख० ११ ॥ चणा० २ । २ ॥

+ पृथिवी का नाम निघं । १ में “गौः” है, जिस का अर्थ “ग-छतीर्ति गौः” को चलती है सो गौः ( भूमि ) है । इस से भी सिद्ध है कि भायंलोग भूमि का चलना जानते थे ॥

पृथिवी के बहुत सूर्य के चारों ओर ही नहीं धूमती किन्तु साथ ही साथ अपनी ( अक्ष ) कीलों पर भी धूमती है, जेमे लट्टू अपनी कीलों पर भी धूमता है और अपनी जगह से भी हटता है और जैसे गाढ़ी का पहिया अपनी धुरी पर धूमता है और साथ ही साथ सहक पर भी धूमता जाता है । इस में प्रगाणा यह है-

**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसंदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥**

( ऋ० ज० ८ अ० ८ व० ४३ शौर यज० ३ अ० ६ )

शर्थ- ( अयम् ) यह ( गौः ) पृथिवीलोक ( मातरम् \* ) जल को ( असत् ) प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित ( पृश्निः ) अम्तरिक्ष में ( आक्रमीत् ) आक्रमण करता है अर्थात् अपनी धुरी पर धूमता है । ( च ) और ( पितरम् † ) सूर्य के भी ( पुरः प्रयन् ) चारों ओर धूमता है ॥

इस विषय में बहुधा मनुष्य कई प्रकार की शङ्का किया फरते हैं । जैसे:-  
प्रश्न-यदि पृथिवी चलती है तो हिलती क्यों गहीं ?

उत्तर-न हिलने का तो कारण स्पष्ट है । देखो गाढ़ी जब ऊँची नीची जगह में चलेगी तो साफ़ रुक्क की अपेक्षा अधिक हिलेगी और सहक की अपेक्षा पानी पर नीका में कम हाल लगती है और बिमान में, जो हवा में चलता है, नीका से भी बहुत कम हाल लगती है तो ऐसी जगह में चलने से कि जहां हवा भी नहीं है, पृथिवी कैसे हिल सकती ॥

प्र०-शङ्का, यदि पृथिवी चलती है तो सब नगर धारा जहां के सहां क्यों बने रहते हैं, हठ क्यों नहीं जाते ?

उ०-वाह शङ्का शङ्का की । चलने फिरने को तो हम तुम भी चलते फिरते हैं तो क्या हमारी तुम्हारी आंख भाक जो मुख पर हैं पीठ पर आ

\* यहां जल को अलङ्काररूप में पृथिवी की माता कहा है । यथाह—  
तंस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः  
वायोरग्निः अग्नेरापः “अद्भ्यः पृथिवी” इत्यादि ॥ तैत्तिः० ॥

† यहां सूर्य को अलङ्काररूप वे पृथिवी का पिता कहा है क्योंकि सूर्य ही वे पृथिवी की ( अपनी कक्षा में ) स्थिति, मनुष्यों का जीवन, वर्षा, वरास्पति आदि की उत्पत्ति होती है ॥

जाती है ? यदि तूनि का कुछ भाग चलता और कुछ न चलता तो अवश्य नगर और याम हट जाते, परन्तु यह भूगोल तो सब चलता है, किर नगर और याम वहाँ बने रहेंगे कि जहाँ वे स्थित हैं । जैसे यदि एक गेंद पर कुछ बिन्दु बना दिये जायं और वह गेंद घुमादी जाय तो वे बिन्दु वहाँ बने रहेंगे जहाँ हमने बनाये थे ॥

प्र०—यह तो मैं समझा, परन्तु पृथिवी चलती हुई प्रतीत क्यों नहीं होती ?

**उत्तर—कुलालचक्रभ्रमिकामगत्या यान्तो न कोटा**

**इव भान्ति यान्तः ॥ सिद्धान्तशिरोमणि ॥**

अर्थ—जैसे कुम्हवर के धूमते हुवे चक्र ( चक्र ) पर बैठे हुवे कीहे उप की गति को नहीं जान सकते, ऐसे ही ननुध्यों को पृथिवी चलती हुई नहीं प्रतीत होती है । अन्यज्ञ—भार्यभट्टीये—

**अनुलोमगतिनैस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।**

**अचलानि भान्ति तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्घायामिति ॥**

अर्थ—जैसे नैका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर वस्तुओं को दूसरी ओर से चलते हुवे देखता है ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यांदि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर को चलते हुवे दीखते हैं और पृथिवी स्थिर प्रतीत होती है, परन्तु बाह्यव में तूनि ही चलती है ॥

सन् १५४३ ई० तक यीरपवासी भी यही जानते रहे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्यांदि सब तारागण पृथिवी के आरं और धूमते हैं, परन्तु तूर्णोक्त वेद मन्त्रों से मिठु है कि आर्योलोग सुहि की आदि से ही ( वर्णोंकि वेदों का प्रकाश आदि सुहि में बुना चा ) जानते ये कि तूनि चलती है और सूर्य पृथिवी की अपेक्षा स्थिर है (जैसा ‘भार्यभट्ट’ के चक्र वचन से भी मिठु होता है) सूर्य का उदय भवत और दिग रात होने का कारण भी पृथिवी का अपनी कीली पर धूमता है अपौत् यह भूगोल २४ घण्टे ( ६० घड़ी ) में एक बार अपनी चुरि ( कीसी ) पर धूम जाता है, इस अन्तर में जो भाग पृथिवी का सूर्य के सामने आजाता है, वहाँ “दिन” और जो जाह में आजाता है वहाँ “रात” होती है । अस्तित्व यह है कि सूर्य वस्तुतः चलता नहीं, तूनि के धूमने ही से उदय और अन्त होता दिखलाई देता है । इस में प्रमाण-

**भपञ्जरः स्थिरो भूरेबावृत्यावृत्यप्रतिदैवसिकी ।  
उदयास्तमयौ संपादयति ग्रहनक्षत्राणामिति ॥ आर्यमह ॥**

( अर्थ ) सूर्योदि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बेर २ अपनी घुरी पर घूम कर प्रतिदिवस इन के उदय और अस्त का संपादन करती है ॥ अन्यद-अथ यदेनं प्रातसुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्या अ-धात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् ॥ सबा एष न कदाचन निमोचति । न ह वै कदाचन निमोचति ॥

एतरेप आह्मण,

( अर्थ ) सूर्य न कभी द्विपत्ता है और न निकलता है, लब वह रात्रि के अन्त को प्राप्त होकर बदलता है अर्थात् सूर्यि के घूमनेके कारण पश्चिम से किर पूर्व में दिखलाई देता है, और पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि करता है, तब लोग सूर्य का "उदय" मानते हैं । इसी प्रकार जब दिन के अन्त को प्राप्त होकर सूर्य पश्चिम में दिखलाई देता है और सूर्यि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है, तब लोग सूर्य का "अस्त" मानते हैं । वास्तव में न वह कभी द्विपत्ता है, न निकलता है ॥

जहानना चाहिये कि ये सब तारागण जो रात्रि सुमन्त्र भावाश्च में चम्प करते हुए दिखलाई देते हैं तीन प्रकार के हैं—( १ ) “ नक्षत्र ” Fixed Stars जो यहाँ में प्रकाश और उष्णता पहुंचाते हैं और अपनी आकर्षण शक्ति के कारण अपनी कक्षा में स्थित रखते हैं । ( २ ) “ ग्रह ” Planets जो किसी नक्षत्र के चारों ओर घूमते हैं । और ( ३ ) “ उपग्रह ” Satellites जो यहाँ की परिक्रमा करते हैं । इस में से “ नक्षत्र ” जैसा कि पूर्वोत्तर प्रमाणों से सिंह तुवार, रिपर है अपर्याप्त किसी लोकलकान्तर के चारों ओर नहीं घूमते परन्तु अपनी घुरी पर सदा घूमते रहते हैं । युग्म-सिंह शिव गणितार्थके मृष्टा भवक्रंकमलोद्वेन ग्रहैः सहैतद्दु भगणादि संस्थेः । शश्वद्भूमे विश्वसूजोनियुक्तं तदन्ततारेष्व तथा ध्रुवतदेः ॥

( अर्थ )—कुर्वन्नग्रहार्थपूर्ण परमेश्वर के प्रत्येक नक्षत्र को रक्ष कर, अपनी नक्षत्र में स्थित यहाँ के साथ निरन्तर घूमता से नियुक्त हिया है । जो ऐ

प्रत्येक भपञ्चुर ( तारों के समूह ) के उत्तर ओर दक्षिण अन्त में एक २ भ्रुव नियतकिया है जो स्थिर है अर्थात् केवल अपनी धुरी पर ही चूगता है ॥

इस के अनुमार सूर्य, पृथिव्यादि ग्रहों के मध्य में केन्द्र के समान स्थित हुआ सदा अपनी कीली पर घूमता रहता है, और पृथिव्यादि ग्रह चालना आदि उपग्रहों के माध्य तम को परिक्रमा करते रहते हैं । वास्तव में ये सब तारे पश्चिम से पूर्व को चलते हैं, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण पूर्व से पश्चिम को जाते दिखलाई देते हैं । इस में प्रमाण—

ततो “उपराशाभिमुखं” भपञ्चुरे सखे चरे “श्रीग्रतरे” भ्रमत्यपि ।  
“तदल्पगत्येन्द्रदिशं” न भश्वराश्वरन्ति नो चोच्चतरात्मवर्त्मसु ॥

( सिं० शिं० गणिताभ्याये )

(अर्थ)—यद्यपि सब तारागण अपने २ ग्रहों के साथ ‘श्रीग्रगति से’ ‘पूर्व में पश्चिम को’ घूमते दिखलाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः सब ग्रह ‘अलंपदगति है’ अपनी २ कक्षा में ‘पश्चिम से पूर्व को’ चलते हैं ॥ अन्यच्च—

भञ्जु जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजसं प्रवहानिलेन ।

यान्तो भधक्रे ‘लघुपूर्वगत्या, खेटास्तु तस्या ‘परशीग्रगत्या’

( सिं० शिं० )

( अर्थ ) प्रवह शक्ति Force Of Inertia के कारण सब तारागण सहित ग्रहों से सदा घूमते रहते हैं । ये सब ‘लघुगति से पूर्व की ओर को, घूमते हैं, परन्तु ‘श्रीग्रगति से पश्चिम को, जाते हुवे दिखलाई देते हैं ॥

इस विष्लोम गति ( अर्थात् ग्रहों के पश्चिम की ओर जाते हुवे दिखलने ) का कारण भूमि का अपनी धुरी पर घूमना है । जैवेरेलगाही में बैठा हुवा गनुष्य सड़क के किनारे को उसटी ओर को दौड़ते हुवे देखता है । और—  
अनुलोमगतिनौस्थः पश्पत्यवलं विलोमगं यद्वृत् ।

अचलानि भान्तितद्वृत् सपश्चिमगानिलङ्कायामिति॥आर्यभट्ट

( अर्थ ) जैवे नौका में बैठे हुवे मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल (ठहरी हुई) वस्तुएँ उलटी ओर को चलती हुई दिखलाई देती हैं, ऐसे ही पूर्व की ओर चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को शचल (स्थिर) तारे भी पश्चिम को जाते हुवे दिखलाई देते हैं ॥

यदि सब यह उपग्रह भी सूर्यवत् स्थिर होते तो सब तारागण सूर्य की भाँति २४ घण्टे में पश्चिम की ओर को जाते हुए पृथिवी की पूरी परिक्रमा करते दिखाई देते । परन्तु ये कुछ ( अल्प गति से "पूर्व की ओर की" भाँति चलते हैं, इस लिये पूरी परिक्रमा नहीं कर सकते वरन् उतनी कम करते हैं कि जितना पूर्व को छलते हैं ॥

( उदाहरण चन्द्रग्रा २५<sup>३</sup> दिन ( दो पक्ष ) में पृथिवी की परिक्रमा करता है अर्थात् एक दिन में  $\frac{1}{2}$  भाग अपनी कक्षा का तै करता है । ( यही

२५<sup>३</sup>

इस की 'भूष्पगति' है ) अब यदि चन्द्रमा स्थिर होता तो ( पूर्वीक प्रमाणों से पश्चिम की ओर चलते हुवे एक दिन में भूमि की परिक्रमा करता हुआ दिखलाई देता, परन्तु उक्त पश्चिम से यह  $\frac{1}{2}$  भाग अपनी कक्षा का पूर्व की ओर तै करता है । परिमाण इस दोनों का यह हुआ कि चन्द्रमा  $\frac{1}{2} = \frac{5}{7}$  भाग अपनी कक्षा का तै करता हुआ दिखलाई देता है ( यही चन्द्रग्रा की 'शीघ्रगति' है ) इसी कारण एक तिथि को चन्द्रमा जिस समय जहां दिखलाई देता है, अगले दिन उसी समय उसे  $\frac{5}{7}$  भाग ऊपर दिखलाई देता है और इसी प्रकार अड़ते २ २५<sup>३</sup> दिन ( दो पक्ष ) के पश्चात् एक चक्र पृथिवी का पूरा करके किर वहीं दिखलाई देता है । जहां पहिली तिथि को दीखा था ॥

आशय इस जब का यह है कि-यद्यपि चन्द्रग्रा ( शाश्पगति ) से ( अर्थात् प्रतिदिन अपनी कक्षा का  $\frac{1}{2}$  भाग तै करने के हिसाब से ) ' पूर्व की ओर, चलता है, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण से पश्चिम की ओर शीघ्रगति से ( अर्थात् प्रतिदिन  $\frac{5}{7}$  भाग तै करने के हिसाब से ) चलता हुआ दिखलाई देता है । ऐसे ही अन्य यह उत्तरहों के विषय में जानो ॥

आप ने जो ( मायंगौः ) इस मन्त्र का अग्निदेवता बता कर अग्निपरक अर्थ किया सो महीधर का अर्थ कर्मकाल में नियुक्त अग्निपरक रहो, परन्तु महीधर ने ही इस ऋचा की "सार्पराज्ञी" संज्ञा लिखी है । यथा—

आर्यं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सापीराज्ञीति  
नामधेयम् । सर्पराज्ञी कद्म् पृथिव्यभिमानिनी ॥

इस से विदित होता है कि पृथिवी का वर्षन महीधर के दूर्दय में भी इस मन्त्र का भाड़य करते समय उपस्थित हो।

४० तिं भा० प० २६२ में (येन दीरुग्रा पृथिवी च दृढा०) इस मन्त्र में आये “दृढा०” पद से पृथिवी की अचलता सिद्ध की है॥

प्रत्युत्तर-दृढ का अर्थ पुष्ट वा ठोस है, अचल नहीं। अचल भी जाने तो अपनी यजोदा से विचलित न होना ही अचला का अर्थ है॥

इति श्री तुलसीरामस्तामिते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशश्च। इष्टमसमुद्गात्  
मवहनं, ४० तिं भास्करश्च च खवहनं नामाष्टमः समुद्गातः ॥ ८ ।

### अथ नवमसमुल्लासमण्डनम्

#### मुक्तिप्रकरणम्

४० तिं भा० प० २६३ पं० २ से-स्वामी जी ने इस समुल्लास में मुक्तिपे कीब का लौटना लिखा है प्रथम इसके कि मुक्तिके विषय में कुछ लिखे पह भी दिखा देना अवश्य है कि स्वामी जी ने भाड्यभूमिका प० १११ और ११२ आर्योमित्रय प० १६, ४२, ४५ वेदान्तिष्ठानतनिवारण प० १० । ११ वेदविहृत्तमत-खण्डन प० १५ सत्यधर्मविचार प० २५ में यह लिखा है कि मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अपोत् जितने दुःख है उन से छूटकर एक उड़िदानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा भानन्द में रहना और फिर जन्म भरणादि दुःख सागर में नहीं गिरना इसी का नाम मुक्ति है फिर न मालूम की॒न से कारण से मुक्ति वे लौटना भानलिया सो वही विषय लिखा जाता है स० प० २६३ पं० ११ (प्रथा) बंधमोक्ष स्वभाव से होता है वा निनित से (उत्तर) निनित से व्योंचि जो स्वभाव से होता तो बंधमोक्ष की निवृत्ति कभी नहीं होती॥

सभीका स्वामी जी को घर का नार्ग भी विस्मृत हो गया, जब कि बंधमोक्ष निनित कारण से होता है तो जब निनित भोक्त हुई तो फिर की॒न से निनित से उसे जन्म लेना पड़ेगा इस से तो यही सिद्ध होता है कि इस का जन्म नहीं होता॥

प्रत्युत्तर-वेदभाड्यभूमिका, आर्योमित्रय, वेदान्तिष्ठानतनिवारण, वेदविहृत्तमत-खण्डन, सत्यधर्मविचार और जन्म स्वामीजी कृत यज्ञों में जहां २ यह लिखा है कि भोक्त सदा के लिये होता है, फिर जन्म भरणादि दुःख

नहीं होते । उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जोक खीभावहू नहीं वा अनन्त काल के लिये है । किन्तु जीव कोई मनुष्य द्यु वर्ष की अवधि में तपोवन के लिये चला जावे और कहे कि मैं सदा वहीं रहूँगा, कभी लौट कर नहीं आऊँगा, सदा तपोवन के कन्द मूलादि खाऊँगा और सदा आनन्द ही मना-खाऊँगा तो उस का यह तात्पर्य नहीं होता कि वह अनन्त काल तक तपोवन में रहेगा वा अनन्त काल तक लौट कर नहीं आवेगा वा अनन्तकाल तक कन्द मूल खायगा अथवा अनन्तकाल तक उस आनन्द में रहेगा । किन्तु यह तात्पर्य है कि वह इस जन्म भर लौट कर नहीं आवेगा और इस जन्म भर कन्द मूलादि खायगा तथा इस जन्मभर उस आनन्द में रहेगा परन्तु इस शरीर के पश्चात् उस का तपोवन में रहना, कन्द मूलादि खाना इत्यादि बातें सदा शब्द से विवक्षित नहीं हैं । इसी प्रकार मुक्तात्मा भी सदा आनन्द में रहेगा फिर लौट कर नहीं आवेगा । इस कथन का तात्पर्य भी अनन्तकाल के लिये वा निरविकल्प नहीं है । किन्तु जीव की अयुःपर्यन्त से तात्पर्य है ॥

४० ति० भा० प० २६४ पं० ३ चे-यह सिद्ध करने के लिये कि मुक्त जीव ब्रह्मस्थलप हो जाता है, दो प्रमाण दिये हैं जो चिये हैं-

न तु तद्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत् पश्येत् ॥  
छां० अत्र पिताऽपिताभवति माताऽमाता लोकाभलोका  
देवाअदेवा वेदाअवेदाः । अथ यत्र देवद्वय राजेवाहमेवेद  
थंसर्वोस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ शृङ्ख० ३०

प्रत्युत्तर-पहले वाक्य का तो यह अर्थ है कि ब्रह्म एक है दूसरा नहीं है कि जिस को मुक्त जीव उस एक ब्रह्म से पृथक् देखे । इस का यह तात्पर्य नहीं है कि मुक्त जीव से ब्रह्म द्वितीय नहीं, किन्तु एक ब्रह्म से द्वितीय ब्रह्म नहीं है । दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि जोक में पिता, माता, लोक-विशेष, देवविशेष, और वेदिक कर्मकाशविशेष नहीं रहता और जहां देव-तात्मों वा राजाओं के समान यह जीवात्मा मानता है कि सब में ही हूँ, वह इस का परमलोक वा ब्रह्मलोक है । इस का भी यह तात्पर्य नहीं कि सब कुछ ब्रह्म वा मुक्तात्मा ब्रह्म है । किन्तु इष्ट राजा का दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार राजा जपनी सम्पूर्ण वैदाचित किसी दूसरे के देश पर भाक-

मण करे और कहे कि मैंने इस का विजय कर लिया। तो जिन प्रकार पर्याप्त में यह तात्पर्य नहीं होता कि केवल राजा ही ने अपने शरीर सात्र से उम देश का विजय किया हो, किन्तु ( मुख्यामुख्योः मुख्ये कार्यसंपत्यः ) अर्थात् मुख्य और अमुख्य में केवल मुख्य की गणगा होती है अमुख्य की नहीं। तदनुसार सेनादि सब मिल कर मुख्य राजा समझा जाता है। इसी प्रकार मुक्तास्मा का भी पूर्वोक्त कथन “अहमेवेदश्चर्वोदत्तिः” समझो ॥

सत्यायेप्रकाश में जो ( शूद्रवन् ओन्नं सवतिऽ ) इत्यादि वाक्य शनपथ काएऽ १४ से मोक्ष में सत्यसंकल्प से सब कुछ भिन्न लिखी है उस पर ८० तिऽ भा० पृ० २६५ में यह लिखा है कि स्वामी जी का यह कहना तो ठीक है कि मोक्ष में शरीर नहीं रहता किन्तु अपनी शक्ति वा सत्यसंकल्प सात्र से आगम्द को मोगता है। और भौतिक पदार्थ का सङ्ग नहीं रहता। परन्तु जो अनुत्ति प्रसादा लिखी है, सो मोक्षप्रकरण की नहीं है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भस्तु, स्वामी जी जिन विषय को प्रतिपादन करते हैं, वह तो आप को स्वीकार ही है, रहा अनुत्ति का प्रकरणभेद सो यदि आप के कथनानुसार ही मानलिया जाय तो भी स्वामी जी के प्रतिपाद्य विषय में दोष नहीं भाला ॥

८० तिऽ भा० पृ० २६६ में-

यद्वैतत्त्वं जिघ्रति जिघ्रन्वै तत्त्वं जिघ्रतिऽ इत्यादि ॥ यद्वैतत्त्वं वदति । वदन् वै तत्त्वं वदति० इत्यादि ॥ यद्वैतत्त्वं शृणोति शृणेत्तर्न् वै तत्त्वं शृणोति०इत्यादि । वृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं १-७

लिख कर अर्थ लिखा है कि-मुक्ति को प्राप्त हो कर न वह सूचता दे वह सूचता हुमा भी नहीं सूचता ( क्योंकि ) सूचने वाले को सुगम्य से विपरिलोप-( विभक्ता ) नहीं है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- आप के लिखे वाक्यों का यह तात्पर्य नहीं है कि मोक्ष में सूचना, चखना, छोलना, सुनना, मानना, जानना; इत्यादि आत्मा में सामर्थ्य नहीं रहता। किन्तु जैसा इवामी जी कहते हैं कि विना शरीर के ही और विना भौतिक इन्द्रियों के ही जीवात्मा सब कुछ सामर्थ्य रखता है। ऐसा ही इन वाक्यों का तात्पर्य है जि वह कुछ नहीं सूचता अर्थात् सूचता हुगा भी वह कुछ नहीं सूचता, क्योंकि सूचते वाले और हुगम्य में

देशभेर गहीं रहता किन्तु वह हर एक देश में हर एक वस्तु ते भीतर पहुँच सकता है, तब जैसे देहस्थन घाले जीवात्मा जब किसी वस्तु को मूर्खते हैं वा चखते हैं वा सुनते हैं वा अन्य कोई विषय यहण करते हैं, तब उस २ विषय के भिन्न देश होने से जीवात्मा मग ने, मग इन्द्रियों से, इन्द्रियां विषय से, संयुक्त होती हैं। किन्तु आत्मा विषयों से साक्षात् ही संयुक्त नहीं होता। इस लिये मुक्तात्मा का सूचना, चखना, देखना आदि विषय ब्रह्मात्माओं के समान नहीं। इसी से यह कहा गया है कि मुक्तात्मा मूर्खता हुवा भी नहीं सूचता, चखता हुवा भी नहीं चखता और सुनता हुवा भी नहीं सुनता। इत्यादि। इससे यह सिद्ध नहीं हुवा कि मुक्तात्मा यथार्थ में देखता, सुनता, चखता आदि नहीं किन्तु ब्रह्मात्माओं के समान सुगम्य और दृश्य आदि विषय मुक्तात्मा की दूर वा अप्राप्य नहीं रहते किन्तु मग सभीप और प्राप्य हो सकते हैं॥

सत्यार्थकाश पृ० २३७ में—

अभावं वादरिराह ह्येत्रम् । १। भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । २

द्वादशाह्वदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

इन तीन सूत्रों से स्वामी जी ने लिखा है कि बादरि भावायं मुक्ति में मग आदि का अभाव मानते हैं। और जैमिनि भाव मानते हैं। तथा बादरायण (व्यास) दोनों बातें मानते हैं। इस पर द० तिर्त शाठ पृ० २६२ में उलाहना दिया है कि स्वामी जी ने सब पदों के अर्थे नहीं किये और अभाव का तात्पर्य श्रुत्यनुकूल मग आदि का अभाव नहीं है। सो श्रुति आगे लिखेंगे ॥

प्रत्युत्तर-भावमें सी श्रुति आगे कहीं गहीं लिखी। स्वामी जी ने सुगम्य होने से प्रतिपद का अर्थ नहीं लिखा था परन्तु प्रत्येक शब्द का अर्थ करने पर भी स्वामी जी के तात्पर्य से विहदु अर्थ गहीं होता। शुनिये—

अभावं वादरिराह ह्येत्रम् ॥ १ ॥

( बादरि ) पराशर जी ( एवम् ) इस प्रकार ( हि ) गिर्वप ( गम्भावम् ) मोक्ष में मग आदि का अभाव ( शाह ) कहते हैं ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥

(जैमिनिः) जैमिनि जी ( विकल्पामननात् ) विकल्प जो मग का अर्थ है उस के मुक्ति से ( शावम् ) मग आदि का भाव मानते हैं ॥

## द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

(अतः) इस कारण (बादरायणः) व्यास जी (द्वादशाहवत्) द्वादशाहयज्ञ के समान (उभयविधम्) दोनों प्रकार भानते हैं। तात्पर्य यह है कि भाष्व और अग्नाव तथा भावाऽभाव दोनों मानवे जै विरोध इस लिये नहीं रहता कि भीति अपवित्र मन मान्दि का अभाव और शुद्ध संकल्प मात्र से मन आदि का भाव भानते से भाव वा भाव वा दोनों का भानना ठीक है ॥

जब बतलाइये कि स्वामी जी के लेख से पद्धति को क्या विरोध है ? और अप भी तौ जाने ३० तिथि भा० पृ० २७१ में कहेंगे कि—

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः । शा० अ० ४ पा० ४ सू० ८ स  
यदा पितॄलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समु-  
त्तिष्ठन्ति तेन पितॄलोकेन सम्पन्नो महीयते । अथ यदि  
मातृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति  
तेन मातृलोकेन सम्पन्नोमहीयते ॥

भावार्थ भी पृ० २७२ में भाव ही ने लिखा है कि जो उपासक उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक में प्राप्त भया है तिसे सर्व काम भावाह्यवर्ग भानन्द के कारण संकल्प मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं। इत्यादि ॥ तब भाप स्वामी जी के लिखे भीति भावनाऽभाव और सत्यसंकल्प मात्र साधनभाव में व्याप्ति शङ्खा करते हैं ॥

३० तिथि भा० पृ० २५९, २७० और २७१ में (संपद्याविर्भावः०) इत्यादि वेदान्तशास्त्र के ३ सूत्र और १, ४, ५, ६; इन सूत्रों पर छान्दोग्य और सूहृदारण्यक उपनिषद् के विवरणावल करके लिखे हैं जीर उन से मिहु किया है कि मुक्ति का एक प्रकार के रूप है और इन सूत्रों तथा उपनिषद् इनों में के रूप नाम की मुक्ति का वर्णन है ॥

प्रत्युत्तर-उपविष्टों और वेदान्तसूत्रों में सब मुक्त पुरुषों की एक ही सी अवस्था प्रतिपादन की गई है। सालोक्य सामीक्ष्य सायुज्य कैवल्य भादि भिन्न ३ प्रकार की मुक्तियों का वर्णन कहीं भी नहीं है। भावने जिन सूत्रों तथा उपनिषदों का प्रमाण दिया है उन के अक्षरार्थ पर भी आनंदीजिये तो कैवल्य नामक एक प्रकार विशेष की मुक्ति नहीं पाई जाती। सब सूत्रों और उपनिषद्वचनों का अर्थ बुनिये-

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ शा० ४ । ४ । १ मुक्तः  
ग्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ आत्मप्रकरणात् ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्ट-  
त्वात् ॥ ४ ॥ ब्राह्मण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ चिति-  
तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्थीदुलीमिः ॥ ६ ॥ एवमप्युपन्य-  
सात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

अर्थ-( संपद्य ) ब्रह्म को प्राप्त होकर ( स्वेन ) अपने स्वरूप से ( भाविर्भावः ) प्राहुमर्हक होता है ( शब्दात् ) “परं ज्ञोतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेण०” इत्यादि शब्दप्रणाले से चिह्न है । तात्पर्य यह है कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है और अपने सचित स्वरूप से प्रकट रहता है अर्थात् भीतिक देहादि जावरणों से जाग्दा-दित गृही रहता ॥ १ ॥ दूसरे सूत्र में यह कहते हैं कि वह मुक्त ज्यों कहलाता है-उपनिषद् में ( अस्माक्षरीरात्मसुत्त्वाय० ) अर्थात् “इस शरीर से पृथक् होकर,” यह प्रतिज्ञा की गई है, इस कारण शरीरबन्ध से छीतने के हेतु से मुक्त कहलाता है ॥ २ ॥ तीसरे सूत्र में यह कहते हैं कि उपनिषद् में जो परञ्ज्योतिः को प्राप्त होना लिखा है सो भीतिःज्योति से तात्पर्य नहीं है, किन्तु “आहसा के प्रकरण से”यहां भास्मिकज्योति ही समझनी चाहिये ॥३॥ खीथे सूत्र में यह कहा गया है कि भीतिक त्वयोतियां एकदेशीय होने से विभक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होती हैं, परन्तु यहां मुक्ति में शिश ज्ञोति को जीवात्मा प्राप्त होता है यह ज्ञोति “अविभाग्युचे देखी जपती है” अर्थात् वह परं ज्योति जीवात्मा के सामने उत्तर से विभक्त गृहीं दीखती, किन्तु वह भास्मिक ज्योति जीवात्मा को अपने में व्यापक=भवित्व क दिखाई देती है । इस कारण वह ज्योति भीतिक नहीं समझनी चाहिये ॥४॥ फिरवें जीर छठे सूत्रों में दो प्रकार हैं, एक जैमिनि और दूसरा जीहुलोनि का । जैमिनि यह कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्मज्योति से सम्पन्न हो जाता है । अर्थात् उपनिषद् वर्तों से उपन्यासादि देखे जाते हैं । और जीहुलोनि यह कहते हैं कि “चिदात्मक होने से ज्ञेतन नाश जीवात्मा की स्थिति रहती है” ॥५ ॥६ ॥ अब सातवें सूत्र में व्याप्त जी यह कहते हैं कि जैमिनि और जीहुलोनि में विरोध गृहीं है क्योंकि उपन्यास से जैमिनि का कहना ठीक है और पूर्वसाव से जीहु-

लोनि का कथन भी संगत है अपोत जीवात्मा का पूर्वभाव चेतना त्रया और मुक्ति में उत्ते ब्राह्मज्योति की महायता निली, इम लिये मुक्ति में जीवात्मा अपने स्वरूप में भी स्थित रहा और ब्राह्मज्योति से भी ममता हो गया । जैसे-एक ज्योतिष्ठान् सूर्यण का कङ्गण महाज्योतिष्ठान् सूर्य की धूप में रखा हो तो वह अपने स्वरूप से अपनी ज्योति को भी धारण किये हुवे होता है तथा सूर्य की बड़ी ज्योति से भी संपत्ति होता है । बस इन दानों वालों में विंध गही है ॥ ३ ॥

अथ उपनिषद्व्यवहरां के गथे सुनिये-

अशरीरोवायुरभ्यं विद्युत् स्तनयितुः शरीराण्येतानि  
तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परमज्योतिरूपसंपद्य  
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष संप्रसादोऽस्मा-  
च्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-  
निष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ॥ छां० उ० अ० द स्वं० १२

गथ-जिस प्रकार अशरीर वायु, आदल, विद्युत्, नेघ के शरीर इस आकाश में उठकर बहुती ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से संपत्ति हुवे प्रादुर्भूत होते हैं, इसी प्रकार यह सब प्रकार से प्रसन्न जीवात्मा इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से संपत्ति हो जाता है और उत्तम पुरुष कहलाता है ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स  
भूमा ॥ छां० अ० ७-न तु तद्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं  
यत्पश्येत् ॥

गथ-जिस मुक्ति में यह जीवात्मा परमात्मा के अतिरिक्त न किसी दूसरे को देखता ग सुनता और न जानता है । किन्तु परमात्मा ही में मत्त हो जाता है ज्योंकि वह परमात्मा भूमा अर्थात् नम से महान् है और उस के समान कोई दूसरा गहीं है कि जिस को यह मुक्तात्मा देखना स्वीकार करे ॥ स भगवतः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नोति होवाच ॥ छां० अ० ७  
इस वचन का पूर्व का भाग योहा अपने द्वोह दिया, पूरा वाच्य इस प्रकार है-  
यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा

३७ यत्रान्यस्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो  
यै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्  
प्रतिष्ठित इति स्वे महिन्नि यदि वा न महिन्नोति॥१॥ गोअश्व-  
मिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतना-  
नीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्  
प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स  
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेद॑ध॑ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश  
एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिण-  
तोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद॑ध॑ सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आत्मा-  
देश एवात्मैत्राऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुर-  
स्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद॑ध॑ सर्वमिति स  
वा एष एवं पश्यन्वेवं मन्वान् एवं विजानन्नात्मरतिरात्म-  
क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराङ् भवति तस्य  
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्य-  
राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां तु सर्वेषु लोकेष्वरकाम-  
चारो भवति ॥ २ ॥ इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

जपे—जहां मुक्त पुरुष (ब्रह्म के अतिरिक्त) न कुछ और देखता है, न और  
खुनता है, न कुछ और समझता है, वही लोक महान् से महान् है और  
जिस लोक में एक को देख कर अन्य को देखता है, एक को खुन कर दूसरे  
को खुनता है, एक को जान कर दूसरे को जानता है, वह अल्प अर्थात् तुच्छ  
है। इस लिये जो महान् से महान् है वही अमृत है और जो अल्प है वह  
मरने वाला है। (प्रश्न) भगवन् ! वह महान् से महान् किस में स्थित है ?  
कृष्ण का आधार कौन है ? (उत्तर) —उस का आधार कोई नहीं, वह अपना  
आधार आप है ॥ १ ॥ बहुत से लोग अतलाते हैं कि गी, घोड़े, हाथी, सोना  
चांदी, गोकर, चाकर, चो, लेते, हाट, इवेलो ही नहिमा है, वही वही से

बहू वस्तु हैं, परन्तु मैं तो यह नहीं कहता। मैं तो यह कहता हूँ कि इन सब वस्तुओं के भीतर व्यापक और ही एक वस्तु है जो कि महिमा है अर्थात् यहै जे बड़ा वस्तु है ॥ २ ॥ ( २४ )

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दहिने, वही बांये, वही सब ग्राह जाग पड़ता है और वह परमपिता जहाँ शब्द ने सब भक्त पुत्रों को जाताता है कि देखो यह मैं ही हूँ। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बांये, मैं ही यहाँ सर्वत्र हूँ ॥ १ ॥ फिर वह कृप लु भात्मा शब्द से गिर्वैग करता है कि देखो यह भात्मा ही नीचे, भात्मा ही ऊपर, भात्मा ही पीछे, भात्मा ही आगे, भात्मा ही दहिने, भात्मा ही बांये, भात्मा ही सर्वत्र है । तब जब कि मुमुक्षु इसी प्रकार देखता है, इसी प्रकार जानता है, इसी प्रकार जानता है, तब उस परमात्मा ही में रति करता है, परमात्मा ही में क्रीड़ा करता है, परमात्मा ही में गोदा जानता है, परमात्मा ही से भानन्दकरता है । तब स्वतन्त्र हो जाता है, समस्त लोकों में यथेष्ट विचरता है, परन्तु जो शन्यपा जानते हैं, वे परतन्त्र होते हैं, उन के देह शूटते रहते हैं, वे सब लोकों में यथेष्ट नहीं विचर सकते हैं ॥ २ ॥ ( २५ )

स तत्र पर्येति जक्षन् कीडन् रममाणः ॥ छां० अ० ८ ॥

महो! यहाँ तो आपने स्वयं ही अपने पांच में कुदाही नारी है । जब कि इस श्रुति में कीड़ा रमण और पद्यंटन लिखे हैं तब तो जीवात्मा का मोक्ष में कूटस्थ ब्रह्मभाव सर्वपा ही खणिहत हो गया क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म देश देशान्तर में पद्यंटन नहीं कर सका । इस से अत्यन्त इष्ट है कि मुक्तात्मा अपने ही सञ्चित परिभित्र स्वरूप से वर्तमान रहता है, ब्रह्म नहीं बन जाता ॥

स यथा सैन्यवधनोऽनन्तरोऽशाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽशाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनएव ॥  
छृह० अ० ८ ग्रा० ५ ।

अर्थ-जिस प्रकार सैन्यवधन का हसा न केवल भीतर और न केवल बाहर से किन्तु समस्त रस ही रस है, इसी प्रकार भरे । ये भात्मा भी न केवल भीतर और न केवल बाहर किन्तु समस्त ही प्रज्ञानघन है ॥

जब बतलाइये कि इन तूर्णों और उपनिषद्वचनों में कैवल्य गात्र की किसी विशेष मुक्ति का वर्णन कहाँ है? जब कि समस्त पदों का अर्थ ठीक भाप के सामने उपस्थित है ॥

४० तिं भा० पृ० २३१ पं० २४ से - मनुष्य उपासना से ब्रह्मलोकमापि द्वारा मुक्ति निरुद्ध रथ की है। अर्थात् सालोक्य मुक्ति प्रतिपादन करने के लिये पृष्ठ २३२ और २३३ में शारीरक सूत्र १। ४। ८ से १३ तक १६ रथों को छोड़कर ९ सूत्र और सूत्र संख्या ८, १०, ११ पर छान्दोग्य उपनिषद् के विषयवाक्य लिखे हैं॥

प्रत्युत्तर-यद्यपि इन नवों सूत्रों में कोई पद ऐसा नहीं आया है कि जिस से किसी प्रकार से ऐसा भाव निकल सके कि मालोक्य नाम एक विशेष मुक्ति है और ब्रह्मलोक नाम कोई विशेष लोक है और उसमें मालोक्य मुक्ति पाने वाले भास्त्वा चले जाते हैं। जब कि सूत्रों में ऐसा वर्णन नहीं है तब उपनिषदों से लिये हुवे विषय वाक्यों का भी वैसा तरत्पर्य समझना सूल है। वह मुक्ति की किसी भावने मत से ही घटली है। परन्तु जब तक आप के लिये सूत्रों का पद पद का गर्थ और उपनिषद् वाक्यों का भी भावार्थ न लिखा जावे तब तक जो भ्रम भावने अपने लम्बे छोड़े भावार्थ में अपने घर के शश जोड़ २ कर उत्तर कर दिया है, उस की निवृत्ति फटिन है। इस लिये सब सूत्रों और विषयवाक्यों का गर्थ सुनिये-

संकल्पादेव तु तच्छुनेः ॥ शा० ४। ४। ८॥ अतएव आ-  
नन्याऽधिपतिः ॥ ९॥ अभावं वादरिताह ह्येत्रम् ॥ १०॥  
भावं जैमिनिर्विकल्पमननात् ॥ ११॥ द्वादशाहवदुभयशिधि  
वादरायणोऽतः ॥ १२॥ तन्वभावेसन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३॥ भावे  
जाग्रद्वन् ॥ १४॥ प्रदीपशदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५॥  
जगद्वापारवर्जं प्रकरणादसंनिहिततत्राच्च ॥ १७॥

गर्थ-(संकल्पादेव) इस भावों सूत्र और (सप्तद्विशेषोक्त) इस विषय वाक्य का अर्थ इस ऊपर पृष्ठ २२ में खिल चुके हैं कि मुक्तात्मा को संकल्प मात्र से समस्त ऐश्वर्य उक्त परमात्मा में ही प्राप्त हो जाता है। और इस यह भी जतलादेना चाहते हैं कि मुक्तात्मा को जो संकल्प मात्र से मातृलोक विद्वनोक्ति भ्रमय ऐश्वर्य की प्राप्ति लिखी है, उसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझ होता हो, किन्तु वह मुक्तात्मा परमात्मा ही को पिता, माता, धन, ऐश्वर्य; इत्यादि सब कुछ समझने लगता है और उस के अतिरिक्त भ्रम्य कुछ

कामगा नहीं करता । जेसा कि छन्दोऽय उपनिषद् प्रगाठक ७ के अतिरिक्त खण्ड २६ में लिखा है-

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्त्रानस्यैवं विजानत  
आत्मतस्तेज आत्मत आपआत्मत आविर्भावितिरोभावा-  
वात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-  
मात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्पआत्मतो मन आत्मतो वागा-  
त्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवं इष्टं  
सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष स्नोको न पश्योमृत्युं पश्यति न रोगं  
नोत दुःखताथ्य सर्वथ्यं ह पश्यः पश्यत सर्वमाम्रोति  
सर्वथ इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा  
नवधा । चैत्र पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्चु दश चैकम्ब्र सहस्राणि  
च विद्युशतिराहारशद्गु ल सत्त्वशुद्गुः सत्त्वशुद्गु ध्रुत्रा स्मृतिः  
स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय  
तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तथं स्कन्द इत्या-  
क्षते तथं स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥ इति पष्ठूविंशः खण्डः २६

अपर्याप्त—जब कि मुक्तात्मा परमात्मा को साक्षात् देखता, भागता और  
जानता है तब उस को परमात्मा ही से जीवग, परमात्मा ही से भाशा,  
परमात्मा ही का स्मरण, परमात्मा ही से आकाश, परमात्मा ही से तेज [जीर  
कहाँ तक कहें] परमात्मा ही से अप्य और उभी से जाविर्भाव, तिरोभाव, अन्न,  
बच, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म और यह सब  
कुछ ऐश्वर्य परमात्मा ही से प्राप्त होता है [परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ  
नहीं चाहता, उसी से सब भागन्द्र प्राप्त होते हैं] ॥ १ ॥ यो यह ग्रन्थान्तर में  
कहा है कि मुक्तात्मा न सृत्यु को देखता है, न रोग को देखता है, और न  
दुःख को देखता है, परन्तु सब कुछ देखता है और सब और से सब कुछ  
प्राप्त होता है [वह विलक्षण होता है] अपर्याप्त एक प्रकार, तीन प्रकार, पांच  
प्रकार, सात प्रकार, नी प्रकार, चारह प्रकार, बीस प्रकार, सी प्रकार, सहस्र  
प्रकार और फिर एक ही प्रकार सभी और गान चकते हैं [ अपर्याप्त वह

अनोखे प्रकार का होता है, जो कहने में नहीं आसकता ] ज्योंकि आहार की शुद्धि में स०१ की शुद्धि और सहव की शुद्धि में स्मृति की स्थिरता और स्मृति की स्थिरता में सब ग्रन्थियों का छूटना होता है [ जब कि मुक्तात्मा पूर्णीक प्रकार परमात्मस्वद्वप्न ही अब भर्त्यात् आहार को मास होता है तो उस से पवित्र गात्मिक भोजन और क्या हो सकता है ? और उस की प्राप्ति में अत्यन्त पवित्र और स्मृति की स्थिरता की कमी ही क्या रह सकती है ] इसलिये सनकुमार जी जिन जो कि सकन्द कहते हैं, प्रकट करते हैं कि उस मुक्तात्मा के लिये अविद्या का पार है क्योंकि उस के समश्वत मल छूट गये हैं । दो बार पाठ प्रपाठकसमाप्तिसुचनार्थ है ॥ ८ ॥

९ वें सूत्र का अर्थ यह है कि “ इसी लिये अनन्याधिपति ” भर्त्यात् परमात्मा के अतिरिक्त सुकार कोई अन्य अधिपति नहीं होता ॥ ९ ॥ १० वें ११ वें और १२ वें सूत्रों का अर्थ हम पूर्व पृष्ठ ३२१ में गिख चुके हैं कि जोकि में संकल्प भाव से समग्र ऐश्वर्य का भाव जैमिनि मानते हैं और भौतिक सङ्कृत होने की अपेक्षा ऐ व्याप जी के पिता बादरि अभाव भानते हैं और व्याप जी उक्त दोनों प्रकार से दोनों भावों मानते हैं, जैसे कि द्वादशाह भासक यज्ञ को ( यद्यविद्वांसः भृत्यमुपपत्नीति ) और ( द्वादशाहेन प्रजा काम याजयेदिति ) इन दोनों वाक्यों से “ सत्र ” और “ द्विरात्रादिवत् ” “ नहीन ” भी कहते हैं ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ सेरहवें सूत्र में इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि जोकि में देह के विना भोग प्राप्ति कैसे हो सकती है—( तन्वभावे ) देह के अभाव में ( सन्धियदुपपत्तेः ) जैसे इष्टपत्र में विना रथूल इन्द्रियों के भोग की प्राप्ति होती है, ऐसे ही जोकि में विना भौतिक भृत्यः करण के आत्मिक भोग को प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ चौदहवें सूत्र का अर्थ यह है कि “यदि जोकि में देह का भाव भाना जावे तो जायत् के समान रथूल भोगों की प्राप्ति होनी चाहिये” ॥ १४ ॥ और १५ वें सूत्र में उम भाइश्वर्य की मङ्गति की गई है जोकि पूर्व छान्दोरयवचन से मुक्तात्मा के एकपा, त्रिधा, पञ्चधा जादि भाव कहे गये थे ( प्रदीपब्रदावेशः ) जैसे दीपक का आवेश एक प्रकार और कई प्रकार भी कहा जा सकता है, परन्तु होता एक ही प्रकार का है ( तथाहि दर्शयति ) और ऐसा ही उपनिषद् दिखलाती है ॥ १५ ॥

आप ने सोलहवां यह सूत्र छोड़ दिया कि—

स्वारथयसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

अर्थात् ( स्वाध्ययसंपर्योः ) स्वाध्यय-सुषुप्ति और संपत्ति=सोक इन दोनों में से ( अन्यतरापेक्षम् ) किसी एक की अपेक्षा पूर्वक (आविष्करणिति) पूर्व वर्णा चुके हैं कि “पभ्यो सूतेभ्यः समुत्थायेति” ॥१६॥ सबहवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि (प्रकरणात्) ब्रह्मप्राप्ति के प्रकरण से (असंनिहितस्वाज्ञ) और सांसारिक व्यवहार वर्जित करके संकल्पबद्ध से ब्रह्मानन्द में ही सब अरानन्द आप्त होते हैं ॥१७॥

अब क्लेश एक उपनिषद्वाक्य का अर्थ शेष रहा जोकि यह है-

**मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते यएते ब्रह्मलोके ॥ छां० अ० द०**

सो भुतिये-सुक्तात्मा साकूलिक मन से ही जो कि सोक में संपूर्ण कामनायें हैं, उन्हें देखना हुवा रमण करता है। इन समस्त सूत्रों और विषय वाक्यों के पदार्थ और भावार्थ से यह कहीं नहीं भलकरता कि ब्रह्मलोक पृथिव्यादि लोकों के समान कोई विशेष लोक है और सालोक्य मुक्ति पाने वाले वहां चले जाते हैं और बन्धुवे होकर रहते हैं ॥ यदि कोई “ब्रह्मलोक” इस पद से इस भाविति में पढ़े कि ब्रह्मलोक भी अन्दलोकादि के समान कोई लोक है, सो ठीक नहीं । व्योंकि “ब्रह्मयोलोकः ब्रह्मलोकः” अथवा “ब्रह्मस्वयं लोकः ब्रह्मलोकः” अर्थात् ब्रह्मलोक का अर्थ यह है कि “ब्रह्म का लोक” वा “ब्रह्म ही लोक” । सो ब्रह्म सर्वव्यापक है । इस लिये सब स्थान ब्रह्मलोक ही हैं । और ब्रह्म सब का स्वामी है इस लिये सब स्थान ब्रह्म ही के हैं । अपने ब्रह्मलोक कोई एक स्थान विशेष नहीं है किन्तु लोकमात्र सब ब्रह्मलोक ही हैं । लोक शब्द के साथ ब्रह्मशब्द के बोल इस लिये जोड़ा गया है कि गकेला (लोके) कहने से कोई सांसारिक कामप्राप्ति न समझ लेवे ॥

सट्यार्थप्रकाश पृ० २३९ में ( गच्छुगरावसंततेऽ ) इस उपनिषद् और ( धनावृत्तिः शठात् ) इस शारीरक सूत्र और ( यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते० ) इस गीता वाक्य से जो सूत्रों कहते हैं कि सोक अनन्त काल के लिये है, उनके उत्तर में (कृत्य नूमं०) इत्यादि ऋग्वेद के दो सूत्रों से सिद्ध किया है कि मेरेक से पुनरावृति होती है और ( इदानीमिव सर्वत्र नान्यन्तोच्छेदः ) इस सांख्यसूत्र का भी प्रमाण दिया है । इस पर-द० तिठ० शा० पृ० २३५ और २३६ में जो २ तकं कहिये हैं उस कर उत्तर क्रमशः निम्नलिखित प्रकार है ॥

१-पृष्ठ - २३५ पं० ३-यह उनका हठ=दुराग्रह वा अनुप्रग नहीं तों और क्षा है जो उपनिषद् के उपन और शारीरक सूत्र का निरादर करते हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वरामी जी ने शारीरक सूत्र और उपनिषद्भवचत का निरादर नहीं किया है किन्तु जो लोग अगावृति शब्द का अर्थ नहीं समझते उनका अगावर किया है। अगावृति का ठीक अर्थ हमें विश्वारपूर्वक पृष्ठ ३१७। ३१८ में दे चुके हैं और यही अर्थ (अपनी मोहन की आयुभर अगम नहीं होता, लीटते नहीं) “अगावृति: शब्दातः” वेदान्त सूत्र ४। ४। २२ के विषयवाक्य का है। यथा—

स खल्वेवं वर्त्यन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंप-  
द्यते, न च पुनरावर्त्तते ॥ छां० प्र० ८ खं० १५ ॥

अर्थ-वह सुकृतमा ऐसे वर्तता हुवा आयुभर ब्रह्मलोक को प्राप्त रहता है, कभी लीटता नहीं ॥ इस में (यावदायुषम्) पद ने अप का और समस्त अयुगरावृत्तिवादियों का मुख ऐसा बन्द किया है कि कभी बोल नहीं सके। क्योंकि ग लीटने की अवधि “आयुभर” हुई। आयु जे पश्चात् लीटना निषिद्ध न हुआ ॥

२-पं० ४-यह सांख्याका सूत्र मुक्तिविषय का गहीं है यह तत्त्व के निर्णय में है। इस का अर्थ आगे करेंगे। मुक्ति विषय में वो ही सांख्यकर्ता यों लिखते हैं (न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृतिश्रुतेः) ॥

प्रत्युत्तर-यदि सांख्य का सूत्र तत्त्व के निर्णय में है और तत्त्वान् ही भोक्त है, तो किर यह सूत्र भोक्तविषय में व्यर्थ नहीं है? दूसरा सूत्र ये आप मुक्तिविषय में बताते हैं उस में भी “अगावृति” शब्द ही आप ने अपने पक्ष का पोषक समझा होगा, परन्तु अगावृति=न लीटने का अर्थ वही है जो हम पृष्ठ ३१८। ३१९ तथा इस ३२१ में ऊपर लिखे चुके हैं ॥

३-पं० ११-सत्यार्थमकाश संन्यास प्रकरण में लिखा है कि मुक्तिरूप पक्ष आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। कहिये यहां अक्षय शब्द का क्या अर्थ है ॥

प्रत्युत्तर-हां, अक्षय शब्द का अर्थ सुनिये—अय शब्द का अर्थ अनन्त नहीं है, जिस का अर्थ अक्षय कहने से आप अनन्त समझे। किन्तु अय का अर्थ क्षीणता, कमी वा न्यूनता है, इसके विरुद्ध अक्षय का अर्थ क्षीण, कम, वा न्यून ग होता है जिस प्रकार किसी सांसारिक पदार्थ से जो सुख पहले दिन प्रतीत होता है, दूसरे दिन उसी पदार्थ से कुछ कम सुख प्रतीत होने लगता है। क्योंकि वह पदार्थ एकरस होने से अगले दिन बहिक अगले क्षण में ही कुछ जीर्ण या पुराना होजाता है, इस लिये पूर्व क्षण या पूर्वदिन के सा आगन्त नहीं होता, इस लिये सांसारिक सुख सक्षय कहाते हैं परन्तु भोक्त इस लिये अक्षय

कहाता है कि उस का आगन्द प्रतिक्षण वा प्रतिदिन की नहीं होता रहता किन्तु मोक्ष की जयधि पर्यन्त एकरस बना रहता है ॥

४—पं० १८ में—(खोसिं निःशान०) इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ लिख कर यह दिखलाया है कि ( कस्य नूनं० ) इत्यादि दोनों मन्त्रों का मोक्षविधयक तात्पर्य नहीं है किन्तु भजीगते नाम राजा जब पुनः शुनःशेष परखड़ लेकर घड़ आया तब शुनःशेष ने इन दोनों मन्त्रों में से पहला मन्त्र पढ़ा और किर प्रजापति ने उस से कहा कि दूसरे मन्त्र के अनुसार अविन ही देवतानों के सम्बन्ध में समीप है इस कारण अविन को रमरण कर । तब वह शुनःशेष ( अग्नेवंश्यं० ) दूसरे गन्त्र से अविन की प्रार्थना करने लगा । इस लिये इन मन्त्रों में शुनःशेष की कथा है मुक्तीवंशों की नहीं ॥

प्रत्युत्तर-निःसन्देह इन मन्त्रों का शुनःशेष क्रूरिय है । परम्परा जिस मन्त्र का जो क्रूरिय होता है उस मन्त्र में उस क्रूरिय का वर्णन नहीं होता किन्तु ( क्रूरयो मन्त्रदृष्टयः० ) इस निरुक्त के अनुसार क्रूरिय के बल मन्त्र का द्रष्टा होता है, मन्त्र का विषय नहीं । हाँ, ( या सेनोऽपते सा देवता० ) इस निरुक्तानुसार मन्त्र का जो देवता होता है वह उस मन्त्र का विषय होता है । तदनुसार इन दोनों मन्त्रों में पहले का “ प्रजापति ” और दूसरे का “ अविन ” देवता है और ये दोनों नाम परमेश्वर के हैं । इस लिये यथार्थ में इन दोनों मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन है, पहले में प्रश्न और दूसरे में उत्तर है । जब दोनों मन्त्रों का क्रमशः पदार्थ सुनिये—

कस्य नूनं कतुमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम॑। को नौ मृद्धा आदितये पुनर्दर्ति पितॄरंश्च दृशेण्य मातरंश्च ॥ ऋ० १२४१।

अर्थ—( असृतानाम्० ) इस मुक्तों के सध्य में ( नूनम्० ) निश्चय करके ( कस्य कतुमस्य देवस्य ) किस और कीन से देवता के ( नाम ) नाम को ( चारु मनामहे ) अच्छा जानते हैं ( च ) और ( नः० ) इस को ( अदितये नहीं० ) अच्छा पृथिवी=मृत्युलोक के लिये ( कः० ) कीन ( पुनःदात ) किर देवे=भेजेगा ( पितॄरङ्ग दृशेयमनातारङ्ग० ) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥ १ ॥

अगले मन्त्र में वे मुक्त जीव अपने प्रइन का आप ही उत्तर पाते हैं कि—  
अग्नेवंश्यं प्रथमस्याऽमृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम॑ ।

स नौ मृद्धा आदितये पुनर्दर्ति पितॄरं च दृशेयम्मातरंश्च ॥ २ ॥

अर्थ- ( अद्वतानाम् ) मुक्तों के मध्य में ( प्रथमश्य ) प्रथम ही से मुक्त अर्थात् सदा मुक्त ( भग्नेः ) परमात्मा (देवश्य) देवता के ( नाम ) नाम को ( वयं चारु ननामहे ) इन शब्दों गागते हैं । ( सः ) यह ( नः ) इन को ( अदितये नस्ती ) अखण्ड पृथिवी=मृत्युलोक के लिये (पुनर्जीव) फिर देवे=भीजेंगा (पितरस्त्रूण्येष्मनातरस्त्रू) जब कि इन पिता और माता को देखेंगे ॥

कोई लोग यह कहा करते हैं कि इन मन्त्रों में मुक्तजीवों का वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु उन को आनना चाहिये कि "अद्वतानाम्" पद मुक्तार्थक है । जो बहुवचन होने से अकेले परमेश्वर का वाचक भी नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्माओं का वाचक ही हो सकता है । दूसरे पृथिवी के निवासी शुनःशेष का वर्णन इन मन्त्रों में इस लिये भी नहीं हो सकता कि ( अखण्ड पृथिवी के लिये इसे फिर भेजेगा ) मन्त्र के इस कथण से यह स्पष्ट पाया जाता है कि वहने वाले आत्मा पृथिवीनिवासी नहीं हैं । तीसरे ( मनामहे ) क्रियापद बहुवचनात्म है और शुनःशेष ऋषि एक या, जो बहुवचनात्म क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्मा ही बहुवचनात्मक्रिया के कर्ता हो सकते हैं । चीये, जब कि वेद से किसी भी ऋषि का इतिहास नहीं है तो शुनःशेष का इतिहास भी नहीं हो सकता । पांचवें, शुनःशेष का नाम भी इन दोनों मन्त्रों में नहीं आया है । छठे, मन्त्र का देवता भी शुनःशेष नहीं है ॥

बब उस बात का उत्तर सुनिये जो कि अजीर्ण शुनःशेष का पिता खड़ग लेकर शुनःशेष को मारने लगा, तब शुनःशेष घबराया और उस ने विचारा कि मैं किसी देवता की शरण जाऊं जो मुझे मृत्यु से बचावे । यह विचार कर उस ने शीघ्रा कि कोई भीतिक देवता अजर अमर नहीं है । केवल परमेश्वर अजर अमर है, जो कि प्रजापति=प्रजा का रक्षक है और भेरी रक्षा करेगा और भग्नि=प्रकाशस्त्रूप है, जो मुझे प्रकाश शर्तात् जान देगा और अमर है, जो कि मुझे मृत्यु से बचावेगा । यह कथा मूलमन्त्र में नहीं, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में है, जिस का आप ने पाठ लिखा है, परन्तु जानना चाहिये कि जिस प्रकार जब किसी सनातनधर्मी हिन्दू पर मृत्यु वा विपत्ति का समय आता है तब वह मृत्युज्ञय मन्त्र-

ऋम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्बारुकमिक  
अन्धनाम्भृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋषि ७ । ६१ । १२ ॥

का अप करता था कराता है। अपवाह प्रह्लादमन्त्र को सङ्कृट से बचाने वाले नृसिंह का समरप्त करता है। अपवाह गजेन्द्रमोहन नाम इतोत्र का पाठ करता था कराता है। तब व्या गजेन्द्रमोहन इतोत्र वा प्रह्लाद की कथा वा मृत्युद्धय मन्त्र में उस सनातनधर्मी हिन्दू की कथा योहा ही लिखी रहती है? किंतु मृत्यु और विपत्ति के समय ते मृत्यु और विपत्ति से बचने के मन्त्र, इतिहास, झोक, इतोत्र और भजन आदि याद आया ही करते हैं। तदनुसार शुनःशेष को भी जब जपने विता से मृत्यु का भय हुआ, तब मृत्यु से बचने शर्योत्त गमर होने के वर्णन का प्रश्न और उत्तरयुक्त मन्त्र याद आया और उस मन्त्र से उस ने उस समय भभु का स्मरण किया और अमर होने की प्रार्थना की और इसी से उस दिन से उस मन्त्र का वह शुनःशेष प्रविद्रष्टा कहलाया। तो व्या इस से यह समझा जा सकता है कि शुनःशेष का ही वर्णन उन मन्त्रों में है? कभी नहीं ॥

५-एष २३६ पं७ २०-और भी शगले मन्त्र में शुनःशेष का संवाद है—  
( शुनःशेषोऽ ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-इस मन्त्र को आप अगला मन्त्र न बतलावें, किन्तु जिन दो मन्त्रों की व्याख्या भी गई और जिन में ऊपर से आप ने शुनःशेष की कथा समझी थी दोनों मन्त्र प्राग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ मन्त्र १ और २ हैं। और आप जिस मन्त्र को लिखते हैं और मिलाकर अर्थ करते हैं, वह मन्त्र मण्डल १ सूक्त २४ का १३ तेरहवां मन्त्र है। २-और वह मन्त्र ऐसा भी नहीं है कि जिस की स्मृति आप के लिखे ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेष की कथा में उपस्थित हो, ३-और इस मन्त्र में आये हुवे "शुनःशेष" शब्द का प्रविशेषपरक अर्थ सानन्द निःकल के भी विचुहृ है जो कि इस आगे अर्थ में लिखेंगे। ४-तथा इस मन्त्र का शुनःशेष देवता भी नहीं है, जिस से शुनःशेष का वर्णन इस मन्त्र में समझा जावे, किन्तु घरष देवता है जो सायणाचार्यादि ने भी माना है। शब्द उस मन्त्र का अर्थ सुनिये—

शुनःशेषो ह्याद्वृत् गृभीतस्त्रिव्वादित्यं द्रुपदेषु ब्रुद्धः । अवैनुं राजा वर्णेणः स सृज्या द्विदां अदेव्यो विमुमोक्तुं पाशान् ॥३०॥२४॥३३॥

अर्थ-जैसे(शुनःशेष)शुनोविच्छानवत्व शेषोविद्यास्पर्शीयस्य सः । शाशु पायी शवतेवां स्पाद्नतिकर्मणः निर०३१८ शेषः शेषते:स्पृशतिकर्मणःनिर०३१९ विच्छानवान् पुरुष ( त्रिषु ) कमे उपासना और ज्ञान में ( आदित्यम् ) अविनाशी परमेश्वर का ( न्द्रुत ) भाव्यान करता है वैसे इस लोगों ने ( यजीतः )

खीकार किया तुवा उक्त तीनों कर्म उपासना और ज्ञान को प्रकाशित कराता है और जो ( दुष्पदेषु ) दूर्लाभदीनां पदानि कलादिपास्तिनिक्षानि येषु तेषु=जिन विज्ञानों में वृक्षादिकों के फलादिकों की प्राप्ति के निमित्त वर्तमान हैं ( बहुः ) उन में गियत ( अद्भयः ) अहिंसनीय ( वस्तुण् ) अतिश्रेष्ठ ( राजा ) प्रकरणमात्र परमेश्वर ( अवमसुज्यात् ) बार २ मिहु करे । अब वा छन्दचित्त सर्वे विषयो भवन्तीति गियमात् । रुपिको च लुकि ३ । ४ । ३१ इत्यस्यासद्य रुपिगागमी, दीर्घीऽकितः ३ । ४ । ३३ इतिरौधंश्च न । ( हि ) निश्चय ( एगम् ) इस विद्वान् को ( विद्वान् ) सर्वेषां परमेश्वर ( पायान् विमुमोक्तु ) पापाचरणगत्य अन्यों से विशेष करके लुटावे ॥ १३ ॥

द० तिथि भाष्ट पृष्ठ २७७ पं० ८-मुक्तजीवों पर क्या विपत्ति पड़ी और कैवल्यानी हो गये जो सर्वदूनन्द सर्वोत्तम पद से दुःखरूप संसार में जाने की छुटका करते लगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-भाष्ट तसੀ अवतारवादी और अहैनवादी हैं, आप के शहदेवत ब्रह्म पर क्या विपत्ति पड़ी है जो भजान हो गया और दुःखरूप संसार में जापहा है ? यदि इस का उत्तर अनादिस्वभाव है तो इसारा उत्तर भी यही है कि अनादिकाल से परमात्मा का यह स्वभाव ही है कि मुक्तात्माओं को नोक्ता-वधि समाप्त होने पर संमार देवे तीर भाष्ट जो सुक्ष्मि से पुनरावृत्त को बहुत ही बुरा समझते हैं और बराबर उस का उलाहना देते हैं, तो यह तीव्र-लाइये कि जब भाष्ट के मत में शुद्धबुद्धमुक्तस्वत्ताव अनादिकाल से अनन्त-काल तक सदामुक्त परमात्मा ही अवतार लेते समय जन्म गरण में भाष्ट हैता है तौ बेचारे मुक्तात्माओं की पुगरावृत्ति गैं, भाष्ट को क्ष्यों शङ्का होती है जो कि अनेक जन्मों तक अग्र जरते तुवे श्रीतस्मार्त कर्मों के सान्त अनुष्टान सान्त उपासना और सान्त ज्ञान के बल से कठिन से सान्त मुक्तिको प्राप्त होते हैं ? । यदि कहो कि परमात्मा तो भक्तों के कपर दया करके संसार में भाष्ट होता है, तौ क्या भाष्ट के ब्रह्म ही को दया है ? और भाष्ट के मतानुसार ब्रह्मसूतमुक्तात्माओं को क्या निर्देयता उपापजाती है कि कभी किसी भक्त पर दया करके जन्म नहीं लेते । महात्मा जी ! कदाचित् यही सच हो कि जिन को भाष्ट अवतार बनलाते हैं, समय २ पर वे सब अवतारमुक्त जीवात्माओं के ही होते हैं । क्योंकि परमात्मा तो सर्वेषापक होने से किसी देहविशेष के बाधन में नहीं आता । इन समझते हैं कि जब भाष्ट मुक्तात्माओं को पुगरावृत्ति का उलाहना कभी न दिया करेंगे ॥

जब यह विचारना है कि जन्ममरण का कारण क्या है, इस विषय में सब विद्वानों का यही सत है कि जीवोंने शुभाशुभ कर्मों से जन्म होता है। मुक्त जीव के शुभाशुभ कर्मों का सर्वपा ज्ञाता होता है। यथा हि-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छद्धन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते  
चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ यदा  
यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम् । तदा  
विद्वान् पुण्यपापे विद्यूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥  
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्योविमुक्तोऽमृतो  
भवति ॥ मुण्ड० ॥ ३ ॥ एषआत्माऽपहतपापम् विजरोवम्-  
त्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः  
॥४॥ न जरा न मृत्युर्नेशोकोन सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मा-  
नोऽतोनिवर्तन्ते ॥ छां० अपहतपाप्माऽभयं रूपम् ॥ वृह-  
दारण्यके ॥५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाश्चैः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वा  
देवं सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेताश्वतरे ॥ ७ ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो इस ऊपर लिख चुके हैं कि जब जीव जीवना शुभा-  
शुभ कर्मों के जी परमात्मा का ग्रावतार ( जन्म मरण ) मानते हैं तो विग्रा-  
हुभाशुभ कर्मों के ही मुक्तात्माओं का जी सोकावधि समाप्त होने पर जन्म  
मानने में जाप को क्या शङ्का हो मकती है ? दूसरे जब कि जाप शुभाशुभ  
कर्मारहित ब्रह्म को ही अज्ञान से जीव बन जाना मानते हैं, तो मुक्तात्माओं  
के जन्म में क्या शङ्का हो मकती है ? यह तो जाप के सतानुसार उत्तर हुआ।  
जब हमारे सतानुसार सुनिये-जाप ने जो ऊपर उपनिषदों के प्रमाण लिखे  
हैं उन का अर्थ यह है:-“परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की यन्त्रिय  
भिन्न, सर्वसंशय छिक्क और कर्मे क्षीय हो जाते हैं ॥१॥ जब जो पुरुष ज्यातिः  
स्वरूप, जगरकर्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगत्नित्यकारण ब्रह्म को साक्षात्  
करता है तब वह विद्वान् पुरुष, जविद्यारहित, पुरुष पापों से छूट कर ज-  
त्यन्त समस्ताको प्राप्त हो जाता है ॥२॥ अब तु पुरुष योक और पाप, हृदय  
की यन्त्रियों ने छूट जाता है ॥३॥ यह मुक्तात्मा पाप, बुद्धापा, सत्य, योक,  
भूल, प्यास से राहित हो जाता है और सत्यकाम, सर्वप्रकृत्यप हो जाता है ॥४॥  
मुक्तात्मा को न बुद्धापा, न सत्य, न योक, न प्रकृत्य, न पाप

होते हैं, जब पाप उस से पृथक् हो जाते हैं ॥ यह पापरहित अभयस्वरूप को ग्रास हो जाता है ॥ ५ ॥ परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥ ६ ॥ परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

प्रथम सी इन प्रमाणों में १, २, ३, ४, ५ बेवल इन संख्याओं में ही पापों पाप पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है । ऐसे दो प्रमाणों में पाप पुण्यों से पृथक् होने का वर्णन भी नहीं है । दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य से पृथक् होने का तात्पर्य वही है कि मुक्तात्माओं को सोक्षावश्यापर्यन्त पाप पुण्य अपग्रह फल नहीं कर सकते । तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की “क्षीणता” का अर्थ पाप पुण्यों का “अभाव” नहीं है । यदि आप हीण और अभाव का एक ही अर्थ नहाते हैं तो क्या जब एक पुण्य को कहा जाता है कि उस का धातु “क्षीण” है तब क्या यह समझ जाता है कि उस का धातु “नहीं” है ? किन्तु यही समझ का जाता है कि उस का धातु “निर्बल” है । इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी “क्षीण” अर्थात् ज्ञान और उपासना की अपेक्षा से “निर्बल” हो जाते हैं । परन्तु जब जीवात्मा की चान्त उपासना और सान्त ज्ञान का फल सोक्ष अपनी अवधिको पहुंच जाता है और समाप्त हो जाता है, तब वेही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपासना से बह से दूर हट गये थे, सोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सके हैं । और कर्मों के “नाश” का तात्पर्य भी “अभाव” नहीं है, वर्तोंकि नाश शब्द “णश अदर्शने” धातु से बना है, इस लिये “नाश” का अर्थ “तिरोभाव भाव” है । और पुण्य पापों से दूर होने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का “अभाव” नहीं है, किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का मसाव मुक्तात्मा पर नहीं होता । पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का “अभाव” नहीं है, जोसे कि फारागार से छूटने का तात्पर्य पुण्य पापों का “अभाव” नहीं है ॥

द० तिठ० भाठ० द०१७९६ में भी एक भन्न यज्ञवेद का और भाठ उपनिषदों के बचन लिखे हैं । जिन सब का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्मा मृत्यु से छूट जाता है ॥

प्रत्युत्तर-इन पर विशेष लिखने की जावश्यकता नहीं है, वर्तोंकि यह तो सभी नाम से है कि मुक्तात्मा जन्म भरण से छूट जाता है परन्तु आप को तो ऐसा प्रमाण देना चाहिये था कि जिन में जनन्तकाल के लिये छूटना लिखा होता । मुनरावृति न होने का अर्थ पृष्ठ ३१८ । ३१ में लिख ही चुके हैं इस लिये पृष्ठ ६७० के लिखे प्रमाणों का भी उत्तर देने की जावश्यकता नहीं है ॥

८० तिथि भाद्र पूर्ण २८२ पं० १४-स्वामी जी ने यह अनुति ब्रह्मली है तो भी इस का यह अर्थ नहीं बनता जो वह करते हैं। फिर पछ्चा २२-यहाँ जो ब्रह्मा का सहायता माना है तो वह ब्रह्मा देवता है ननु यह है वा ईश्वर का विशेष विग्रह है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अनुति ब्रह्मली नहीं है, किन्तु [ब्रह्मलोके] और (परामृतात्) ये दो पाठ असुद्ध लप गये थे, जो अब पांचवीं बार के उपे सत्यार्थप्रकाश में ठीक शुद्ध (ब्रह्मलोकेष परामृताः) लाप दिये गये हैं और इस का अर्थ भी असुद्ध गहीं है। आगे आप जो लिखे मुण्डोपर्णिषुद्ध के तीनों वचनों का अर्थ करते हुवे इस यह दिखलायेंगे कि स्वामी जी का तात्पर्य इस के पदार्थ से भले प्रकार गिक्कता है। स्वामी जी ने जो भोक्ता ही अवस्था भहाकल्प तक भानी है और भहाकल्प ब्रह्मा के १०० वर्षों का नाम लिखा है, वहाँ ब्रह्मा शठ जगतकर्ता, निराकार, परमेश्वर का ही वाचक है, किसी गन्य देवता वा मनुष्य का नहीं। अब तक एकबार की उत्पत्ति हुई है इसी रहती है, तब तरह को परमेश्वर का एक दिन कल्पना कर लिया है। जैसा कि अनु १। ३२-

**दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।**

**आऽस्मेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रत्रिमेत्र च ॥**

तदनुभार गणना करके १०० वर्षों का एक ब्राह्म भहाकल्प भाना है ॥

८० तिथि भाद्र पूर्ण २८२ पं० २६-अब अनुति लिखते हैं -

**वेदान्तशिङ्गानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-  
सत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति  
सर्वे ॥ १ ॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति-  
देवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वे  
एकोभवन्ति ॥२॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति  
नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं  
पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ३ ॥ मुण्ड० ॥**

इन का अर्थ लिखने के पश्चात् पूर्ण २८३ पं० १८-में इस से भी मुक्ति के लीटना चिह्न नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-आप ने जो अर्थ करते हुवे उपाधि लगाई है, यदि उस उपाधि को कोइ कर सरलार्थ किया जावे तो स्वामी जी के तात्पर्य से कुछ बिहद नहीं होता । और उपाधि लगाना अर्थ है । मुनिये-

अर्थ- ( बेदान्त ) बेदान्त के विज्ञान से जिनहोंने तत्त्वार्थ जान लिया हैं ( एवं सहवाः ) रजोगुण और तमोगुण से वर्जित ( यतयः ) परी लोग ( संन्दातयोगात् ) संन्यान के योग बल से ( परामृताः ) मोक्ष को प्राप्त हुके ( इत्यात्मोक्षु ) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुकावस्थाओं में [ निवास करते हैं ] ( ते सर्वे ) और वे सब मुकामा ( परान्तकाले ) प्राप्त महाकल्प पर ( परिमुच्यन्ति ), जब दिये जाते हैं ॥ पाणिनि के ८।१।५ सुन ( परेर्वर्जने ) पर-

### \* परेर्वर्जने वा व्यचनम् \*

यह वार्तिक किया है । सूत्र और वार्तिक दोनों से “परि” उपसर्ग का “वर्जन” अर्थ स्पष्ट पाया जाता है । जौर वार्तिककाश ने द्विव्यचन का भी विकल्प कर दिया है इस लिये यह शब्द भी जाती रही कि “वर्जन” अर्थ में यहाँ “परि” शब्द को द्विव्यचन अर्थों नहीं हुआ ॥१॥ ( गताःकलाः० ) मुक्ति के प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि १५ कलायें जौर इन्द्रियों सब अपनी २ अधिष्ठात्रैवताओं में लीन हो जाती हैं, अर्थात् कार्यं शरीर का कारण में लग हो जाता है । जौर ( कर्माणि ) लीण हुके कर्म ( एकीशवन्ति ) इकट्ठे हो जाते हैं, अर्थात् उपासना जौर जान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलोन्मुख ती लहीं हो सकते, किन्तु “इकट्ठे” रहते हैं अर्थात् परमात्मा के यहाँ ( हिपात्रिंट = अमागत ) परोहर = निषेप में रहते हैं; जिन के अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म हो वेगा । ( विज्ञानमयश्च भास्त्वा ) जौर नन भी ( परे अव्यये ) अविनाशी परम कारण में लीन हो जाता है । ( सर्वे ) इस प्रकार सब कारण में लीन हो जाते हैं ॥ २ ॥ ( यथा नद्यः० ) जिस प्रकार नदियें छलती २ अपने २ भिन्न २ भङ्गादि नामों जौर प्रयेतकृष्णादि रूपों को छोड़ कर समुद्र में ( भरतं गच्छन्ति ) छिप जाती हैं । इसीं प्रकार जानी पुरुष देवदक्षादि नाम जौर गौरकृष्णादि रूप से छूट कर ( परात्परम् ) पर = प्रलृति से भी पर ( विठ्ठं पुरुषस्म ) दिव्य परमात्मा के ( उपेति ) सभीप जला जाता है ॥ क्षा ॥

कोई १ लोग ऐसा खन करते हैं कि जैसे गढ़ी चमुद्र में निल कर समुद्र हो जाती है तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में निल कर ब्रह्म हो जाता है । परम् दृष्टान्त का एक देश ही यह ह करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नद्य और जैप समुद्र में निलने पर भिन्न नहीं रहते, जैसे ही जीवात्माओं के भी देह के काय से जो जान जौर रूप पूर्व थे, वे सुक्ति में नहीं रहते । इस दृष्टान्त को सर्वेदेवीय जानना असङ्गत है । क्योंकि यदि सर्वदेवीय दृष्टान्त

मानें तो जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानता पढ़े। तथा जैसे समुद्र से नदियें मिलने से पहिले पिछ क्षेत्र में थीं, ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्मकी व्यापकता से बाहर मानता पढ़े, जो कि सर्वथा गसङ्कृत है ॥

४० तिं भा० प० २८३ जीवों के (मुक्तों के) संसार में न जाने से उच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव असंख्य हैं। फिर पट्टि २५-जैन अज्ञात काल के स्तोत नदियों के चले जाते हैं और समुद्र में मिल जाते हैं, परन्तु उन स्तोतों का उच्छेद नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-असंख्य का तात्पर्य यह है कि उन की संख्या नहीं जानी जा सकती, न कि वास्तविक अनन्त है। क्योंकि जब एक जीवात्मा अनन्तःकरणोपाधि से चिर जाता है और इष्टपूर्ण है कि उस का स्वरूप सान्त है, तो जीवात्माओं का समुदाय भी वास्तव में सान्त ही हो सकता है। जैसे एत गोधूल सान्त है तौ गोधूलराशि भी सान्त ही होगी ॥

सत्यार्थप्रकाश में पुनरावृत्ति न मानने पर एक यह वोष दिया गया है कि मुक्ति में भीह हो जायगी। इसपर-४०तिंभा०नेष्ठ २८४ में यह उत्तर दिया है कि ब्रह्म अनन्त है और उसी में मुक्त पुरुष रहते हैं इस लिये भीह नहीं हो सकती ॥

प्रत्युत्तर-“भीह” का तात्पर्य “अनश्वकाश” नहीं है किन्तु “एकान्तारप्रभाव” है। भीर आप के मतानुसार जीवों को अनन्त माना जावेती अनन्तों का मोक्ष होने पर “भीह” होने में सन्देह ही नहीं ॥

४० तिं भा० प० २८४ और २८५ में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु छोटे २ मिथ्या तर्क हैं जिन का उत्तर देना हरएक आर्य को सुगम है। इस लिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है ॥

४० तिं भा० प० २८५ प० १२ से-

**अथ त्रिविघदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥सांख्य ११॥**

तीन प्रकार के दुःख की जो अत्यन्त निवृत्ति गाम स्थूल सूक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति से अत्यन्त पुरुषार्थे अपर्यात् मोक्ष है ॥

प्रत्युत्तर-जब कि आपने ही अत्यन्तनिवृत्ति का अर्थ “अनन्तकाल के लिये निवृत्ति” नहीं किया किन्तु ‘स्थूल सूक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति’ कहा है तो फिर इस से आप का पक्ष हो क्या? सिंहु तुवा?

इति अंतुलसीरामस्वामिकते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य नवम-

समुक्ताचमस्तुते, ४०तिंभास्कररस्य च खस्तुते मुक्तिप्रकरणं गाम

नवमःसमुक्ताचः ॥ ९ ॥

गोदू

## अथ दशमसमुद्धासमण्डनम् आचाराऽनाचारप्रकरणम्

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि भगवान् उष्ण देश में शिखा न रखे, इस पर द० तिं भा० प० २८३ पं० १८ से बहुत कुछ उपहास करते, फिर पृष्ठ २८८ पं० ८ में लिखा है कि इन की आत्मानी ठीक नहीं, संन्यास को छोड़ कर भौंर किसी समय में भी शिखा का त्याग करना नहीं चाहिये, यही वे १ की जाज्ञा है ॥

प्रत्युत्तर-१-अतिरुदण्डेश आर्योवर्त्त देश को नहीं कह सके, किन्तु अस्त्रीका आदि के अन्त्युक्त भागों को कहते हैं । इसलिये आर्योवर्त्तीय आर्यों को शिखा उठेदेन स्वामी जी के लेख से आवश्यक नहीं । २-शिखा उत्तरवाने से स्वामी जी का तात्पर्य कदाचित् समस्त शिर के केश अर्थात् जटाजूट न रखने के लिये हो । ३-भाष का यह कहना भी ठीक नहीं कि संन्यासी जो छोड़ कर अन्य कोई शिखा का त्याग न करे । जोनि गोभिलशृण्डसूत्र में उपनयनसंस्कार से पहिले भी शिखामहित मुष्टन लिखा है, और उस के द्वीकाकार ने जी वही अर्थ लिखा है जीरमतु २ । ६५ में भी लिखा है कि-

केशान्तः षोडशे वर्षे

जिव से १६ वें वर्ष में समस्त केशों का उत्तरवाना पाया जाता है । और भाष ने जो यह लिखा है कि “यही वेद की जाज्ञा है” सो कोई वेद का सम्बन्ध लिखा होता, जिस में यह लिखा होता कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा नहीं कटानी । यद्यपि इस यह नहीं कहते और न स्वामी जी ने यह लिखा है कि आर्योवर्त्तीय आर्यों को छोटी नहीं रखनी चाहिये । परन्तु भाष भी इस पर ज़ोर नहीं दे सके कि संन्यासियों को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा उत्तरवा देगा घर्मणाशोल्क कोई प्रायवित्त का काम है और प्रत्यक्ष में सारे सनातनधर्मियों के यहां भी बालकों के मुष्टन समय समस्त केश उतारे जाते हैं ॥

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि-

आर्योधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कतरिः स्युः । आपस्तम्ब  
घर्मसूत्र ॥ प्रपाठक २ पट्ठ २ खण्ड २ सूत्र ४

इस पर द० तिं भा०० पृ० ३८८ में इतने तर्क किये हैं कि १ शूद्र अर्थात्  
मूर्ख लोग भनियों के घर में विविध प्रकार के व्यञ्जन नहीं बना सके क्योंकि वे  
सूपशाख नहीं पढ़े । २-जो ब्राह्मण वेदादिशास्त्र नहीं जानते ये और शूपशाख  
ही जानते ये, वे रसोई का काम करते ये । ३-सूत्रार्थ तुम्हारी ही प्रकार से करें  
तो यह जर्य होगा कि आर्यों के यहां शूद्र संस्कार करने वाले अपोत्थुदारी  
देगा जीका बरतन सांजना टड़ल भेजा भादि संगोष्ठन के कार्य शूद्र करते ये ॥

प्रत्युत्तर-१-सूत्र का अर्थ यह है कि ( आर्योधिष्ठिताः० ) आर्य जिनके  
शाखिष्ठाता हों, ऐसे ( शूद्राः० ) शूद्र भी पाक संस्कार करें । इस लिये जब  
मूर्खों के अधिष्ठाता आर्य हों तो मूर्खों से भले प्रकार कान से सकते हैं ।  
क्योंकि अधिष्ठाता लोग तो सूपशाख जानते हैं । २-वेदादि न जान कर ही  
तो ब्राह्मण शूद्र हो जाता है । जैसा कि ननु ने लिखा है-

**योऽनधीत्य द्विजोवेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।**

**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सानवयः ॥ २ । १६८ ॥**

अर्थात् जो हिंज वेद न पढ़े, अन्यत्र ( सूपादि शास्त्र में ) जान करता है,  
वह जीवता हुआ ही ( इसी जन्म में ) शूद्र हो जाता है ॥ १ ॥ सूत्र में संस्कार  
का अर्थ पाकसंस्कार है, बुहारी जीका ही नहीं, जैसा कि प्रकरण से स्पष्ट  
होगा । और जब कि आप के लेखानुसार वर्तमनसांजना, धोता, जल भरना  
भादि शूद्र का काम है तो शूद्र के हाथ के जल की रसोई और उसके धोये  
बत्तेमों में पाक तो आपने भी जान ही लिया तो फिर जल की ही सारी  
खुहता है, इस लिये मिठाई, जलेबी, पूरी, परांबटे, भादि पाक में ही  
शूद्र के हाथ से खाय जायगा ? इस इस प्रकरण के कड़े सूत्र लिखते हैं,  
जिन से स्पष्ट है कि पात्रों के संस्कार का ही यहां वर्णन नहीं, किन्तु  
पाकसंस्कार का वर्णन है-

**आर्योधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः ॥ ४ ॥**

**अधिकमहरहः केशमन्त्रुलोक्तां वापनम् ॥ ५ ॥** उद्दकोपस्प-  
शीनं च सह वाससा ॥ ६ ॥ अपि वाष्टमीष्वेत्र पर्वसु वा वपेरन् ॥ ७ ॥  
परोक्षमन्त्रं संस्कृतमन्तावधिश्चित्याद्ब्लः प्रोक्षेत ॥ ८ ॥  
तद्वेष पवित्रमित्याचक्षते ॥ ९ ॥

अर्थ-चतुर्थ सूत्र जा अर्थ ऊपर लिख दुके हैं । पांचवें का अर्थ यह है  
कि पाककर्ता शूद्रों ने इतना "अधिक" है कि प्रतिदिन भेश नूद भादि वाल

मुंहवाये जावे ६ वर्षों समेत जल से इनान कराया जावे । अर्थात् नित्य वर्ष धोये जावें और इनान कराया जावे । ७ यथा शृणी नियियों में वर्ष आमावश्या दि पर्व दिनों में ही उन के बालमुंहवाये जावें । ८—यदि शूद्र में द्विजों के परोक्ष (विना देखे) में जब पकाया हो तो उन जब को अग्नि से चेक कर जल से छिहक लें ॥ ९ ॥ वह पवित्र कहा जाता है ॥ जब तो आप नहीं कह सकते कि वर्तन मांजना ही शूद्र का कार्य है ॥

१० तिं० भा० प० २८८ और २९० में इतने तक है । १—यदि नद्य मांसाहारी स्नेहद के हाथ का भोजन वर्जित है तो शूद्रों का भी वर्जित होना आहिये व्यांकि वे भी मांस खाते हैं ॥ २ स्वासी जी ने जिन पशु वा मनुष्यों को राजपुरुषों द्वारा प्राणदण्ड होने पर उन के मांस का फेंक देना वा कुते जादि किसी मांसाहारी को देदेना वा जला देना लिखा है उन पर यह तक किया है कि यहां स्वासी जी ने मानो फांसी दिये हुवे मनुष्यों का मांस भी मांसाहारियों को खिला देगा लिखा है ३—जब जन्यों के साथ खाने में प्रकृति भेद से विगाह है तो जन्यों के हाथ का बना खाने में विगाह क्यों न होगा ॥ ४—जब पृष्ठ २८८ में यह लिखा है कि ब्रह्मस्त्रादि उत्तम वर्णों का शरीर शुद्ध रज वीर्य आदि से शुद्ध बनता है और अख्यालादि के हाथ का न खाना, तो फिर अशुद्ध शरीर वाले शूद्र के हाथ के खाने में परवर्षपरविरोध क्यों नहीं ॥

प्रत्युत्तर-१—ब्रह्मस्त्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शास्त्रानुसार मांसाहारी नहीं हैं इन लिये शूद्रों का पाक वर्जित नहीं और स्नेहद शास्त्र को नहीं भागते, इन लिये उन का पाक वर्जित है ॥ २—स्वासी जी ने वधदण्ड वाले मनुष्यों और पशुओं के मांसविषय में जलाना, फेंडना, कुते जादि मांसाहारियों को देदेना इत्यादि कई पक्ष लिखे हैं । इन लिये उन का तात्पर्य यथायोग्य समझना च हिये कि वधदण्ड वाले मनुष्यों का मांस जलाया जावे और पशुओं का फेंडा जावे वा मांसाहारियों को देदिया जावे, इस में भी वर्णान्नमरहित अख्यालादि जो समृद्ध उस मांस को खावें उन के स्वभाव विगड़ने का दोष तो स्वासी जी ने लिखा ही है । इस लिये आप का जहना ठीक नहीं है ॥ ३—जन्यों के साथ खाने में उचित शूद्र आदि मिल कर प्रकृतिभेद से जैसा विगाह होना सम्भव है वैसा जन्यों के हाथ का बनाया वा छुवा खाने में नहीं । और यदि किसी का बनाया वा छुवा कभी कुछ भी न खाया जावे

ती देहयाना भी अनुसव है ॥ ४—जीवा भेद ब्रह्मण वा चश्चात् में है वैमा  
भे । ब्रह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इति चारों वर्णों में भावस में गहीं, इस लिये  
शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चश्चात् आदि के का वर्जित करना पर-  
स्परविरोध नहीं है । किन्तु शूद्र चारों वर्णों के अन्तर्गत होने, शास्त्र की  
मयोदा को जानने जीर द्विजों का सेवक होने से, उन में मिलकर रहने जीर  
मांसादि अभियभक्षण न करने से जल और पाक आदि में वर्जित नहीं हो  
सकता, जीर चश्चात् आदि इस के विपरीत होने से वर्जित हैं ॥

—+३३३+—

इति श्री तुलसीरामलालिक्ष्मी भास्करप्रकाशी सत्यार्थप्रकाशस्य  
दशमसमुद्घारसमयहने, द० तिं० भास्करस्य च खण्डने  
भाचारामाचारप्रकरणं नाम दशमः समुद्घासः ॥ १० ॥

— : # : —



अथ एकदशसमुद्घात्मण्डनम्

## अनुभूमिका

विदिन होकि महाभारत के पञ्चात् प्रबलिन् तुए पीराणिन् जीनीं भुहुं  
उगदी, ईसाई इन ४ चार सम्प्रदायों ने जो २ सत्यवेदोक्त धर्म के विनष्टु भासेक  
प्रकार के निषया विश्वासों द्वारा जगत् को भ्रमाकर धर्म, अर्थ, काग, भोक्त  
सूप चतुर्वर्ग से विमुख बना दिया था और जिन से गद्य मांसादि दुष्येसर्वों  
के प्रचार तथा परमेश्वर के रूपान में इतर पदार्थों की पूजा, गङ्गादि के स्वच्छ  
पवित्र जलों का यथार्थ माहात्म्य छिपा कर भावनी जीविका का द्वारमाप  
बनाय जगत् को ऐहिन और पारमार्थिक सुखों से बच्चित होना पड़ा। स्वामी  
दयानन्दसरस्वती जी महाराज को इस दुर्दशा के निटाने को दया भाई और  
उन्होंने सत्य वस्तु के प्रकाशार्थ “मत्यार्थप्रकाश” नामक ग्रन्थ बनाया, जिस  
के प्रयत्न दश समुद्घातों में प्रायः वैदिकधर्म का निरूपण किया, उस के  
फलपर भगवद्गता य तुई शङ्काश्रों का यथार्थ प्रत्युत्तर इस इस भास्करप्रकाश  
के पूर्णहृ में प्रकाशित कर चुके हैं। पं० उद्यालाप्रसाद जी ने शिख प्रकार  
गत दश समुद्घातों पर यथा तथा जोड़तोड़ करके भावने को कृतकृत्य किया है  
इसी प्रकार इस चराहवें समुद्घात पर भी। स्वामी जी ने वेदविरुद्ध गतों  
के खण्डनार्थ मत्यार्थप्रकाश के ११। १२। १३। १४ इन ४ समुद्घासों में आगर लिखे  
पीराणिन् जादि ४ सम्प्रदायों के सत्यवेदविनष्टुंश का खण्डन किया है।  
उन में से ११ वें समुद्घात में जो २ पीराणिक लोगों के सतों का खण्डन किया  
है, इस पर भावने कर्त्तव्यत भत की रक्षार्थ पं० उद्यालाप्रसाद जी पीराणिक ने जो  
कुछ लिखा है, उनके तथा सर्वसाधारण के भ्रमनिवारणार्थ सत्यार्थप्रकाशन उद्घाटन  
में यह उत्तरार्थ का आरम्भ है। स्वामी जी महाराज का वा हमारा यह  
भासीष्ट नहीं है कि जीनीं, कुरानीं, किरानीं आदि जो वेद के अत्यन्त विनष्टु  
भत हैं उन के समान पीराणिक लोगों को भी वेदविरुद्ध समझ कर उन को  
निर्मल करने का उद्दोग किया जावे। नहीं २ किञ्चु पीराणिक लोग वेदों  
के नाम को मानते हैं और वेदों में विहित बहुत से असर्वनुकूल गन्ध न भंग  
करते हैं, किन्तु उन को जो यह भग है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है सो  
वेदों के अनुकूल ही है, इस को निटाने और पुराणों के प्रचार को जो वेदों के  
प्रचार से बढ़ा रक्खा है उन की जगह वेदों के प्रचार बढ़ाने और अन्य वेद  
विरुद्ध सतों के इटाने में तात्पर्य या और है॥

तुलनी११८ स्वरमी

८० तिं० नां० भूमिका पृ० २९२

यह वातो सब पर विदित है कि नहाभारत से पूर्व इस देश में वेदवत से भिन्न और कोई सत नहीं या जय नहाभारत के पश्चात् भविद्या कैली तब जहां तहां अनेक सत दूषिगोचर होने लगे और जिस के सन में जो भाषा सो सत बलाया। इसी कारण इस देश की एकता नष्ट हो गई और विविध क्ले में से भारतवर्ष पूर्ण हो गयोगति को प्राप्त हुआ और जब बहुत से सत प्रचलित हुए तो इस अन्याधित्व में स्वामी दयानन्द जी ने जी एह सत भाषणा नवीन खड़ा किया जिस में सध्यूर्णतः वेदविशद्ध ही वातो प्रचलित की है और वेदमन्त्रों के गर्व बदलकर अपने प्रयोजनानुसार कल्पना कर लिये हैं तथा पुराण मूर्तिपूजन तीर्थ आद्वादिक सब ही को ख्यात कथन किया है इस सत का मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश है जिसके दश समुद्घासीं का खण्डन इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कर चुके हैं वह एकादश समुद्घास का खण्डन इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लिखते हैं चारहबें समुद्घास में स्वामी जी ने पुराण तीर्थ मूर्तिपूजन का खण्डन किया है तथा अन्य सतों का भी खण्डन किया है जो इस सतय प्रचलित हो रहे हैं परन्तु मेरा तात्पर्य उन सतों को भद्रा बुरा कहने का नहीं है। इस आत को सम्पूर्ण आर्यगण नानते हैं और सुने गी निर्भावत स्त्रीकार है कि जो कुछ वेदादि शास्त्रों में शाज्ञा है उसे गानना परम धर्म है और जो उन ग्रन्थों के विपरीत है वह अधर्म है इस कारण मैं इस स्वान में केवल उन्हीं बतों की चर्चा करूंगा जिन का वेद से सुखन्य है और सतवालों को यदि अपना सत सत्य मिठु करना हो तो वह अपना जवाब दे लेंगे, मैं उनकी ओर से उत्तरदाता नहीं क्लोकि मैं तो सगातनवैदिक गत को ही श्रेष्ठ सानता हूँ और वास्तव में यही जल श्रेष्ठ भी है इस पुस्तक के लिखने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी का चित्त दुःखी हो किन्तु मेरा आशय यह है कि इस ग्रन्थ को विद्यार कर सत्यामत्य का निर्णय करके सत्य का अहं और असत्य का त्याग करें यही इस संनार में सनुष्य जन्म का फल है कि श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान कर भोक्ष के भागी बनें ॥

प्रत्युत्तर-यह सत्य है कि नहाभारत युद्ध के पश्चात् नाना सत खड़े हुए और उन सतों को नाना पुराणों ने खड़ा किया जिससे भारतवर्ष की विद्या, धर्म, धन, ऐश्वर्य सब नष्ट हुए और भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी अनेक सतों की उत्पत्ति नहाभारत से इस ओर के ५००० पांच सहस्र वर्षों के,

भीतर ही हुई है, ज्योंकि वेदोक्त धर्म के गतिरिक अन्य सब भतों को अपनी नवीनता और ५००० वर्ष से अधिक प्राचीन ग होना स्वयं स्वीकृत है, परन्तु स्वामी जी ने अन्याधुन्ध में अपनह मत नहीं खड़ा किया, किन्तु नाना भतों को हटाकर एक वेदोक्त धर्म का प्रचार करने के लिये अन्य वेदमाध्यादि उद्योग भी किये तथा सत्यार्थप्रकाश भी रखा, परन्तु नाना भतवादियों के वेदविहारहृषीयों का खण्डन उन २ भतवादियों को छुरा लगा, इन कारण यदि वे स्वामी जी को गवीन मत छलाने वाला कहें तो कुछ आवश्य नहीं ॥

स्वामी जी ने अपने जाने मुवे वेदविहारहृषीक भी खण्डन करने से नहीं छोड़ा और भाष कहते हैं कि “मेरा तात्पर्य उन भतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है” इत्यादि । तो फिर आर्यमनान के धर्म को अच्छा बुरा कहने पर क्यों उतारू हुवे । यदि कहो कि वेदिक धर्म की रक्षार्थ, तो क्या अन्य जैनादि भतों ने वेदिकधर्म की निन्दा और निज कल्पित मत के प्रचार में न्यून परिश्रम किया है या करते हैं ? फिर भाष यह स्वीकार करके भी कि नहास्मरत पश्चात् अविद्यावश अनेक मत चल पड़े, फिर उन भतों का खण्डन न करके केवल भाष के वेदिकधर्म को फैलाने वाले, राम कृष्णादि नहास्यार्थी की निन्दा करने वालों को निन्दन करके भाष के पूर्वजों ले जान और यश तथा धर्म की मर्यादा के रक्षक आर्यमनान के ही खण्डन पर भाष उतरे हैं सो क्या सन्निपात रोगी के सी अवस्था नहीं है ? जो भाष अपने हितेच्छु को विद्वेषी और अन्य जैनादि विरोधियों को हितेच्छु समझ कर अम कर रहे हैं ॥

स्वामी जी का और हमारा भी अताहवें समुद्घास को लिखने और उस के जारी उठी शङ्काशों के निवारण से यह तात्पर्य नहीं है कि इन प्रकार के भाग्ने वालों का वित्त दुखाया जावे, किन्तु यह कि उन २ भतों की भूल सुधर कर धर्म, जो वेदोक्त है, उस का प्रचार ही ॥

१० तिथि भाष १० १५३ पं४ १२ से-

अष्टव्यासा ने पाश्चात्यवंश निवेश करने को अस्त्र त्यागन किया था और वह उत्तरा के गर्भ में सी भाग्ने को प्रविष्ट हुआ तो क्या वह उत्तरा के गर्भ में विचार वा चलाइ ले जान छोड़ा था जो परीक्षित गर्भ में ही सूतक ही नया, वह मन्त्र ही का तैयी प्रभाव था ॥

प्रसुत्तर-जिन्ह प्रकार भूम का प्रभाव भरप का चाल्य है, उसी प्रकार

इस कथा का भत्य होना भी आप का भाव्य है, बस साध्य के समान हेतु देना "साध्यमग्नेत्वाभास" नाम नियहस्थान है। जैसा कि-

**साध्याऽविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः । न्यायदर्शन १ । ४६ ॥**

अर्थात् साध्य से विशेषता न रखने वाला हेतु भी साध्य होने के 'साध्य मम' नामक चतुर्थ हेत्वाभास है।

इसी प्रकार के असम्भव विषयमें को हटाने के निमित्त ती स्वामी जी ने 'मन्त्र' का अर्थ विचार, किया है और आप पीराणिक होकर ऐसी बात लिखते हैं कि परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया। क्या आप गर्भ में ही परीक्षित का मर जाना किसी पुराण में दिखायेंगे? क्या वह मर कर ईचाम-सीह के समान फिर(जीवित)ज़िन्दा होगया और क्या यह किसी पुराणमेंलिखा है? यदि नहीं तो आप परीक्षित का जन्म और राज्य करना, जन्मेजय पुत्र होना, उस को सर्व के काटने में सर्वहोम के लिये जन्मेजय को कोण आना और प्रीकृत्या के सुर्यनचक द्वारा परीक्षित की रक्षा कर विष्णुस आप को नहीं है? यदि ऐसा है तो क्या आप भी महाभारतादि के इतिहासों को पूर्ण सत्य नहीं मानते? यदि नहीं मानते तो इसी पृष्ठ में तक्ष के सिंहासन उड़ आने आदि अत्युक्ति (मुखालगे) को क्यों लिखते हैं?

८० तिं भा० पृ० २६३ घं० २१ से—

स्वामी जी ने कहा है कि शब्दमय सम्ब्रह होता है, उस से द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। यह भी असत्य है, फिर वेदवाक्य ती कहते हैं 'स्वर्गहासो यजेत्' यदि केवल सम्ब्रह शब्दमय है तो स्वर्ग के न हो सकता है?

प्रत्युत्तर-स्वर्गकामोयज्ञेत्, का भये यह है कि स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे सो क्या स्वर्ग उत्पन्न हो जाने से सात्यर्य है? प्रत्युत यह है कि यज्ञ करने का फल स्वर्ग है और यह वाक्य वेदवाक्य भी नहीं है, चारों बेदों की ४ संहिताओं में कहीं गहीं है। सर्व, ब्रीहू, सम्ब्रहों को नहीं मानते, यदि मानते तो उन्हें, जुलाहे, स्पाने, दिवाने किसी सर्व के काटे को न नरने देते। औषध भी न देते। एक वाण छोड़ने से पत्पर नहीं सर्व सकते, किन्तु किसी विचार (गुप्त) से पैसा हो सकता है। सर्व पकड़ न कर फूंकना तो ठीक है, जैसा कि अब भी भोड़ये, शेर, बाघ, छाले सर्वादि की गवनेंट नरवा हालने की प्रेरणा करती है, परन्तु सम्ब्रह पड़ने सात्र से ही यह सब असम्भव है। तथा जैसे बारकबीला, बालछड़ आदि विज्ञीलोद्दग द्वावासों पर विज्ञी स्वयं दीड़ कर-

जाती है। इसी प्रकार सर्व भी कहीं अधिष्ठों के होने में जाकर गिरने लगे यह संभव है। “ जाग्नेयाश्च ” ऐसे विचार ( मन्त्र ) पूर्वक छोड़ना कुछ अप्रसव नहीं कि जहां चाहें वहाँ जग्न वर्षे । प्राचीन ऋषि मन्त्र द्वारा देवतों को बुलाते थे सो जब भी जहां हवन होता है वहां वायु और उम के अन्तर्गत अन्य देवता आते और आहुति लेहर मनुष्यों के अनुकूल सुख-दायक हो जाते हैं। यथार्थ में शब्दमय मन्त्र जह हैं और गुण से द्रव्यो-स्पति नहीं हो सकती। जैसा कि—

**द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधम्यम् ॥**

**वैशेषिकदर्शन अध्याय १ सूत्र ६ ॥**

**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥**

अर्थात् द्रव्य और गुण उपने जगातीय को उत्पन्न करते हैं यही इन ने साधम्य ( समान धर्म ) है ॥ ६ ॥ अर्थात् द्रव्य से अन्य द्रव्य तथा गुण से अन्य गुण उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥ तब शाप का गुण ( शब्दमय ) मन्त्र से द्रव्यो-स्पति मानना शास्त्रानुकूल नहीं है ॥

वर और शाप देने के फल उत्तर २ के कर्मवश होते हैं, जिस २ कर्म के कारण कोई नहात्मा वर वा शाप देता है। वैद्य ने वृक्ष को जीवित किया-सो सर्वथा भूमि हुथे को नहीं, किन्तु अद्वैत धर्म को हरा भरा करदेगा जीवध प्रभाव से संतप्त है। जर्मनी का कोई गुणाही सहस्रों धन से शक्तिविद्या का पुस्तक लेगया सो प्राचीन पदार्थविद्या के खोजने को, न कि जाहूगीरी के लिये। तथा अन्यदेशीय भी भारतवर्ष से जिस प्रकार कभी विद्या सीखते थे, ऐसे जब अविद्या भी विद्या की भूल में घिर चढ़ा लेवें तो आश्वर्य नहीं। कितने ही विद्यासोक्षिणीं को भूत चुहेल रूप अविद्या चिपटती जाती है ॥

द० तिं० भा० ष० ३४४ य० ५ से-

ब्रह्मवाक्यम्-वेदवाक्य जो है सो जगारेन है, अर्थात् वेद वेदवाक्य होने से उम से पृथक् नहीं ॥

प्रत्युत्तर-प्रयत्न ती आप ने स्वानी जी के अभिप्राय से विहृ कल्पना करके:-  
अविशेषाभिहितेर्थं वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्युलम्

**न्यायदर्शन १ । ५३ ॥**

सामान्य कहे गये में वक्ता के तात्पर्य से भिन्न दूसरा अर्थ कल्पित करना बाक़्शल कहाता है ॥

सो स्वामी जी ने तो यह तात्पर्य समझ कर लिखा है कि ब्राह्मण सोक अपने वचन को परमेश्वर के बराबर बताने के लिये कहते हैं कि—‘ब्रह्मवाक्यं जानादेनः । आप दूसरा अर्थ करके “ वेदवाक्यं जानादेन है ” यह अर्थ करते हैं । अस्तु, परमेश्वर ने आप पर बड़ी कृपा की जो आप ने ब्राह्मणों के बृणात्मान वाले अर्थ को छोड़ दूसरा ही अर्थ खड़ा किया । परन्तु वेद वाक्य को साक्षात् परमेश्वर जानना भी ठीक नहीं ब्योंकि वेद केवल गम्भीरों के कल्पणार्थ प्रकाशित हैं और वचन को वक्ता जानना वा जानना जानान है । वेद परमेश्वर का वाक्य भी नहीं किन्तु परमेश्वर का दिया ज्ञान है ॥

१० तिं० भा० १४८ पं० १६ वे-

वास्तव में यह पोष शब्द का कल्पित अर्थ तुम्हीं में घट सकता है कि (अन्यनिष्ठक्षत्व सुनगे पति भत) इत्यादि वेदगन्त्रों का जहां तहां अर्थ बदल दिया है । अपना सत चलाने के लिये चन्दा बटोरना तथा पुस्तकों की क़ीमत बीमारी करके रजिस्टरी कराना इत्यादि यह ठग है नहीं सी भी ऐर ल्या है ?

प्रत्युत्तर—यह आप सत्यार्थप्रकाश का उत्तर देते हैं वा स्वामी जी के ज्ञायें को समालोचना करते हैं ? सच है चिह्न में गाली ही दीजाती है । स्वामी जी ने चन्दा करके पुस्तकों की रजिस्टरी कराके वैदिक्यन्नालय की सफलति की सो स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु पुस्तकग्रन्थ द्वारा जगत् के कल्पणार्थ । सहजानन्दादि के वर्णन से इस को सम्बन्ध नहीं है और नसविषयक खण्डग संग्रहन में व्यक्तिविशेष के आचरणों को बीच में हालना आवश्यक आत भी नहीं है ॥

१० तिं० भा० १४९ २४४ पं० २७ वे-

शङ्कुराधार्य ने शैवमत का खण्डन नहीं किया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—शैवमत का ही नहीं किन्तु शाक वैद्यवादि को भी उन्होंने परास्त किया था । शङ्कुरदिविजय संगे १५ इलोक ६५ को देखिये—

**शाक्तः पाशुपतैरपि क्षपणकौः कापालिकैर्वैरण्वै,**

**रप्यन्यैरस्तिलैः स्तिलं खलु खलैर्दुवादिभिर्वैदिकम् ॥**

**मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्वर्यथात्,**

**सर्वज्ञोन यतोऽस्य सम्भवति संमानग्रहयस्तता ॥**

वर्षात् शाकपाशुपत तपशक कापालिक और वेणव तथा अन्य भखिन्न दुर्वारी खालों से वैदिकधर्म से की रहा। के निमित्त इन उग्राचारियों का शङ्कराचार्य ने विजय किया। किन्तु अपने मान के निमित्त नहीं, ज्योंकि उनमें मान रुग्ण यह से यस्त होना सम्भव नहीं। इस से यह भी विद्यु है कि शिवापराप्रसन्नतादि स्तोत्र शङ्कराचार्य के नाम से दूसरों ने बनाये था जिनमें आज कल शङ्कराचार्य द्वारिका भी गहो पर हैं विने अन्य अनेक शङ्कराचार्य नामधारी हुवे हों उनमें से किन्हीं ने यह कार्य किये हों।

४० तिं० भा० पृ० २५४ पं० २५-शङ्कराचार्य को विषयली वस्तु नी गई विषयली वस्तु में क्युं या मन्द होगई यह कहाँ का लेख है सब कुछ असत्य है और यदि विचारा जाय तो यह सब कुछ आप ही के ऊपर हुआ है आप को विष दिया गया। इत्यादि।

प्रत्युत्तर-जब आप स्वीकार करते हैं कि आप (द्यानन्द भर०) को विष दिया गया। तौ जिस विरुद्ध सत वाले ने निज गत की पोल खोलने के भय से अन्य कुछ शास्त्रीय बल न छला तब स्वामी जी को विष दिया, उनी के साथी अभिनिवेशित और अभिनिवेश नामक नास्तिकों ने केदारनाथ में स्वामी शङ्कराचार्य को भी शास्त्र में प्रबल पाय छल से विष देकर सारा हो ती पाय आश्रय है। (देखो ऐतिहासिकनिरीक्षण भाग २ शङ्कराचार्य का इतिहास प्रकरण)

असी पं० लेखराम को चग के धर्मशनु ने छुरे से मार डाला और अनेक धर्मवचारकों को यही दशा हुई है और जब कि सत्यार्थप्रकाश में यह नहीं लिखा कि किसी पौराणिक ने शङ्कराचार्य को विष दिया। किन्तु नावितिकों ने दिया, लिखा है। तब इस का उत्तर नास्तिक लोग दे लेंगे, आप ज्यों सफ़र्ई पेश करते हैं। तथा आप के असीप ही स्वामी द्यानन्द को विष दिये जाने का आर्यों के कहने के अतिरिक्त क्या प्रमाण है, किन्तु अनेक जनश्रुति भी यदि सम्भव हों तो मानी जाती हैं, सो ही प्रमाण है॥

४० तिं० भा० पृ० २५५ पं० ९ से-

समीक्षा-स्वामी जी की बुद्धि को कहाँ तक ठीक लगाई जाय पहले लिखा कि युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का सत शर्वार्गहत रहा जब कहते हैं कि जो शङ्कराचार्यका निजसत या तौ अच्छा नहीं। भला जो बोह सप्रमाण और युक्तियुक्त या की निजसत के सा और अच्छा क्यों नहीं और जब कि शङ्कराचार्य ने जीतने को यह सत स्वीकार किया तो घोह

तो छन किया और वैदिकमत में होनता भागई कारण जि सम्मत में नी न जीत सके बगावट में जीता तो यह चिठ्ठु हुवा कि स्वामीशङ्कराचार्य ने लल से जीता तो वैदिकमत कच्छ प्रतीत होता है फिर शङ्कराचार्य को आप विद्वान् भी बतलाते हैं जब विद्वन् थे तो भत्य शास्त्र नुभार ही जय पाई बगावट गहीं की किन्तु यह बात स्वामी जी ने ही की है कि ईसाई यज्ञों के शास्त्र यं को गथं ही बदल दिये तथा जब आद्वृत्पर्ण मूर्तिपूजन में यज्ञोदादिकों का भाग्रह देखा तो इसे छोड़कर वेद में रेल तार विजुना ही भर दी इस से यह बात दयागन्द जी में ही प्रतीत होती है शङ्कराचार्य ने कुछ बगावट गहीं की फिर आगे इस के स्वामी जी ने अद्वैतवाद लिखा है जो अटकल-पञ्चू है उत्तर उमका पूर्व लिख चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के लिखने का यह तात्पर्य है कि नास्तिकों के युक्ति और प्रमाणों वे शङ्कराचार्य का गत भखिष्टत तथा शङ्कराचार्य के दिये प्रमाणों से नास्तिकों का गत खण्डित रहा। यदि शङ्कराचार्य ने जीन्तपों के जीनेगे को अद्वैत गत खड़ा किया तो लल का दोष उस में शब्द्य है। इसी लिये स्वामी जी उन को “कुछ अच्छा” लिखते हैं किन्तु “पूर्ण अच्छा” नहीं। कुछ अच्छा इस लिये कि नास्तिकों के सर्वथा वेदविराधों गत से अद्वैतगत का एक अंश मात्र वेदविराध अल्पविरोध है। महान् विरोध से शास्त्र विरोध अवश्य कुछ अच्छा है। किन्तु मर्वणा अच्छा नहीं। शङ्कराचार्य को विद्वन् इस लिये माना है कि उन्हीं की विद्वत्ता का यह फल है कि नास्तिकों के घोर सङ्क्रान्त में उन्होंने उन्हें परास्त किया। क्या नास्तिकों का परास्त करना ठहरा है? विद्वत्ता नहीं है? परन्तु किमी विद्वान् मे किसी अंश में कोई भूज होजाय ती भगवन्नव नहीं। पर आप यदि शङ्कराचार्य के अद्वैत गत को सज्जा सगभते हैं तो उस पर वादानुवाद करना ठीक होगा। इस से क्या लाभ कि स्वामी जी ने ऐसा क्यों लिखा? और वैसा क्यों लिखा? ॥

स्वामी जी ने ईसाई यज्ञों को जैसे कुछ उत्तर दिये हैं उस की आप क्या कृतज्ञता मानेंगे, आप का देश भर, आप की सन्तान, और आप के समुदायस्थ समझार लोग मुक्तक्षयठ से स्वीकार करते हैं। आहु को यज्ञ बेचारे क्या कहेंगे जब कि वे इत्यं मृतक निमित्त पाठ दान आदि करते हैं तथा क्षवरों पर रोटी धरते हैं। जब ऐसा है नी स्वामी जी को उग का दबाव ही क्या या जो उग के शास्त्रार्थे में भय से वे आहु तर्पण का खण्डन करते लगते। यदि उन्हें दबाव में आना होता तो हिन्दुओं ही का दबाव न सामते, जिस से भाज दिन शङ्कराचार्य के समान गिरव का अवतार कहाते।

उन्होंने किसी के दबाव से नहीं किन्तु सत्य और परमात्मा के दबाव से सब कुछ रेत सार भावि विद्युत। का विकाश कर योरप के विद्याउभिमानियों को वैदिकमुर्य की किरणें दिखलाई हैं। जहौतवाद का उत्तर दे खिये ॥

८० तिं० भा० पृ० २८३ पं० ५ से—स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ “नेतरीनुपत्तेः” इत्यादि वैशालीनुत्रों पर पं० उत्ताप्रमाद जी लिखते हैं कि—

अब इन सूत्रों के यथार्थ गर्थ दिखलाते हैं कि यह सूत्र कौन से प्रकरण के हैं और कौन से स्पष्ट के हैं ॥

“आनन्दमयाधिकरण । नेतरीनुपत्तेः अ० १ पा० १ सू० १६” आनन्दमय के प्रकरण से सुन। है कि एक ने बहुत की इच्छा की इच्छा से विष्व सज्जा है सो यह काम जीव का नहीं है तिस से जीव आनन्दमय नहीं है आपवार आगन्दमय का मुख्य पर्णन नहीं है क्योंकि ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो ब्रह्म अप्सू जानता सो अप्सू ऐसे जागे पीछे के संदर्भ के विरोध से सम्भारी जीव या प्रधान आगन्दमय नहीं है किन्तु ईश्वर ही है। सो उत्ताप्त बहुद्वयां प्रजायेयेति सतपोतप्तयन सतपस्तप्तवा इदं वर्षमत्तुज्ञत पदिदं किञ्चेति, जो कुछ कार्य है सो सब ईश्वर ने देख के रखा है ॥ १६ ॥

प्रत्युत्तर-शारीरक भाष्य का समझना कठिन है, आप यथार्थ और अयथार्थ कुछ भी इस विषय में नहीं समझे और इन सूत्रों पर जो गर्थ आप लिखते हैं वह भी आप का लिखा वा समझा हुआ नहीं है। इस गर्थ की भाषा भी सुरादाबादी भाषा नहीं है और न वैमी हिन्दी भाषा है जैसी कि समस्त तिनिर० ग्रन्थ की भाषा है। स्पष्ट है कि आप ने व्याप्त सूत्रों के ताराचढ़ लक्षियकृत काशी आर्यनन्दालय के लिये भाषानुवाद को उठाकर यहाँ रख दिया है। यदि आप इन सूत्रों को कुछ भी समझते तो स्वामी जी के लिखे गर्थ में दूषण बताते हुके अपने गर्थ को पुष्टिकरते। लेकिन गधिकरणों के नाम द्वाप देने से (जो भाषानुवाद से उठा लिये हैं) आप का वेदालक्षण होना और स्वामी जी को भजाना बताना भागाश में थूहने के समान है (जो थूकने वाले ही के मुख पर पड़ता है) यदि आप ने सूत्रों के भक्षरार्थ को समझा होता तो कुछ तो अपनी भाषा में लिखते, जैसे “तिस से जीव आनन्दमय नहीं है, ऋक्षमात्रवृक्षयजु जेब्रह्मधर्म है” यह अनोखी भाषा। जिन को यह पील जाननी हो वे ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अक्षर १ मिला देखें। इस लिये यदि आप जहौतवादी हैं तो प्रत्येक सूत्र पर स्वामी जी के

किये अर्थों में दीयारोपण करके अपने पक्ष के दोष हटाइये, तब हम आप का बेदान्तीपना समर्ख हो और आप को उत्तर दिये जाने की आवश्यकता होगी। स्वामी जी ने सूत्रों के प्रसारपूर्वक आप के अद्वैतवाद पर इस प्रकार दोष दिये हैं जिन का परिवार आप एक भी नहीं कर सके:-

### १-नेतरोनुपपत्तेः । १ । १ । १६

( अनुपपत्तेः ) उपपत्त न होने से ( इतरः ) ब्रह्म ने इतर जीवात्मा ( न ) जन्मस्थितिप्रलयकारक तदीं, क्योंकि “ जन्माद्यश्य यतः ” । १ । १ । २ सूत्र की अनुहिति है। इतरमी जी ने यन्त्र बढ़ने के भय से प्रकरणात्मकृत्त्वात् जुवाद मात्र कर दिया है, वे जागते थे कि जो लोग बेशान्त पढ़े हैं वे ती इतने से ही संगम जांयगे और कुपर्दां को सम्पूर्ण प्रकरण समझाया जावे तो स्त्यार्थप्रकाश में ही बेदान्तभाष्य का पोथा बन जायगा। आप यत्नाद्ये आप ने ताराचन्द्र के भाषानुवाद में अधिक एक भक्त भी कौन सा लिखा है गो स्वामी जी के दिये अद्वैत पक्ष में आरोपित दोष को हटा कर आप का पक्ष सिद्ध करता हो ॥ १६ ॥

३० तिथि भाषा प० २०७ से—

“भेदव्यपदेशाच्च १३ । रमो वे रसः रसं त्योवायं लठ्ठवानन्दी भवतीति । (अर्थे) जीव ब्रह्म के लाभ से जानन्द होता है यहां प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीव है यह भेद का कहना है जविद्याकल्पित देह कर्ता भोक्ता विज्ञानात्मा से हृश्वर अन्य है जैसे खड़ाधारी मायावी सूत्र पर चढ़ार आकाश को जाता सा दिखाई देता है और वास्तव में वो ही मायावी सूनिपर ही खड़ा है जैसे ओम घटादि उपाधि से तिक अनुपाधि अन्य है तैव वो जीव ब्रह्म का भेद है । वास्तव गहीं ॥

### प्रत्युत्तर-२-भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १७

इस सूत्र पर “रसं त्योवायं लठ्ठवानन्दी भवति”यही विषयवाच्य स्वामी जी ने लिखा है और आप भी ताराचन्द्र की नक्ल करते हुवे यही वाच्य लिखते हैं। न यह बताते हैं कि भेद शब्द का परिवार क्या है और न यह कि जल्लिपत भेद मानने में क्या ज्ञापक है ॥ १७ ॥

फिर-३० तिथि भाषा प० २०७ से—

“ अस्मिन्नरूप च तद्योगं शास्ति १४ ” इस जानन्दमय के प्रकरण में जीव का

योग आनन्दगय ब्रह्म के साथ वेद उपदेश करता है उससे उपचार की इच्छा से भी आनन्दमयवाक्य का अर्थ प्रथान या जीव नहीं है यथा त्वेवेष एतस्मिन्द्रुष्येनाऽप्येऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठितां विन्दतेर्ज्य दोऽप्यकृतो भवति तद् । वै त्वेष एतस्मिन्द्रुष्येनाऽप्येऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठितां विन्दतेर्ज्य दोऽप्यकृतो भवतीति । अर्थ—तादात्म्ये से ईश्वर को देखे मो देखना परमात्मा के यहाँ से अनन्त है न जीव या प्रथान के ग्रहण में तिस से आनन्दमय परमात्मा है ग कि विज्ञानात्मा । श्रुति—चत्वाएष पुरुषोऽप्यरसमयस्तस्माद्वा एतस्माद्वाचारसमयात्म्योत्तर भास्मा प्राणमयस्तस्माद्वन्न्योन्तर भास्मा विज्ञानमय इति । अर्थ—यहाँ पर भी विकारार्थको परम्परा से आत्मा अदुंगरतीय है व हेतु में है जिस से आनन्दमय को आनन्दमय का सम्बन्ध वेद ने उपदेश किया है तिस से उपासना के लिये भी आनन्दमय व्याधान्य नहीं है और आनन्द प्रधार कहने से दुःख शृण्य भी न त समझे अद्वितीय से “मुति” रसं त्वेवायं लक्ष्यवननन्दी भवतीति ॥ १९ ॥

प्रत्युत्तर-भला इन सूत्र और ताराचन्द्र के भाषानुवाद का यदां क्या अयोग्य है ? स्वर्णी जी के त्रैत भिद्वान्त से विरुद्ध इस में कीनसा पद है ? तथा अद्वित यज्ञग का कीनसा पद है ? जब नहीं है तो आप को कुछ इष्ट-स्थिति नहीं, सिवाय पुरुषक बड़ा करने के । स्वर्णी जी ने जो इस सूत्र को अपने पक्ष का पोषक आगकर सत्यार्थप्रकाश में लिखा है और अर्थ किया है कि “ब्रह्म में जीव का योग या जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं” और “तादात्म्य से ईश्वर को देखे” यह आप का अर्थ मूल से किसी प्रकार नहीं लिकलता, न उत्तरित है ॥ १९ ॥

४० तिं० भा० ष३ २५० से—

“हिरण्यमयाधिकरण—अन्तस्तदुर्मौर्देशात् २०” परमेश्वरस्य धर्म ईशो-पदिष्यत्त इति सौक्रेनुवादः छान्दोग्य के प्रयामाध्याय में उद्घीय उपासनाभों के बीच गीण उपासयों का उपदेश किया है वह यह कि सूर्य के बीच में हिरण्यमय पुरुष है और ज्ञानपात्र उक्त यजुः जे ब्रह्म धर्म हैं और ब्रह्म यज्ञ पापों से मुक्त अद्वितीय ईश्वर कहा है यह अर्थ इन श्रुतियों से लिया है “सेवन्तस्मान्तदुर्क्षयत्यजुरस्तद्बस्तेति उद्देति इव वै सर्वेभ्यः पादमभ्य इति गच्छ यद्योन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते इत्यादि च ( सह ) संशय है कि विद्या कर्म की अतिशय वे बड़ा होके सूर्योदि प्राप्त उपास्य कहा है या नित्य सिंह ईश्वर है किरणपी छुनने से छुचारी है न कि ईश्वर नीढ़प से गिरुपक्षा

दूप उपासना के लिये मान लिया है “गशडदमस्पर्शमरुपमव्ययम्” इस श्रुति से भीर ईश्वर अपनी सत्ता से ही निराधार ठहरा है “सभगव कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिमातीति” इस वाकोवाक्यदूप श्रुति से निर्विकार अनन्त है “भाकाशश्वत्सर्वगतश्च नित्यः” इस श्रुति से कभी २ विकारों से भी कहा है “सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः” इत्यादि श्रुति से तात्पर्य पह है कि जो बाहर गन्ध रसादि देखते हैं वो मन ईश्वर की सत्ता ही है भीर न कि सद्गुरुत कठिनादि वस्तु कुछ ही है तिससे ईश्वर ही सूर्य और नेत्र के बीच उपादत है “सोसावहम्” वो मैं हूँ ॥ २० ॥

प्रथुत्तर-अनन्तदृष्टेऽ अर्पात् इस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्मे कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्त जीव व्यापक ब्रह्म में मिलते हैं। इस स्वामी जी के शर्य में आप ने क्या दूषणा दिया ? भीर आप के लिखे हिरण्यगाथाधिकरण से भी स्वामीजी के मिलान पर क्या दोष आया और आप के तारामन्द्री अर्थ में “सैवकृतत्प्राप्तः” का स्वामी जी के विरुद्ध क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत ( बलिक ) —

### अशडदमस्पर्शमरुपमव्ययम्

इस आप ही के लिखे वाक्य से परमात्मा का शडदस्पर्शादिरवित निराकार होगा साकार जगत् से उस के भिन्न होने को जाता है। इसलिये आप “स्वस्येव पादे कुठारप्रहारः” का काम करते हैं ॥

### स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति

इस आप के लिखे वाक्य का भी यह अर्थ हुआ कि हे भगवन् ! वह ( ब्रह्म ) किस में स्थित है ? उत्तर-अपनी महिमा में । भला इस से भी स्वामीजी के किस पक्ष का निराकरण हुआ ? किसी का नहीं । बलिक आप ने ही “निर्विकार अनन्त” लिखा है जो विकारी जगत् से निर्विकार परमात्मा भिन्न हुआ । भीर—

### सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः:

का अर्थ यदि यह गान्मे कि परमात्मा में ही समस्त काम गन्ध भीर रस हैं, तो आपही की पूर्वोद्धृत “अशडदमस्पर्शमरुपमव्ययम्” इस उपनिषद् से विरोध आवेगा । इस लिये परमात्मा में सर्वगन्धादि निज के नहीं किन्तु व्यापकता से पृथिव्यादि भिन्न जगत् के गन्धादि गुण उस परमेश्वर से बाहर नहीं किन्तु उसी में है, यह तात्पर्य समझना चाहिये ॥ २१ ॥

द० ति भा० प० २८८ से—

“भेदव्यपदेशाच्चाच्चः २१”जो सूर्य में है इस से ईश्वर जन्म है इस भेद में सूर्य आधार और ईश्वर आधिय जान पहता है यह अर्थ इस श्रुति से लिया है य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोय आदित्योन वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदि-त्यमत्तरोय यस्यत्येवते आत्मान्तर्योन्मयमुत इति । इस में यह सिद्ध हुआ कि हिरण्यमय ईश्वर ही है न कि देवतादि ॥ इस का अर्थ भी स्वामी जी ने गढ़ बढ़ में लिखा है ॥

पत्यत्तर-आप भी तो “जो सूर्य में है” यह लिखते हैं । जिस से रपट है कि सूर्यब्रह्म नहीं किन्तु सूर्य में ब्रह्म है । तब ब्रह्म से सूर्य मिल ही हुआ । और

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः ।

ओ आदित्य में स्थित है और आदित्य से मिल है ॥

यमादित्यो न वेद

जिस को आदित्य नहीं जानता । जह छोने से कि मुझ में ईश्वर व्यापक है । यह सूर्योदि जह लोक नहीं जानते । इस ने स्वामी जी ने गढ़ बढ़ क्षया की ? किन्तु आप इस का उत्तर क्यों नहीं देते कि इस प्रकार सूर्य ही ब्रह्म है, सूर्य से मिल नहीं । महात्मा जी । यह नियोग की घमकी नहीं है, ये वेदान्त के ब्रह्मविद्या के मूल हैं, जरा समझ ल कर बेटिये ॥२१॥

द० ति० भा० प० २९९-

“मनोमयाधिकरण-अनुपपत्तेस्तु न शरीरः भ० १ पा० २ सू० ५” तमो-नय ब्रह्म है और जीव में सत्यसंकल्पादि गुणों का असम्भव है तिस से मनोमयादि घमाँ से उपास्य नहीं है यहां कर्दैपक शूद्धा सूत्र देवत धीरे सिद्धान्त सूत्र लिखा है कि:-

“ अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेत्ननिचायत्वादेव व्योमवच्च ॥१॥  
अर्भकंब्रह्मयन्त वा भोक्तो नीड़ं ब्रह्मस्थानं निचायत्वादेव इत्पुख्वरीकेद्वृष्टव्यः  
वा उपास्यः व्योमवत् यथा सर्वगतमपितत् व्योम शूचीपाशाद्यपेक्षया अर्भकौके  
अणीयव्य वयपदित्यते इति एवमेव ब्रह्मापि धान यथ से भी छोटा कहा है  
अणीयान्त्रीहेवौ यथा हेति भारायमात्र इति । ईश्वर ही जीव यहां कहा है जेवे  
सब पृथकी का पति अपिति कहाता है । बालक के हृदय सा और धान जीवे  
छोटा इत्यादि उपाधियों के भेद से ब्रह्म उपासना के लिये कहा है न कि  
ब्रह्मप से जीवा अगत्य व्योमपटाकाशमठाकाशादिकों से छोटा कहा है इसी

से एषमआत्मान्तर्हदय इति ॥

प्रत्युत्तर-कहे सूत्रों में शङ्का नहीं की है किन्तु इस सूत्र पर हेतु दियेहैं। इस सूत्र का स्वामी जी यह शर्ये करते हैं कि शारीर अर्थात् “शरीरधारी” जीव ब्रह्म नहीं क्योंकि ( अनुपत्तेः ) ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव जीव में नहीं। इसी की पुराण में बगला सूत्र हेतु देता है कि—

### कर्त्तृकर्मव्यपदेशाच्च १ । २ । ४

जीव परमेश्वर की प्राप्ति का कर्ता है और ब्रह्म कर्म है क्योंकि “एत-  
मितः प्रेत्याऽन्तिंशं गतितास्मि” में कहा है कि जीवात्मा कहता है कि इस  
परमात्मा को यहाँ से गर कर प्राप्त होकर्मगा ॥

यह वाक्य भाष्य के उनी ताराचन्द्री भाषानुवाद में भी उपस्थित है  
देख लोजिये, तब जीव ब्रह्म को प्राप्त करने वाला होने से कर्ता और  
ब्रह्म प्राप्त होने से कर्म है। इस से दोनों भिन्न हैं ॥ तथा—

### शठदविशेषात् १ । २ । ५

अयमन्तरात्मन् पुरुषः । इस वाक्य में भास्मा के भीतर पुरुष परमात्मा  
कहा है। इस शठदविशेष से और “हम में यह”ऐसा कहने से सम्मी विभक्ति  
इस जीव ब्रह्म के भेद को जताती है। यह वाक्य भी भाष्य ही के सामें और  
चट्ठूधृत किये ताराचन्द्री भाषानुवाद में उपस्थित है। तथा—

### स्मृतेश्च १ । २ । ६

इस पर भी ताराचन्द्र ने गीता को स्मृति मान कर शङ्कुरभाष्यानुकूल—

### ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्वेशोऽर्जुन तिष्ठति

इस गीतावाक्य के प्रमाण से लिखा है। जिस का यह सांस्पर्य है कि  
उपगिष्ठद्वाक्य ही नहीं किन्तु स्मृतिवाक्य में भी जीवात्माओं के उदय में  
परमात्मा का हित होना कहा है, जिस से भेद सिद्ध है ॥

यदि भाष्य अपने लेखानुसार इन सूत्रों को लिख देते ही सब भेद खुल  
जाता कि स्वामी जी ने पूर्वपक्ष का उत्तरपक्ष किया है वा शङ्कुराचार्य ने।  
अब कृपाकरणे यह तो बतलाइये कि यदि ये शङ्कुरात्म हैं और “अभ्यकौ०”  
यह सिद्धान्त मन्त्र है तो इन पूर्वसूत्रों में प्रतिपादित जीव ब्रह्म की भिन्नता  
का भाष्य के अन्तिमत भिन्नान्त सूत्र में उत्तर क्या है? कुछ भी नहीं। जब  
इन ४ सूत्रों में कहे हेतुओं का भगले सूत्र में खलन नहीं तब इस को सिद्धा-  
तसूत्र और इन विषयों को शङ्कुरात्म बतलाना भग नहीं तो क्या है? इस

आप का सिद्धान्तसूत्र और आप का लिखा अर्थ कवर उद्भृत कर चुके हैं। कृपया अतलाइये इन में क्या उत्तर है। प्रत्युत इन सूत्र के दो भाग हैं:-

अर्भकोकस्त्वात्तदुव्यपदेशाज्ञ नेति चेत्

यदि पूर्व हेतुमें को बालकों का घरवा होने से व्यपदेश नाम नामों तौ-

न निचायत्वादेवं व्योमत्रञ्च

नहीं बगता, क्योंकि जीव वा प्राण्य हाँने से। जीव भाकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर है, परन्तु भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है, इसी प्रकार परमात्मा केवल हृदयों के भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है। जीव कि-

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य वाह्यतः । यजु० ४२ । ४

वह इस सब के भीतर और वही बाहर भी है। जीव हृदय के भीतर ही है, बाहर नहीं। इन लिये जीव ही ब्रह्म नहीं है, किन्तु जित्त है॥

८० तिथि ८० भाषा ०४० पृष्ठ २८८

“संसोगप्राप्तिरिति चेत् विशेष्यात्” सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चेनगरुण से और एकत्र वे और शरीर के अभे॑ से छुल दुःखादि को प्राप्ति सम्यक् हो जन्य संसारी के न होने से “नाम्यनोस्ति विवशतीति” इस्वे किर सोवाधित नानने से उपाधि वर्षे दुःखादि की प्राप्ति न होगी क्योंकि उपाधि विकल्प में नहीं होती है इस से ब्रह्म में भोग की गन्धि भी नहीं है जीव ब्रह्म का भेद निश्चयाज्ञान से है और ज्ञान से भभे॑ है इस से “अग्रग्रामन्त्योभिवाकशीति॒कत्तोऽस्त्वा॑ धर्मार्थमें साधन सुखदुःखादि नान एक है और दूसरा गपहतपाटनादि नान है इन विशेष अपौत भभे॑ से जो सम्बन्ध नाम वही कायं होता है तो व्योमादिकोजी दाहादि होता चाहिये सर्वगतानि-कात्मवादीकोगी उक्त व्योमादिरहित नान है और जो शास्त्र जीवपरकी एकता कहते हैं वे एकता के द्वारा संयोग की निवृत्ति भी कहते हैं जीवे “तत्प्रमसि॑” “गहं ब्रह्मास्मीति॒” इत्यादि जीवे किसी ने व्योम को भलिन कहा तौ क्या वह मलिन हो सकता है तिस से बेव में जीव उपास्य नहीं कहा किन्तु ब्रह्म हो ते ते ने निश्चयाज्ञान से योग और सम्यक् ज्ञान से ऐस्य है यही विशेष है तिस से ईश्वरमें भोगगत्य भी नहीं वटर सकते हैं इत्यादि ॥ यहां नगोमयादि प्रकरण है जीव ईश्वरभिक अधिकरण नहीं है ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व सूत्र में ब्रह्म को “व्योमवत्” भाकाश के तुल्य व्यापक होगा लिखा है। उस से यह यहां किसी को न हो कि भाकाशवत् उपापक है तो

उम को सम्भोगप्राप्ति हो मकनी है ? अर्थात् वा ब्रह्म को भोग प्राप्त होता है ? “उत्तर-“न विशेष्यत्” नहीं, क्योंकि विशेषता है। और आप ने विशेषता का वाक्य स्वयं लिखा है कि “अनश्वन्त्यो अभिवाक्षीति”

अर्थात् जीव से अन्य ब्रह्म है जो भोगरहित साक्षी भाव है। इस लिये यह सूत्र भी स्वामी जी के स्वीकृत भेदपक्ष का प्रोत्सक है। “तत्त्वमसि, अहं ब्रह्म। इति” इन वाक्यों का इस (संभोगप्राप्त) सूत्र से सम्बन्ध हो नहीं, यह ब्रह्मान्त के न समझने वाले वा आश्रमी अद्वैतवार्द्धियों का ठङ्ग है कि जिस वाक्य में इष्ट द्वैत आया और उम का अथे लैंचतान से भी अपने पक्ष में न छुट्टा वहां भट्ट ‘तत्त्वमसि’ अहंब्रह्माद्विति” को ले दीहते हैं। यदि भगवान्याधिकारण होने से भेद सिद्ध नहीं होता तो अभेद भी सिद्ध न होते। क्योंकि भासे द्वयकारण भी तो नहीं है। परन्तु इन अधिकारणों का भेद जागना साधारण बात नहीं है कि लिया उठाकर लाप दिया।॥८॥ फिर द० तिंभाऽप्यऽ३००

“गुहाधिकारण गुहां प्रविष्टावात्मानी हि तद्वर्णनात् ११” कठवस्त्री से सुना है कि बुक्त का फल गरदेह है और वही परब्रह्म की प्राप्तिका स्थान है विद्यागगादि के सम्मत से फिर देह में या त्रृदय में ब्रह्म जीव ठहरे हैं और कर्मफल की पाता है और न कि बुद्धि जीव हैं जह और भजह के विरोध से जहमुद्धि लुकुतपान नहीं कर सकती है चेतना क्षेत्रज्ञ कर सकता है एक क्षत्री अन्य अक्षत्री इनको देख कह सकते हैं कि क्षत्री चलते हैं तपचार से जीवे, तैसे जीव पाता और ईश अपाना दीनों संग से पाता कहे हैं तिस से जीव ईश हैं या जीव पीता ईश विवाता है लाया और आतप की नाहै जीव त्रृदयमें प्रत्यक्ष में और ब्रह्म श्रुति से दिखाता है “गुहाधितङ्गदेष्टु पुराणं यो वेद निहितं गुहायां परमे ठयोनन् जात्मानमन्विष्ट गुहां प्रविष्टमिति” जैसे लोकमें इस गीका दूसरा लाओ यह कहने से न घोड़ा न भैसा लाता है किन्तु गीही लःता है तिसे चेतन जीव ब्रह्म समस्वभाववाले हैं और नकि विषम स्वभाववाले जहेतन बुद्धि जीवहै और समान धर्म होने से एक है केवल उपाधिसे पृथक् लासते हैं (क्षत्रं पिबन्ती) इस श्रुति की व्याख्या पूर्व कर चुके हैं ॥

प्रत्यत्तर-आप ने १ दो सूत्र विष के जो छोड़ दिये हैं, उन्हें और निला जीजिये, वे ये हैं-

अन्ता चराचरग्रहणात् १ । २ । ६ ॥ प्रकरणात् १ । २ । १०

चराचरमात्र का यहण करने से परमात्मा सब का ग्राहक भी है तथा प्रकरण से भी यहां परमात्मा ही का यहण है, मन भादि का नहीं। फिर तोमरा यह सूत्र है, जापने जिसे अपना पक्षपोषक समझकर लिखा है (गुहां प्रविष्टावात्मानी) इस में भात्मानी इस द्विवचन से अत्यन्त रूप है कि

दो भाला गुहा में प्रविष्ट हैं, एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। यह कहना कि समान धर्म ( दोनों बेतन ) होने से एक हैं, ठीक नहीं। यदि एक कहने का तात्पर्य चेतन्य साधर्थभाव है तो ठीक है अर्थात् चेतनता में दोनों एकसे हैं। जैसे मनुष्य मनुष्य एक इत्यादि परन्तु विशेष से दोनों मिल हैं, ग कि उपाधि ने। क्योंकि जीव एकदेशीय होने से उपाधियुक्त होता है, ब्रह्म सी मध्यदेशीय है उसे कोई उपाधि उपहित नहीं कर सकता। उपाधि घेरे को कहते हैं, ब्रह्म सब से बड़ा होने से घिर नहीं सकता। इसे लिये “ उपाधि से ब्रह्म ही जीव बन गया ” यह समझना भ्रम है॥ ११ ॥

४० तिथि ३० ज्यौषण ३०० घण्टा २० से-

### अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तदुम्बव्यपदेशात्

अन्तर्यामी परमात्मा अधिदेवादिषु पृथिव्यादिषु भवितुमहृति कुतः। तत् तस्य परमात्मगः धर्माणां जुणानां अपवेगनात्। जाषायेः। ब्रह्मदारयपदे पांचवें शत्याय में याज्ञवल्क्यने उद्भालक से कहा कि पृथिव्यादि में अन्तर्यामी हैं श्वर हैं क्योंकि पृथिवी में रहता है पर उस को पृथिवी नहीं जागती किंतु ज्ञात और असृतादि गुणों का उसी में संग्रह है इस से “ यद्यमंच लोकं परं च लोकं सर्वाणि भूतानि योन्तरोयनिति ” किंतु कहा कि “ पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोपयं पृथिवीं ग वेद यस्य पृथिवींशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यस्यत्येष त आत्मामर्याम्यमृनः ॥ इत्यादि ऐसा वाक्यों गी न कि अधिदेवादिका अभिभावनी देवता या योगी या अपूर्व संज्ञा है किन्तु परमात्मा है अन्तर्यामी ज्ञानात्मगुण से ॥

प्रत्युत्तर-सूत्रार्थं पह है कि ( अधिदेवादिषु ) पृथिव्यादि देवों में ( तदुम्बव्यपदेशात् ) उस परमात्मा के धर्मों का डयपदेश होने से ( अन्तर्यामी ) परमात्मा जान्तर्यामी है ॥

इतने से स्वानन्दी जी के पक्ष भेदवाद का खण्डन कुछ भी नहीं होता। प्रत्युत जाप ही के उद्भूत किये हुवे उपनिषद्वाचकों से उस का पृथिव्यादि देवों के भिन्न पृथिव्यादि का अन्तर्यामी होना पाया जाता है। यथा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्याऽन्तरोयं पृथिवीन वेद। इत्यादि

अथरेत् जो परमात्मा पृथिवी में ठहरा है, पृथिवी के भीतर भी है, जिसे पृथिवी नहीं जानती। इत्यादि ॥

४० तिः भा० प० ३०१ य० १ से-

### शारीरकोभयेपिहिमेनमधीयसे ५७

कथव और नाथ्यान्दिग जो दीर्घों जीव वे अगले ईश्वरको पढ़ते हैं तिथ वे जीव भी अन्तर्यामी नहीं हैं और न प्रधान है किन्तु अन्तर्यामी ईश्वर है काशक: “यो विज्ञाने तिष्ठन्” इति नाथ्यान्दिगः “यआत्मनि तिष्ठनात्मा नमन्तरे भवति” अणु से अषु भीर महाभू से महान् पृथिवी उयोमादि मबवधु में अन्तर्यामी को कहने से परमात्मा ही सर्वेन्द्रियक है अन्तर्यामी भीर विज्ञानमय शरीर है इत्यादि सब कुछ ब्रह्म ही है यह अधिकरण ब्रह्म ही को कहते हैं जाते हैं जीव जातानतक है जब यथार्थ अनुभव हुआ तो सब कुछ जो ही है अब जाने का सूच भूत्योनि प्रकरण कर है ॥

**प्रत्युत्तर-इस सूच में भी इस से पूर्वले सूत्र ( न च इमार्तमतदुर्भासिता-लापात् २ । १९ ) में है “ च ” की अनुवृत्ति है । और अर्थ यह है कि ( शारीरक ज ) शरीरधारी जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है । क्योंकि ( उभयिहिमिहि ) दीर्घों काशव और नाथ्यान्दिग आज्ञा चाले अरचार्य ( एतम् ) इस जीवात्मा को ( भेदेन ) ब्रह्म से भिन्न भरव से ( अधीयते ) पढ़ते हैं ॥**

इस में भी भेद ही सिहु हुगा, अभेद नहीं । अरप ने भी अपने अर्थ में उपनिषद्वाक्य लिखा-है कि—

य आत्मनि तिष्ठनात्मानमन्तरे यमयति, इत्यादि

जो जीवात्मा के भीतर रहता भीर उस का अन्तर्यामी है ॥

४० तिः भा० प० ३०१ य० १ में सूत्र है कि-

अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः ॥ २ । २१ ॥

**प्रत्युत्तर-** यह सूत्र भी अद्वैतवाद को नहीं कहता । इस का सरलार्थ यह है कि-परमात्मा अदृश्यत्व अदिगुणशाला है क्योंकि अदृश्यत्वादि धर्म उपनिषद् में कहे हैं जोना कि नाप के ही शाक्तरसाद्य में उपनिषद् का वाक्य उद्धृत है कि:-

यत्तद्द्रेश्यमग्नाह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रीत्रं तदपाणिपादम् ।

अर्थात् वह ब्रह्म अदृश्य, अप्रस्थ, अगोत्र, वर्णरहित, आंख कान हाथ

पांव से रहित है इत्यादि । वही प्राणिमात्र का स्वरूप है । वस इस से भी किसी प्रकार स्वास्थी जी के पक्ष पर कोई दूषण नहीं आता ॥

**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मा-  
देतद्रह्म नाम रूपमन्तं च जायते इति ॥**

इस का न आप ने पता दिया, न अर्थ लिखा, न यह लिखा है कि इस से हमारे पक्ष की वह सिद्धि और विपक्ष की यह दानि है । पाठकों के अधिकाराये हम इस का अर्थ लिखते हैं—

“जो सर्वज्ञ और सब कुछ प्राप्त किये तुवे है, जिस का ज्ञान ही तप है, वह ब्रह्म है । उस के तप अर्थात् ज्ञान वा सङ्कूलण से नाम रूप और अस्तित्व को दृष्टपक्ष हो जाता है अर्थात् जब वह चाहता है, तब ही नाम रूप और अस्तित्व को दृष्टपक्ष कर लेता है” ॥

द० तिद० भा० ए० ३०१ य० १७ से—

“विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांतरी ३२

प्रतश्चपरेण एव भूतयोनिर्मशारीरः प्रथाम चेति

जीव सूतों का कारण नहीं हो सका है क्योंकि अमूर्तपुरुष बाहर भीतर इत्यादि विशेषणों से व्यापक व्यक्त ही कहा है ज कि परिचितक जीव इस से “दिठयोह्यमूर्तयः” इत्यादि और प्रथाम भी सूतों का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रथाम से सूतों का कारण अलग कहा है, इस से “अस्तरात्परतः पर इति अस्तरं अठपाकुतं गामकुपदीजशक्तिकुपं सूतसुकृतमीहवरा-अयत्तस्यैकोपाधिसूतं सर्वस्मात् विकारात्परो य अविकारक्षस्मात्परतः पर इति भेरेण उपपदेशात्परनिह विशितश्वर्यस्तोति”

प्रस्तुतर-भला इस से आप का पक्ष क्या छिड़ तुवा ? जब कि आप ही लिखते हैं नि-जीवात्मा परिचितक एकदेशीय होने से जगत्कर्ता नहीं हो सकता और प्रथाम वा प्रहृति भी जगत्कर्ता नहीं है । क्योंकि—

**दिव्योह्यमूर्तः पुरुषस्त्वाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।**

**अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि ॥**

परमात्मा के ही ये विशेषण हो सकते हैं कि दिव्य है, तुर्सिरहित है, पुरुष है, बाहर भीतर व्याप्त है, अत्यन्ता है, प्राणादि का ज्ञान आदि है रहित है ॥ और प्रहृति इस किये त्वयं जगत् नहीं रख सकती कि—

### अक्षरात् परतः परः

आत्मा अविनाशी प्रधान प्रकृति से भी पर अर्थात् सूक्ष्म है। ये वाक्य आप ने ही अपने अर्थ में उद्धृत किये हैं॥

३० इ० भा० य० ३०१ य० २५ में-रूपोपन्यासाच्च इत्यादि शूल से अद्वैत-  
शाद लिखा किया है॥

प्रत्युत्तर-आप के ही उद्धृत उपनिषदादिवाक्यों की सङ्गति और उपन्यासमूहों की पूर्वोपरमङ्गतिमहित इन सूचक का स्पष्ट अर्थ यह है-

**रूपोपन्यासाच्च २ । २३ ॥**

अर्थात् परमात्मा की व्यापकता में ही सूचों का उपन्यास वर्णन किया रखा है, जि कि जीव वा प्रकृति में। इस लिये पूर्व सूच में कहा ( नेतरी ) ठीक है कि जीव वा प्रकृति जगत् के कर्ता नहीं हैं। रूप वाले पदार्थों को इस प्रकार परमात्मा में उपन्यस्त किया है कि—

**अतिर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यी दिशः श्रोत्रे वा-  
ग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य  
पद्म्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा हृति ॥**

अर्थात् परमात्मा सब सूतों का अन्तरात्मा ( अन्तर्यामी ) है क्योंकि अग्नि उन के सूधों ( मस्तक ) के तुल्य है, चन्द्र सूर्य आंखों के, दिशायें कान, वाणी वेद, वायु वाणा, हृदय जगत् और पृथिवी पांख के तुल्य है। इस व्यक्तार परमात्मा में ही इन सब अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि नामरूप वाले पदार्थों का उपन्यास कहा है, जीव वा प्रकृति में नहीं। इस से भी भेद लिहा है क्योंकि जिन प्रकार आंख, कान, हृदय, पांख, प्राण आदि से जीवात्मा भिन्न है, इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि से इन का अन्तरात्मा भिन्न है॥

—८४—

### वाममार्गप्रकरणम्

३० उद्वालापसाद् जो भद्राज । आप के भावे बलदेवप्रदाद् जो ती तत्प्रगाच्च के आचार्य हैं। फिर आप ने क्या तत्त्व इहीं पढ़े? जो तत्प्रविषयक सत्पार्थप्रकाश्य गिम्लिखित वाक्यों का कुछ भी समाप्ति न किया—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।

एते पञ्च मकाराः स्युर्मौकिदा हि युगे युगे ॥

कालीतत्त्वादि मे

प्रवृत्ते भैरवी अक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः  
निवृत्ते भैरवीअक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

कुलार्णवतन्त्र

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।  
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्धते ॥

सहानिर्योगतन्त्र

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ।  
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका हव ॥

एकैव शास्त्रभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।

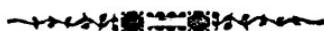
ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।  
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ॥

अयोध्या पुक्षसी प्रोक्ता ।

हृदयामल तन्त्र

आप को ती चाहिये था कि इन सहानिन्दित सम्प्रदायी कार्यों का भी  
पत्र लेकर पुष्टि करते । या इन झोकों के अर्थ केरते था अनान्य छताते ॥



### कालिदासप्रकरण

८० तिं ८० प० १०२ पं० ११ चे—

सभीकारा—यही ती दयानन्द जी ने निधइक ही लेखनी अडाई है भला  
कीरसी पुस्तक इतिहास शोजप्रबन्धादि में यह लिखा है कि कालिदास गह-  
रिया था और स्वामी जी ने शत्रुघ्ना से कालिदास को गहरिया बताया है क्यों  
कि इस सहाकरिके घन्घों को “जिस का नाम इगलेण्डीय मान्यपुरुष भी गीरत  
के माय लेते हैं” गहरे का निशेष किया है और शोजप्रबन्ध में कहीं भी  
कालिदास को गहरिया नहीं लिखा है किन्तु राजा की सभा में गवर्नरोंमें  
यह भी एक स्वीकार संस्कारी जी ती जाति रामे से जानते हैं तो उन के मतानु-

सार परिषित होनेमे वह गहरिया नहीं रहा और जो परिषित होन्हर भी गहरिया जाति रही तो स्वामी जी के ही घन्थों से स्वामी जी का स्वरहन होगया

प्रत्युत्तर—स्वामी जी से कालिदास जो गहरिया कहीं नहीं लिखा, आप के हृदय में संस्कार होगा, आप ने कहीं अन्यत्र सुना होगा। स्वामी जी ने नी भोज विक्रम कालिदास। यदि की आपने समय में कुछ प्रशंसन की है कि इन के समय में संस्कृत का मचार हुआ। उनके काव्यों का पढ़ना इस लिये बर्जत किया है कि अनार्थ घन्थों के पाठ से आर्थ घन्थों के प्रचार और पाठ में बाधा पड़ती है। तथा काव्य मायः कामासक्ति के उद्घोषक होते हैं। और यदि वह गहरिया हो कर भी भोज की सभा के नवरत्नों में पा तो स्वामी जी का गुणकर्मस्वभावानुसार वर्ण सामना दूषित नहीं हुआ। प्रत्युत भोज भी जन्म से निकृष्ट जाति तक को उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त पाप उस की प्रतिष्ठा करता था और आपनी सभा के विद्वान् पुरुषों में लेलेता था, जिस से सब कोई विद्वान् होनेता प्रयत्न करता था। आजकल के समाज निरक्षर पुरोहितों की छीन अन्धी न पी और न इट्टिंदार प्रयाग गदा के परहें आदि के समाज निरक्षरों को उसमें रुपयों का दान मिलता था, और न आजकल के काशी के परिषितों के सा जात्यजिमान था कि एक धाराप्रवाह संस्कृत भाषण करने वाले प्रतिष्ठित रईस सदाचारी कायस्थ को केवल कायस्थ कुल में जन्म लेने नाम से बेदपाठसभा में बीठने तक का अधिकारी समझा ॥

### रुद्राक्षप्रकरणम्

८० तिं भा० प० ३०६ प० १ से—रुद्राक्षधारण को शेषों का ऐसा ही चिह्न बताया है, जैसा संन्यासी लोगों का वेष पृथक होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यदि ऐसा है तो केवल शेषों के लिये विधान होता। परन्तु उस में तो रुद्राक्षहीन पुरुषों को चिह्नार (लानन) लिखा है। किरदिष्टश्चादि सब भव्य संप्रदायियों को गाली ही ख्यों ग हुए ?

८० तिं भा० प० ३०६ प० १९ से—

सनीकार—राजाभोज के बनाये संजीवकघन्थ का पता और उस घन्थों का घृतांजल कहांसक लिखे हमने कह रजिस्टरी बिहु भिलखण्डन को ब्राह्मणों वे पात्र भेजी थीं जिस में ऊपर लिखा थ्योरा रपह लिख दिया था उसमें वे दो इषारों से उत्तर भाया है कि यह सब बात मिटपा है यहाँ कोई ऐसी मुस्तक

हासरे पास नहीं जिस में ऐसी बातें लिखी हों इस कारण स्वामी जी का कहना भीर चीजें नी के बहना दोगों अप्रभाव हैं। भोज के समय जिसने यथा बने हैं वह अद्यावधि उन्हीं के नाम से विश्वात हैं जो उन के कर्ता हैं सहस्रों लोकों को व्यास जी के नाम से रचने से उन्हें क्या लाभ था पहले स्वयं दयागन्द जी कहते थे व्यास जी ने २४००० सहस्र लोक का महाभारत अनाया अब चार सहस्र ही का वर्णन किया है फिर व्यास जी ने प्रतिष्ठा की है कि मैं इस ग्रन्थ में ८८०० कूट लोक कहूँगा “ अष्टौ लोकसहस्राणि अष्टौ लोकशतानि चेति ” जिन्हे मैं भीर शुक्रदेव जागता हूँ संजय अर्थे कर सकता है या नहीं जिस के अर्थ में लक्षणात्र गणेशजी विचार करते थे इस अवधि में व्यास जी अतुल लोक बना लेते थे वैगम्यपायन ने इस की प्रशंसा की है जो इस में है वह अन्यस्थान में मिलसहता है जो इस में नहीं है वह भीर कहीं नहीं मिलेगा । यह ग्रन्थ लक्षणों से पूर्ण है स्वर्गरोहणपर्व के अन्त में लेख है कि इस के पाठ से आषाढ़ पुराण को अवण का फल होता है तथा अनुक्रम यिका में प्रत्येक पर्व का वृत्तान्त और उन के अध्याय छोटों की संख्या लिखी है चार सहस्र में ती इस का युह भी नहीं समा सकता भीर इस के बिना इतिहास कहां से आवेगे क्या सत्यार्थकाश में से निकलेंगे और देखिये प्रत्येक पुराणों में आषाढ़ पुराणों का वर्णन है और उन के इनोंकों की संख्या है इससे स्पष्ट विदित है कि यह सब एक समय के बने हैं राजा भोज के समय पुराण बना किसी प्रकार से सम्भव नहीं ॥

मत्युत्तर-क्षणा जापने लखुना के रावसाहब था रामदयालु जी का कोई पत्र पाया है ? यदि नहीं पाया तो क्षणा एक स्वर्गवासी नहात्मा को निरपादादी खिलाना ठीक नहीं । महाभारत में स्वयं आदिपर्व में २४००० सहस्र इलोक होना लिखा है । वह भी मात्र है । तथा नीचे लिखे आदिपर्व अध्याय २ के भारत-सूचीपत्र इलोकों को पढ़ने और तदनुसारी नीचे के ( मक्षे ) चक्र को देखने से ज्ञात होगा कि भोज के समय से अब तक भी बराबर लोग इलोक बना कर मिलाते रहे और कितते ही इलोक घटा भी दिये । जैसा कि-

१-आदि पर्व-

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।

स्मृतिंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजुसा ॥१३१॥

२-मना पर्व

अध्यायाससप्ततिर्ज्ञयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ॥१४२॥

३-वन पर्व

अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यायाः परिकीर्तिंते ॥२०४॥

एकोनसप्ततिर्ज्ञैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिः ॥

४-विराट पर्व

अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्जिणा ।

सप्तष्टिरथोपूर्णाः श्लोकानामपि मे शृणु ॥२१६॥

५-चयोग पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४२॥

६-भीष्म पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशाऽपरे ॥२५२॥

७-द्वोण पर्व

अत्राध्यायशतं प्रोक्तन्तथाध्यायाश्च सप्ततः ॥२६७॥

८-कर्ण पर्व

एकोनसप्ततः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ॥२७६॥

९-शस्य पर्व

एकोनष्टिरध्यायाः पर्वण्यन्न प्रकीर्तिः ॥२८८॥

१०-सीमित पर्व

अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्यक्ता महात्मना ॥३०८॥

११-खी पर्व

सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिः ॥३२१॥

१२-शान्ति पर्व

अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥३२७॥

त्रिंशञ्चैव तथाध्याया नवं चैव तपोधनाः ॥

१३-अनुशासन पर्व

अध्यायानां शतं त्वन्न षट्क्षत्वारिंशदेव तु ॥३३५॥

१४ शश्वत्मेध पर्व-

अध्यायानां शतं चैत्र श्रयोध्यायाम् कीर्तितः ॥ ३४१ ॥

१५ भाष्मवासि पर्व-

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ॥ ३५० ॥

१६ सीमल पर्व-

अष्टाध्यायाः सामाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ ३५१ ॥

१७ महाप्रस्थान पर्व-

अप्राध्यायाख्ययः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ ३५७ ॥

१८ स्वर्गरोहण पर्व-

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वत्यस्मिन् महात्मना ॥ ३७७ ॥

| नाम पर्व | कित्ते श्लोका- | कित्तने अध्याय | कलकते की               |
|----------|----------------|----------------|------------------------|
|          | मुमार          | होने चाहियें   | पुस्तक में कित्तने हैं |

|                   |     |     |     |    |      |
|-------------------|-----|-----|-----|----|------|
| १ आदि पर्व        | १११ | २२  | २३६ | ८  | बड़े |
| २ सभा             | १४२ | ७६  | ८०  | ३  | "    |
| ३ वन              | ६०४ | २६६ | ६१४ | ४५ | "    |
| ४ विराट्          | २१६ | ६७  | ७२  | ५  | "    |
| ५ उद्योग          | ६४२ | १०६ | १९७ | ११ | "    |
| ६ भीष्म           | २५२ | ११७ | १२४ | ७  | "    |
| ७ द्रोण           | ६६७ | १७० | १०४ | ३४ | "    |
| ८ कर्ण            | २७६ | ६९  | ९६  | २१ | "    |
| ९ शत्र्य          | २८७ | ५८  | ६५  | ६  | "    |
| १० सीसिंह         | ३०८ | १८  | १८  |    |      |
| ११ रुदी           | ५२१ | ६३  | २७  |    |      |
| १२ शान्ति         | ५२३ | ६५  | ५६५ | २६ | बड़े |
| १३ अनुशासन        | ५३५ | १५६ | १६८ | ८२ | "    |
| १४ शश्वत्मेध      | ५४१ | १०३ | ८२  | ११ | बड़े |
| १५ भाष्मवासि      | ३५७ | ४२  | ४९  | ५  | "    |
| १६ सीमल           | ६६१ | ८   | ८   | ८  |      |
| १७ महाप्रास्थानिक | ६६९ | ३   | ८   | १  | घटा  |
| १८ स्वर्गरोहण     | ६७७ | ५   | ६   | १  | बड़ा |

देखिये वर्तमान प्रशापवन्द्र राय के लघाये कलकत्ते के महाभारत में ही १०७ अध्याय भारतलिखित सूचीपत्र से अधिक हैं और १५ अध्याय घूून हैं। तब न जाने क्या २ मिलाया गया और क्या २ उत्तम विषय निकाल दिया गया और मुस्मई के लघाये में तो और भी अधिक छोक हैं और सूचीपत्र भी स्वयं व्यास जी ने नहीं बनाया, प्रत्युत सुत जी के पश्चात् बना है॥

४० तिठ भा० पृ० ३०४ पं० ९ से पृ० ३०५ पं० ५ तक यह जायश है कि १—जीनियों से पौराणियों ने मूर्तिपूजा नहीं ली किन्तु पौराणियों से जीगीलोगों ने ली २—मुस्लमानों के दीवायचे देखकर स्वामी जी ने वेदजाग्रण मूर्मिकारची। ३—तक मङ्ग्यह देख कर सत्यार्थप्रकाश में सूत्रावली बनाई ४—देवीभागवतादि में जो भिन्न २ देवों से सुष्टि की उत्तरतिलिखी है सो सब देवता जिक २ नहीं किन्तु परमेश्वर ही के नाम हैं॥

प्रत्युत्तर-१—जीनियों से पुराणों ने अवतार ग लिये होते तौ १० सुरुय अवतारों में बौद्ध जीनों के अवतार बुद्ध देव को गवां अवतार क्यों मरना जाता २—स्या सापणाचार्य ने भी क्रांतेदगाढ़ का उपोद्घात ( दीवायचा ) मुस्लमानों से लिया था ? ३—तक मङ्ग्यह के समान सत्यार्थप्रकाश में कहों कोई सूत्रावली संस्कृत में स्वामी जी की बनाई नहीं है ॥ ४—देवीभागवतादि अथ पुराणों में अविरोधभाव से एक ही परमेश्वर के जनेन नामों की व्याख्या होती तो लिङ्गपुराण छपा लखनो सन् १८९७ अध्याय ८६ में शिव जी ने शर्म पक्षी का रूप पारण करके नृसिंह जी को गार हारना कर्म लिखा है ? नृसिंह जी तो पुराणानुमार अवतार थे ! और शिव भी, जेबा कि-

भी सगवानुवाच-

अकाले भयमुत्पन्नं देवानामपि भैरव । ज्वलितः स  
नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम् ॥१२॥ सान्तवयन् बोधयादी  
तं तेन किं नोपशाम्यति । ततोमत्परमं भावं भैरवं  
सम्प्रदर्शय ॥ १३ ॥ सूक्ष्मं सूक्ष्मेन संहृत्य रथूलं रथूलेन  
तेजसा । वक्रमानय कृत्तं च वीरभद्र ! ममाङ्गया ॥ १४ ॥  
इत्यादिष्टोगणाध्यक्षः प्रशान्तवपुरास्थितः । जगाम रंहस्या

तत्र यत्रास्ते नरकेशरी ॥१५॥ ततस्तं योधयामास वीरभद्रो  
ह्रोहरिम् । उवाच वाक्यमीशानः पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६॥

नहरेव जो ओले कि—

हे वीरभद्र ! इस स्थप देवताओं को बड़ा भय हो रहा है इस कारण  
उम नृसिंह रूप अचिन को शोष्ण हो जाय शान्त करो । पहले तौ नीठे  
बचनों से उन को ममकाजो, जो न शान्त हों तो भैरव रूप दिखाओ । सूक्ष्म  
को सूक्ष्म और स्थूल को स्थूल तेज से संहार कर “हमारी जाता से नृसिंह  
का # मुष्ट और अर्च हमारे लिये लाभो ” । यह शिव जी की जाता पाय  
शान्ति से वीरभद्र जो नृसिंह के समीप गये और उन को अपने औरपुत्र  
की भाँति समाझाने लगे कि:-

वीरभद्र उवाच—

जगत्सुखाय भगवन्वतीर्णसि माधव । स्थित्यर्थं च  
नियुक्तोसि परेण परमेष्ठिना ॥१७॥ विभर्षि कूर्मरूपेण वारा-  
हेणोद्धृत्ना मही । अनेन हरिरूपेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१८॥  
अत्यन्तघोरं भगवन् नरसिंह वपुस्तत्र । उपसंहर विश्वात्म-  
स्त्रमेव मम सत्त्विधी ॥ २४ ॥

हे नृसिंह जी । अप ने जगत् के बुख के लिये अवतार लिया है और  
परमेश्वर ने भी जगत् की रक्षा का ही जपिकार अप को दे रखा है ॥१७॥  
महस्य रूप घरके अप ने इस जगत् की रक्षा की, कूर्म और वाराहरूप से  
एथिवो को धारण किया, इस नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु का संहार किया,  
बासन रूप घर राजा बलि को बर्धा । अब तुम हमारे कहने से इस अति  
घोर रूप का संहार करो, जगत् को बहुत त्रास हो रहा है ॥ २४ ॥

सूत उवाच—

इत्यक्तोवीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा ।

ततोऽधिकं महाघोरं कोपं प्राज्ञालयद्वरिः ॥२५॥

सूत जी ओले—

हे मुमीश्वरो ! इस भाँति वीरभद्र जी ने बहुत शान्त बचनों से नृसिंह जी

\* अप लोग कहते हैं कि शिव विष्णु एक हैं, परन्तु शिव नृसिंह का  
विर कटवाता और लाल छिंदवाता है ॥

को समझाया परम्तु वे ग माने और हन के वचन सुन बड़ा क्रोध कर बोलेकि-२५  
नृसिंह उवाच-

आगतोऽसि यतस्तत्र गच्छ त्वं मा हितं वद । इदानीं  
संहरिष्यामि जगदेतज्ज्ञराचरम् ॥२६॥ मन्माभिपङ्कजाज्ञातः  
पुरा ब्रह्मा चतुर्मुखः । तललाटसमुत्पन्नो भगवान् वृषभ-  
ध्वजः ॥२१॥ कालोऽस्मयहं कालविनाशहेतुलोकान्समाहर्त्तु-  
महं प्रवृत्तः । मृत्योर्मृत्युं विद्धि मां वीरभद्रं जीवन्त्येते

मतप्रसादेन देव्राः ॥ ३५ ॥

वीरभद्र ! जहां से तू आया है वहां ही चला जा । इस चराचर जगत्  
का भगी मैं संहार करता हूँ ॥२६॥ चतुर्मुख ब्रह्मा मेरे नामिकगल से उत्पन्न  
हुएगा और ब्रह्मा के लालाट से शिव की उत्पत्ति हुई है ॥२१॥ इस जगत् का नाश  
करने के बारे मुझे साज्ञात् काल ही जान, मृत्यु का भी मृत्यु मैं हूँ, हे वीर-  
भद्र, ! सब देवता मेरी रूपा मे जाते हैं ॥ ३५ ॥

सृत उवाच-

साहंकारमिदं श्रुत्वा हरेरमितविक्रमः ।

विहस्योवाच सावज्ञं ततोविस्फुरिताधरः ॥ ३६ ॥

मूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! यह नृसिंह जी का गम्भीरान्युक्त वचन  
सुन कुछ कोप कर हमसे वीरभद्र कहने लगे-

वीरभद्र उवाच-

किं न जानासि विश्वेशं संहत्तारं पिनाकिनम् । अ-  
सद्वादोविवादश्च विनाशस्त्वयि केवलः ॥ ३७ ॥ तथान्यो-  
न्याऽश्रताराणि कानि शेषाणि साम्प्रतम् । कृताति येन  
केनापि कथाशेषोभविष्यसि ॥ ३८ ॥ दोषं त्वं पश्य एतत्  
त्वमवस्थामीदृशीं गतः । तेन संहारदक्षेण क्षणात्संक्षय-

\* अन्य है पुराणों को, कहीं ब्रह्मा भीर शिव की उत्पत्ति किसी प्रकार,  
कहीं किसी प्रकार ॥

मेष्यसि ॥ ३६ ॥ प्रकृतिस्त्वं पुमान् रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहितम् । त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवत्तकः पितामहः ॥ ४७ ॥ न त्वं स्वष्टा न संहर्त्ता न स्वतन्त्राहि कुत्रचित् । कुलालघक वच्छत्त्वा प्रेरितोसि पिनाकिना ॥ ४५ ॥ अद्यापि तत्र निक्षिप्तं कपालं कूर्मरूपिणः । हरहारलतामध्ये मुग्ध ! कस्मात्त बुध्यसे ॥ ४६ ॥ विस्मृतं किं तदंशेन दंष्ट्रोत्पातेन पीडितः । वाराहविग्रहस्तेद्य साक्रोशं तारकारिणा ॥ ४७ ॥ दग्धोसि यस्य शूलाग्रे विष्वक्सेनच्छलाद्वान् । दक्षयज्ञे शिरश्चित्तव्यं मया ते यज्ञरूपिणः ॥ ४८ ॥ निर्जितस्त्वं दधीचेन सङ्घामे समरूप्णः । कण्ठूयमाने शिरसि कथं तद्विस्मृतं त्वया ॥ ४९ ॥ चक्रं विक्रमतोयस्य चक्रपाणे तव प्रियम् । कुतः प्राप्तं कृतं केन त्वया तदपि विस्मृतम् ॥ ५१ ॥ ते मया सकला लोका गृहीतास्त्वं पथोनिधौ । निद्रापरवशः श्रेते स कथं सातिकोभवान् ॥ ५२ ॥ शास्त्राऽशेषस्य जगतोन त्वं नैव चतुर्मुखः । इत्थं सर्वं समालोक्य संहरात्मानमात्मना ॥ ५३ ॥ नोचेदिदानीं क्रोधस्य महाभैरवरूपिणः । वज्राशनिरिव स्याणोस्त्वैवं मृत्युः पतिष्यति ॥ ५४ ॥

बोरझद्र घोषे कि—

“हे नृसिंह ! जगत् के संहार करने हारे थी शिव जी को या तुम नहीं जाते, यह तुम्हारा “अस्त ठपस्त बोलना केवल तुम्हारे नाश का हेतु है” पहिले जो २ अवतार तुमने लिये थे वह कहाँ हैं । इस लिये तुम भी कथा शेष हो जा सोगे अर्थात् न रहोगे । इन कूरता के कारण बहुत शोष तुम्हारा संहार किया जावेगा । तुम प्रकृति हो जौर शिवजी पुरुष हैं उन्होंने तुम में वीर्य का निषेक किया तब तुम्हारे नास्तिकमल से पश्चपुख # ब्रह्मा उत्पन्न हुए । हे नृसिंह जी ! जो शिव को तुम अपना धीर समझते हो तो न तो तुम

# अन्य । ब्रह्मा के चार मुख से ५ मुख ज्ञानी वर्णन कर दिये ॥

संहार करने हारे न पालन करने हारे हो “केवल शशांग से” जपने स्वरूप को भूल रहे हो, कुम्हार के चाक की भ्रांति शिव जी की शक्ति ने घूमते फ़िरते हो। हे मूढ ! “तेरे कूर्म अवतार का कपाल शब तक शिवजी ने” हार में पिरो रखा है और बाराह अवतार की हाढ़ रुद्र ने उछाड़ी और तुके अति पीड़ा दी, तेरे विष्वक्षेत्र रूप को शिव ने जपने त्रिशूल के अथ से दृश्य किया। दक्ष के यज्ञ में तेरे यज्ञरूप का धिर मैने काटा। तेरे पुत्र अश्वमहा का पांचवां मस्तक शब तक कटा ही पहा है, गिरमक्क दधीचि ने तेरा पराजय किया<sup>१</sup> परन्तु ये शब वःसें भूज गया और फ़िर “तेरे धिर में खुचली अखु”। यह सुर्दर्थनव्यक्ति गिरु के बल से तू पराक्रमी हो रहा है, कहाँ से पाया और किस ने बगाया, यह भी भूल गया। प्रलय के समय शब लोर्गों का संहार मैने किया, तू तो निद्रावश हो मुद्र में जा सोया। इसी से जान ले कि जैसा तू मात्रिक है॥ न तू शास्ता है और न ब्रह्मा। यह शब मग में विचार कर इम क्लूर रूप का संहार कर, नहीं तो महाभैरवरूप शिव के क्रोध का वज्र अब तेरे मस्तक पर गिरेगा॥

सूत उवाच-

इत्युक्तोवीरभद्रेण नृसिंहः क्रोधविहूलः । ननाद तनु-  
वेगेन तं ग्रहीतुं प्रचक्रमे ॥ ६० ॥ अत्रान्तरे महाघोरं विप-  
क्षभयकारणम् । गगनव्यापि दुर्धर्षं शैवतेजः समुद्विम् ॥ ६१ ॥  
सहस्रब्रह्मजिलश्चन्द्रार्धकृतधेखरः । समृगार्धशरीरेण पक्षा-  
भ्यां चञ्चुना द्विजाः ॥ ६२ ॥ स्पष्टदंष्ट्रोऽधरोष्टश्च हुङ्कारेण  
युतोहरः । हरिस्तदृशनादेव विनष्टबलविक्रमः ॥ ६३ ॥ वि-  
भ्रद्वौर्म्यसहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम् । अथ विभ्रम्य पक्षा-  
भ्यां नाभिपादेभ्युदारयन् ॥ ६४ ॥ पादावाद्यध्य पुच्छेन  
ब्राह्म्यां ब्राह्मणदलम् । भिन्दन्नुरसि ब्राह्म्यां निजयाह हरो  
हरिम् ॥ ६५ ॥ ततोजगाम गगनं देवैः सह महर्षिभिः । सह-  
सैव भयाद्विष्णुं विहगश्च यथोरगम् ॥ ६६ ॥ उत्क्षण्योत्क्षण्य

संगृह्य निपात्य च निपात्य च । उड्डीयोड्डीय भगवान्  
पक्षाघातविमोहितम् ॥ ७३ ॥ नीयमानः परवशो दीनवक्तः  
कृताञ्जलिः । तुष्टाव परमेश्वानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥ ७५ ॥

नृसिंह उचाच-

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रासाय विषणवे । नम उग्राय  
भीमाय नमः क्रोधाय मन्यवे ॥ ७६ ॥

मूर उचाच-

नाम्नामष्टगतेनैव स्तुत्वामृतमयेन तु । पुनस्तु प्रार्थया-  
मास नृसिंहः शरभेश्वररम् । ८५ । यदा यदा ममाज्ञानम-  
त्यहङ्कारदूषितम् । तदा तदापनेतत्यं त्वयैव परमेश्वर ॥८६॥  
एवं विज्ञापयन् प्रीतिं शङ्करं नरकेशरी । नन्वशक्तीभान्  
विषणो जीवितान्तं पराजितः ॥ ८७ ॥ तद्वक्तशेषमात्रान्तं  
कृत्वा सर्वस्य विग्रहम् । शुक्तिशित्यं तदा भङ्गं वीरभद्रः  
क्षणात्ततः ॥ ८८ ॥

देवा क्रचुः-

अथ ब्रह्मादयः सर्वे वीरभद्र त्वया दृशा । जीविताः  
स्मोत्रयं देवाः पर्जन्येनैव पादपाः ॥ ९९ ॥ एतावदुक्ता  
भगवान् वीरभद्रोमहाव्यलः । पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैवा-  
न्तरधीयत ॥ ११४ ॥ नृसिंहकृत्तिवत्तनस्तदाप्रभृति शङ्करः ।  
वक्त्रं तन्मुण्डमालायां नायकत्वेन कर्त्त्वपतम् ॥ ११५ ॥

इति श्री लिङ्गपुराणान्तर्गते षण्णवतितमेऽध्याये

नृसिंहवधाख्यं प्रकरणं समाप्तम्



सूतजी बोले कि—

हे मुनीश्वरो ! इतना सुनते ही नृसिंह जी की क्रोध की अवित्त से जल उठे और बड़ा घोर शब्द करके वीरभद्र जी को पकड़ना चाहा । इसी अवसर में महाघोर शत्रुओं को भय देने हारा शिवतेज से उत्पन्न अतिदुर्धर्ष आकाश तक व्यास बड़ा भण्डार रूप वीरभद्र का होगया । सहस्र भुजा धारे और अहतक पर चांद में शोमित था । जिस रूप का आधा शरीर सूर्य का और आधा पक्षी का । बड़े २ पङ्क्ष, तीखों छोंच, वज्र के तुल्य नख, बड़ी २ और आनितीष्ण हाढ़, नीलकण्ठ, चार पाद, प्रलयार्णि के समान देवीष्टमान देव अतिकृपित और बड़े कूर तीन नेत्र और प्रलय के मेघों के समान जिस का गम्भीर शब्द हा । उस अतिदारु हुङ्कार शब्द को करते हुवे रुद्ररूप को देखते ही नृसिंह जी का रुक्ष बल, पराक्रम नष्ट हो गया और जैसे सूर्य के ऊंगे खद्योंत हो जाय, ऐसे निस्तेज हो गये । शरभरूप शिव भी अपने पुछल से नृसिंह के पांव लपेट हाथों से हाय पकड़ लानी में चोंच के प्रहार देते हुवे जैसे सर्वे को गहड़ ले उड़े, ऐसे ही भयभीत नृसिंह जी को अपने पक्षों के घात से गोहित कर आकाश को ले उड़े और आकाश में जाय फिर नृसिंह जी थो भूमि पर गिराया और फिर चढ़ाया । इस भाँति बहुत धार उठाय २ पटका और जब नृसिंह जी बहुत व्याकुल हो गये, तब लेकर उड़ बले । सब देवता स्तुति करते हुवे उन के पीछे चले । नृसिंह जी परवश और दीनमुख हुवे २ आकाश में अपने को उठा ले जाते शिव जी को देख हाय जोड़ स्तुति करने लगे । सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! एक सौ आठ नामों में परमेश्वर की स्तुति कर नृसिंह जी शुद्ध अन्तःकरण से प्रार्थना करने लगे कि महाराज ! जब २ मुझे गहङ्कार से ज़ज्जान हो तब २ आप शासन करें । वीरभद्र भगवान् उन सौ प्रार्थना सुन प्रसन्न भये और कहा कि हे विद्यो ! अब तू अशक्त हुवा और तेरा प्राणों तक पराजय हुवा । इतना कह नृसिंह जी का चर्म वीरभद्र जी ने उतार लिया और शरीर के शुक्रवर्ण अस्ति निकल आये और शिर भी काट लिया । यह सब चरित्र देख ब्रह्मा आदि देवता स्तुति करने लगे । पुनः सब देवताओं के देखते ही वीरभद्र भगवान् अन्तर्धान हो गये । उसी दिन से नृसिंह जी का चर्म शिव जी ने अंडा और उन का मुख अपनी मुखमाला का मध्यमणि बनाया ॥

यह लिङ्गपुराण के ६६ अध्याय में नृसिंहवध समाप्त हुवा

६० तिं ७८० प० ३०५ प० ६ से ८० ३०६ प० १६० तक परमेश्वर के नाम स्परण का माहात्म्य लिखा है ॥

मत्युत्तर-परनामा का नामस्मरण निःसन्देह पुण्यगतक और पाप से बचाने वाला है। परन्तु नामस्माच्र से स्वामों जीं ने निष्फलता लिखी है किन्तु गाम के साथ काग भी उत्तम किये जायं तौ निष्फलता नहीं लिखी। केवल मुख से “रामर जपना, पराया भाल जपना” करने वालों का खण्डन है, ईश्वरभक्तों का नहीं। पावों से छूटने का तात्पर्य भविष्यत् में पाप न करना है॥

—\*—

### उथ मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम्

४० तिं भा० पृ० ३०८ पं० ३ मे-

**मा असि । प्रमा असि । प्रतिमा असि ॥**

ते० भा० ४ । ५ ॥ हे महावीर ! तुम ईश्वर की प्रतिमा हो इत्यादि ॥

मत्युत्तर-इस में महावीर और ईश्वर कहां से आगये ?। विद्वान् प्रकरण में तो हैं नहीं। सायणाचार्य ने इस का अर्थ यह किया है कि-

हे परिधे ! प्राग्ग्रत्वेन दक्षिणांदग्रत्ती उदगिद्गत्ती वा त्वम् ( मा असि ) महावीरस्थानं मातुमियत्तया परिच्छेत्तुं समर्थीसि, तथा हे परिधे ! उदगग्रत्वेन प्राग्दिग्रत्ती उदगिद्गत्ती वा त्वम् ( प्रमा असि ) प्रकर्षेण मातुं समर्थीसि ॥

शर्यात् हे यज्ञवेदी की परिधि ! पूर्व दिशा में अग्रभाग होने से दक्षिण वा उत्तरवत्ती तू ( नामसि ) महावीर स्थान को मापने और “ इतना है ” यह परिचित्तता बताने को समर्थ है। तथा हे परिधि ! उत्तर को अग्रमाग होने से पूर्व वा उत्तरवत्ती तू ( प्रमा असि ) अत्यन्त करके मापने को समर्थ है ॥

अब विचारना आहिये कि सायणाचार्य तो मा, प्रमा, प्रतिमा शब्दों का अर्थ मापने का साधन करते हैं, आप मूर्ति अर्थ भरते हैं। सायणाचार्य “ हे परिधे ! ” कहते हैं और अप्रकरणविशद्वु “ हे महावीर ! ” कहते हैं ॥ ईश्वर का तो यहां वर्णन ही नहीं, न सायणाचार्य ने लिखा, न पीछे से अनुवृत्ति । तात्पर्य तौ यह है कि यज्ञवेदि की परिधि नापकर बनाए जाती है, इस लिये वह नपैना है जिस से उस के पूर्वोदि दिशाओं में रखे थे

नहावीरादि पदार्थों का परिचय ज्ञात हो सकता है। भला इस कलर बौद्ध  
के मूर्तिपूजा सिद्ध होती है ?

८० तिं भा० पू० ३०८ पं० ६-स ऐक्षत प्रजापतिः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि  
थत्संवत्सरमिति । तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो  
ह्येतं प्रतिमामसृजत । यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः  
प्रजापतिस्तेनोहैवास्यैष प्रतिमा ॥ ११ । १ । ६ । १३ ॥

प्रजापति ने विचार किया कि इस को भाग्नी प्रतिमा ( नपैना ) बनाऊं  
जो कि संवत्सर है । इसी लिये संवत्सर ( वर्ष ) को प्रजापति भी कहते  
हैं । यह उम ने भाग्ना नपैना बताया है । जैसे ४ अक्षर का प्रजापति शब्द है,  
वैसे ही ४ अक्षर का संवत्सर शब्द है । इस से भी वह उम का ( भाग्न  
साधन ) नपैना है ॥

इस में यह कहा है कि ईश्वर जिस से जगत् की आयु आदि को भापना  
है वह वर्ष ( संवत् ) है । यह परमेश्वर का नपैना है । परमेश्वर जैसे भव का  
स्वामी है वैसे इस नपैने का भी स्वामी है । इसी लिये ( का ) यह पछ्ती  
का अर्थ स्वत्त्वाग्निभाव ( भालिक और निलकियत ) सम्बन्ध है । परमेश्वर,  
स्वामी और संवत्सर स्व है । जैसे कपड़े को नापने का गज बज्जाज़ का गज  
कहाता है । वा सूनि को नापने का फीला, इस्तीनियर का फीता कहाता  
है । इसी प्रकार सुष्टि को नापने का साधन संवत्सर परमेश्वर का नपैना  
( प्रतिमा ) कहा गया । जैसे बज्जाज़ और गज में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं  
जायेत् बज्जाज़ स्वयं गज नहीं बनगया । इसी प्रकार परमेश्वर और संवत्सर  
में भी कार्य कारण सम्बन्ध नहीं जपर्यत् परमेश्वर ही स्वयं संवत्सर नहीं  
बन गया । वेद वाब्राह्मणादि धर्मों में प्रतिमा शब्द भान्न के भान्ने से ईश्वर  
की साकारता मिल नहीं हो सकती । यदि ऐसा हो तो वेद में प्रतिमा शब्द  
से भान्नाशादि को भी प्रतिमा सिद्ध हो जावे ॥

ईश्वर निरकार है और निर्धिकार है, वह जगदाकार स्वयं नहीं बनता ।  
जैसा कि-

## न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेताश्वतर

न उस कार्य कोई कार्य है, न करण है । अर्थात् वह किसी पदार्थ का उपादानकारण नहीं है । प्रकृति जहाँ है परन्तु उस में चेतन परमात्मा व्यापक होने से उसमें जगत् रक्षा जाता है । परमात्मा आकाश से भी सूक्ष्म कहाँ में आकाश शब्द के बल वगह मात्र का वाचक नहीं किन्तु वायु से सूक्ष्मस्वरूप व्याले तत्त्व का नाम आकाश है । आपने आकाश को शून्य का पर्याय समझा, इसी से जूल हुई । आकाश से वायु की उल्पत्ति:-

## आकाशाद्वायुः । तैत्ति०

किर कैसे सम्भव हो जब कि आकाश स्वर्य अवस्था हो । सगुण और निर्गुण का अर्थ यदि आप यही भागते हों कि सत्त्व, रजः तमः १ गुण (जो यथार्थ में प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं) परमात्मा के गुण हैं । तो भी हम कह सकते हैं कि एक मनुष्य एक काल में धनी, दूसरे काल में निर्धन हो तो क्या गनुष्य के स्वरूप में सेव पड़ता है ? नहीं, किन्तु उस के स्व (सिलकियत) में भन होता है और नहीं होता, वरन्तु पुरुष का स्वरूप धन होने और न होने पर भी पुरुष के सा ही रहता है । ऐसे ही प्रकृति से विकृति होने पर १ गुण जिन्होंने हैं तब उन का स्वामी होने से परमात्मा सगुण और प्रलय काल में तीनों गुणों की साम्यावस्था हो जाती है, कोई गुण भिन्न अपने स्वरूप में नहीं रहता, इस से उस समय परमात्मा निर्गुण कहावे तो भी परमात्मा के निज के दो स्वरूप सगुण और निर्गुण नहीं बगते किन्तु प्रकृतिसहित के हैं । तब उसके गिराकार चाकार दो रूपों का होगा तो सर्वथा ही असङ्गत है ॥

३० ति० भा० प० ५०९ पं० १३-तदेवाग्निस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं

तद्व्युता आपः स प्रजापतिः । यजुः । ३२ ॥ १ ॥

इस का अर्थ तो यह है कि सब का प्रकाशक होने से जग्नि, सब को पकड़ने वाला होने से आवित्य, सर्वधारकता से वायु, आङ्गादकारकता से चन्द्रमा, शीघ्रजारी होने से शुक्र, वहा होने से ब्रह्म, विमु होने से शून्-

और प्रगत के पालन से वही ब्रह्म प्रजापति भी कहाता है। यह नहीं कहा गया कि वही स्वरूप बदलकर जाति, वायु जादि तत्त्वरूप बन गया। ऐसा हो तो जबर कहे ( गतस्य कार्यम् ) इत्यादि एकरमत्वप्रतिपादक वाक्यों से विरोध जावेगा। तथा सब वस्तु ब्रह्म होने से भी किसी पदार्थे विशेष में ब्रह्माद्विः से पूजा करना भी ठीक नहीं। उस अवश्या में सब वस्तु ब्रह्म हैं तो प्रतिता भी ब्रह्म, पुष्प भी ब्रह्म, वृत्त भी ब्रह्म, वस जो पुष्प, जल, गन्धादि जहाँ पढ़ा है वहाँ ब्रह्म पर हो चढ़ा है और ब्रह्म ही है। किर मूर्तिपूजा कौसी?

८० तिं भाऽ पुऽ ३७८ पं० २१ से-तं यज्ञं बहिंषिः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-

तं यज्ञं बहिंषि प्रौक्षन्पुरुषं ज्ञातमंग्रतः । तेन देवा  
अयजन्त सुध्या ऋषयद्वच्ये । यजुः ६१ । ९ ॥

धर्म-( तम् ) सम ( यज्ञम् ) पूजनीय ( अप्तः ज्ञातम् ) रुषि से पूर्वं ग्रन्तिद्वि (पुरुषम्) पूर्णं परमात्मा को ( ये ) जिन ( साध्याः ) योगाभ्यामादि साधन करते हुवे ( च ) और ( क्रष्णः ) सन्त्राये के ज्ञाताओं ने और ( देवाः ) देवतों ने ( बहिंषि ) जपयज्ञादि में ( प्रोक्षन् ) सत्त्वत किया और ( तेन ) उस यज्ञ से ( अयजन्त ) पूजा वा पूजते हैं ॥

इस पर आप का ही लिखा शतपथ यह है:-

अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजाप-  
तिर्यज्ञइत्यात्मनोह्येतं प्रतिमामसृजत । श० ११।१।८।३

तब इस यज्ञ को उस ने अपना ज्ञानसाधन बनाया, इस से प्रजापति यज्ञ फहाया ख्योंकि यज्ञ जपादि से प्रजापति का ज्ञान होता है ॥

इस में भी यज्ञ यज्ञन उपासना जपादि को परमेश्वर की प्राप्ति का साधन (प्रतिता) कहा है। किन्तु काष्ठ पापाणादि निर्नित प्रचलित मूर्तियों को उस के ज्ञान का साधन नहीं बताया, तब मूर्तिपूजा विषय में इस का ग्रनाण देना व्यर्थ है ॥

८० तिं भाऽ पुऽ ११० पं० ५ से-देवा ह वै० इत्यादि-

प्रत्युत्तर-

शतपथ वा लम्बा चौड़ा पाठ और किर मत्तमाना अर्थ लिखा है परन्तु उसमें

विष्णु सूर्य का नाम है, परमेश्वर का नहीं। जैसा कि उसी में आया है कि—  
स विष्णुर्यज्ञः स यज्ञोसौ स आदित्यः ॥

विष्णु नाम यज्ञ का और यज्ञ नाम आदित्य अर्थात् सूर्य का है। यहाँ परमेश्वर का वर्णन न होने और सूर्य का वर्णन न होने से इस का यहाँ लिखना अर्थ है। तथा—

द० तिं भा० पृ० १११ पं० १६ में—तस्य मिहितयात्मस्य । इत्यादि

प्रत्युत्तर-तैत्तिः के पाठ को ऊपर के शतपथ में जोड़ दिया है। सो न शतपथ और तैत्तिरीय ग्रन्थों की एकता, न विषय की एकवाक्यता, फिर लिखना ग्रन्थ बढ़ाना चाहे है। तात्पर्य उस का यह है कि सूर्य का तेज ओषधियों में गिर कर उन्हें उगाता, बढ़ाता और पकाता है॥

द० तिं भा० पृ० ३१२ पं० ५ से—देवतों के आकार कैसे होते हैं? (उत्तर) निरुक्त में लिखा है कि पुरुषों के से आकार होते हैं। देखिये—

अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-निरुक्त अध्याय ३ खण्ड ६ । ३ का पाठ उद्धृत करके इस ठीक २ अर्थ किये देते हैं:—

“अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकं  
चेतनावद्वि स्तुतयोभवन्ति तथाभिधानानि । अथापि  
पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥

ऋष्वा तं इन्द्रं स्थविरस्य ब्राह्म ॥”

अर्थात् शब्द देवताओं के आकार का विचार करते हैं। इस प्रकार देवतों का मनुष्याकार है ज्योंकि चेतन के समान स्तुतियां हैं और नाम भी और मनुष्यों के अङ्गों का वर्णन भी पाया जाता है। (जैसा कि—)

उह नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वर्विज्ञयोतिरभ॑यं स्वस्ति ।  
ऋष्वा तं इन्द्रं स्थविरस्य ब्राह्म उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ।

अर्थ—( इद्र ) हे राजन् । ( स्थविरस्य ) जिस विद्याविनयवृष्टु ( ते ) आप के ( शरणा ) श्रुत्वाशक ( वृहन्ता ) बही ( अध्यौ ) श्रेष्ठ ( बाहू ) भुजाओं को हम ( उपस्थेयाम ) उपस्थित होवें ( विद्वान् ) वह आप विद्वान् जिस से ( तः ) हम को ( उरम् ) बहुत ( स्वर्वत् ) सुखयुक्त ( ज्योतिः ) प्रकाश और ( आयम् ) भवरहित ( स्वस्ति ) सुख और ( लोकम् ) दर्शन को ( भनु नेति ) प्राप्त कराते हो ॥

इम में राजा को मनुष्याकार देवता गान कर प्रशंसा ( स्तुति ) की है । इस लिये इम से मूर्तिं पूजा की मिट्ठि गहरी हो सकती । दूसरा उदाहरण निरुक्तकार ने देवता गनुष्याकार होने का यह दिया है कि—

### “यत्संगृभ्णा मधवन्काशीरिते”

इम का अर्थ यह है कि हे ( मधवन् ) धनवान् राजन् । ( यत् ) जो ति ( ते ) आप की ( काशिः ) मुट्ठी है वह ( संगृभ्णा ) संयह करने वाली हो । काशिर्भुष्टिः । निर० ६ । १ । इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से यह सिंह नहीं होता कि परमात्मा की मूर्ति बनानी वा पूजानी चाहिये । फिर गिरुक्तकार कहते हैं कि—

“ अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । आ द्वाभ्यां  
हरिभ्यामिन्द्र युाहि । कुल्युणीज्ञाया सुरणं गृहे ते ॥

अपरेत् मनुष्यों के से द्रव्यों का वर्णन देवताओं में पाया जाता है । जीसा कि नीचे के मन्त्र में है—

आ द्वाभ्या हरिभ्यामिन्द्र युाहा चतुर्भिराषुद्भिर्द्वृयमानः ।  
आष्टाभिर्द्वशभिः सोमपेयम् यं सुतः सुमख्य मा मृधस्कः ॥

( ऋ० २ । १५ । ४ )

अर्थ—( इन्द्र ) परमैश्वर्ययुक्त राजन् ! ( हूयमानः ) बुलाये हुवे आप ( द्वाभ्यां हरिभ्याम् ) दो हरणशील पदार्थों से युक्त यान हारा ( आयाहि ) आइये ( चतुर्भिः ) चार से ( आ ) आइये ( चतुर्भिः ) छः से ( आ ) आइये ( अष्टाभिः ) आठ से ( आ ) आइये ( दशभिः ) दश हरणशील पदार्थों से युक्त यान के हारा आइये ( आयम् ) इस ( सुतः ) उत्पन्न किये रस के ( सोम पेयम् ) सोमपानार्थ आइये ( सुमखः ) हे द्वन्द्र यज्ञ वाले ( सूयः ) संप्रान्तों को ( नाशः ) न कीजिये ॥

अर्थात् राजा को योग्य है कि अग्नि अमृदि पदार्थों से संवादित यन्त्रादि  
निर्भित यागोंद्वारा जावे जावे। सज्जनों से सोमपानादि आदि फटार  
ग्रहण करले, संयाम न करे ॥ इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने  
से बैश्वर की प्रतिमापूजा सिद्ध नहीं होती ॥ फिर निरुक्त ने दूसरा प्रतीक  
जीवे लिखे मन्त्र का दिया है:-

**अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणिजुर्या सुरंगं गृहे ते ।  
यत्रुः रथस्य वृहतो निवानं विमोचनं वृजिनो दक्षिणावत् ॥**

ऋ० ३ । ५३ । ६ ॥

अर्थ-(हन्द्र) हे राजन् ! (यत्र) जिस गृह में (हृतः) बड़े (रथस्य)  
विमान रथ भौर (वाजिनः) अग्नितन्त्र घोड़े द्वा (निधानम् ख्यापन भौर  
(विनोदनम्) खोलने का (दक्षिणावत्) दक्षिणा के तुल्य है (गृहे) जिस  
आप के गृह में (कल्याणी) सुखदायिका (जाया) रही है उम (अत्तम्)  
गृह को [निधः ३ । ४] (प्रयाहि) आइये जाइये भौर (सोमम्) सोमरम  
को (अपाः) पीजिये जिन से (सुरणम्) उच्छ्व व्रकार संग्राम हो ॥ तथा निरुक्त-

**अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः । अद्वैताद्व-**

**पिंचं च प्रास्थितस्य । आश्रुत्कर्णं श्रुधीं हवम् ॥**

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के से काम भी देवतों के वेद में  
पाये जाते हैं । जैसा कि (हन्द्र) हे राजन् ! (भद्रि) भोजन कीजिये (पिंच  
च) भौर पान कीजिये । इत्यादि । भौर (श्रुत्कर्ण) उनने की शक्तिरूप  
फाग बाले । (हवम्) पुकार को (आ ग्रुधि) सब भौर से ग्रवण कीजिये ॥

यहां तक निरुक्तकार ने यह बताया है कि मनुष्यों के से काम, मनुष्यों  
के से वाहनादि भौर मनुष्यों के से भङ्ग देवतों के वेद ने वर्णन किये प्रतीत  
होते हैं । इस से मनुष्य भी दान, दीपन, द्योतनादि गुणों से इन्द्रादि पद-  
वाच्य देवता हैं । इस से आगे निरुक्तकार यह बतलाते हैं कि बायु, सूर्य,  
अग्नि भाद्रि पदार्थ जो मनुष्याकार नहीं हैं, वे भी देवता हैं । यथा—

**अपुरुषविधास्युरित्यपरमपितु यद्गृश्यतेऽपुरुषविधं तद्य-  
थाऽग्निर्वायुरादित्यःपृथिवी अन्द्रमाइति । [यथो एतञ्चेतनाव-  
द्विस्तुतयो भवन्तीत्यचेतनात्यप्येवं स्तूयन्ते । यथा क्षप्रभृतीत्यो-**

षधिपर्यन्तानि । यथो एतत्पौरुषविधिकैऽह्वैः संस्तूयन्त इत्य-  
चेतनेष्वप्येषद्वत्ति । अभिकन्दन्ति हरितेभिरासमिः इतिग्रा-  
वस्तुतिः । यथो एतत्पौरुषविधिकैऽद्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृ-  
शमेव । सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्चिनमिति नदीस्तुतिः । यथो  
एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव, होतुश्रित्पूर्वे  
हविरद्वामाशतेति ग्रावस्तुतिरेव । ] अपि वोभयविधाः  
स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मास्मान् एते स्युर्यथा  
यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः । निरुक्त ७ । ७ ॥

अपर्यात् निरुक्तकार कहते हैं कि बहुत मे देवता मनुष्याकार नहीं भी हैं  
जैसे देखा जाता है कि गणिग, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा ये देवता हैं ।  
[जिस प्रकार चेतनों की प्रशंसा पाई जाती है वैसी जड़ (अचेतन) देवतों की  
भी पाई जाती है । जैसे कि गक्ष से लेहर शोषणि पर्यन्त हैं । और जिस  
प्रकार मनुष्याकार अङ्गों से स्तुति पाई जाती है, ऐसी ही अचेतन जड़  
पदार्थों की भी प्रशंसा पाई जाती है । ‘पत्थरों के हरे मुख’ (हरे समाले  
पीमने मे) कहे गये हैं । और जिस प्रकार चेतनों के वाहनादि द्रव्यों का  
वर्णन है, इसी प्रकार जड़ पदार्थों के भी वाहनादि का वर्णन देखा जाता है  
जैसा कि “नदी ने सुखदायक रथ जोहा” (प्रवाह से जनिप्राय है) । और  
जिस प्रकार मनुष्याकार देवतों के कर्म पाये जाते हैं इसी प्रकार अचेतनों  
के भी । जैसा कि “होता से पहले सिल बहों ने समाला चाट लिया” यहाँ  
देखा जाता है । इस से या तो देवता दोनों प्रकार के हों, अथवा मनुष्याकारों  
के ही कर्मकृप देवता निराकार हों, जैसे यजमान मनुष्याकार देवता और  
उस का कर्म “यज्ञ” निराकार देवता है । और यह आख्यान का समय है”

यहाँ तक निरुक्त का भाषार्थ तुवा । विधारना चाहिये कि ३० तिं ३० भा०  
३० ३१६ में [ ] इस कोष्ठक में लिखे और के निरुक्त के पाठ को कर्मों द्वारा  
दिया गया ? जिस में जड़ और चेतन दोनों पदार्थों की देवता संज्ञा व्याप-  
हरिक भानी है और स्पष्ट कहा है कि जड़ पदार्थ पत्थर, बहे, नदी भारि  
में मुख, रथ भादि अङ्गों की कल्पना करके वर्णन पाया जाता है । इस से

निरुक्तकार ने स्पष्ट बतलाया है कि ऐसे नमूने ( निर्दर्शन ) देखकर मनुष्यों को जान लेना चाहिये कि वेद की ऐसी शैली है जो जह पदार्थों का वर्णन चेतन की तरह लाभित्य के लिये काव्यप्रत किया गया है । जागकल कवि लोग भी न दी, बगीचा, पुष्प, सकाग, तालाब आदि को रूपक में वर्णन किया करते हैं, सो प्रथम २ यह विद्या वेद से ही निकली है । यदि पं३ ज्वालाप्रसाद जी कपर लिखे सम्बन्ध पाठ को ग़ छोड़ते तौ उग के ही पुस्तक से सिद्ध हो जाता कि वेद का तात्पर्य देवता शब्द से केवल उपास्य ब्रह्म ही नहीं है किन्तु गिरुक के अनुसार—

### या तेनोच्यते सा देवता

जिस वस्तु का वर्णन मन्त्र में होता है, वही एथिवी, जल, वायु, बिजुकी आदि पदार्थ देवता कहाते हैं जो निराकार और साकार भेद से दो प्रकार के हैं । और उनमें ने कुछ जड़ और कुछ चेतन हैं । तथा जड़ों के वर्णन भी चेतन की मांति किये गये हैं । पृथिवी का गोरुप धरना जानना आनंदित है और गिरधटु वा गिरहक १ । १ में “गौः” पद् पृथिवी का नाम है । जैव अर्जुन वृक्ष का नाम भी है और पाशवन का भी । तौ क्या अर्जुन वृक्ष ही पाशववार्जुन रूप में प्रकट हुवा मानियेगा ? कृष्ण का उस जगह प्रकरण में ( निरुक्त मूल में ) नाम तक नहीं ॥

३० तिन ३० ए० ३१६ । ३१७ और ३१८ में भूतिंपूजा के पक्ष में ये उपपत्ति ( दलीलें ) दी हैं । १—पृथिवी आदि के देखने से परमात्मा का ऐसा स्मरण नहीं होता जैसा मूर्ति के । २—साकाशादि को तुग गित्य मानते हो; वे हैश्वर के रखे ही नहीं तौ उनके ह्वारा हैश्वर का स्मरण किसे होगा । ३ पत्थर से प्रायेना आदि कोई नहीं करता किन्तु पत्थर एक परमेश्वर का चिन्ह है । ४—तीन काल प्रति दिन मूर्ति के वर्णन से सदा पाप का हट रहता है । ५—भावना मूर्ति में भी करते हैं और सर्वंत्र भी । ६—भावाराणी की मूर्ति के एकदेशीय हो जाने से क्या उस का राज घट जाता है ? ७—चन्दनादि चढ़ाना आदरमूवक है । ८—क्या रोटी में व्यापक होने से हैश्वर भी रोटी के साथ भक्षित होता है ? ९—जवतार न लेवे तौ यह एक बन्धा है । १०—यदि दो वस्तु समान हों तौ उनमें एक दूसरे की भावना हो सकती है, तुल दुःख असमान हैं, अतः दुःख में बुखादि की भावना नहीं

होती । ११-सर्वज्ञ की भावना सर्वत्र हो सकती है । १२-आवाहन से देवता भावते हैं परन्तु अदृश्य हैं । १३-पितर जी आवाहन से भावते हैं । १४-जनमें-जय के यज्ञ में मन्त्रों से सर्व और इन्द्र तक चले आये । १५-मूर्ति में भावाहम विसर्जन नहीं करते किन्तु प्राणप्रतिष्ठा करते हैं । एत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-मूर्ति के देखने से बढ़दृष्टि का ज्ञान होता है, पृथिव्यादि देखने से ईश्वर का । २-आकाशादि कारणों को इम नित्य मानते हैं, कार्यों को नहीं, अस कार्यद्रुप पृथिव्यादि के देखने से ईश्वर का स्मरण हो सकता है । ३-पत्पर में परमेश्वर का विशेष क्या चिह्न है ? ४-मूर्ति के दर्शन पाप के अघावें तो अदर्शन समय में निर्भयता होते । ५-भावना सर्वत्र ही करते हो ती पृथिव्यादि को तोड़कर मूर्ति पर ल्पते हो ? ६-महाराणी की मूर्ति ही एकदेशीय नहीं है, किन्तु वह साकाश भी एकदेशीय है । परमेश्वर सर्वद्रष्टापक है । ७-पुष्पादि चढ़ाना भगवान् बुवा, घोरोंकि वृक्षस्थ परमेश्वर से छीनकर मूर्तिस्थ पर चढ़ाते हो । ८-सर्वग अचल होने से वह रोटी भाविते साथ चलायगान नहीं हो सकता । ९-लौ कुरुमे ग कर सहना भी परमेश्वर की वन्धन है । १०-यदि समरनों में ही एक दूसरे की भावना होती है, विषमों में नहीं, ती परमेश्वर के समरन कोई नहीं, अतः उसकी भावना किसी पदार्थ में नहीं हो सकती, किर मूर्ति में किसे हो सकती है ? यहां ती भाव कहते २ छकड़ी सून गये हैं । ११-सर्वज्ञ का भर्ये भाव सर्वव्यापक समझे । धन्य । वह शब्द सर्वग है, सर्वज्ञ नहीं । १२-हाँ, धन्यादि देवता अग्निश्थापना से भासके हैं, परन्तु सूत राम, कृष्ण भारति भाव के अतिसत नहीं आ सकते । १३-पितर तो जीसे जी सब ही जानते हैं कि भावते जाते हैं । १४-जनमें-जय के यज्ञ में जीसे विद्वां लोटन ( ढारखबीला, वा बालघड़ ) पर विद्वां भापहस्ती है, ऐसे ही इवन की सामयी पर सर्व भी भापहस्ती होंगे । कौर जनमें-जय की कथा की मन्त्रसाध्यता तौ साध्यकोटि में है । जब नभी पीराणिकथा संशययुक्त हैं तब यह क्या स्वतः प्रमाण है । १५-प्राणप्रतिष्ठा कौर आवाहन में आप के गत में क्या भेद है ? । एक जह पदार्थ में देवता का भावाहन ही करते हुवे तो प्राणप्रतिष्ठा किया करते हो ॥

६० तिं १० नाम १०३ ११८ में यह विश्वास्त्रण का प्रमाण-

यदा देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्वद्वन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा

प्रायश्चित्तं भवतीदंविष्णुर्विचक्रम इति स्थालीपाकधुत्वा  
पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति; विष्णवे स्वाहा, सर्वभूताधिपतये  
स्वाहा, चक्रपाणये स्वाहेश्वराय स्वाहा, सर्वपापशमनाय  
स्वाहेति, व्याहृतिभिर्हुत्वाथ साम गायेत ॥

जब देवताओं के स्थान कांपते हैं, देवताओं की प्रतिमा रोती हैं, हंसती  
हैं, नाचती हैं, एकदेश से फ्लूटगांको मास होती हैं, परमीने युक्त होती हैं, नेत्र  
झोलती हैं, नीचती हैं, तब प्रायश्चित्त होता है “इदं विष्णुर्विचक्रमेति” इस  
मन्त्र से हृष्टव कर पांच व्याहृतियों का हृष्टव करे इस में चक्रपाणि आदि शब्द  
से ईश्वर साकार मिठु होता है इस्ते यही मिठु है कि जब तक यह मूर्ति  
विष्णव रहती है तभी तक शान्ति है चलायमान होते ही वैकारिक गुणयुक्त  
होती है ईश्वर की अवतारों की मूर्ति वेदानुसार प्रतिष्ठा करके पूजन करते  
हैं परम्परा ईश्वर को आने जाने वाला किसी ने नहीं कहा ईश्वर सर्व  
ठापापक होने से आत्म जाता नहीं और मूर्ति प्रतिष्ठा करने से क्यों चला-  
यमान हो यह मूर्ति तो एक घर समर्पिये जैसे कोई मनुष्य घर में बैठा है  
तो क्या वह घर खलने समेगा कभी नहीं और “स्त्या गतिनिवृत्ती धातु वे  
प्रतिष्ठा शब्द मिठु होता है जो चलायमान न हो अचल रहे वही प्रतिष्ठा  
की जाती है और जो खले तो हाला चला होजाय यह तो एक देवताओं के  
विग्रह हैं उन में देवता भान कर प्रविष्ट होजाते हैं जैसे एक स्थान टूट  
जाने से मनुष्य और स्थान में खले जाते हैं इसी प्रकार जब मूर्ति अशुद्ध हो  
जाती है या टूट जाती है तो देवता और मूर्ति में प्रवेश कर जाते हैं महा-  
भाग्य होने से एक भनेक होजाते हैं, यवनादि के शपथों से देवता नहीं रहते  
उन का निवास बड़े पवित्र स्थान में होता है जैसा घर हालने से बड़ा  
उत्पात होता है उसी प्रकार मूर्ति आदि में विकार होने से प्रायश्चित्त  
नहीं एक भनेक नहीं होसकता मूरक होने पर कर्मानुसार दूसरे तनु को  
प्राप्त होता है जो पितर आदि किसी योग्यि को प्राप्त होता ही है किर के बे-  
प्राप्त जावे और वह कैसे रहे पिता पुत्र की आत्माकूल बुलावे और उन को  
और बुलावे तो जगत् की उपवस्था नष्ट हो जावे यह सामर्थ्य देवताओं को

ही है प्रत्येक शूर्ति में अपना आत्मा प्रवेश कर सकते हैं ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तौ बहुविंश के पाठ की प्राचीनता भी साथ्य है । दूनरे उस में देवतों को प्रतिमाओं का हंसना, रोगा, नांचना, फटना आदि लिखा है, पूजने का नाम नहीं । तथापि इस का अर्थ यह है कि—

“ जब सूर्योदि देवों के लोक कांपते हैं और उन के स्वरूप हंसते वा रोते वा नाचते वा फटते वा पमीना लेते वा चिनचिनाते जान पहँ, तब यह प्रायश्चित्त है कि ( इदं विष्णुर्विद् ) इस मन्त्र से रथालीपाक का होन करके, ये ५ गाहुति करे १-विष्णवे स्वाहा २-सर्वभूताधिपतये स्वाहा ३- चक्र पाण्ये स्वाहा ४-ईश्वराय स्वाहा ५- सर्वपापशमनाय स्वाहा । किर व्याहृतियों से ( भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा ) ये गाहुति देवे और सामग्रन करे ॥

तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य पाप बहुत करते हैं तो विष्णु की व्यवस्थानुमार वायुमण्डल ( एतमासक्षिप्त ) में कुछ विकार चलता होता है और इलाचल मचती है, रोगादि का बढ़ा भय होता है और देवता अर्पात् तारानांगों के आकार उसी वायुविकार के कारण बहुत भयोखे २ ( विश्लेषण २ ) दृष्टि पहने लगते हैं । तब मनुष्यों को अपने पायों का स्मरण करके विष्णु यज्ञ करना चाहिये, जिस से वायुमण्डल में शान्ति पौर, रोगादि का भय दूर हो । विष्णु सब जगत् का भाग्यार है इस लिये उसी के नाम की भिन्न २ विशेषयों से गाहुति लिखी हैं । इस में देवता शङ्क दे पाषाणादि निर्मित प्रतिग्राम अर्थ स्लेने में कोई प्रमाण नहीं । किन्तु आठ उपुत्रों के नान्तर द्वान्ते जे शतपथ ब्राह्मणानुमार नक्षत्र, तारागण की देवता संज्ञा तो प्रमाण है । और प्रत्यक्ष में प्रायः देखा भी जाता है कि जब वायु में कोई बड़ा भारी विकार होता है तब रोग शानाद्विष्ट आदि के चिन्ह तारों के बहुतायत से तूटने, हंसने, रोने आदि दिखाई देने लगते हैं । आपने ५ व्याहृति लिखी हैं सो भूल है । चक्रपाणि शङ्क यहां इस लिये प्रयोग किया है कि चक्रअर्पात् तारागण और वायु आदि का चक्र, विष्णु अर्पात् व्यापक सर्वाधार परमेश्वर के हाथ में है अर्पात् वह चाहे जैसा चुमावे । किन्तु इस से ईश्वर को साकार भागना वा उस का पाष्ठभीतिक हाथ भागना भूल की बात है । क्या आपने नहीं देखा कि-

अपाणिपादोजवनो ग्रहीता । श्वेताश्वतोप० ३ । १६

वह हाथ पांव नहीं रखता पर हाथ पांव के काम सर्वव्यापकता से कर लेता है ॥

इस के अतिरिक्त प्रकरण का भी विचार करना चाहिये । षड्-विंशत्रां-  
षण के ५ वें प्रपाठक में १२ खण्ड हैं, ३ वें खण्ड में—

सपृथिवीमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

पृथिवी लोक के विचित्र उत्पात की शान्ति का वर्णन है । और ८ वें  
खण्ड में—

सोन्तरिक्षमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

अन्तरिक्ष लोक के पदार्थों के विकल दर्शनादि सूचित रोगादि शान्ति  
का प्रायश्चित्त कहा है । फिर ८ वें खण्ड में—

सुदिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्थ तारावर्षाणि चोत्काः  
पतन्ति निपतन्ति धमायन्ति दिशोदद्यन्ति० इत्यादि ।

इस लोक में द्युलोकगत उत्पात दर्शन का प्रायश्चित्त कहकर फिर १० वें  
खण्ड में—

स परं दिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्यायुक्तानि यानानि  
प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति  
रुदन्ति० इत्यादि ॥

इस में परम द्युलोकगत पदार्थों के उत्पातदर्शन का प्रायश्चित्त होमादि  
कहा है । इस से भी बहुत है कि द्युलोक के देवतों का ही वर्णन है, पृथि-  
वीलोक के शास्त्रुनिक प्रवल्लित देवी भैरवादि की सूतियों का नहीं । यह  
वही प्रणाल है जो संवत् १९२६ में श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सामने  
स्वामी श्री विशुद्धानन्दादि पश्चिमों ने दिया था । और जिस पराजय  
का नाम छुनते हों काशीस्थ नहात्माओं के मुख से गाली के अतिरिक्त अब  
भी कुछ नहीं गिकलता ॥

यदि सूति देव के स्थान में नहीं है, किन्तु घर के तुल्य है, इसी से  
चलती फिरती नहीं, तो भोजन, स्नान, शयन आदि सूति को क्यों कराया  
जाता है । क्या घर भी निहलाये, छिलाये और झुलाये जाते हैं । प्रति उप-

संग पूर्वक “स्था” धातु का अर्थ अचल रहना भाष्प ही के घट्ट व्याकरण में होगा। जब परमेश्वर सर्वव्यापक है तो एक सूति के यद्यन्तस्पर्श होने वा टूटने फूटने से उसे छोड़ दूसरी सूति में कैसे जा जा सकता है। उरे हुवे पुत्रादि का आशाहन करके यदि इनकारण नहीं बुका सके कि उन का कर्मानुभार जन्मान्तर हो गया, तो जन्मान्तर में से जो मन्त्र बल से क्यों नहीं बुला लेते, जब भाष्प के कथानुभार स्वर्गलोक से जन्मेण्य के यज्ञ में इन्द्र का सिंहासन भी विचलित होना गान्ते हैं॥

द० निं० भा० प० ३२१ प० २४ से—

समीक्षा, यह संपूर्ण स्वामी जी का लेख असंगत है यहां यह विचार कर्तव्य है कि इम यजुर्वेद के मन्त्रां की किसी पूर्व अथवा उत्तर मन्त्र से सं-गति है अथवा नहीं जो यह कहें कि विना संगति ही कार्यकारण उपासना का निषेध किया है तो यह कहना चाहिये कि “ब्रह्म के स्थान में” यह अर्थ किम पद का है मन्त्र के अक्षरों से तो असंभूति उत्पत्तिरहित और सं-भूति उत्पत्तिमत् वस्तु की जो उपासना करता है सो नरक में पहता है यही अर्थ प्रतीत होता है तो यह निर्णय करना चाहिये कि ब्रह्म असंभूति पदार्थ है अथवा नहीं जो उत्पत्तिरहित होने से ब्रह्म भी असंभूति पदार्थ है तो उस की उपासना करने से भी नरक होगा और जो असंभूति पदार्थ ब्रह्म नहीं तो संभूति शब्द का अर्थ होगा इस में दो दोष हैं ब्रह्म को कार्यत्वापत्ति और ब्रह्म की उपासना से नरक भी होगा क्योंनि संभूति की उपासना में नरक रूप फल मन्त्रप्रतिपाद्य है जब पूर्व उत्तर संगति विना मन्त्र के अक्षरों के यह अर्थ कैसे करेंगे सो इशावास्य इस मन्त्र से लेकर “अन्न-ज्ञामः” इस मन्त्र तक कोई ऐसा पद नहीं कि जिस के अर्थ यह है कि “ब्रह्म के स्थान में” उस की संस्कृत ब्रह्मणः स्थाने अथवा देश्वरस्य स्थाने यह कहीं भी नहीं। सउजन युक्त यजुर्वेद का ४० वां अध्याय देख कर विचार लेंगे कि क्या प्रकरण है कुछ मन्त्र पूर्व भी लिख आये हैं इस कारण उन का दुबारा लिखना ठीक नहीं ब्रह्म के स्थान में कारण प्रकृति और कार्य प्राप्तादि की उपासना करता है सो गरक में गिरता है यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध है और यह भी विचारना चाहिये कि “ब्रह्म के स्थान में” इस का भावार्थ क्या है ब्रह्म का स्थान कौन है ब्रह्म की उपासना का स्थान या ब्रह्म

वा निवासस्थान वा ब्रह्मरूप स्थान यह अर्थ है। प्रथमपक्ष में तौ ब्रह्म की उपासना स्थान कोई दूसरा पदार्थ स्वामी जी के नाम में नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म की उपासना का स्थान कोई पदार्थ नामेंगे तौ प्रतीक उपासना सिंहु होगी क्योंकि ब्रह्मबुद्धि से किसी पदार्थ की उपासना ही प्रतीकोपासना है और यदि ब्रह्म के निवासस्थान को ब्रह्मस्थान नामें तो ब्रह्म को व्यापक होने से सर्व ही वस्तुमात्र ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस स्थान में कारण कार्य उपासना करता ही कौन है, जो नरक को प्राप्त होगा क्योंकि कारण प्रकृति और कार्य पृथिवी आदि भी तौ ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस में कार्य कारण दृष्टि सब को प्राप्त है क्योंकि कारण को कारण और कार्य को कार्य सब ही जानते हैं, परिशेष तं ब्रह्मरूप स्थान में जो कारण प्रकृति की ओर कार्य पृथिवी पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है, यह अर्थ द्यानन्द जी को विवक्षित होगा। आशय यह है जो कारण प्रकृतिबुद्धि से और कार्य पाषाणादि सूतिंशुद्धि से ईश्वर की उपासना करता है सो नरण में पड़ता है। जब यह अर्थ इष्ट हुआ तौ विचारिये मूर्तिपूजन आचार्यब्रह्म में सूतिंशुद्धि करके पूजन, उपासना करते हैं अथवा सूति में ब्रह्मबुद्धि करके पूजनादि करते हैं। प्रथमपक्ष ती कोई विचारशून्य भी यहन न करेगा, दूसरा पूर्व आचार्य मार्गोद्धु पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्म को वा भक्तवास्तल्यादि गुण विशिष्ट कैलासवासी, द्युकुणठत्रासी देव को केवल मूर्तिरूप के से मानेगा, इस कारण मूर्ति में ही ब्रह्मबुद्धि दृढ़ करके पूजन करते हैं। स्वामी जी का यह विपरीत ज्ञान है, जो कहते हैं कि ब्रह्म के स्थान में कारण कार्य बुद्धिकर्ता को नरक होता है, ऐसी बुद्धि तो इन्हीं की है, प्रतिमापूजकों की नहीं। प्रतिमापूजक तो प्रतिरूप अधिष्ठान में ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का पूणन करते हैं। इसी अर्थ को व्याप्त जी सूत्र से कथन करते हैं॥

प्रत्युत्तर—“ब्रह्म के स्थान में” यह पद अध्याहार से लिये गये हैं, यदि न लिये जावें तो अर्थ ही नहीं बनता क्योंकि वैसे तो संभूति और भसंभूति से भिन्न जगत् का कोई पदार्थ है ही नहीं फिर क्या दोगों प्रकार के पदार्थ का ज्ञानना अन्यनाम नरक का हेतु होगा?

यद्यपि ब्रह्म भी भसंभूति पद का अर्थ हो सकता है, परन्तु उस ब्रह्म की उपासना—

निचार्य तं सूत्युमुखात्प्रमुच्यते।

इत्यादि वाक्यों में अष्टकलजगक कहाँ है । इससे अपने अंग में वे वाक्य इस वाक्य के अपवाद हो जायंगे । उत्सर्गों की रीति है कि अपवाद के विषय को छोड़कर प्रश्नत होता है, इसी प्रकार ब्रह्मोपासना अन्य वाक्यों में विहित होने से इस वाक्य द्वारा निषिद्ध नहीं हो सकती । जैसे सरनारी कार्यालयों के द्वारों पर प्रायः लिखा रहता है ( भीतर मत जाओ ) तौ क्या सरकारी कर्मचारी जिन कावहां बैठ कर काम करना विहित है, उन्हें भी वह निषेध लग सकता है ? महीं, किन्तु अन्यों को मगाहे हैं । इसी प्रकार उपासनाको उपासना के निषेध में ब्रह्मोपासना का निषेध वा निन्दा नहीं आसकती । “ब्रह्म के स्थान में” इस का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य कार्य को वा कारण प्रकृति को ही ब्रह्म जान कर उपासना करना नरकप्रद है । ब्रह्म के निवासस्थानादि की कल्पना करना व्यर्थ है भीर यक्षा के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थात् उत्तरकल्पना वाक्तुल नाम का छल है ॥

**अविशेषाऽभिहितेर्थवक्तुरभिप्रायादर्थन्तिरकल्पनावाक्तुलम्**

**न्यायदर्शन १ । २ । ५४**

तथा मूर्ति भादि में ब्रह्मबुद्धि करना ही तौ यहाँ निन्दित जाताया है ।  
पृष्ठ ३२३ में लिखे-

**ब्रह्मदृष्टिरूपत्कर्षात् ॥ शारी० ४ । १ । ५**

का अर्थ यह है कि “ब्रह्म के सर्वोत्तम होने से ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म ही रहता है” ॥

जिस प्रकार बाणार में गनेक वस्तु पद्यपि रहती है, परन्तु जिस को जो अत्यन्त मिय भीर उत्तम जान पहुँता है वह उस के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता । इस में मूर्तिपूजा का पता भी नहीं ॥

“ अन्यन्तसः प्रविशन्ति० ” का वह अर्थ जो द० ति�० भा० प० ३२३ में लिखा है, यह है-

“जो कारण जड़ प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्यन्तम में प्रवेश करते हैं और जो कार्य की उपासना करते हैं, वे तिस से भी अधिक अन्यकार में प्रवेश करते हैं”

“जादूती वह जो चिरपै चढ़ जे ओले” श्वासी जी भी तौ यही कहते हैं कि कारण प्रकृति भीर कार्य घट, पट, वृक्ष, मूर्ति भादि को पूजना नरकप्रद है । वह जाप स्वयं ठिकाने जागये ॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति गुश्रुम धीराणां ये नुस्तदिच्चक्षिरे ॥ यजुः ४० । १०

इस प्रकरण का अन्यतत्त्वः प्रयितो से अगला मन्त्र है। जिस का अर्थ यह है कि सकृद असम्भव पर्याप्त का यहां लोकिक अर्थ नहीं, किन्तु और ही है। अर्थात् सम्भव कार्य, असम्भव कारण इत्यादि। इस से अगला मन्त्र यह है-

संभूतिं च विनाशं च यस्तदेवभयधं सुह ॥

विनाशेन मृत्युं तार्वा संभूत्याऽमृतं मश्नुते ॥ ४० । ११

अर्थात् कायुं और कारण को साथ २ जानना चाहिये। इन दोनों को जान कर मृत्यु को तरके अमर हो जाता है॥

अब बताइये प्रकरण से क्या विरोध आया?

४० तिं जा० प० ३४ में “न तस्य प्रतिमा अस्ति०” इस मन्त्र को अर्थ करते हुवे ६ बात लिखी हैं। १-तत् पद का अर्थ साकार है, निराकार नहीं। २-इस से पिछले दो मन्त्रों में साकार का ही वर्णन है। ३-प्रतिमा का अर्थ सूर्ति नहीं, किन्तु तुल्यद्वयाकार है॥

प्रत्युत्तर-‘तस्य’ पद को जाप परमात्मा के लिये नामते हैं, फिर साकारता कैसे? यदि साकार का वर्णन होता तो “प्रतिमा है”ऐसा कहा जाता, “प्रतिमा नहीं है” यह कभी न कहते। ५-पूर्व मन्त्र यह है-

सर्वे निमृषा जीज्ञिरे विद्युतः पुरुषावृद्धिः , नैनं मूर्ध्वं न तिर्यङ्चनं  
न मध्ये परिजग्रभत् ॥ यजुः ३२ । २ ॥ न तस्य प्रतिमा  
अस्ति यस्य नामं मुहयशः । हिरुण्यगर्भं इत्येषः । मां मा  
हिधं सुविदित्येषा । यस्मान्न ज्ञात इत्येषः ॥ ३२ । ३ ॥

हे मनुष्यो! (विद्युतः) विशेष करके प्रकाशनान (पुरुषावृद्धिः) पूर्णे परमात्मा से (सर्वे) सब (निमृषा:) निमैष, कला, काष्ठा आदि काल के अवधि अधिकता से (जीज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं (एतम्) इस परमात्मा को (न). न (ज्ञात्यर्थम्) जपर (न) न (तिर्यङ्चनम्) तिरक्षा (न) न (मध्ये) गच्छ में (परिजग्रहत्) सब जोर से कोई पकड़ सकता है। अर्थात् निराकार होने से वह जपर नीचे बीच में कहीं इन्द्रियपथात् नहीं हो सका॥

क्योंकि ( तस्य ) उस परमात्मा की (प्रतिमा) देह वा आकार वा मूर्ति ( न अस्ति ) नहीं है, इस से पकड़ा नहीं जासकता । ( यस्य नान् नह्यशः ) जिस का लाग्नमरण बड़ा बश करने वाला है ( हिरण्यगर्भे इत्येषः ) जिस का वर्णन [ हिरण्यगर्भः ] २५ । १०-१३ इस अनुवाक में है और जिस का वर्णन वायश “मा साहिष्ठ्यसीत्” १२ । १२ अथवा में है तथा जिस की कीर्ति “ यस्मात् जातः परो अन्यः ” इत्यादि ८ । १६, ३७ अनुवाक में है, उस की प्रतिमा नहीं है ॥ ३ ॥

प्रतिमा का अर्थ यहां मूर्ति ही है क्योंकि न पकड़ा जा सकने में वह हेतु दिया है कि उस की मूर्ति नहीं है । मूर्तिसान् पदार्थं पकड़ने में भासकले हैं, अमूर्तं नहीं ॥

इ० ति�० भा० पृष्ठ ४२५ में “ कासीत् प्रमा प्रतिमा० ” इत्यादि मन्त्र का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर—इस से पूर्व ऋ० १० । १३० । १ में यह मन्त्र है कि—

योयज्ञोविश्वतः तन्तुभिस्ततः० इत्यादि ।

जिस का तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ ( स्तुतिरचनाद्यपयज्ञ ) विश्वतर में फेला है ॥

पुमाँ एनं तनुत् उत्कृणत्तिं० इत्यादि । ऋ० १० । १३० । २ ॥

परमात्मा इस स्तुतिरूप यज्ञ को रचता और उच्छेषता ( प्रलय करता ) है । किर ऋ० १० । १३० । ३ मन्त्र यह है—

कासीत्प्रिमा प्रैतिमा किं निशानुमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् । छन्दुः किमासीत्प्रउगुं किमुक्यं येहुवादेवमयं जन्तु विश्वे

इस मन्त्र में यह प्रश्न किया है कि यदि स्तुति को यज्ञस्वरूप में वर्णन करते हैं तो स्तुतिरूप यज्ञ का प्रमा, प्रतिमा, निशान, आज्य, परिधि, छन्दः, प्रउग और उक्त्य वर्णा २ यस्तु कल्पना करने चाहियें । इस में हेश्वर की मूर्ति का वर्णन नहीं है । आप न मानें सी चायलाचार्य के भाष्य को देख लीजिये—

विश्वसर्जनोपायत्वेन प्रजापतिना सृष्टे यज्ञे विश्वस्य  
खण्डारोविश्वसृजोदेवाः विश्वसर्जनाय तं यज्ञमन्वतिष्ठन्  
तस्मिन् समये जगतोऽनुत्पत्तेः जगदन्तःप्रतिनोयागोपक-

रणभूताः पदार्थाः कथमासन्नित्यनया प्रश्नः क्रियते—वदादा विश्वे सर्वे साध्या देवा देवं प्रजापतिमयजन्त् । तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथं भूतासीत् । तथा प्रतिमा हाँविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रसिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य कासीत् । तथा निदानमादिकारणं यागे अप्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत् । तथा आज्यं घृतम् एतदुपलक्षितं हविर्वा तस्य यज्ञस्य किमासीत् । तथा परिधिः परितो धीयन्तद्विति त्रयः परिधयो बाहुमात्राः पलाशादिवृक्षजन्याः परिपूर्वाद्विधातेः “उपसर्वे धोः किरिति” किप्रत्ययः के आसन्नित्यर्थः । तथा तस्य यज्ञस्य गायत्रादिकं छन्दः किमासीत् । प्रउगमुवयम् उपलक्षणमेतत् आज्यप्रउगादीनि उक्त्यानि शख्याणि वा कान्यासन् ॥ एतेषु प्रश्नेषु ग्रन्थाणाम् उत्तरम्—

संसारोत्पादन के उपायभूत, परमेश्वर के रचे यज्ञ में, संसार के उत्पादक (पृथिव्यादि शुक्ल भूत) देवतों ने उस यज्ञ का अनुष्ठान किया । परन्तु उस समय जगत् उत्पत्त नहीं हुवा था और जिन साधनों से यज्ञ किया जाता है वे पदार्थ जगत् के अन्तर्गत हैं इस लिये इस ऋचा में यह प्रश्न किया गया है कि यज्ञ के साधन तब किस प्रकार हुवे । उस सुष्टुप्य यज्ञ की “प्रना” परिभाषा क्या था ? उस की “प्रतिमा” हविः इथानी पदार्थ की हविः के इथान में प्रतिनिधिया वह क्या क्या था ? तथा “निदान” आदि कारण वा यज्ञ में अप्रवृत्त को प्रवृत्त कराने वाला । फल क्या था ? और “माल्य” घृत और इस के साथी अन्य इटम्पदार्थ क्या थे ? एवं “परिधि” को बाहुमात्र पलाशादिवृक्षजन्यित इ होती है और सभीप में वेदी के रक्षी जाती है वे क्या थीं ? उस यज्ञ का गायत्र्यादि छन्द क्या था ? प्रउग उक्त्यादि श्लोक क्या थे ? इन में से इ प्रश्नों का उत्तर—( अग्ने मन्त्र में वर्णित है )

अब “न तस्यम्” मन्त्र में जो “मा मा हिथुसीदित्येवा” यह प्रतीक है इस का पूरा मन्त्र और उस का अर्थ देखिये—

मा मा हिथुसीज्ञानिता यः पृथिव्या योवा दिवसु

**सत्यधर्मा द्यानेद् । यद्यच्चापश्चन्द्राः प्रथमोज्जानु  
कस्मै देवाय हृविषां विधेम ॥ यजुः ॥ १२ । ३०२**

वार्यः-( यः सत्यधर्मा ) जो सत्यधर्मे बाला परमेश्वर ( पश्चिडयाः ) पश्चिमी का ( जनिता ) उपरादक ( वा ) और ( यः ) जो ( दिवम् ) द्युलोक को ( च ) और ( अपः ) जलों को और ( चन्द्राः ) चन्द्रमाभों को ( जजान ) उपरक करता है उन ( कर्मे ) प्रजापति ( देवाय ) देव के लिये इस ( हृविषा विधेम ) भक्तिपूर्वक सेवन करें, जिस से वह ( मा ) मुझे ( मा हिंसीत ) न हिंसा करे ॥

\* यस्मात् जातः\*-इस प्रतीक का पूरा सम्बन्ध यह है:-

**यस्मान्तं ज्ञातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वां ।  
प्रजापतिः प्रजया सधुं रुणस्तीणि ज्योतीधृषि सचते स षोड  
शी ॥ यजुः ८ । ३८ ॥**

( यस्मात् ) जिस से ( परः ) उत्तम ( न ) नहीं ( अन्यः ) दूसरा ( जातः ) हुआ है । ( यः ) जो ( विश्वा भुवनानि ) सब भुवनों में ( मा विवेश ) ध्याप रहा है ( सः प्रजापतिः ) वह संसार का स्वामी ( प्रजया ) संसार के साथ ( संरराणः ) भले प्रकार दान करता हुआ ( चोणि च्योतीषि ) तीन ज्योतियों को ( षोडशी ) प्राण, अट्ठा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी इन्द्रिय, मन, अङ्ग, वीर्य, तप, गन्त्र, कर्म, लोक, गाम; इन प्रश्नोपनिषद् ( ६ । ४ ) में कही १६ कला बाला ( सचते ) समन्वित करता है ॥

इन सत्त्वों में भी कोई ऐसी भात नहीं आती जिस से परमात्मा की साकारता पाई जावे । न यह पाया जाता है कि सब जगत् ही परमात्मा है प्रत्युत सब जगत् में परमात्मा ध्याप रहा है । यह पाया जाता है ॥

आगे ३८ तिं ४० ४० ३२६ से ३२८ तक में—(यद्वाचागम्भुवित्सु) इत्यादि केनोपनिषद् के प्रमाण जो स्वामी जी ने सूर्तिपूजालक्षण में दिये हैं उन का अर्थ करके लिखा है कि यह प्रतीकोपासना मिहु द्वृष्टि

प्रत्युत्तर-आप जी तो द्वृष्टि की उपासना का निषेध करते हैं और द्वृष्टा परमात्मा की उपासना का विधान करने वाला अर्थ करते हैं । वस जितने प्रतीक वा द्वृष्टि पायायादि पदार्थ हैं वे पूजा उपासना योग्य नहीं और जो द्वृष्टि उपासना तथा सब का द्वृष्टा ब्रह्म है वही उपासनीय है । यह आप ही

के लेख से सिद्ध होता है ॥

४० तिं० भा० प० ३३८ पं० ३८ प्राप्ती भव्यां निषेधः । प्राप्ति होने से निषेध होता है तो मूर्तिपूजन बेद से भी पूर्व का सिद्ध हुआ ॥

प्रत्युत्तर- तो वेदादि शास्त्रों में फूंठ, छल, लिद्र, जाल, व्यभिचार, मद्य, मांडादि का जितना निषेध है आप के ज्ञातामुखार सब पूर्व का होने से त्वार्य नहीं ? घन्य हो । विहित का अनुष्टान और निषिद्ध का त्याग ही कर्तव्य होता है, यह सब सूभेद्रल का मिट्ठात्त है । आप निषिद्ध को पूर्व का होने से ग्रहण समझते हैं, यह आप की जहोपासनाजहितशुद्धि का फल है । धर्मोधर्मे दोनों ही सनातन हैं परन्तु धर्मे करना और धर्मे न करना चाहिये । किन्तु आप का ती जो सनातन है वही कर्तव्य है इस लिये आप निषिद्ध भी सनातन को ही सानेंगे सो गानिये ॥

स्वामी जी ने जो युक्तिपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में पूर्तिपूजा के १६ दोष दिखाये हैं उन के उत्तर में ४० तिं० भा० प० ३३९ से ३४७ तक १६ दोषों का उत्तर और मूर्तिपूजा के १६ लाभ ज्ञाताये हैं जिन का उत्तर एक एक करके इस लिये आवश्यक नहीं कि साधारण भार्यलोग भी इन प्रकार के प्रश्नोत्तर कर लेते हैं । कोई आश्चर्यस्वभावी प्रशाण नहीं, हाँ उस में जो मुरुग्य २ तर्क हैं उन का उत्तर दिया जाता है ॥

४० तिं० भा० प० ३३९ पं० ३१ में-

नाम ही नामी को मिला देता है ॥

प्रत्युत्तर- ती बस परमेश्वरादि नाम ही परमात्मा से मिला देने, मूर्ति-पूजा व्यर्थ है ॥

४० तिं० भा० प० ३३३ पं० १४ में-

जब उस के नाम और मूर्ति की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं तो वह स्वयं उपस्थित हो तो कितनी प्रतिष्ठा हो ॥

प्रत्युत्तर- आप ती पूर्व सब जगत् को ही साकार ब्रह्म बता चुके हैं, किर यहाँ यह व्याप्ति लिखते हो कि “यदि वह स्वयं उपस्थित हो” इस से यह विदित होता है कि वास्तव में स्वयं मूर्ति को साकार परमेश्वर नहीं बताते । इस से आप का “न तस्य प्रतिमा” के अर्थ में लिखा सब वस्तुतात्र साकार ब्रह्म है, लिखना ठीक नहीं, हाँ हाँ में मूल गया, वह आप का ती लेख नीर भावा नहीं किन्तु साधुसिंहादि की रूपा वा प्रसाद है ॥

४० तिं भा० पृ० ३३३ पं० २२ से—

क्या इन मूर्तियों से महाराणी और लाट प्रिनसादि कुछ बुरा मानते हैं प्रत्युत प्रसन्न होते हैं ॥

प्रत्युत्तर—महाराणी शादि साकार हैं। इन की मूर्ति उचित हैं इस लिये प्रसन्न होते हैं। निराकार शुद्ध परमात्मा में साकारादि दोष कल्पना नि: सन्देह उस की अप्रसन्नता का कारण हो सकता है ॥

४० तिं भा० पृ० ३३७ पं० १६ से—

जब मूर्तिपूजन नहीं होता उस देश की पृथिवी में अधिक बुगन्धित पुठर नहीं होते, यह इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर—धन्य हो ! जब अन्यदेशों में अविद्यावश बौद्धमत वा रोमन कीयोलिक लोग मूर्तिपूजा अधिक करते थे तब क्या वहां पुठप बुगन्धि अधिक हो ? और अब नहीं रही ? प्रत्यन विद्या के प्रभाव से अब अन्यदेशों में भी बुगन्धिपुरुष पुठप अधिक होने लगे हैं। विद्वान् मालियों ने अनेक युक्तियों से बुगन्धिपुरुषपुठर बोने आरम्भ कर दिये हैं ॥

४० दि० भा० पृ० ३३८ पं० १३ से—

अब मूर्तिपूजन प्रतिष्ठादि बेदमन्त्रों से लिखते हैं—“यज्ञस्य शीर्षचिङ्गस्य रसोव्यक्तरत्स इने द्यावापृथिवी बगच्छद्यन्मुदियं तद्यदापोऽसी तन्मृः अऽपां च गहावीराः कृता भवति तद्मान्मूर्तिनिमर्णाय मृत्पिशदं परिगृह्णानि । इत्यादि ॥ शतपथ १४ । १ । २ । ९

प्रत्युत्तर—इस से अधिक धर्मोत्पादना क्या होगा जि शतपथब्राह्मण में न तो इस काग से पाठ है, और पाठ में भी लिखते छपते कुछ भूल हो जावे यह बंभव है। परन्तु शतपथ में “मूर्तिनिर्माणाय” यह पढ़ भी नहीं है। और भाषप ने अपनी ओर चे स्वार्थसाधनार्थ मिला दिया। यदि कोई न्याय करने वाला हो तो भाषप की गति क्या हो ! ! ! शतपथब्राह्मण छापा बर्लिंग पृ० १०२४ में—

अथ मृतिपडं परिगृह्णाति । अभ्याच्च दक्षिणसोहस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतोदेवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षचिङ्गस्य रसोव्यक्तरत्स इमे द्यावापृथिवीभगच्छद-

नमृदियं तद्वदापोऽसौ तन्मृदश्चाऽपां च महावीराः कृता  
मवर्न्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्थयति कृतस्नं करोति तस्मा-  
दाह देवी द्वावापृथिवी इति मखस्य वामद्वा शिरोराध्या-  
समिति यज्ञोवैमखो यज्ञस्य वामद्वा शिरोराध्यासमित्ये-  
वैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सं-  
भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ण इति यज्ञोवैमखो  
यज्ञाय वा यज्ञस्य वा शीर्ण इत्यैवैतदाह ॥ शतपथे १४।१।२५

इस में न तो उस कल से पाठ है और न "मूर्तिनिर्माणाय" पढ़ है ।  
और न इस पढ़ के बिना कुछ भी भाव का प्रयोगन सिद्ध होता है । तात्पर्य  
तो यह है कि "देवी द्वावापृथिवी० यजुः ४७ । ५ इस मन्त्र से यज्ञ में महा-  
वीर संज्ञक यज्ञशत्रु निर्माणार्थ मिट्टी का हला ( विषष ) लावे ॥

अब इस शतपथ ब्राह्मण से ही यह भी दिखलाना चाहते हैं कि महा-  
वीर हवन के पात्र विशेष की संज्ञा है । यथा-

तदाहुः । यद्वानस्पत्यैर्देवेभ्योजुहूत्यथ कस्मादेतन्मृ-  
न्मयेनैव जुहोतीति । इत्यादि । शतपथे १४ । २ । १ । ५३

जिस का भावार्थ यह है कि महावीर संज्ञक पात्र मिट्टी के क्षेत्रों बनावे  
बनस्पति ( काष्ठ ) के पात्रों से देवतों को हवन किया करते हैं सो यह  
भी काष्ठ के क्षेत्रों न बनाये जावें । इस का उत्तर भगवान् कथिका में स्पष्ट  
दिया है कि-

स यद्वानस्पत्यः स्यात् प्रदह्येत । यद्विरणमयःस्यात्प्रलीयेत ।  
यद्लोहमयःस्यात्प्रसिच्येत । यदयस्मयःस्यात् प्रदहेत्परीशा-  
सात्रथैष एवैतस्मा अतिष्ठन । तस्मादेनं मृन्मयेनैव जुहोति

शतपथे १४ । २ । १ । ५४

यथोत्स काष्ठ के का यह भय है कि वह अग्नि में भस्म हो जावे । मुखर्ण  
का गल जावे । लोहमय चू जावे । अयोमय फूकने लगे । इस लिये यही  
ठीक है कि सूरमय ( मिट्टी के ) होन करे ॥

इस में भी जुहोति किया से महावीर का होममाधन होना पाया जाता है। परमात्मा को मूर्ति होना नहीं। आप ने भी पृष्ठ ३५१ में यह कथितका पाठभेद करके लिखी है भीर “जुहोति=इवत करता है”। इस पैद का अर्थ मूर्ति बनाना किया है। जो किसी व्याकरण कीष निरक्षादि का नन नहीं। भीर यदि आप ही के पक्षको नान लें तो काष्ठ पाषाण पीतल शादि की मूर्ति बर्जित रहें, केवल मट्टी की मूर्ति बगाई जावें॥

मन्त्र में “ द्यावापृथिवी मूखस्य वामुद्य शिरोराध्यासं देवयज्ञने पृथिव्याः ॥ मूखाय त्वा मूखस्य त्वा शीर्णे ॥ यजुः ३७ । ३ ॥ ” परन्तु यज्ञप्रकरण में इस के उपगालक्षार से उपदिष्ट शीशिक्षा का प्रयोग नहीं है। यथा—

**देवीं द्यावापृथिवीं मूखस्यं वामुद्यं शिरोराध्यासं देवयज्ञने पृथिव्याः ॥ मूखाय त्वा मूखस्य त्वा शीर्णे ॥ यजुः ३७ । ३ ॥**

( देवी ) उत्तम गुणयुक्त ( द्यावापृथिवी ) प्रकाश और भूमि के हुस्त्र लियो। ( अद्य ) इस चमय ( पृथिव्याः ) पृथिवी के बीच ( देवयज्ञने ) देवयज्ञ में ( वाम् ) तुम दोनों के ( मूखस्य ) यज्ञ के ( शिरः ) उत्तमाङ्ग को मैं ( राध्यासम् ) मिहु करूँ ( मूखस्य शीर्णे ) यज्ञ के उत्तमाङ्ग के लिये ( त्वा ) तुम को भीर ( मूखाय ) यज्ञ के लिये ( त्वा ) तुम को मिहु करूँ ॥ ३ ॥

द० तिथि ७० भाग ४३५ पं० ११ में जो शतपथ का पाठ लिखा है, उस में भी “ मूर्तिनिर्णयाय ” यह अपनी रचना का भिला दिया। धन्य आप का धाइम ! । इस में बंधी की मिहु लेने का विधान है क्योंकि अगले मन्त्र में “ वस्त्रः ” किङ्ग आया है। इस से बंधी के विषय में इस का विनियोग किया है। मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे अनुमार है—

यह भी ध्यान रहे कि आप ने जो मूल भूमों के अर्थों में आर २ “ हे महावीर ” लिखा सो मन्त्रों में महावीर पद का चिह्न तक नहीं। प्रत्युत इस १३ में अध्याय भर में महावीर शब्द तक नहीं आया। यथा—

**देवयौवमूर्थोभूतस्यं प्रथमुजा मूखस्यं वो**

**उद्य शिरोराध्यासं देवयज्ञने पृथिव्याः ॥**

**मूखाय त्वा मूखस्य त्वा शीर्णे ॥ यजुः ३७ । ४ ॥**

हे ( प्रथमजाः ) पहले से तुझे ( वर्षयः ) योही भवस्था वालीं ( देव्यः ),  
देवियो ! ( भूतस्य ) सिंह तुम ( मस्तस्य ) यज्ञ की ( पूर्णिव्याः ) पूर्णिवी ले  
( देवेयजने ) देवयज्ञ में ( अद्य ) आज ( वः ) तुम लोगों को ( शिरः ) शिर  
के तुल्य ( राध्यामम् ) में सिंह लिया करुं, शेष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥ ४ ॥

शतपथ बर्लिन का छपा पष्ठ १०२५ कण्ठिका १२ में यज्ञाये अकाशीर लेने  
का वर्णन है, परन्तु मूर्ति का वहां चिन्ह भी नहीं, पुस्तक बढ़ने के शाय से  
पाठ उद्धृत नहीं किया, जो चाहें सो उस पुस्तक के इसी पते पर देख सकते  
हैं । वहां मूर्ति शब्द तक नहीं आया ॥

इस का मन्त्र यजुः ३९ । ३ है इस में भी महावीर पद नहीं आया ।

३० तिं० भा० प० १४२ पं० १० में-

स्वर्णोनेवाश्पा एतद्वेषानभिगोप्तन्करोति । श० १४ । १ । २ । १५

प्रत्युत्तर-इस में भी मूर्ति शब्द नहीं आया, फिर आप इस का अर्थ  
करते समय पं० २० में मूर्ति शब्द कहां से ले गाये ? न मन्त्र ३९ । ३ में कहाँ  
भी मूर्ति शब्द है, न महावीर शब्द है ॥

३० तिं० भा० प० १४३ में-आप मृत्पिण्डमुपादाय श्रीनमहावीरात्मकरोति  
इत्यादि । फिर इस के अर्थ में-मृत्पिण्ड लेकर महावीर को ३ मूर्ति बगाता  
है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप के लिखे समान न सी शतपथ में पाठ है, न मूर्ति शब्द है,  
किन्तु नीचे लिखे अनुसार पाठ है-

मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मख-  
स्य त्वा शीर्णऽहत्यसाकेव अन्यः प्रादेशमात्रं, प्रादेशमात्र-  
मिव हि शिरोमध्ये संगृहीतं, मध्ये संगृहीतमिव हि शिरो  
ऽथास्योपरिष्टात् अहृतं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिक्षे-  
तद्वधाति तं निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य  
ह्येतत्सौम्यस्य शिर एवमितरी तूष्णीं पिन्वने तूष्णीश्च रीहि-  
तकपाले ॥ शतपथे १४ । १ । २ । १०

कहुवे आदि के कपाल के सांचे से वसी प्रकार के ये इ बरपात्र बनाने  
की विधि है । निही का छला लेकर एक महावीर बगावे भीर “मखाय त्वा”

६७ । ८ पढ़े । यह महावीर मार्देशमात्र ( ८ अङ्गुल ) लम्बा चौड़ा गोल बनाए थयोंकि कपाल ( जो उस का सांचा=मीट्रिस है ) भी प्रादेशमात्र ही होता है । और बीच में महावीर पात्र सुखड़ा रहे जैवा कि शिर बीच में उत्था होता है । और १ अङ्गुल का ऊपर को ऊंद उस पात्र का छठावे, जिस से उस में का हथ्य पदार्थ अविन में सुगमता से निकल जावे, और अने को गाक सी बनावेके जैसी कि कछुवे की होती है । इसी प्रकार हूमरे और तीसरे महावीरों को बनावे । फिर विना मन्त्र चुन पिन्धन भीर तुप ही दो रीढ़ित कपाल बनावे । ये पात्र कपाल ( खोपड़ी ) के गाकार के होते हैं इस लिये इन का सांचा भी खोपड़ी और आयः जान भी कवाल होता है ॥ इस प्रसङ्ग में महावीरों का पात्रविशेष होता और भी स्पष्ट हो गया ॥

८० तिं० भा० ष० ३४४ । ३४५ । ३४६ । ३४७ । ३४८ में महावीरसंज्ञक पात्रों को धूप में सुखाना, अग्नि में पकाना, अर्णव से निकालना, अकरी के दूध में धोना, मोक्षण करना, पौँछना, घृत से चिकनाना, उन की प्रशंसा करना, माणादि से उन को फैंक द्वारा फूँकना, ( देखो ष० १४ । १ । ३ । ३० ) लिखा है और आपने उने मूर्ति पर घटाया है । परन्तु यजुः ३७ अध्याय के जो २ मन्त्र आप ने दिये हैं न तरी उन मन्त्रों में मूर्ति पद आया, न शतपथ ब्राह्मण में, किन्तु आप ने सारे संसार को अन्या समझ के बा अंखों में धूल हालने के विचार से अन्याशुत्य ( मूर्तिनिर्माणाय # ) पद घुमेड़ दिया । जिस से समस्त प्रकरण का थार्थ लीट गया । पाठक लोग यजुः अध्याय ३७ के जितने अन्तर्थे हैं उन का जात्य भी स्वाच्छ दयानन्द मरस्वती जी कृत भाव्य में भी उपस्थित है, यहां देख सकते हैं, यहाँ लिखने से पुस्तक बढ़ेगा । नवीन कोई आत नहीं जिस ने सिये पुस्तक बढ़ाया जावे ॥

८० तिं० भा० ष० ३४९ । ३५० में इष्टन के मन्त्रों को मूर्ति फटजाने का प्रायश्चित होम बताया है से जब मूर्ति का प्रकरण ही नहीं किन्तु यज्ञ-पात्रों का है, फिर उन के लिखने की जावश्यकता ही नहा है । तथा आप की गम्भ्येष्टि पद्धति और स्वरमित्र्याऽ जी कृत अन्त्येष्टि में उन मन्त्रों को लिखा है, सो आप ने मूर्तिपुजा भिन्न करने में लगा दिया । यथ हो ॥

# दूसरी बार के छपे ८० तिं० भा० में न जाने वयों, मूर्तिशङ्क गही है, किन्तु ( निर्माणय ) इतना ही है । परन्तु भावार्थ में फिर भी “ मूर्तिं गिमर्माणाय ” ही लिखा है ।

६० तिथि भाद्र पूर्ण ३५२ वंश ६ वे—

उद्गतो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ।

( अथवा० ३ । १९ । १ )

प्रत्युत्तर—( सायणभाष्यम्—)

प्रनभस्य इति वृष्टिकामोमरुद्भ्योमान्त्रवर्णकीभ्यो  
वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः । “प्रनभस्वद्वृति वर्षकामोद्वा-  
दशरात्रम्” की० ५ । ५ ॥

२-दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं “नग्नं-  
सत्ताप” इत्यनयाऽनुमन्त्रयेत ॥

मन्त्रभाष्यम्—अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्टधर्यं पर्जन्यः  
प्रार्थ्यते तदर्थमादौ अतिवृष्टया भूमेर्वाधा माभूदिति,  
तस्याः स्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते । हे पृथिवि ! विस्तीर्णे  
भूमे ! त्वं प्रनभस्व । नभतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षण सङ्गता  
उच्छृवसिता भव । अयमर्थः—सस्थादिवृद्धर्यं पर्जन्यसत-  
घोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति, तयातिवृष्टया त्वं शिथि-  
लावयवा मा भव किन्तु दृढा भवेति ० ० ० इशानः वृष्टि-  
प्रदानशक्तस्त्वं दृतिं जलपूर्णां भृत्यां मेघरूपां विषय विमुच्च ।  
यथा जलपूर्णात् दृतिमुखात् महजजलं स्वत्रति एवं मेघेभ्यो  
महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

इन में भी मूर्ति का वर्णन नहीं है, इस के लिये हम ने आप ही के पक्ष  
का सायणभाष्य जपर लिखा है । जिस का तात्पर्य यह है कि—

“प्रनभस्व—इस मन्त्र से वर्षां की कामना करके महतों वा मन्त्ररूप देवतों  
के लिये दृष्टि, चावल का होम है । इस विषय में कीशुमीष०५ । ५ का प्रमाण  
है । दर्श पौर्णमासेष्टियों के पश्चीमपाठों में ( नग्नसत्ताप ) इस मन्त्र का  
विनियोग है” ॥

प्रनभस्व० इसी जपता का उत्तररूप आप के लिये दिया है । मन्त्र के  
आरम्भ से सायणभाष्य का ( जो जपर लिखा है ) आश्रय यह है कि—

“इस में दूसरे पाद से लेके ६ पार्दों में वृष्टि के लिये पर्जन्य देवता की प्रार्थना है। इस लिये प्रथम यज्ञ कहा है कि भूतिवृष्टि ने पृथिवी की आधा न हो। इस कारण पहले पाद में पृथिवी की स्थिरता बाही गई है। इसे पृथिवी। विस्तृत भूमि। तू अत्यन्त उच्छृष्टित हो गर्षात् खेती आदि की वृद्धि के लिये पर्जन्य तुक्फ पर बढ़ी बर्षा करेगा, उस से तू ढीली न होगा, किन्तु दृढ़ रहना॥”

अब उत्तरार्ध का अर्थ सायणकृत सुनिये, जो आप ने सूर्तिपूजा पर लगाया है—

“( वैश्वानः ) बर्षा करने में सर्वथै तू ( द्रुतिम् ) जलभरी मशक [मेघ] को ( वि-ह्य ) छोड़। जैसे जल भरी मशक के मुख से ध ध ध ध जल गिरता है, ऐसे मेघों से भारी बर्षा कर॥”

इस सायणभाष्य से भी यह स्पष्ट हो गया कि दूति का अर्थ चमड़े की मशक है। सूर्तिव्यापक परमेश्वर नहीं। तथा पृष्ठ १५५ में जो आप ने ( मन्त्र वृत्तार्थ ) गन्त्र से सूर्तिपूजा निहृ की है, उसे भी सायणभाष्य ने यहीं बता दिया है कि यह मन्त्र दर्शवीर्णमास वृष्टियों में यजमानपत्री के संयाजों में सौम्यव्याग के अनुमन्त्रण में काम आता है, सूर्तिपूजा में नहीं। विस्तार जे भव्य से आगे इस का सायणभाष्य न लिखेंगे। यद्यपि इस सायणभाष्य को मर्वाश प्रमाण नहीं करते, परन्तु आपका मुख बन्द करने को तो सायणभाष्य पुढ़कल प्रमाण है और विशेष कर जब कि आप का किया अर्थ प्रमाणारहित और मापण का प्राचीन आपका माना हुआ और कौपुमादि के प्रमाणयुक्त है॥

३० तिं० भा० पृ० १५२ पं० १४ वे—

एह्यश्मानुमातिष्ठाइमा भवतु ते तनूः । कृपवन्तु विश्वे देवा  
आयुष्टे शुरदः शतम् ॥ अर्थव कां० २ । सू० १३ । म० ४

प्रत्युत्तर-

( सायणः सूक्तारम्भे ) आयुर्दी इति सूक्तं गोदा-  
नाख्ये संस्कारकर्मणि अनुयोजयेत् । “शान्त्युदकं करोति  
तत्रैतत्सूक्तमनुयोजयति ”की० ० । ४ एह्यश्मानमित्यनया  
दक्षिणेन पादेनाश्मानमास्यापयेत् । ( मन्त्रभाष्यम् )  
है माणवक ! एहि आगच्छ । अश्मानम् आतिष्ठ,  
दक्षिणेन पादेन क्रम । ते तव तनूः शरीरम् अश्मा

भवतु । अश्मवत् रोगादिविनिर्मुक्तं दूढं भवतु । विश्वेदेवा-  
अं ते तथ शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृपत्रन्तु कुर्वन्तु ॥

अर्थ-इस सूक्त के भारती में सायणाचार्यकहते हैं कि ( आयुर्द० ) यह सूक्त गोदान संस्कार में विनियुक्त किया जाता है । कीथुमशाखोय ७ । ४ बे प्रमाण से सायणाचार्यकहते हैं कि इस से शालि का जल करते हैं । अर्धात् ( एक्षाशमान० ) इस मन्त्र से संस्कार वाले बालक का वहिना पांच पत्थर पर रखवाये । सायणाचार्यकहत मन्त्रार्थ-हे बालक । शा पत्थर पर बिठ । तेरा शीर पत्थर अर्धात् पत्थर के तुल्य रोगादिरहित पुष्ट हो । देवता तेरी १०० वर्ष की आयु करें ।

( आयुर्द० ) इस सूक्त का अनुर्थ मन्त्र ( एक्षाशमानमातिष्ठ० ) यह है । जिस का अर्थ सायण ती कीथुमीय प्रमाणपूर्वक यह करते हैं कि बालक की लात ( चरण ) पत्थर पर लगवाया जाय । और आप सूलविरुद्ध, सायणविरुद्ध और कीथुमीय प्रमाणविरुद्ध ( पत्थर ) का पूजना किहु करते हैं । उस में वा उस से विद्धले मन्त्र में कोई परमेश्वर का वाचक शब्द भी नहीं है ॥ ०

३० तिं० भा० द०४५२ पं० २१ मे-दूते दूध्यह ना निप्रस्य मा चक्षुवा  
सवौणि भूतानि समीक्षाताम् । इत्यादि यजुर्मन्त्र ३६ । १० के ( दूते ) पद का  
अर्थ-हे सूर्तिष्ठापक परमेश्वर । किया है ॥

मत्युत्तर-शेष मन्त्र के अर्थ में कोई विवाद नहीं केवल ( दूते ) पद के  
अर्थ में विवाद है । आप "दूति" का अर्थ सूर्तिष्ठापक किस प्रमाण से लेते  
हैं ? निघट्टु में तो दूति नेत्र का नाम है । आप के मान्य अमरकोष में-

**दूतिसीमन्तहरितोरोमन्थोद्वीथव्युद्युदाः ।**

द्वितीयकाण्डलिङ्गादिसंप्रवर्ग श्लोक १९ के गहे श्वरकृत अनरविवेत टीका में-

**दूतिः अर्मपुटः ।**

अर्धात् अपडे के कुट्टे वा " नहक " को दूति लिखा है । जेदिगीकोष  
का प्रमाण भी टीकाकार देता है कि-

**दूतिर्वर्मपुटे मत्स्येनेति मेदिनी ।**

चदि आप नहींधर भाष्य को प्रमाण करते हों तो उसी को देखिये ।  
वह ( दूते ) वा अर्थ करता है ति- ।

( दृने ) दृष्टिविदारे, विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे ।

अर्थात् दृढ़ापे से शरीर शियिल होने पर ॥

दूसरा अर्थ महीधर ने यह किया है कि-

यद्वा—ससुषिरत्वात्सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः ॥

अर्थात् छेदयुक्त भीर सीचने का पात्र होने से दृति महावीर पात्र का नाम जानो ॥

फिर हम नहीं जानते कि जाप ( मूर्तिव्यापक परमेश्वर ) अर्थ किस आधार पर करते हैं । पर्याप्ति में तो वैदिक शाड़ीं के यौगिकार्य बल से यहाँ “ दृष्टिविदारणे ” धातु के अर्थात्रप से बोल यह अर्थ है कि ( हे सर्वदुःखविदारक ! ) जागे मन्त्रार्थ सुगम भीर निर्विवाद है ॥

८० तिं भाठ प० ३५३ पं० १० में—दृते दृथ्यंह मा इयोक्ते संदृशि जीव्याममृमर्थव ॥

प्रत्युत्तर—यहाँ भी दृति का अर्थ मूर्तिव्यापक करता सर्वपा निर्मूल है । ठीक अर्थ यह है कि “ हे सर्वदुःखविदारक ! मैं जाप की दृष्टि में चिरञ्जीव छोड़ ” यदि जाप सायणाचार्य का भाष्य भी मानें तो उक्त दोनों ठिकाने के (दृते) पद का सायणीयभाष्य ही देखें । उन में भी मूर्तिडयापक अर्थ नहीं है । तथा जाप इसे अर्थवं के पते से लिखते हैं परन्तु पूर्वं यजुर्मन्त्र के ३६ । १८ से जागे यजुर्वेद में ही १८ वां है । इस लिये उक्त महीधरभाष्य से भी जाप का अर्थ विरहु है ॥

८० तिं भाठ प० ३५३ पं० १८ में ( नमस्ते हरसे ) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस मन्त्र में तो ( दृति ) पद भी नहीं फिर हे मूर्तिडयापक अर्थ किसका ? ( अर्थिते ) का अर्थ—“ तेजःश्वदृप ” है जाप ने श्वमूर्तिप्रकाशकाय कहाँ से किया ? ( अन्याय ) का अर्थ—“ मूर्तिपूजनविमुक्तान् नास्तिकाम् ” भी कैसे हुआ ? ( नमस्ते हरसे ) इस मन्त्र को महीधर ने लिखा है कि इस को १९ । ११ में व्याख्यात कर चुके हैं । सो वहाँ का भाष्य देखिये—

“हे अग्ने से तत्र शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कोदृशाय शोचिषे हरसे हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै हरतेरसुन्प्रत्ययः । ते तत्र अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । अन्यदुक्तम् ॥

अर्थ-हे जग्ने । तेरे ( शोचिवे ) प्रकाश के हेतु तेज को ( नमः ) नम-हकार है । कैमा तेज है कि ( हरवे ) सब रसों का शोषणे बाला ( अर्चन्वे ) हूमरे पदार्थों को चमकाने बाला । अन्य पूर्व कह चुके हैं ॥

इस से भी अग्निका वर्णन पाया जाता है, मूर्तिव्यापक का चिरह तक नहीं ॥

द० तिं० भा० प० ३५४ पं० ९ में-यतोयतः सनीहसे० ॥ इस का अर्थ लिखा है कि ( यतः ) जिस राम कृष्णादि अवतार वे-

प्रत्युत्तर-यह भी जगगंल है । अर्थ यह है कि जहाँ २ से जाप चेष्टा करते हैं वहाँ २ से हम को निर्भय करो ॥

द० तिं० भा० प० ३५४-३५५ में-

भश्मवर्मे मेऽसि योमा प्राच्यादिधोऽप्युरभिदासात् एतत्स ऋच्छात् ॥  
अथर्व ऐ ५ । १० । १ मे ३ तक के ३ मन्त्र लिख कर अर्थ किया है कि हे इष्टदेव ! मूर्तिव्यापक परमेश्वररूप ! तुम भेरे कवच हो इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्रार्थ यह है (भश्मवर्मे) पावाणतुल्य पुष्ट कवच (मे) भेरा (भनि) है (यः) जो (अधायुः) पापी शत्रु (मा) मुझे (प्राच्यादिधः) पूर्व दिशा मे (अभिदासात्) सारे (सः) वह दुष्ट (एतत्) इस भार को (ऋच्छात्) प्राप्त हो । इसी प्रकार इक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे और अन्तराल दिशाओं से भी कवच द्वारा शत्रुओं से बचने का वर्णन है । परम्पुरा (हे मूर्तिव्यापक परमेश्वर !) यह किसी पद का अर्थ नहीं । क्या जाप यह समझते हैं कि जहाँ २ भश्मादि पत्थर का बाचक कोई शड्द भाजा वै वहाँ २ पत्थर में व्यापक वा मूर्ति में व्यापक परमेश्वर का ही बर्णन है ?

द० तिं० भा० प० ३५५ प० १६ में-ग्रन्थस्तत्त्वाप न हिमो जघाक प्र न भस्तां  
एषिष्ठो जीरदानुः । आपश्चिद्गमे घृतमित्करन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम् ।  
अथर्व ३ । १८ । २ का अर्थ करते हुवे (सोमः) का अर्थ (मूर्तिव्यापको  
देवः) किया है ॥

प्रत्युत्तर-जब कि जाप ख्यां सोमशड्द पर यह शतपथ १२ । ६ । १ । ९  
लिखते हैं कि:-

सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः तस्यैतास्तन्त्रीयाएता देवताः ।  
(तथा)-सर्वं हि सोमः । श० ५ । ५ । ४ । १० ॥

जिस का गर्थ यह है कि "सोम राजा यज्ञ है जो प्रजा का पालक है और ये अन्यदीवता उस (यज्ञ) के भक्त हैं ।" हूमरे शतपथस्य पाठ का गर्थ यह हुआ कि "मन्य ही सोम है" किर सोम शब्द का गर्थ "मूर्तिःश्चापक परमेश्वर" किमे हुया ? वेदसःग्राम में विवाद ही क्या है । यह ती हम को भी स्वीकृत है कि जाहां ( सोम ) यज्ञ होता है, वहां कल्याण है, वहां मूर्तिःदि के तापगनित रोग, जोलों की वर्षा जादि गनिष्ठ नहीं होते ॥

६० तिथि ० भा० प० ३५६-३५७ में स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश प० १९९ लिखित-

**अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्दिभुः ।**

इत्यादि लेख पर यह दोष दिया है कि स्वामी जी ने पीन शोक लिखा है, समस्त लिखते तो कलई खुलाजाती । और स्वयं पूरे दो शोक लिखे हैं ॥

प्रत्युत्तर-मुख्य बात यह है कि हिन्दू लोग जो कहते हैं कि रामेश्वर महादेव लिङ्ग को रामचन्द्र ने पूजा । इन पर स्वामी का कथन है कि यह बात वास्त्रीकीय रामायण में नहीं लिखी किन्तु रामचन्द्र ने सीता को ऐतुबन्ध लिखाया है । और यदि आप लिङ्गपूजा नामते हैं तो इन आप के लिखे दोगों पूरे शोकों को ही हड्डित करके मार्ये लिखते हैं और पूछते हैं कि इन में भी लिङ्गस्थापन वा पूजा का वर्णन कहां है ? यथा-

**एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।**

**सेतुबन्ध इति स्वातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥१॥**

**एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।**

**अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्दिभुः ॥ २ ॥**

युद्धकाण्ड सर्ग १२५ श्लोक २० । २ ॥

( राम कहते हैं कि है सीते । ) यह बड़े समुद्रका घाट दीखता है, इस को ऐतुबन्ध कहते हैं, यह ३ लोक में प्रसिद्ध है, यह परम पवित्र स्थान है, यहां पापी महापातकों का प्रापश्चित्त करते हैं, यहां ही सर्वव्यापक देवों में बड़े महादेव परमात्मा में ( हम पर ) कृपा की ॥

शपोत् हमने परमात्मा की कृपा से यह पुल बांधा । इस प्रकार पूरे दी शोक लिख देते और उन का गर्थ लिख देते तब भी यह सिंह नहीं होता कि रामचान्द्र जी ने मूर्तिःस्थापन वा लिङ्गपूजन किया हो । इस लिये स्वामी

जी ने जो एक झोक का १ पाद और दूसरे के २ पाद भाव लिखे। उन का यह साहपर्य नहीं निकाला जा सकता कि शेष पादों से लिङ्गपूजा द्वितीय हो जाने के भव में उन्होंने वे पाद छोड़ दिये, किन्तु अग्रवश्यक थे॥ आगे—

६० तिं० भा० ए० ३५७ यं० १४ से—(यत्र यच म यातिस्म रावणोराक्षरेष्वरः)

इत्यादि उत्तरकाष्ठ के दो झोकोंने मेरिहु किया है कि रावण सदा जाम्बू-गद सोने का लिङ्ग माय रखता था और गम्य पुष्पादि से पूजता था। इत्यादि।

प्रथ्युत्तर-प्रथम ती वासीकीय रामायण में प्रक्षेप शब्दों का संभव है। दूसरे, उत्तरकाष्ठ से समस्त ही कलित है। इस के ये प्रमाण हैं—

१-बालकाशड के बातमें ही लिखा है कि—

### षट् काशडानि तथोन्तरम् । सर्ग ३ श्लोक २

अर्थात् ६ काशड और उत्तरकाष्ठ। इस शैली से यह ध्वनि निकालती है कि उत्तरकाष्ठ पीछे से यगा, अन्यथा “ ६ काशड और उत्तरकाष्ठ ” न कहते किन्तु इकट्ठा “ ६ काशड ” कहते॥

२-युद्धकाशड के अन्त में रामायण का माहात्म्य विस्तारपूर्वक वर्णित है। माहात्म्य, अन्य के भार्दि वा भान्त में लिखा जाता है। इस से विदित होता है कि युद्ध ( छठे ) काशड पर ही रामायण समाप्त होगया॥

३-काक भुग्यरदादि की असंभव कथाओं का तांत्र उत्तरकाष्ठ में ही है। और अन्यायपुक्त सीतापरित्याग की कथा भी इसी काशड में है। जिस को रागचन्द्र जैसे अन्यायकारी पुक्ष से अग्नहोनी भान कर किनने ही विद्वान् उसे नहीं गानते॥

४-रामनाम टीकाकार प्रायः सर्गों के सर्गों को प्रक्षिप्त गानते हैं और। उन पर टीका नहीं करते। और ऐसे सर्ग उत्तरकाष्ठ में सब से अधिक हैं जैसा कि राम टीकाकार उत्तरके २५ सर्ग के भान में लिखता है कि—

### इत उत्तरं पञ्च सर्गः प्रक्षिप्ता व्योध्याः ॥

अर्थात् इस से भागे ५ सर्ग प्रक्षिप्त जागते। ऐसा ही अमृत जगह कहा है। किर उत्तर के १३ सर्ग से भागे ५ सर्गों को रामटीकाकार प्रक्षिप्त गानता है और कहता है कि—

**कतकतीर्थाद्यनादृतत्वाच्च मयापि न व्याख्याताः**

कतक तीर्थादि ने नहीं भाने इस से भैने भी टीका नहीं किया॥ किर

उत्तर ५९ में सर्गे के आगे १ सर्गों को राम टीकाकार कहता है कि—  
तीर्थकंतकाद्यस्पृष्टवेन प्रक्षिप्तमिति न व्याख्यातम् ॥

तीर्थ कंतकादि ने छुते भी नहीं इस से प्रक्षिप्त जानकर हमने भी टीका  
नहीं की ॥

५—वाहनीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ में संक्षिप्त सब कथा के वर्णन  
में उत्तरकाण्ड की एक भी कथा नहीं गिनाई और इलोक ३९ पर-

**रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्नवान् ॥**

अर्थात् रामचन्द्र सीता को पाय किंवराज्य को प्राप्त भये थे । इस प्रकार  
भूतकाल करके वर्णन किया है । फिर रामचन्द्र जी के भविष्यत् यज्ञ का  
बर्णन तो है, पर सीता परित्याग का नहीं ॥

६—फिर बालकाण्ड सर्ग २ में रामायण की कथाओं का सूची पत्र है । उस के  
अन्त में इलोक ३८, ३९ में सूचीपत्र बनाने वाला कोई पुस्तक कहता है कि—

**स्वराष्ट्रज्ञनं चैत्र वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥**

**अनागतं च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले ।**

**तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥**

“ अर्थात् प्रजापालन, सीतात्याग और जो कुछ भविष्यत् कथा है वह  
उत्तर काण्ड में भगवान् वाहनीकि ने बनाई । ” स्वप्न है कि यह लेख ख्ययं  
वाहनीकि जी का नहीं । और “ उत्तर ” का विशेष नाम लेने का भी प्रयो-  
जन न पा, जब कि सूचीपत्र की भव्यकथाओं में सात काण्डों के नाम नहीं  
आये हैं । इस से प्रतीत होता है कि यह घड़त है । तथा प्रथम सर्ग में कथा-  
ओं का सूचीपत्र ना ही चुका पा फिर दूसरे ही सर्ग में नये सूचीपत्र की जाव-  
इयकता न पी, किन्तु यह पुनरुक्ति इसी खार्यमाधान के लिये की गई है । और  
७—प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।

**चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् । वा० वा० ३ । १**

अर्थात् राम को राज्य मिलने पर वाहनीकि जी ने रामायण बनाया,  
पूर्व नहीं ॥

**८—तथा सर्गशतान्पञ्चु । वा० वा० ३ । २ ॥**

अर्थात् ५०० सर्ग बनाये । इस पर राम टीकाकार लिखता है कि—

## पञ्चशतरूपसर्गसंख्या षट्काणडानामेव ।

अर्थात् ५० संगे संख्या ६ काण्डों की ही है, ७ में को नहीं ॥

सीमरी बात यह है कि इन श्लोकों में रावण राक्षसराज का लिङ्गपूजक होना लिखा है। सो जो रावण राक्षस के अनुगामी हों वे लिङ्गपूजा करें, जिस ने अन्य भी अलेक अनर्थ किये थे, उन में एक लिङ्गपूजा भी सही, परन्तु रामसक्तों को तो लिङ्गपूजा नहीं करनी चाहिये ॥

इति मूर्तिपूजामहाप्रकरणम् ॥

## अथ-तीर्थप्रकरणम्

३० तिं० भा० पृष्ठ ३५८ में—नमः पाद्यर्थं चावायर्थं च नमः प्रतरणाय वीक्षणाय च नमस्तीर्थर्थं च । पञ्जः १६ । ४२ इस गत्त्र के “तीर्थं” पद से गङ्गादि तीर्थ सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस गत्त्र में तीर्थं पद आया है परन्तु प्रयागादि का वर्णन आपने अपनी शेर से का महीधर की देखा देखी लगाया है। गत्त्र में नहीं है। न गत्त्र में यह वर्णित है कि तीर्थं गङ्गादि को कहते हैं। प्रत्युत आप भी यह जर्थ करते हैं कि ( हे शिव ) ( शाप तीर्थसूप हो ) जिस में शिव परमेश्वर ही तीर्थं-संसार से पार तिराने वाला पाया जाता है और ठीक जर्थ सी यह है कि—

समानतीर्थं वासी ( अष्टाध्यायी ४ । ४ । १०७ )

जो विद्यार्थी एक गुरु से पढ़ते हैं वे सतीर्थं कहाते हैं, यही कीमुदी में लिखा है कि—

समाने तीर्थं गुरी वसतीति सतीर्थः

जिस से गुरु का नाम तीर्थं होता है। इस लिये “नमस्तीर्थर्थं” का अर्थ यह हुआ कि गुरुकुलवासी वेदादि के अध्येता ( तीर्थं ) पुरुष का ( नमः ) सर्वकार अध्यादि से करना ॥

फिर ३० तिं० भा० पृ० ३५९ पं० १० में इस ने गङ्गे यमुने० इत्यादि प्रमाण दिया है ॥ प्रत्युत्तर—

इस में गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता पहुण्या ।

अर्जुस्कथा मरुदवृध विनस्तयार्जीकीये शृणुह्यासुषोमया ॥

(ऋ० १० । ७५ । ५)

( सायणभाष्यप )

अत्र प्रधानभूताः सप्त नद्यः तदवयवभूतास्तिस्तः रत्न-  
यन्ते हे गङ्गे हे यमुने हे सरस्वति हे शुतुद्रि हे परुष्णि  
हे असिक्षथा अवयवभूतया सहिते मरुदवृधे, वितस्तया  
सुषोमया च सहिते आर्जीकीये ! त्वं चैवं सप्त नद्योयूयं  
मे स्तोमं स्तोत्रम् अस्मदीयमात्रत आसेवधवं शृणुहि  
शृणुत च । आर्जीकीयाया वितस्तया सुषोमया च साहित्यं  
निरुक्ते उक्तं वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया  
चेति । अत्र गङ्गा गमनादित्यादि निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

सायणभाष्य का भावार्थ-

इस में प्रधान ३ नदी और उन के अवयवभूत ३ नदियों की प्रशंसा की  
जाती है । १ गङ्गे । २ यमुने । ३ सरस्वति । ४ शुतुद्रि । ५ परुष्णि । ६ अवयव  
भूत अनिकी सहित मरुदवृधे । ७ वितस्ता और सुषोमा सहित आर्जीकीये ।  
इस प्रकार ९ नदियों ! तुम मेरे स्तोत्र को ऐवित करो और सुनो ॥

आर्जीकीया का वितस्ता और सुषोमा के सहित होना निरुक्त में कहा  
है कि “वितस्ता तथा सुषोमा सहिते । आर्जीकीये । सुग” ॥ इस में “गङ्गा  
गमनात्” इत्यादि निरुक्त देखना चाहिये ॥

ब्रह्म सायणाचार्य के भाष्य से भी पापनाशकता, तीर्थता और सोक्ष-  
दायकता का गच्छ तक नहीं आता । फिर यह प्रमाण पं० उत्रा० प्र० जी  
के पक्ष को पुष्ट कहां करता है ? नहीं करता ॥

किसी को दो सन्देह सायणभाष्य से नये उत्पन्न होंगे । १-यह कि  
नदियों को सम्बोधन और सुनना ल्यों वर्णन किया है । २-यह कि यदि गङ्गा  
को भगीरथ ने छापा, तो भगीरथ के पितॄपिता भगादि के समयों में वर्ण-  
नाग ऋग्वेद में उस का वर्णन तथा भग्न नदियों का वर्णन कैसे आया ॥

१-प्रथम का समाधान ती हमारी समझ में यह है कि-( तात्त्विकिता-

ऋचः परोक्षकृता॒ प्रत्यक्षकृता॒ भाष्याऽस्त्वक्यम् ) निरुक्त १ । १ अर्थात् वेदों में  
इ प्रकार की ऋचा हैं । १ परोक्षकृता॑ । २ प्रत्यक्षकृता॑ । ३ भाष्याऽस्ति की ॥ इन  
में से ( शय प्रत्यक्षकृता॑ सध्यमपुष्टवयोगास्त्वभिति चैतेन सर्वनामा॑ ) निरुक्त  
३ । २ प्रत्यक्षकृताओं में सध्यमपुष्ट और त्वम् ( तू ) यह सर्वनाम भाता है ॥

इस से जाना जाता है कि वेद की यह शैली है कि प्रत्यक्ष पदार्थों को  
इस प्रकार प्रयोग में लाता है । इस को उन का शर्य समझते समय शपनी  
शैली जो वर्त्तनाम भाषा की है उसी में तात्पर्य समझ लेना आहिये । कुछ  
यहां नदियों के विषय में ही ऐसा हो सो गहरी, किन्तु भग्नेवायो ! सूर्य! मुखला॑।  
चलूबल ! पूषन् ! चन्द्र ! इत्यादि सम्बोधनों से वेद भारे पढ़े हैं । उन सब की  
सहृति इस निरुक्त से हो जाती है । कहीं २ वेद के अग्न्यादि पदों में छेषाल  
झार होता है । वहां परमेश्वरविषयक शर्य में सम्बोधन भावश्यक होता है ।  
यह भी उन २ भग्निवायु आदि पदों में सम्बोधन के प्रयोग का कारण है ॥

ठथाकण में ( सुमिदुष्यालिङ्गनराणां कारलहलस्वरकर्तृयडां च ॥

अत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धतिवाहुलकेन) यह कारिका ॥

### ८४-व्याख्योबहुलम् ( ३ । १ । ८५ )

इस सूत्र पर है । इससे भी प्रयत्न सध्यम उत्तम पुष्टवयों का व्याख्य वेद में  
बतलाया गया है । इसलिये वेद की यह शैली ( मुहावरा ) जान पड़ता है ॥

२-इूपरे का समाधान भी इसी मन्त्र के निरुक्त से हो जायगा । यह तौ  
प्रसिद्ध है कि वेद में प्रायः यौगिक शब्द हैं । तदनुसार इस मन्त्र में आये  
समस्त नदीवाचक पदों का शर्य निरुक्त ने इस प्रकार किया है जिस को  
सायणाचार्य ने संकेतमात्र लिखकर छोड़ दिया है । यथा निरुक्त ९ । २६-

### १-गङ्गा गमनात्

गमन से गङ्गा । अर्थात् गति वा चाल वा बहाव प्रशंसित हो ॥

२-यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा ।

जोड़ती हुई चलने वा जुड़ी हुई चलने से यमुगा ॥

३-सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वतीति ।

अर्थात् सर पातु से सरस् जल का नाम है, उत्तम चल वाली सरस्वती जानो ॥

४-शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रदाविण्याशु तुच्चेत्र द्रवतीति वा ॥

अर्थात् शीघ्र भागने वाली शीघ्र उपयित सी चलने वाली को शुतुद्री जानो॥

**५-इरावतीं परुषणीत्याहुः परवती भास्त्रती कुटिलगामिनी ॥**

पर्वीं जोड़ी वाली, प्रकाश वाली, कुटिलगामिनी को परुषणी पड़ा ।  
इसी से इरावती नदी का नाम परुषणी पड़ा ॥

**६-असिक्ष्यशुक्रासिता, सितमितिवर्णनामतत्प्रतिषेधोऽसितम्**

अशुक्रा वा असिता होने से असिक्षी । सित वर्ण का नाम है, उस का उलटा असित ॥

**७-महद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति ॥**

महद्वृधा सब नदी हैं क्योंकि मरुत इन को बढ़ाते हैं ॥

**८-वितस्ता विद्यथा विवृद्धा महाकूला ॥**

विद्यथा वा विशेष बड़ी वा बड़े किनारों वाली को वितस्ता जानो ॥

**९-आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ज्ञजकृप्रभवा वर्जुगामिनी वा ।**

ऋजूक से उत्पन्न होने वाली वा ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो ।  
इसी से विपाशा नदी को आर्जीकीया कहते हैं ॥

इस निहक्त के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इन २ लक्षणों वाली नदी होती हैं और जिस २ नदी में जो २ लक्षण पाये गये, लोक से उस १ नदी को पौछे से उस २ नाम से पुकारने लगे । जैसे कि निहक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि आर्जीकीया ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम पड़ गया । और पर्वीं वाली आदि लक्षणों से इरावती का दूसरा नाम परुषणी पड़ा ॥

इस से यह जानना चाहिये कि वेद में आये गङ्गा आदि नाम भागीरथी आदि के बाचक नहीं किन्तु बेदोक्त लक्षणयुक्त होने से भागीरथी आदि के गङ्गा आदि नाम पौछे संपत्तिरित हुये ॥

३० तिं० भा० ८० ३६० पं० १ से-सरस्वती सरयुः सिन्धुदुर्भिर्भिः ।  
इत्यादि प्रमाण दिया है ॥

प्रस्तुतर-

सरस्वती सरयुः सिन्धुर्दुर्भिर्भिर्महीरवुसा यन्तु वक्षणीः ।

देवीरापो मातरैः सूदयित्वै घृतवृत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥

( ज्ञ० १० । ६४ । ९ )

सायणभाष्यम्

महोमहतोऽपि महीर्मत्यः अत्यहन्तं महत्यः ऊर्मिभिः  
सहिताः सरस्वती सरयुः सिन्धुः एतदादा एकविंशतिसं-  
ग्रन्थाकाः वक्षणीःइमा नदाः अवसा रक्षणेन हेतुना आयन्तु  
अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छन्तु ततः देवीः देवनशीला मानरो  
मातृभूताः सूर्यित्त्वः प्रेरयित्र्यः तासामापः दृतयुक्तं मधु-  
मत् मधुसहितमात्मीयं पथः नोरमध्यमर्चत प्रयच्छुत ॥

( सायणभाष्य का भावार्थ ) बड़े से बड़ी अत्यन्त बड़ी लाइरें सदित  
सरस्वती, सरयु, सिन्धु इत्यादि २१ प्रकार की नदीं हैं, वे रक्षा हेतु भावे,  
हमारे यज्ञ में प्राप्त हों और दिवशील माता के समान प्रेरणा वाली उग का  
जल मधुरतायुक्त है। वे अपने जल देवें ॥ १ ॥

इस सायण के भाष्य का भी भावार्थ यही निकलता है कि २१ प्रकार  
की भारी २ नदियों के जल से हमारी रक्षा होवे और यज्ञ कार्य में उग के  
मधुर जल वर्ते जावें । वे हमारा माता के समान पोषण करती हैं । माता दुर्घ  
पिलाती है, ये सीठा जल विलाती हैं । इस में सी पापनाशन और सोन्नदान  
का कुछ भी वर्णन नहीं आया ॥

३० तिं भा० प०० पं० ३०० पं० १४ से-आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीत् । इत्यादि  
मन्त्र से तीर्थं सिद्धं किये हैं-

प्रत्युत्तर-इस में सरल भड़दार्थ भी देखा जावे तौ गङ्गादि तीर्थों का  
लेशमात्र वर्णन नहीं । पदार्थ सहित मन्त्र पढ़ियेः—  
आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीद्गिर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अंब्रवीत् ।  
वृथुयन्तीं वृहुभ्यः प्रैको अब्रवीदिना वद्दन्तश्वम् सौं अपिंशत ॥

( ऋ० १ । १६१ । ९ )

वर्णः—( एकः ) एक तो ( अब्रवीत् ) कहता है कि ( आपः ) जल  
( भूयिष्ठः इति ) बहुत हैं । ( अन्यः ) दूसरा ( अब्रवीत् ) कहता है कि  
( अग्निः ) अग्नि ( भूयिष्ठ इति ) बहुत हैं । ( एकः ) एक ( प्रभ्रवीत् ) उत्तमता  
से कहता है कि ( वर्धयन्तीम् ) पृथिवी बड़ी है । ( अता ) [ इस प्रकारसब ]  
सत्य ( वद्दतः ) कहते हुवे ( चमचान् ) चमचों को ( अपिंशत ) बांटें ॥

अर्थात् जल, भविः, पृथिवी भादि में जिम पर जो दृष्टि हालता है उसे वही बहो प्रनीत होती है और भिन्न २ वन्नुओं को बढ़ा अताने वाले सभी सत्यवादी हैं क्योंकि पथार्थ में जल, भवित वा पृथिवी सभी बहे हैं। इस में यह नहीं कहा कि जल वा रुपल तीर्थ वा गोकर्णदायक हैं॥

३० तिं भा० पृ० १६१ में रामायण के कुछ श्लोक लिखे हैं, जिन का उत्तर रामायण के प्रशिष्ठांश में भा चुका है॥

३० तिं भा० पृ० ३६२ पं० ११ से—यतोबैवस्वतोदेवः इत्यादि भनु ८ । ३२ से तीर्थ मिहु किया है॥

प्रत्युत्तर—इस का अर्थ यह है कि “यम बैवस्वत जो तेरेहूदि स्थित है। यदि उस से विरोध नहीं तो न गङ्गा को जा, न कुहारों को”॥

यह भनु ८ । ३२ राजा के माली से माहय सुनते समय का है। जिम में पापनाश वा सोक का कुछ भी वर्णन नहीं, तिन्तु गङ्गा वा कुहारों वा मरुप दगड़ का भय दिया है कि भूटों गवाही आत्मा के बरहु न दोगे तो तुग को गङ्गा वा कुहारों वा मरुप दगड़ भोगना ग पड़ेगा। इस में पापनाश वा सोक का वर्णन नहीं। क्या दगड़ भोग के स्थान कारागारादि को तीर्थ वा सोक मद जह सकते हैं? नहीं॥

३० तिं भा० पृ० ३६२ पं० १९ से—मिताऽसिते परिते पत्र सङ्घर्षे । इत्यादि भन्न को अवधेद संहिता का बताकर तीर्थ सिहु किये हैं॥

प्रत्युत्तर—यह भन्न अवधेद संहिता में नहीं है, न इस पर सायगाचार्य ने भाष्य किया किन्तु परिशिष्ट का वचन है और तीर्थ का विचार वेदप्राप्त मासिकत्र वर्ष २ खण्ड १२ वर्ष ३ खण्ड १ में विस्तारपूर्वक है, वहां ऐसे बहुत से गन्त्रों पर विचार किया है, दखिये—और यद्यपि ऐसे २ कृत्रिम मन्त्रों का अर्थ भी योगाभ्यास की ओर हो सकता है, परन्तु इस निश्चय विश्वास करते हैं कि परिशिष्ट ग्रन्थों वा उन में के कितने ही साक्षों की रचना भाषुनिक मतवादियों ने इसी कारण की है, जिम से उन्हें अपने भाषुनिक विचारों को वेद द्ये मिहु करने का अवसर मिल सके। भासा परिशिष्ट क्या वस्तु है? इस का शब्दार्थ यह है कि जो वेदों में परमात्मा को उद्देश करते समय परिशेष रह गया, वह किसी समय के लोगों ने बनाया और वेद की कमी को ऐसे पूरा किया, जैसे पाणिनि के सूत्रों की न्यूनता को वार्त्तक से पूरा करते हैं, परन्तु इस मन्त्रों के घड़ने वालों ने तीर्थसाहात्म्य जिसे

परनामा ने बेदों में (इनके विचारानुसार) सूल कर छोड़ दिया था, उसे पूर्ण करके परमात्मा के भी बहु बन गये ॥

— \* —

### गुरुप्रकरणम्

८० तिं० भा० प० ५६२ श्लो० ५६३ में—सत्यार्थप्रकाश के गुहमाहात्म्य में को इस लेख पर कि (यदि गुरु भी दोषी हो तो दखनीय है) आश्रेप करके गुरु को अदरक्षण और अन्याध्युम्भ जैसी गुरु आज्ञा करे, मानना लिखा है ।

प्रथ्युत्तर-भनु के (गुरुर्येत्र परीवादः) इत्यादि अध्याय २ श्लोक २०१, २०१ में गुहनिन्दा न सुनने का विधान, भूठी निन्दा न सुनने के लिये है । और यदि यथार्थ में गुरु दोषी हो तो—

गुरुं वा बालवृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ मनुः

अथोत् चाहे गुरु हो, चाहे बालक, बूढ़ा, वा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, किन्तु दुष्ट आततायी को शीघ्र गारे । और अर्थात्मा विद्यादाता गुरु की देवा का विधान सत्यार्थप्रकाश के इसी प्रकारण की २ पद्धति और उपर को देखिये तो मिल जायगा ॥

### पुराणप्रकरणम् ।

८० तिं० भा० प० ५६४ प० १५ से—गहमेव वात इव प्रवाक्यारम्भाणा भुवनानि विष्णा । इत्यादि श्ल० १० । १२५ । १२ से देवी जीं सिद्ध की हैं ।

प्रथ्युत्तर-यदि आप का लिखा ही अर्थ ठीक नाना जाय तो भी प्रकृति (उपादान कारण) की नहिमा वर्णित होती है, कुछ नहिमाद्वारा संदर्भी, सद्यमांसप्रिया, पुराणोक्त देवी का वर्णन तो नहीं । और आप जो पुराणोक्त स्वप्नयुक्तप्रति के परश्पर विरोध का परिवार करते हैं कि जिस २ कल्प में जिस २ देवता से लूटि चली, उस २ पुराण में उस २ मित्र २ देवता से लृष्टि की उपत्यका लिखी, जो समाधान इस लिये ठीक नहीं कि कोई भनुध्यादि के समान देवधारीदेवी जादि इस नहींतो प्रजा के उत्पन्न करने और असंख्य लोकों के धारण करने में असमर्थ होने से उनका सुधिकर्तृत्व ही उत्पन्न नहीं, किंतु और विचार ही क्या करता है ॥

४० तिं० भा० पृ० ३६५ पं० २९ यह कथा स्वामी जीने अपनी मिलावट और गहवड़ी से लिखी है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अरप ने यह जा लिखा कि कथा २ मिलावट और गहवड़ी है । और यह तो ठीक ही है कि स्वामी जी ने शिवपुराण का अध्यारणः अनुवाद तो किया ही नहीं, किन्तु सारांश कथा कर लिखा है । नृसिंह का जिस प्रकार शरभावतार बिज्ञ ने वध किया, सोरसी इन पूर्व पृष्ठ ३३ से ३५ तक में वर्णित ही कर चुके हैं । किंतु भला जब भवतार २ भाषण में एक दूसरे का वध करने लगे, रामायतार और परम्पुरामावतार भाषण में सामना करने लगे, यदि ये जाते भी विरोध करने की नहीं तो और क्या आइते हो ?

४० तिं० भा० पृ० ३६६ पं० ११ से अङ्गाको मोहन होने के वरदान मिलने पर भी बछड़े चुराने कृप मोह होने की अङ्गाका का यह समाधान किया है कि वह वरदान केवल विविध सृष्टि की रचना में तुर्त्याभिमान न होने के विषय में है । परन्तु इस प्रकार का मूल में कोई पद नहीं कि कर्तृत्वाभिमान न होगा । किन्तु “विमुक्त्यति” किया का अर्थ “मोह” ही है और आप “अहङ्कार” गर्थ करते हैं । तब आप के ज्ञान में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार; इन पांच में मोह और अहङ्कार का भ्रेद कुछ भी न रहेगा ॥ ऐसी खेचातानी से पुराणों की महिमा कर स्पष्टपण नहीं हो सकता ॥

४० तिं० भा० पृ० ३७१ में-बाराह और रहरवयाक की लहाई में जो असम्भवता स्वामी जी ने दिखाई थीं उन का समाधान किया है और कहा है कि पृथिवी पोही रह गई थी, शेष जल में छूबी थी, बाराह जो उसे उठाकर ला रहे थे इत्पादि-परन्तु पोही पृथिवी शेष थी, पोही छूबी थी, यह कथा इस प्रकारण में भाग्यवत में नहीं है और जो बाराह दरन्त पर पृथिवी को रखके थे, वे स्वयं कहाँ रहे थे ? इत्यादि शङ्काओं का कुछ उत्तर नहीं ! लहाई की तरह न लपेटने पर भी स्वामी जी की शङ्का जो भाधार की है उस का भी कुछ उत्तर नहीं । स्वामी जी ने कुछ भाग्यवत के अनुवाद का जाप नहीं किया किन्तु उस की कथा जुबानी लिखी है । पर जो कुछ भी भाग्यवत में लेख है उनका भी असम्भव दोष से रद्दित तौ नहीं ॥

४० तिं० भा० पृ० ३७३ में- लिखा है कि भाग्यवत में पङ्काद की कथा में स्वामी पर कीड़ी चलाया भादि नहीं लिखा । परन्तु कथा तो स्वामी जी के

गिर्वासन्देह जुबानी लिखी, किन्तु भागवत के से असंभवादिदोषयत्त पुस्तक में समय विताना व्यर्थ जाता । परन्तु क्या प्रह्लाद की कथा भी भागवत में नहीं है ? और क्या सुष्टुकमविरहु वासंभव वात नृसिंह की उत्पत्ति भी उस में नहीं है ? यदि है तो उस काचमाधवन विष्णुन के भनुपार आप को करना या ॥

### रथेन वायुवेगेन

वह वायु भागवत वशगस्कन्ध ३८ । ३९ में जीर:-

जगाम गोकुलं प्रति ३८ । ३४ में है ॥

इस में कहीं की ईंट कहीं रोड़ा नहीं हैं । अव्याय ३८ से ३९ तक में वही अक्षर के जाने का वर्णन है । जीर स्वानी जी ने जाद्योपान्त कथा लिखने के लिये जबानी याद रहे दो पाठ लिख दिये हैं, परन्तु आशय तीयही है कि अक्षर का रथ वायुवेग वाले घोड़ों से युक्त या । जब पैसा भागवत में है तो स्वानी जी की देर लगने की शङ्का का उत्तर यह नहीं हो सकता कि प्रेम में देर लगरहे । क्योंकि रथ की वायुवेगिता लिखने का तात्पर्य शीघ्र पहुंचाने के लिये ही या । फिर देर लगाने से प्रयोजन वायुवेग का पूरा नहीं होता ॥

४० तिं० भा० प० ५१४ में पूतना का शरीर छः कोस का जो सत्पार्णप्रकाश में लिखा है, उसे असत्य बताया है और भागवत का शोक स्वयं प्रमाण में दिया है कि-

पतमानोऽपि तद्वेहस्तिगद्यूत्यन्तरद्रुमान् ।

चूर्णयामासु राजेन्द्र तदद्रुतमिवाभवत् ॥

जीर कहा है कि छः कोस के वृक्ष उस से दब नहीं गये किन्तु उस की घमक से गिर गये । परन्तु यह भी गुवड़ी गांठना है । क्योंकि उस में वृक्षों का गिरना नहीं लिखा किन्तु ( चूर्णयामास ) अपर्त छः कोस के वृक्षों का चूरा करना लिखा है, जो दब कर ही होता है ॥

४० तिं० भा० प० ५१५-५१६-में लिखा है कि बोपदेव ने बोई और भागवत बनाई होगी । यह भी सद्गुणवत्ती आस जी ने ही बनाई है । जो पश्च तथा भृत्यपुराण से भी सिद्ध होता है । इत्यादि ॥

प्रत्यक्ष-भागवत की पूरी परीक्षा तरी “भागवतपरीक्षा” नाम के द्वाटे हे पुस्तक में देखियेगा । जो हमारे पास से निलं सकता है । परन्तु चकित

यह है कि भास्तव्यार्थतर्गत आसनीकपर्व अध्याय ४० इसोऽ ३१ । ३२ में शङ्खी ऋषि का वर्णन, किर अध्याय ४१ इलोक २८ से ३३ तक में परीक्षित को हर्ष बाटे के उपाय करने का वर्णन, अध्याय ४१ इसोक ३ । ४ में तक्षक की फुकार का वर्णन है। और भागवतोक्त राज्य छोड़ गङ्गा किनारे जाने के बदले, घर ही में रहना और तक्षक से काटा जाना वर्णित है। जिस से भागवत काप रीक्षित ने बुनना ही निर्मूल होता है, किर और आत कहनी ही क्या है ॥ जैसा कि—

सम्मन्त्रय मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।

प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२६॥

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।

ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतोवै न्ययोजयत् ॥ ३० ॥

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।

मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञस्तमन्तात्परिरक्षितः ॥ ३१ ॥

न चैनं कश्चिदारुदं लभते राजसत्तमम् ।

वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥ ३२ ॥

प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्वौजसत्तमाः ।

**भावार्थ-** मन्त्रियों से सलाह करके, एकस्तम्भ बाला, घड़ा रक्षित, कंचा भास्तव्यार्थ, वहां बैद्य और दवाईं से रक्षा रक्षी, मन्त्रविद्वासिद्ध ब्राह्मण आरों और नियुक्त किये ॥ ३० ॥ वह वहीं राजकाज सब करता था। मन्त्री जिस का पहरा देते थे। कोई भी वसे वहां ज़ंचे पर बैठे को नहीं छू सकता था। वहां वाय भी छां २ कर जाता था ॥ ३२ ॥

जब सातवां दिन आया तब अध्याय ४३ में लिखा है कि सर्व ब्राह्मण तपस्वियों का रूप बना कर आये, सायंकाल हो गया था, भाशीवौद पढ़ कर कुशा और फल दे गये, फलों ही में सूक्ष्म रूप घरके तक्षक भी आया, राजा ने मन्त्रियों से कहा कि सातवां दिन भी बीता, लो, फल खाओ। मन्त्रियों को कुछ फल देकर आप भी ऐसे फल खाने को तैयार हुए, हिं फल में छोटासा लाल नेत्र का जन्म जाने पड़ा, तब राजा ने कहा कि यह कीड़ा ही काढ लेगा, जिस से ब्राह्मण का वास्तव भूंडा भी न हो ॥

अ० ४४ में लिखा है कि जब तत्काल ने फुंकार भारी, उस समय—  
ततस्तु ते तं गृहमन्तिना वृत्तं प्रदीप्यमानं विषज्जेन भोगिनः ।  
भयात्परित्यज्यदिशः प्रपेद्विरेपपातराजाऽशनिताडितोयथा ॥

**भावार्थः**—उस जाहरी सर्वे के फुंकार की अग्नि से जलते हुए स्थान को छोड़ कर मन्त्री चारों दिशाओं को भाग गये, और राजा विजयों का सा भारा नीचे गिर पड़ा ॥ इस में भागवत मुनगा, राज्य का छोड़ना, गङ्गा तट पर जाना, कुछ भी नहीं लिखा । इतिहासों में इस से बड़ा पुस्तक कोई है ही नहीं । इसलिये यही निश्चय है कि भागवत शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को नहीं छुना है, जैसा कि देवीभागवत के नीलकण्ठ टीका की भूमिका देखिये—

### विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति

भर्तौत् देवीभागवत को गहायुराणाम्तर्गत भानने वाले विष्णुभागवत को बोपदेवकृत बताते हैं । इस से यह विदित हो गया कि श्रीमद्भुभागवत को बोपदेवकृत भानना उस समय भी प्रचरित था, जब कि देवीभागवत पर नीलकण्ठ ने टीका बनाई है । फिर वही लिखता है कि:—

### पुराणभेदेन मतभेदस्तु व्यहुशः ।

भर्तौत् भिन्न २ पुराणों से भिन्न २ मत तौ बहुत प्रसिद्ध हैं ॥

जब महाभारत आदिपर्वे से यह सिद्ध हुआ कि राजा परीक्षित ने प्रादेवीभागवत नहीं किया, न भागवत मुनी और भागवत का बोपदेवकृत होना देवीभागवत के नीलकण्ठी टीका की रचना से पूर्व भी प्रचरित था । और शान्तिपर्व अध्याय ३१ और ३२ में शरशम्या पर लेटे भीड़नपितामह जी ने धर्मात्मा युधिष्ठिर से शुकदेव जी का जन्म और परमधार्म जाना भूतकाल करके कहा है । जिस के अन्त में यह स्लोक है कि:—

इति जन्म गतिश्रीव शुकस्य भरततर्षभ ! ।

विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छुसि ॥

अध्याय ३३२ स्लोक १० ॥

भर्तौत् यह शुकदेव जी का जन्म और परलोकमति हमने विश्वामूर्त्तक कुम्हे छुना है, जो तुम ने पूढ़ी भी । विवेष “ भागवतपरीक्षा ” में देखिये ॥

इस से यह ज्ञात होता है कि राजा परीक्षित के पिताभ्युयित्रिर जे पूर्व ही शुक्रदेव जी परमधार गये थे, जब कि परीक्षित जन्मा भी न था, किर उस को कथा बुद्धाने कहां से आये ?

४० तिं भा० प० ३५९ यं० १५ से—

स्वामी जी यहों का फल नहीं मानते कि जड़ पदार्थ किसी को दुख देते नहीं, वेद इस बात को कहता है कि यह दुःख बुख देते हैं। यदि यह दुःख बुख नहीं देते तो क्यों उन को शान्ति वेद में की है ? निष्ठय यह भैट पाकर शान्ति करते हैं—

शक्तो मित्रः शं वहणः । शं विवस्वां ईश्वरन्तकः । सत्याताः पार्थिवान्त-  
रिक्षः शं नो दिविविचरा यहाः ॥

अथव १९ । ९ । ९ इत्यादि ६ मन्त्रों से यह प्रार्थना दिखताई है तिये सूर्योदि यह, गजत्र, प्रातः, सायं, दिन, रात्रि आदि इमें बुखदायक हों ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि जड़ पदार्थ से किसी को बुख दुःख नहीं होते, किन्तु जड़ पदार्थ से तो तापादि दुख बुख स्वामी जी और सब लोग मानते हों हैं । परन्तु जड़ पदार्थ ज्ञानशून्य हैं, वे ज्ञान कर कर्ती किसी की दुःख नहीं देते और भैट पूजा लेता ज्ञानपूर्वक शान्त भी नहीं होते । आपने जो मन्त्रलिखे हैं उनमें सूर्योदि को चेतन ज्ञान कर प्रार्थना नहीं है किन्तु यह प्रार्थना ईश्वर से है तिरात्रि, दिन, प्रातः, सायं, सूर्य, चन्द्र, गजत्र, जल, वायु, पृथिवी आदि पदार्थों से इमें बुख निले ॥

और ( गच्छन्ते ते यहाः ) यह निरुक्ति भी अशुद्ध है किन्तु-(शृङ्खलित से यहाः) चाहिये । तथा सूर्योदि इस से दूर हैं यह इस लिये कहा है कि यदि कोई सूर्योदि को मनुष्यादि के समान चेतन हाथ पांच बाला माने तो भी वह दूर होने से इमें पकड़ नहीं सकता । किन्तु उस के तापादि को माना हो सो नहीं । प्रत्युत्तर स्वामी जी ने स्पष्ट सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुक्ताप में कहा है कि—

“ जैसी यह पृथिवी जड़ है वेसे ही सूर्योदि लोक हैं वे ताप और प्रकाशादि से मिल कुछ भी नहीं कर सकते ” ॥

४० तिं भा० प० ३९९ यं० १६ से—

समीक्षा-वाह स्वामी जी खन्य है यहलाभव का वाक्य लिख कर जान-

सूर्यमिहुत्तम का लिखते हैं । वहां ही अद्भुत बात है कि जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में सूर्यि आवेगी तो चन्द्रग्रहण होगा, यदि यह बात मानलें तो पृथिव्यासियों को कभी चन्द्रग्रहण न दीखना चाहिये क्योंकि छाया से चन्द्रग्रहण दृष्टि आवे तो किसी भीर लोक वालों को दीखना चाहिये पृथ्वी वाले को नहीं क्योंकि जैसे किसी आदमी के सामने कोई भीर दूसरा आगाया तो ब्रेशक उस पर उस की छाया पड़ेगी । परन्तु उस की ओट तीसरे मनुष्य को मालूम होगी जो ठीक उस के पीछे होगा, बीच के मनुष्य को दो-गों यथा वह दीख सकेंगे इस कारण चन्द्रसूर्य के पृथिवी के बीच में आने से कभी कोई ग्रहण गहरी हो सकता और सूर्य चन्द्रमा दोनों पृथ्वी से जांचे पर है । उस को छाया पृथिवी पर पड़ती है । पृथ्वी की उम पर नहीं पड़ती । हां, जो पृथ्वी से नीचे लोक हैं उन को चन्द्र और सूर्य के बीच में पृथ्वी आने से ग्रहण दीख सकता है परन्तु ऐसा नहीं है । यह स्वामी जी ने अपना शास्त्र छोड़ अंग्रेजों का अनुकरण किया है ज्योतिष का भत है जब राहु सूर्य एक राशि में हों तो उनकी छाया पड़ने से तीसरे स्थान के पृथ्वी वासियों को ग्रहण दीखता है और ऐसे ही केतु चढ़ना एक राशि पर होने से चन्द्रग्रहण सब को दीखता है ॥

प्रत्युत्तर-धन्य है आप की गणितज्ञता को । स्वामी जी ने तो ग्रह-लाघव को मिहुत्तमिरोगणि लिख दिया, इस पर उछलते हैं, आप स्वामी जी लिखित “सिहुत्तमिरोगणि” पद के स्थान में “सूर्यसिहुत्तम” पद लिखते हैं मो कुछ बात नहीं । और आगे १०३८ पं० २५ में आपने ही विहुत्त आप लिखते हैं कि-

“सिहुत्तमिरोगणि के नाम से लिख दिया”

जब आप ही दो पृष्ठों में ही भगाड़ी विछाड़ी सूल गये तो स्वामी जी ने ग्रहलाघव का मिहुत्तमिरोगणि लिख दिया इस पर क्या रोष है । वहां आप ग्रहलाघव को नहीं भानते । यदि भानते हैं तो ग्रहलाघवानुसार भी आप को-

**छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ।**

अर्थात् सूर्य को चन्द्रमा ढकता और चन्द्रमा को पृथ्वी की छाया ढकती है । यह शब्दों के सीधे भावान भरी है कि पृथिवीनिवासियों को पृथिवी की छाया से हुवा ग्रहण न दीखना चाहिये । आपने खगोल चमका दोता तो जान लेते कि-पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा है और चन्द्रमा सूर्य

के प्रकाश से चमकता है। और पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा चूपता है। इस लिये जब सूर्यता हुवा चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के बीच में भाता है तब सूर्य को ढकता है और सूर्यग्रहण होता है। और जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर और सूर्य उस ओर होता है तब पृथिवी, सूर्य चन्द्रमा आदि के बीच में आकर सूर्य के प्रकाश को चन्द्रमा पर अपनी छाया से गहरी जाने देती, वह जितने चन्द्रमा पर पृथिवी सूर्य के प्रकाश को जाने से रोकती है, उतना भाग यस्त जान पड़ता है और यह इशा पृथिवीनिवासियों को भले प्रकार दोख सकती है॥

और यहां घब्र बाले ने मिठुआन्तशिरोमणि में देखकर लिखा है। क्योंकि मिठुआन्तशिरोमणि प्राचीन है और उसके गोलाध्याय यह एक वासनाप्रकरण में-

पश्चाद्भागाजजलदवदधः संस्थितोभ्येत्य चन्द्रो  
भानोर्विम्बं स्फुरदसितया \* छादयत्यात्ममूर्त्या ॥  
पश्चात्स्पर्शैहरिदिशि ततोमुक्तिरस्यातएव  
क्वापिच्छन्नः क्वचिदर्पि ततोनैष कक्षान्तरत्रात् ॥ १ ॥

वासनामाल्यम्

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा । यथा मे घोऽधरस्थः पश्चाद्भाग-  
दागत्य रविं छादयति । एवं चन्द्रोऽपि शीघ्रत्वात् पश्चाद्भा-  
गादागत्य रविं छादयति । अतः पश्चात्स्पर्शः । निःसरति  
चन्द्रेष्वूर्वतोमोक्षोरवेः । अतएव कक्षाभेदात् क्वचिदर्कच्छु-  
न्नोदृश्यते क्वचिदेष न छन्नः । यथाऽधरस्थे मेघे कैश्चिद्रविन्दे  
दृश्यते, कैश्चिदुदृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः ॥

भाष्य का अर्थ—“सूर्य से नीचे चन्द्रमा की कक्षा है। जैव मेष नीचे दिखत है और पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। ऐसे ही चन्द्रमा जी शीघ्रगति होने से पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। इसी से ( सूर्यग्रहण ) में पश्चिम से दृश्य होता है। और चन्द्रमा के गिरन जाने

॥ अस्तित्या जातमूर्त्याऽजपात् चन्द्र अपनो विना प्रकाश वाली मूर्ति वे सूर्य को ढकता है। चन्द्रमा में निच का प्रकाश नहीं, किन्तु सूर्य से भाता है॥

पर सूर्य का पूर्व से जोक होता है। इनी कारण कलाभेद से कहीं सूर्य ढका और कहीं बिना ढका दीखता है। जैसे नेच नीचे आजाने पर किन्हीं सोगर्हों को सूर्य दीखता और किन्हीं देशान्तरबासियों को नहीं दीखता।

अब चन्द्रग्रहण का प्रमाण उसी प्रकरण के ४ थे झोक से सुनिये:-

पूर्वाभिमुखोगच्छन् कुच्छायान्तर्धतः शशी विशति ।  
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥ ४ ॥

वासनाभाव्यम्-

भूमा तावत्पूर्वाभिमुखमर्कगत्या गच्छति । चन्द्रश्च  
स्वगत्या । स शीघ्रत्वात्पूर्वाभिमुखोगच्छन् भूमां प्रविशति ।  
तेन तस्य प्राक् स्पर्शः । भूमाया निस्सरतः पश्चान्मुक्तिः ॥

जाय का अर्थ-पृथिवी की छाया पूर्वाभिमुख सूर्य की गति के साथ जाती है और चन्द्रना अपनी गति से । वह शीघ्रगामी होने से पूर्वाभिमुख जाता हुवा पृथिवी की छाया में घूम जाता है । इस से उस का पूर्व से रूपर्थ और पृथिवी की छाया से निकलते हुए का पश्चिम से जोक होता है ॥

अब इस का प्रमाण सुनिये कि सूर्य से चन्द्रगा में प्रकाश होता है । निज से नहीं । यथा=पासबंदे छन्दमार्चिके—

२७ ३ १३ ५ २३ १३ क १२

अन्ना ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्

१ ९ ३ १२ ५ ९

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ऐन्द्रपर्व अध्याय२दशतिष्ठमन्त्र ३

भावार्थः—( अत्र ) इस ( चन्द्रमसः गृहे ) चन्द्रमा के गगड़ल में ( त्वष्टुः ) सूर्य की ( गोः ) किरण का ( अरीडयम् ) दिया वा ( नामह ) स्वरूप ही है ( इत्था ) इस प्रकार ( अनन्वत ) मानो ॥

जर्णोत् परमेश्वर का उपदेश है कि हे सनुहयो ! सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है । यह जानो तथा मानो ॥

इस मन्त्र में 'त्वष्टु' पद का अर्थ सूर्य है और परमेश्वर वाला होने से सूर्य भी चन्द्रपत्रवाचय है । 'त्वष्टुः' का अर्थ सूर्य करने में निरुक्तकार ने जाग्रेद्

की ज्ञाता प्रमाण देकर कहा है कि "स्वष्टा पुर्णी का लेखाना करता है और इस सब जगत् में व्यापता है और ये सब सूत्रमात्र कर समाप्त करते हैं । ( यम ) दिन की भाता ( उवा ) लेजायी जाती है । वहे विवश्वायु की भारय अदृश्य होती है जबौत आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय पर द्विष्ट जाती है ॥ वह निरुक्त के पाठ का भावाये है जो निरुक्तकार ने " स्वष्टा दुहित्रे " इत्यादि ऋग्वेद १० । १३ । १ की ज्ञाता का व्याख्यान किया है ॥

योगङ्ग ये सूर्य की किरण भर्ये लेने में निरुक्तकार कहते हैं कि " और इस की एक किरणेण चन्द्रमा की ओर प्रकाश करती है और इस से उपेक्षा करनी चाहिये, आदित्य से इस ( चन्द्रमा ) का प्रकाश होता है जोसा कि-सुषुक्तः सूर्यरश्मशन्द्रमागन्धर्वः, यह वाक्य है इस छिये किरण भरी गी कही जाती है । " अत्राह गोरमन्द्रतः इस मन्त्र पर आगे ( ४ । २५ में ) व्याख्या करते हैं । सब ही किरणेण गी कही जाती है ॥ यह निरुक्तस्य पाठ का भावरथे है ॥

ऋग्वेद १ । ८४ । १५ में भी ऐसा ही पाठ है जिस पर निरुक्तकार ने सूर्य की छिपी तुइ वा प्रतिगत किरण चन्द्रमस्तुल पर पड़ती है, यह लिखा है ॥

ग्रायः इस प्रकार के व्याख्यानमें पर लोगों को जल हुवा करता है कि डयारुपाता ने वेद के विज्ञान की प्रशंसार्थ प्रज्ञपति से खेचतान करके वर्त-भान काल में प्रसिद्ध तुवे विज्ञान की आसे वेद में चुसेह दी है । परन्तु उन संवायात्माओं को इस से ज्ञाति निलेगी कि आजकल के वैज्ञानिकों के जन्म से बहुत वर्ष पूर्व यास्कमुनि ने ऊपर लिखा चिह्नान्त कहाँ से निकाला ? वेद से । व्योंकि निरुक्तकार अपने मत में " बुषुक्तः सूर्यरश्मशन्द्रमागन्धर्वः " इस वेदवचन का प्रमाण देते हैं ॥

प्रत्युत इस में तो सायंकाचार्य ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि " चन्द्र-विघ्न में सूर्य की किरणेण प्रतिकलित होती है " इत्यादि ॥

तथा एसियाटिक सोसाइटी के सुयोग्य सम्प्रय पं० सत्यान्त सामन्तरी जी अपनी टिप्पणी में विवरणकार का मत लिखते हैं कि— " गो शङ्क ये पहां सुषुक्तः नाम सूर्य की किरण लेनी चाहिये, जो चन्द्रमस्तुल के छोटा होने से चन्द्रमस्तुल पर जाकर लीटकर पृथिवी पर आनन्दी के रूप से प्रकाश करती है वही यहां गो शङ्क से अभिप्राय है " ॥

इस प्रकार हमने वेद और चिह्नान्तशिरोमणि से स्वामी जी के पक्ष की

युहि की है और आप ने जो वो स्त्रोक सिद्धान्तशिरोमणि के प० १८०-१८१ में लिखे हैं के किसी पुराणों के पक्षपाती ने कभी पीछे से मिलाये जान पड़ते हैं ॥ और ठीक भी हों तो राहु और केतु पृथिवी और अन्दमा के उस भाग का नाम जान पड़ता है जिस की छाया से यहण होते हैं । यदि आप ऐसा न मानेंगे तो आप को मिद्धान्तशिरोमणि को पूर्वोपरविरहु अमराण कहना पड़ेगा, और यहलाघव के अनुसार भी आप को स्वानी जी का मत शिर घर रखना पड़ेगा । क्योंकि आप तो यहलाघव को जानते हैं ॥

४० तिं० भा०प० ३८० प० ५ से जो—“ एवं पर्वात्मे ” इत्यादि यहलाघव का प्रमाण लिखा है उस में आप के लिखे थर्य से भी यहण निकालने का गणित पाया जाता है, यह उस से भी सिद्ध होता कि राहु कोई देत्य बेतन है और बैर से सताता है । जब जि आप खर्यं सत्युग का बना मिद्धान्तशिरोमणि को प० १८३ प० ३ । ५ में जानते हैं तो आप जे मतानुसार व्यापकत द्वापरान्तकाल के पुराणों का बर्णन उस में जाना ही इच का प्रमाण है कि यह खर्यं पीछे से किसी ने दूषित ॥

### अथ ग्रहपुराणप्रकरणम्

४० तिं० भा० प० ३८२ प० ६२ से—

१-वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत

अथर्व १८ । १ । ४९

२-मृत्युर्यमस्यासीहूतःप्रचेता असून्पितृभ्योगमयांचकार

१८ । २ । २३

३-यांते धेनुं निष्टुणामि यमु ते क्षीरभोदनम् ।

तेनाजनस्यासोभर्ता योऽप्राप्तदज्जीवनः १८ । २ । ३०

४-दण्डं हस्तादाददानोगत्वासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।

अत्रैव त्वभिह वर्यं सुशीरामविश्वामृध्यो अभिमातीर्जयेम १८।२।५५

५-धनुर्हस्तादाददानोमृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमवर्हूत्वमेह्युपजीव लोकम् १८।२।६०

६-एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।

तत्त्वं यमस्य राज्ये व्रसानस्तार्थं चर १८ । ४ । ३१

७-धानाधेनुरभवद्वृत्सोअस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति १८ । ४ । ३२

८-एतास्ते असो धेनवः कामदुधा भवन्तु ।

एनीश्येनीसुरुपाविरुपास्तिलवत्साउपतिष्ठन्तुत्वात्र १८ । ४ । ३३

९-एनीर्धानाहरिणीश्येनीरस्यकृष्णाधानारोहिणीर्धेनवस्ते ।

तिलवत्साऊर्जमस्मैदुहानाविस्वाहासन्तवपस्फुरन्ती ३४ अ० वे०

भाषार्थः

बैवस्वत देव जो मनुष्यों को संगमन करने हारे हैं उन्यमराजा कू हवि मे वृष्ट करता हूँ १ यमराजा का दृत स्थित्य है प्रवेता है जो कि प्राणों को निकालते हैं २ जो तुल्षा रे वास्ते धेनुदान करता हूँ जो कि दुष्पादिक देंगी इसी गौ से यग लोक मे गये प्राणी सुखो हीं ३ हात मे दण्ड धारण किये हुवे प्रणियों को अपापूर्वक यहण करते हैं ४ धनुष हाथ मे लिये भृतक कू बलपूर्वक यहण करते हैं ५ यह सविता देवता के अर्थ वस्त देना हूँ सो हे सविता देवता तुन यमलोक मे हमारे पितरों को वस्त दो ६ यह धान धेनु हीं तिल वस्त हैं येही यमराज मे पितरों को बुखदाता हैं ७ यह गाये कामधेनु सम हीं एगी इयेनी स्वरूप विरुप और तिल रूप वस्त पितरों के अर्थ प्राप्त हीं ८ एनी धन हरने हारी इयेनी कृष्णगीः तिलवत्सा यम लोक के पितरों के अर्थ हैं ९ देखिये तप दाग आहु यमराज गोदान आदि सब विधान अथवेद मे हैं ॥

प्रत्युत्तर-(बैवस्वतं सङ्ग०) इस मन्त्र का अर्थ तो हम आप का किया ही माने लेते हैं । परन्तु-

यमं ह यज्ञो गच्छति० ॥ ऋ० १० ॥ १३

इस प्रमाण मे वायु शेष यम के लिये इवन करना लिखने से गहर पुराण की लीला भिन्न नहीं होती ॥

२- ( मृत्युर्यैसस्यासीद्वृत्तः० ) इस मन्त्र का पदार्थ यह है-(मृत्युः) नीत (यमस्य) नियन्ता परमात्मा का (दृतः) परिताप वा दुःख का दाता दूत(आचीत) है । जो ( प्रवेताः) सदा सलहु रहता है, प्रमाद गहीं करता । वही

(गम्भून्) प्राणों को ( पितृभ्यः ) पितरों से ( गमयामुकार ) अलग करता वा गृह करता है । इस में भी सरण वा मृत्यु यथार्थ में परमेश्वर का दृग है जो परगात्मा की आज्ञानुमार पूर्वजों ( पितरों ) के प्राण लेता रहा है, परन्तु इस में किसी देहधारी यमदूत का वर्णन नहीं ॥

३—यां तै धेनुं निषृणामि यमुं ते क्षीर ओदनम् ।

तेना जनस्यासेऽभृत्योत्राऽसुदर्जीवनः ॥ १८ । २ । ३० ॥

यह सन्त्र मृतकदाह करते समय का है और इस का अर्थ यह है कि हे यम ! अर्थात् वायो ! (ते) तेरे लिये ( यम् ) जो ( धेनुम् ) जो ( निषृणामि ) देता हूँ ( त ) और ( यम् ) जो ( क्षीरे ) दूध में पका ( ओदनम् ) भात (ते) तेरे लिये देता हूँ । ( तेन ) उस धेनु और क्षीरीदन के साथ (जगत्य) इस लन्म लेने वाले का ( भर्त्ता ) धारक ( भसः ) हो तू (यः) जो कि (भग्न) इस वेदि में ( अजीवनः ) मृतक ( असत् ) है ॥

यहां धेनु वा गौ का अर्थ पशुविशेष नहीं है, किन्तु स्वयं अपर्बवेत् १८ । ४ । १२ में लिखा है ( आप जे भी ३ ) कि-

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै युमस्यु राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ १८ । ४ । ६२

अर्थ—( धाना ) धान ( धेनुः ) गौ ( असत् ) है और ( अस्याः ) इस धानरूप गौ का ( वसः ) बछड़ा ( तिलः ) तिल ( अभवत् ) है ( ताम् ) इस धानरूप गौ को ( वै ) निश्चय ( अक्षिताम् ) जो [ अग्नि में हालने से ] गष्ट नहीं हुई उसे ( यमस्य ) वायु के ( राज्ये ) राज्य अर्थात् आकाश में ( उपजीवति ) आधार करता है ॥

दोनों सन्दर्भों को मिलाकर यह अर्थ हुआ कि मृतक के साथ गौ अर्थात् धान और उस का बछड़ा अर्थात् तिल और दूध पक्के चावल होने चाहियें, वायु उस पदार्थ सहित मृतक शरीर को अपने राज्य ( आकाश में ) आधार होकर ले जाता है । जिस से पृथिवीनिवासी मनुष्यादि प्राणियों को वह प्रेत=लाश रोगादि उत्पन्न करके सड़ कर दुःख न दे ॥

४—दुण्डं हस्तादाददानो गुतासौः सुह श्रोत्रैण वर्चसा बलेन ।

अत्रैव त्वमिह तुयं सूचीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम १८।१५९

यह सन्त्र पूर्वं सन्त्र १ से २९ सन्त्र आगे है और हम में पीछे से यमराज का वर्णन भी नहीं है, किनत् यह सन्त्र मृत पुरुष के पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि ( तवम् ) तू ( गतासोः ) मृतपुरुष के ( दशम् ) लाठी को ( हस्तात् ) हाथ से ( आददानः ) लिये हुवे ( ओत्रेण ) कान आदि इन्द्रियों ( वर्चमा ) तेज ( बलेन ) और बल के ( सह ) साथ ( अत्र ) हस संसार में रह ( हह ) यहां (एव) ही ( वयम् ) हम आति बात्यवादि हैं और (विश्वाः) सब ( भजिमातीः ) भजिमानी ( सृष्टः ) सङ्घात [ निघटु २ । १३ ] करने वालों को ( जबेन ) जीतें ॥

**६-धनुर्हस्ताददानो मृतस्य सुह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ॥  
सुमागृभायवसुभूरिपुष्टमूर्वाङ्गत्वेमेद्युपजीवलोकम् ॥१८॥२५०**

तू ( मृतस्य ) मृतपुरुष के ( धनुः ) धनुष् को ( हस्तात् ) हाथ से ( आददानः ) लिये हुवे (क्षत्रेण) क्षत्रियसम्बन्धों (वर्चमा) तेज और (बलेन) बल के ( सह ) साथ ( सूरि ) बहुत ( पुष्टम् ) पुष्ट ( वसु ) धन को ( समा- गृज्ञाप ) संघह कर ( भर्वाङ्ग ) पीछे ( जीवलोकम् ) जीवते संसार के (तवम्) तू ( उप ) समीप ( एहि ) आ ॥

जपात् पितृशोक में चिता के समीप बैठे हुवे पुत्रादि उत्तराधिकारी को अच्छाति बात्यवादि लोग ऐसे आश्वासन देकर धर को झुलावें ॥

इस से अगले सर्वों (इयं नारी पतिलोकम् इत्यादि७) में मृतपुरुष की छोटी को आश्वासन और नियोगादि का विधान आतिवात्यवों की ओर से है॥

**६—एतत्तेऽदेवः संविता वासो ददाति भर्तवे ॥  
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्त्राप्यं चर ॥ १८ ॥ ४ ॥ ३१ ॥**

इस का यह अर्थ किसी ग्रकार नहीं है कि यह वहस्त्र सविता के स्थिति देते हैं, किन्तु यह अर्थ है कि ( सविता ) सूर्यं ( देवः ) देवता ( से ) तेरे ( भर्तवे ) धारक को ( वासः ) आङ्गदादन ( ददाति ) देता है ( तत् ) उसे ( वसानः ) आङ्गदादन किये हुवे ( तवम् ) तू ( यमस्य ) वायु के ( राज्ये ) राज्य में ( ताध्येष्व ) वसि तक ( चर ) विचर ॥

जपात् शरीर से पथक् हो कर जीवात्मा सूर्य के ग्रकाशद्वय वहस्त्र के

आच्छादित किये हुवे वायुमन्दर में धारने लिहु देह को आधायित करता  
है भर्ता ( यजुः ३८ । ६ ) मन्त्रानुसार प्रथम दिन सूत जीवास्ता सविता के  
लोक को प्राप्त होता है ॥

७—इस का प्रत्युत्तर संख्या ६ में जा चुका कि धार धेनु है और तिल  
जो चिता में छोड़े जाते हैं वे धार धेनु के बरत हैं । इसी को आगे ८ वें  
८ वें मन्त्र में प्रपञ्चित किया है । यथा—

८—एतास्ते असौ धेनवः कामदुघां भवन्तु । एन्नीः इयेन्नीः स-  
रूपुविरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वात्र ॥ १८ । ४ । ३३ ॥

( जसौ ) यह ( एताः ) ये ( धेनवः ) धार धेनवें ( ते ) सेरे लिये  
( कामदुघाः ) इच्छापूर्ण करने वाली ( भवन्तु ) होते । जो वि ( एन्नीः )  
चितकबरी ( इयेन्नीः ) इवेत ( सरूपाः ) समान रङ्ग की ( विरूपाः ) धारेक  
विरुद्ध रङ्गों की ( तिलवत्साः ) जिन [ धारनूप धेनुओं ] के तिल बछड़े हैं  
वे ( स्वा ) तुम्हे ( जन्म ) यहां चिता में ( उपतिष्ठन्तु ) उपस्थित हों ॥

९—एन्नीर्धना हरिणीः २येन्नीरस्य कृष्णा धाना रोहिणी-  
धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा  
सन्त्वनपुस्फुरन्तीः ॥ १८ । ४ । ३४ ॥

( एन्नीः धानाः ) विचित्र रङ्ग वाली धार ( हरिणीः ) हरी ( इवेन्नीः )  
इवेत ( रोहिणीः ) लाल ( कृष्णाः ) काली ( धानाः ) धार ( अस्य से ) इस  
सेरी ( धेनवः ) धेनु हैं । ( तिलवत्साः ) तिल ही जिन के बछड़े हैं वे  
( अनपस्फुरन्तीः ) न भागती हुई ( अस्मै ) इस के लिये ( ऊर्जम् ) रस को  
( दुहानाः ) पूरित करती हुई ( विश्वाहा ) सब दिन ( सन्तु ) हों ॥

इन मन्त्रों से प्रकट है कि १—(यमराज वायु की शुद्धि के लिये सूतक  
को उत्तम हविर्दण पदार्थों के साथ धूकना चाहिये ॥ २—मौत यमदूत है जो  
भीत प्राण निकालनी है ॥ ३—सराक को दुर्घट में पके भात तिल धार आदि  
के साथ चूका जावे, ये पदार्थ दूतकश्चरीर के परमाणुओं को ऊपर धारने सह  
लेजाते हैं ॥ ४-५ सब पुरुष का पुश्चादि उत्तराधिकारी लोक आके चिता के  
समीप न पड़ा रहे किन्तु दाह कर्मे के पश्चात चाति वाम्बवादि छोग उस का  
लोक दूर करते हुवे भाइवाचन दें और उत्तरपुरुष के दस्त धनुष आदि पदार्थ

उस के उत्तराधिकारी को धारण करावें जैसे पगड़ी बधवा कर सुतपुहष  
का स्थागापल पञ्च लोग पुत्रादि को बनाते हैं ॥ ६ सुतजीवात्मा प्रपत दिन  
सूर्यलोक से आप्यायित होता है ॥ ७-धनु का तात्पर्य धान है और तिल उन  
धेनुओं के बरस हैं जिन में बायुमण्डल में सुतपुहष आप्यायित होता है ॥  
८-वे धान रुप धेनु काली, हरी, लाल, इवेत आदि विचित्र रङ्गों की होती हैं।  
९-वे धान ही हैं कोई गाय (पशु) नहीं हैं, उन का रस भाकाश में रस की  
बहुद्वि भरता है जोर सदा सुख की बहुद्वि होती है ॥

देखिये यहां सुतजीवात्मा की नृसिंह के लिये नदाद्वाहयादि को दाग  
आङ्ग गोदानादि का लेशनात्र भी वर्णन नहीं है परन्तु हां, साधारण पुरुषों  
के चौंकने को ये आप के लिए अच्छे मन्त्र हैं ॥ जीव नियत काल तक  
भाकाश में व यु आदि से आप्यायित होकर जन्म लेता है । इस लिये उस  
का जन्मान्तर धारण करने तक सुख दुःख सोगादि न जानना ठीक ही है ।  
वह वायु में तथ्वों से आप्यायित तो होता है परन्तु स्थूलदेह में जो  
सुखादि के भानुभव करता था, वे वहां नहीं पहुंच सकते । जो कुद्र उस का  
आप्यायन होता है सो अग्नि से होता है, वह केवल शरिंग में होग करने  
से हो सकता है । इतर द्वारा नहीं ॥

### ब्रतप्रकरणम्

इस प्रकरण में जो प० १८५ पं० २३ में-

स्वाध्यायेन ब्रतैर्हनेः । इत्यादि मनु का प्रमाण है उस का तात्पर्य  
सत्यमायणादि वा एकादश्यायणादि ब्रतों से है, एकादश्यादि जिन २ देवतों के  
ब्रतों का (जो प्रचरित हैं) मनुस्मृति में नाम तक नहीं ॥ उपनयनादि के ब्रत  
यज्ञसम्बन्धी गृह्णाकूशोक्त हैं, उन का एकादश्यादि से कुद्र सम्बन्ध नहीं ॥  
प० १८६ में जो प्रायवित्त के ब्रतविधायक श्लोक लिखे हैं, सो इस लिये आप  
को व्यर्थ हैं कि वह तो पापियों के पाप का दश्व है । उस का एकादशी  
आदि पीराणिक ब्रतों से सम्बन्ध नहीं । यदि एकादश्यादि के ब्रत की परि-  
पाटी आप प्राचीन समझते थे, तो एक तो प्रमाण मनु वा ब्रेदादि प्राचीन  
अन्य का दिया होता ? ब्रह्मलोक की अप्सरा न सही, इन्द्रलोक की सही,  
कथा तो एकादशीनाहास्य में है ॥

### ब्रह्माण्डप्रकरणम्

१० तिथि भाद्र पूर्ण ३०७ में ३०३ तक ३ पट्टों में “भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्” । धो० पा०३ सू० २५ का व्याख्यानाद्य लिख कर भागवतादिलिखित भूगोल खगोल की कथा की सत्यता सिद्ध करने का साइस किया है ॥

प्रत्युत्तर—सूल सूत्र का इतना अर्थ है कि “सूर्ये में संयम करने से (योगी को) भुवन ज्ञान हो जाता है” ॥ ज्ञान में आपने पृष्ठ ३८८ प० २४ में सुमेह पर्वत के सुवर्ण का लिखा है जो प्रत्यक्ष के ही विनाश है । किर उसके मणिभादि शृङ्खलिखे हैं, वे भी पत्पर के ही प्रत्यक्ष हैं । इस लिये यह लेख भी प्रत्यक्षविनाश है । सुमेह के उत्तर की ओर २००० योजन लम्बाई के ३ पहाड़, उन के बीच बीच में १ खण्ड ९००० योजन का प्रत्येक, दक्षिण की ओर दो हजार योजन के निषधादि पर्वत, इरिवर्णादि नी २ हजार योजन के ३ खण्ड ४ लक्ष कोश जस्त्यद्वीप सुमेह के चारों ओर लम्बाई में और २ लक्ष चौड़ाई में इत्यादि विस्तार इस भूगि पर, जिस पर हम रहते हैं, असंजव है । यह पृथिवी का ४८ फरोड़ योजन मात्रा मापदण्डविनाश, गणितविनाश और जोनितयात्रा के भी विनाश है । देखिये सिद्धान्तशिरोमणि में पृथिवी का विस्तार के बाल इतना है सिं० शिं० के गणिताध्याय में लिखा है—

प्रोक्तोयोजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दादधयः ।  
तदुव्यासः कुभुजज्ञसायकभुवोऽथ प्रोक्षयते योजनम् ॥  
याम्योदक्षपुरयोः पलान्तरहतं भूवेष्टुनं भांशहत् ।  
तदुभक्तस्य पुरान्तराध्यन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥

अर्थ—पृथिवी को परिधि ४८६७ योजन है और ‘ठ्यास’ १५८१ योजन लंबा है । दो ऐसे नगरों के जिन में से पृथक् वृषुवद्वृषुतरेखा के उत्तर में और दूसरा दक्षिण में स्थित हो, पलान्तर को सूनि की परिधि में गुणा करने से और ४६० पर भाग देने से उन नगरों का योजनों में अन्तर जाना जाता है ॥

यदि १ योगन ५ नील के बराबर माना जाय तो पृथिवी की परिधि ४८६७ × ५ अर्थात् २४३५ नील, और ‘व्यास’, १५८१ × ५ अर्थात् ७९०५ नील होता है । योरपवाचियों ने परिधि २४३५ नील और व्यास ७९०५ नील सिद्ध किया है । यह ५ नील का भी अन्तर इस कारण है कि योजन पूरे

५ भील का नहीं होता किन्तु कुछ गधिक होता है। अर्थात् यदि ५३२<sup>१</sup> भील का एक योजन माना जाय तो पूरे १४८६ भील की परिधि और ठोक ३८२ भील का व्यास जानाता है॥

पुराणों और इस भाष्य में पृथिवी का विस्तार इतना लंबा थीहा लिखा है कि जिस का कुछ पारावार नहीं है। इस इमं भय से कि हमारे पौराणिक भाई पं० उवा० प्र० जी इस को निन्दा न ममकले हम विषय में स्वयं कुछ नहीं कहना चाहते किन्तु उन के खबड़नपक्ष में सिद्धान्तशिरोमणि हीं का झोक देते हैं—

कोटिद्वैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृदभुजङ्गेन्दुभि—

ज्योतिःशास्त्रविदोवदन्ति नभसःकक्षामिमां योजनैः ॥

तदु ब्रह्माण्डकटाह सम्पुटतटे केचिज्जगुर्वैष्टुनं

केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ \*

सिं० शिं० गणिताव्याये ॥

अर्थ—१८७१२०६१२०००००००० योजन को ज्योतिः शास्त्र के जानने याले सारी सृष्टि का एक छोटा भाग मानते हैं। बहुत से इस को पृथिवी की परिधि का मान समझते हैं और ‘पौराणिक विद्वान्, इस को केवल एक ‘लोकालोक, मानक पर्वत की कंचा॑ बतलाते हैं।

अब विचारना चाहिये कि भास्कराचार्य, आग कल के उत्तरतिशाली ज्योतिषी और प्रत्यक्ष इन सब के विहृत यह भाष्य किस प्रकार माननीय हो सकता है। जो जहाज़ पूर्व को ढाँचे गये और योद्धे काल में वे पश्चिम में आ निकले, यदि पृथिवी का विस्तार इस प्रकार का असंभव होता तो यह कभी न हो सकता। अब यह विचार शेष रहा कि तो क्या यह व्यास-भाष्य जिस को स्वामी जी ने भार्यमास्य माना है, अनत्य है? इस के उत्तर में यही कहना पड़ता है कि स्वामीजी ने सिद्धान्तशिरोमणि भावि ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों को और मनुस्मृति आदि को धर्मशास्त्रात्म से भी तो प्रमाण किया है, परन्तु अयुक्त बातें किसी की भी ( चाहे वे ग्रन्थकर्ता ने लिखी हों चाहे पीढ़े से किसी ने लिलाई हों ) नहीं मानीं, न माननी चाहियें। और

\* निस्मन्देह ये इलोक पुराणों की अयुक्त बातें देखकर सिद्धान्तशिरो-मणि में लिखे गये हैं क्योंकि यह ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्तार्दि पुराणों से अर्द्धाची प्रतीत होता है।

इस विषय में तो एक को भानते से दूसरे को त्यागना पड़े ही गा। ज्योंकि प्रशिक्षणात्मिक के भास्कर भास्कराचार्य जब पृथिवी का विस्तार इतना व्यून भानते हैं और इस भाष्य में इतना अधिक भाना है तो किर परपरविश्वहृदय दो चत्य क्लेने भाने जा सकते हैं ?

४० तिं भा० पृ० ३५४ पं० ८५ कहीं भक्तमाल में ऐसी कथा नहीं है ॥

प्रत्युत्तर-यदि गाप कहते कि “ यह कथा भक्तमाल में नहीं है ” तब तो कुछ ठीक भी नहीं, परन्तु “ ऐसी ” अर्थात् इस “ विद्वा का तिलक भान लेगा ” के सदृश तो भनेक कथा है । जीर भक्तमाल भी अनेक प्रकार के पाठभेदपूल हैं । किसी न किसी में ही तो भी भाष्य नहीं ॥

४० तिं भा० पृ० ३५५ पं० ८ से-यज्ञोपवीत को विद्या का चिन्ह होने का निषेध किया है ॥

प्रत्युत्तर-विद्याप्राप्ति का चिन्ह होता तो पञ्चात् दिया जाता किन्तु विद्या के अधिकारी होने का भी है इसी से उपगमन में दिया जाता है ॥

४० तिं भा० पृ० ३५५ पं० १९ से-कलियुग को पापादि का कारण भाना है, परन्तु प्रभाण एक भी नहीं दिया । यह ठीक है कि काल के विना कुछ नहीं होता, काल में ही सब कुछ होता है परन्तु काल अधिकरण है, काल कर्ता नहीं है, अतु भी में अङ्गुरादि उत्पन्न होते हैं, अतु उन की उत्पादक नहीं किन्तु सूर्योदि की उच्छितादि का तारतम्य उस का कारण होता है ॥

४० ति भा० पृ० ३५६ पं० ३ से-दश नामों के अन्तर्गत होने से दपानन्द सरस्वती नाम भी मिथ्या हुआ, लिखा है ॥

प्रत्युत्तर-स्वानी जी ने नामों को मिथ्या नहीं, किन्तु नवीन कल्पना भाना है । जब किसी का सन्तान उत्पन्न होता है तब वह एक नाम की कल्पना करके रख देता है । ऐसा ही गुरु लोग शिष्यों के नाम रखते हैं । स्वानी जी का भाष्य यह नहीं है कि ये दश नाम न रखें जावें किन्तु यह है कि इसी प्रकार के नाम धरने का कुछ व्याख्यान नहीं है । किन्तु अन्य भी उत्तरार्थक शोभन नाम चाहें सो रख सके हैं ॥

४० ति भा० पृ० ३५६ पं० १३ से-यदि १०० वर्ष की आयु भरने तो स्वाप-स्मुख मनु से दामचन्द्र जी तक के १०००० ही वर्ष होंगे । इस लिये पढ़िले वही आयु थीं, इत्यादि भाष्य है ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व जब की अपेक्षा आयु तो अधिक पीछे परन्तु वेद के अनुसार परमायु साधारणतया १०० वर्ष हीं थीं और अधिक से अधिक ५०० वर्ष । स्वायंभुव से रामचन्द्र जी तक १०० पीढ़ी ही गहरी हैं किन्तु प्रधान और प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन है, गौण और साधारण छोड़ दिये हैं । इस से कुछ दोष नहीं भाता । किंतु पदि हम आप के पुराणानुसार सत्ययुग में १ लक्ष वर्ष की और त्रिता में १०००० वर्ष की आयु भी साजें तो भी स्वायंभुवादि उः गन्धन्तरों का समय इस लेख से भी बहुत है, फिर वही शब्द आप के सत्र में भी रहेगी ॥

द० तिभा० प०७ ३६६ प०७ २२ में-दशरथ जी के ६० हजार वर्ष के आयु में रामचन्द्र जी का जन्म साना है ॥

प्रत्युत्तर-यदि सत्ययुग में १ लक्ष, त्रिता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलियुग में १०० वर्ष को पुराणानुसार आयु हो तो भी त्रिता में १०००० दश सहस्र से बढ़कर ६० सहस्र से भी अधिक आयु दशरथ की कैसे मान सक्ते हैं और रामचन्द्र जी जिन के राज्य भर में कोई अल्पायु नहीं था, लिखा है, वे भी रामायणानुसार अपने पिता से वष्टांश् १००० वर्ष में ही भर गये ?

द० तिभा० प०७ ३७७ प०१८-पूर्व लिखा था कि आर्य तिड्बत आये अब स्वामी जी ने कौन सी भज्ञ की तरह से लिख दिया कि सदा से यहां रहते हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्थिति ही तिड्बत में प्रथम हुई यह प्रथम हम सिद्ध कर चुके हैं तब वहीं से यहां आये, लिखना और “सदा से यहां आर्य लोग रहे” इस का तात्पर्य यह है कि यह सूनि आदि स्थिति से कभी दस्युओं से आळड़ादित नहीं रही, आर्यों का राज्य रहता रहा, इसी से इस का नाम आर्यवर्त था ॥

यह द्यानन्दतिनिरसास्कर के ३६७ पृष्ठ तक प्रथमावृत्त का प्रत्युत्तर समाप्त हुआ । यदि द्वितीयावृत्ति में पृष्ठ पठ्किका भेद पड़े तो कुछ आगे पीछे देखने से ठीक हो जायगा ॥

आगे ३६८ से ४०२ पृष्ठ तक आर्यसचाज के १० नियमों का खण्डन किया है, उस का उत्तर—

### दश नियमों का मण्डन

१ सब सत् विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आविमूल परमेश्वर है ॥

समीक्षा-जब सब का आविमूल परमेश्वर है तो स्वरूप द० प०७ ५८३ में

प्रकृति परनाणु और जीव को गित्य मानना इस नियम के विरुद्ध है दोनों में कोन बात सच्ची है ॥

**सरण १—भाद्रिमूल नाम सुरुय का होता है या आधार का होता है।**  
मूल=प्रतिष्ठायां चुरादिः। जाप के भूमि में भी चीमुखे ब्रह्मा को सब का आदि मूल माना है। और कहीं २ देवी को माना है। कहीं महादेव को। जब ब्रह्मा की उत्पत्ति नामि कमल से पुराणा बताते हैं तब ब्रह्मा से आदि में विष्णु की विद्यमानता होने से ब्रह्मादि आदिमूल के से हो सकते हैं। सनातनधर्म का पहिला नियम यह होगा आहिये:-

१-सब असत्य भाषण और हन्द्दजाल से जो अग्र होता है, कई का पुत्र, बाराह इष्टदेव है ॥

**टीका—जलन्धर की पतिक्रता का ब्रत भङ्ग किया, असत्य बोला, ब्रह्मा को अग्र हुवा, बद्ध हुराये। रामचन्द्ररोये, एक भगवान् ने भी चुराये। अवधार लेने से कई का पुत्र है। इसी लिये तो जायों के सर्वमात्य नियम का खण्डन तिमिरभास्कर में लिखा है ॥**

२-ईश्वर जो सच्चिदानन्दस्वरूप निर्विकार सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वैश्वर सर्वव्यापक अन्तर्यामी अजर अमर अमय नित्य पवित्र और स्फुटि का कर्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है ॥

**समीक्षा—यह दूसरा नियम संशय का भयुद्ध है। जब ईश्वर निर्विकार है तो उस में स्फुटिरचना का विकार कैसे है और वह स्फुटि क्यों करता है और जो सर्वशक्तिमान् है तो जो चाहे सो क्यों नहीं कर सकता न्याय करना दया करनी यह निर्विकार में संभव कहां अपवा यह ज्ञान ईश्वर का परोक्ष है वा अपरोक्ष है और संशय की निवृत्ति परोक्ष वा अपरोक्ष ज्ञान से होती है। परोक्ष ( जो प्रत्यक्ष न हो ) ज्ञान से तो संशय की निवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि जो देखा नहीं उस का होना तथा गुण कसीं का निश्चय नहीं हो सकता। इस कारण जब तक ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होगा तब तक उपरोक्ष गुण उस में कैसे संभव हो सकते हैं और उपासक उपासना किस की करे जाए कि ईश्वर का साक्षात्कार ही नहीं तो यह नाम कैसे कल्पना करलिये निराकार के भी और नाम किसी के करने द्वारा दया करते देखा जो दयालु नाम रख लिया यह तो नाम जभी चिह्न हो सकेंगे जब ईश्वर का साकार जब-**

तारधारी निश्चय कर लोगे निराकार में यह नाम कल्पनामाला है ॥

संग्रहन ३—दूसरे नियम का खण्डन सर्वथा छक्षपात है ॥

यह कहाँ की फ़िलासकी है कि निर्विकार परमात्मा सुष्टुप्रथमा इनकर सके । सनातनधर्म के पुराणों में तौ सहस्रों लोकों में ईश्वर को निराकार निर्विकार माना है । यदि कोई सनातनी आहे तो इन दूसरे नियम के बताए ये सब नाम हम पुराणों में दिखा पाकते हैं, यहाँ तक कि अवतारों की स्तुति तक में निराकार शब्द लिखा गया है जो सर्वथा ही अमङ्गत है ॥

हाँ आप के मत में दूसरा नियम ये होना आहिये-ईश्वर ( कठळक मत्स्यादि ) कण्ठमङ्गर, रोती सूरत, विकारवान्, अशक्त, अन्धायकारी, कोठरी में बनत, अजाग, बीना, तीर से मरने वाला, घरपोक, कम्भी १ हो, कम्भी कर है, अशुद्ध, मनुष्यों का बनाया हुवा है, उस की और करत भूत वृक्षादि जह की उपासना करनी आहिये ॥

टीका-सुधीय से सीता की खोग का अभिलाषी, वामन=बैतन, तीर लगने से मरने वाला=कृष्ण, ( बाली से डरके वृक्ष की ओट में होकर) घरपोक, कलियुग में न रहने वाला, चिता की भस्म में खोटने वाला ॥

३-वैद सत्यविद्यार्थों का पुस्तक है वैद का पढ़ना और मुनना सब आर्थों का परम धर्म है ॥

समीक्षा—जब वैद का पढ़ना ही परम धर्म है तो आपने सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थोंमें नहा भारत, मनुस्मृति, शतपथब्राह्मणवाच्य, वैदानुकूल मान कर क्यों यहण किये । यदि मन्त्रभाग ही में सब धर्मों की प्रबृत्ति निवृत्ति सब पदार्थों की उत्पत्ति विषयि लय और जो कुछ सहि और करयाण के लिये होगा आहिये लिखा है तो एक पृथक् पृथक् व्यापार पर प्रमाण के लिये केवल मन्त्रभाग की ही श्रुति पूर्ण थी । मनुस्मृति, महाभारत और युत्ककों के इलोकों के और ग्राहणभाग के प्रमाण हेने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि मन्त्रभाग को आप स्वतः प्रमाण मानते हैं तो मन्त्रों के ही प्रमाण से स्तुतिक्रम युगों की व्यवस्था ब्रह्मा के दिन वर्षकल्प की संख्या प्रतिमापूजन का निवेद अवतारों का न होना दायभाग ग्राहणादि लक्षण सब कुछ उसी से सावित करते परन्तु आपने सत्यार्थप्रकाशादि में जो और ग्रन्थों के प्रमाण लिखे हैं इनकी क्या आवश्यकता थी । यदि वे वैदानुकूल लिखे हैं तो मन्त्र ही क्यों न लिख दिये, यह तो आप ने ऐसा किया जैसा

कोई जाम छोड़ बबूर पर गिरे, आहिये था। इसे केवल मन्त्र ही तो शपथे अन्यर्थ में लिखे रहने देते, शेष सब निकाल हालते ॥

संदर्भ ३-रे नियम का खण्डन करके सारे सनातनधर्म को उत्तराप्रसाद जी ने भस्म का टीका लगा लिया है ॥

कौन सनातनधर्म वेद के पढ़ने पढ़ाने से विमुख होगा । हाँ उत्तराप्रसाद जी को शपथे पूज्य बुद्धावतारादि की आत यात् आगई होगी ॥

“ ब्रयेवेदस्य कर्त्तारो भगवान्तर्त्तियाचराः ॥ अब कलियुगी सनातन भस्म का तीसरा यह नियम होना आहिये-वेद नियमा ज्ञान का पूर्णक है वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना उत्तराप्रसादादि कलियुगी विद्यावारिधियों को जहा अधर्म है। यदि स्वामी दयानन्द बेदानुकूल अन्य पुस्तकों का पढ़ना पाप बताते तब तो यह आक्षेप करते ॥

४ सत्य का यहाणा और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना आहिये॥

सगीकारा-यह नियम विवेकानन्दगंत है जब तक विवेक न होगा सबतक सत् असत् की परीक्षा कीते होगी। यदि कोई कहे ईश्वर सत्य है, या जगत् ? जगत् तो जाश्वान् होने से असत् और ईश्वर नियम होने से सत् है, जब जगत् नियमा ईश्वर सत्य है, तो किस का यहाण किस का त्याग करे, यहाण और त्याग दूसरे पदार्थ का होता है जब दूसरा पदार्थ असत्य ही है तो त्याग किस का। इस नियम का धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह नियम निष्ठचरित है नियम पदार्थों का क्या यहाण क्या त्याग हो सकता है। और सत्यार्थप्रकाश के असत्य मप्रमाणा और अवचनों का भाजतक त्याग न हुआ॥

संदर्भ ४-कलियुगी धर्मसभा का चौथा नियम यह होना आहिये “सत्य के त्याग और असत्य के यहाण में सर्वथा उद्यत रहना आहिये” ॥

हमारे जाई उत्तराप्रसाद जी को असत्य कुछ दीखता ही नहीं, जगत् नियमा का राग यों आलापते हैं कि पुराण जगत् के ही असत्यगंत हैं, और इवयं भी सनातनी जगत् का ज़कूल है, तब आप नियमाभाषणादि नियमाकथायुक्त पुराणों को जागते हुवे सभी जगत् को नियमा बताने लगे ॥

हरा चश्मा लगाने से संसार हरा दीखता है। नियमा मत मानने वालों को संसार नियमा नज़र आता है ॥

५ सब काम धर्मनुसार शर्पात् सत् और असत् का विचार कर करना आहिये ॥

समीक्षा-स्वामी जी ने ईसाइयों के दश नियमों के अनुसार अपने नियम बनाये हैं इस में भी वही वाली है जो ४ नियम में है पहले ती यह देखना चाहिये कि, शरीर का क्या धर्म है और जात्मा का क्या धर्म है शरीर जह और दुःखदूःख है उस की उत्पत्ति घटना बढ़ना नष्ट होना प्रत्यक्ष है, जात्मा दृश्य है नित्यैकरन चेतन्य जन्म भरण से रहित है जो जन्म भरण से रहित है सोई जागन्द है फिर जात्मा में जनात्मा भिन्नान और जनात्मा में जात्मा-भिन्नान के। फिर कैसे धर्मानुसार सत् असत् का विचार करके नियम किया और यह भी आश्वर्य है कि, निरवयव चेतन्य जात्मा को माना और प्रभ-झूलन माना, निरवयव जाकाश जह से सर्वज्ञापक और निरवयव चेतन्य जाहगा प्रभझूलन तो बताने यह धर्म अनुसार सत्य का ग्रहण है या असत्य का त्याग है, जब निरवयव है तो दो या तीन गापा एक ही स्वरूप में कैसे हो सकती है ॥

मरहन ५-शरीरका धर्म जात्माका धर्म इसके सर्वे की बात आप कहते शर्मे को छोड़ धर्म से सुंह मोड़ते हैं । आप लिखते हैं। “जो जन्मगरण से रहित है वही जागन्द है” उस सी जाल डालने से भी सत्यप्रकाश नहीं रुकता । अब अताहिये कि आपके अवतार जन्म भरण होते हुवे भी कैसे जागन्द हैं? आर्य लोग ती सब काम धर्मानुसार सत् असत् को विचार कर करते हैं परन्तु आप पक्षपात के बश धर्मानुसार काम करने के उपदेशदूष नियम को ही निकलवाना चाहते हैं ॥

### ओर चान्दनी रात दुखारी

आप तो यही नियम बनावेंगे कि-विना सत् असत् का विचार किये सब वैदिक नियमों का खण्डन करना चाहिये । स्वामी जी ने ईसाई गतका खण्डन धर्मानुसार के १० नियमों को मग में मान लिए हए ? इसी लिये उनका खण्डन नहीं किया है ?

इसंसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य प्रयोग्यन है अर्थात् शारीरिक शास्त्रिक और सामाजिक उन्नति करना ॥

समीक्षा-इस में यह बात विचारने योग्य है कि परमेश्वर को सर्वाधार मर्दैश्वर जाग कर उपासना की गई है फिर संसार की उन्नति और उपकार में भी आप का हस्तक्षेप करना ये उपास्य की बराबरी है इस में सो अपने और संसार की उन्नति में परमेश्वर को ही अधिष्ठाता और प्रतिनिधि सम-

भना आहिये यह ही परम धर्म है और जब कर्मनुसार है तो आप के उच्छति कैसी ॥

लक्षण ६-इस नियम को वही समझते हैं जो ईश्वर को सर्वधार सर्वेश्वर मानते हैं। तभी तो उस परमेश्वर के पुत्र मान कर संसार की उच्छति करने का व्रत साधते हैं ॥

यदि उवालाप्रसाद जी के मत में ईश्वर ही सब उच्छति अवगति करता है तो तिभिरभास्कर बनाकर वहों छपाया। ईश्वर ही पोधी बनाकर भेजता या आर्यसमाज का खण्डन करता। आप को यह नियम बनाना आहिये कि “संसार की हानि करना सत्तातनी समाज का मुख्य प्रयोजन है, अर्थात् शारीरिक सामाजिक और आत्मिक अवगति करना ॥

टीका-बालविवाहादि से शारीरिक हानि, पुराण कथाओं से आत्मिक और गालीगान से सामाजिक हानि ॥

७ सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मनुसार यथायोग्य वर्तना आहिये ॥

सभीका-प्रीति अनुकूल पुरुषों में होती है यदि धर्मनुसार पर दूषि है तो धर्मविरोधी हठ करने वाले अभिनानी को शत्रु समझना आहिये किर सबसे प्रीतिपूर्वक वर्तना कैसा यदि और चोरी करे तो उस के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मनुसार कैसे वर्ते जो प्रीति करे तो धर्म कहां और धर्म करे तो प्रीतिसे यथायोग्य वर्ताव कैसे करा सकता है शत्रु के साथ यथायोग्य होने में प्रीति कहां ॥

८०-धर्मविरोधियों से प्रीति करके ही तो उनके सदृपदेश के लिये आर्यसमाज अपना सर्वस्व व्यय करता है। रातदिन धर्मविरोधियों को समझा-कर पिता परमेश्वर की आळा का संदेश उनपर पहुंचारहा है। जो चोरी करता है हसेजी चोरी की बुराई बताकर चोरी छुटागा आर्यसमाज का लक्ष्य है ॥

धर्मनुसार प्रीति हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट की देखो, चोरीका कल जेलखाने में पढ़ा भोग रहा है परन्तु वह बीमार होता है तो १६) हपये फ़ीस बाला बहा हाकटर उस को विना फ़ीस देखने जाता है। दूषभात सुलधातर है क्या पायी जाने से प्रीति नहीं होसकी ?

हां आप यह नियम बनाना प्रस्तुत कीजिये—

७-भापने भाइयों से द्वेषपूर्वक असरानुसार करदृष्टतापूर्वक वर्ताव करना चाहिये ।

टीका-जो बेदोपदेश करे, उसे नास्तिक कहकर पास न जाओ। विरादरी है निरी। जबतक चमारों के गिर पर चोटी है, एकादशीव्रत करें, रामराम कहें, अचिनपरिक्लाना से विवाह करें, तबतक उन्हें त्याज्य नीच अस्पृश्य वस्त्र न कुछाना। जब कहमा पढ़ले, चोटी कटवाले, बस्तिस्त्रा लेले, राम कृष्ण को छुरा कहे, तब हाथ मिलाना ॥

८ अविद्या का नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये ॥

समीक्षा-विद्या यथार्थज्ञान को कहते हैं 'विद्ययासृतमशुते' विद्या से ज्ञान अर्थात् मुक्ति होती है जिस से संसार में जन्म गहरे होता और आपने मुक्तिसेभी लौटना माना है तो सारी मुम्हारे यंगोंमें अविद्याही अविद्या है। परमेश्वर सजाति विजाति भेदरहित है जगत् नाशवान् होनेसे स्वर्णवत् है जगत् में सत्यबुद्धि परमेश्वर में भेद माननाही अविद्या है जो आपने सम्पूर्ण यंगमें ईर्ष्यों निन्दा द्वीह यह सब अविद्याही लिखी है बेदान्तसूक्ष्म ब्रह्मविद्या का नाश किया है फिर अविद्याका नाश कैसा ॥

९०-जगत् को निष्ठा भागने वाले स्थयं जगत् के अङ्ग हैं, अवयव हैं। जब जगत्को निष्ठा कहते हो तो आप भी निष्ठा हैं। आपके पुराणकान्तर आदि सब निष्ठा हैं। ऐसे निष्ठावादियों के निष्ठा ज्ञान की अविद्या का दूर करना और पीर पूजा, भूत पूजा आदि अनेक अविद्याओं का नाश करना यार्यसमाज का कर्तव्य नियम है। हां आप यह नियम बनावें-

९ विद्याका नाश और अविद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

टीका-स्थिरोंको विद्या से अचित करना, शूद्रों को गिराना और संसारकी उत्तरति को अविद्या बताना, यह आपको ही भेट रहो ।

१० इरेक को अपनी उत्तरति से सम्पुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उत्तरति में अपनी उत्तरति समझनी चाहिये ॥

समीक्षा-जबतक भेदबुद्धि है तबतक वह नियमभी निर्वाह नहीं हो-सकता। यह बात आपकी कथन नाश है क्योंकि आप भेदवादी हैं और भेद वादियोंमें यह बात गहरीं कि जीरों की उत्तरति से संतुष्ट हो सैरवर्यको तो

बातही रहने दीजिये फिर जब स्वामीजी ने अपना नवीन मत ही कल्पना करलिया तो अपने से भीर धर्मवर्लंबियों को उक्तति शाय कब चाहेंने आपने सैकड़ों दुर्वाक्ष कहे और सनातनधर्म की अवनति में सत्यार्थकाश ही बनाया है यह नियम कथग मात्र है याहाँ—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जो भावरहिं ते नर न घनेरे

१०—स्वामीजी ने “यथेसां वाचं कस्याणीं” कहकर सब को अमृतरूप पिता परमेश्वर के पुत्र बताकर सबकी उक्तति में अपनी उक्तति समझी, इम लिये कथन मात्र नहीं, कर दिखाया है। हां आप का नियम यह होसका है कि-

९ प्रत्येक को अपनी ही उक्तति से सन्तुष्ट रहना चाहिये किन्तु सबकी उक्तति में अपनी अवनति समझनी चाहिये ॥

टीका—इसी लिये तो विद्या का प्रकाश नहीं करना चाहते । किसी को पढ़ाने से उसकी उक्तति न होजाय ॥

स्वामी जी यदि अपनी ही उक्तति में सन्तुष्ट रहते, अपना सोक चाहते तो विशुद्ध गङ्गातट त्याग इस घोर आग में न कूदते । स्वामी जी ने अपनी सोक की मंजिल पास जाई की पर्वाह न कर कोटानुकोट पुरुषों को सोक मार्ग दिखाने का यत्न किया । दुर्वाक्ष नहीं कहे किन्तु प्रेम भरं उपदेश दिये । सोतों को जगाया । जो गहरी नींद में पड़े थे, उनको उच्च स्वर से जगाया, जो कुम्भकर्ण के समान न जागे उग पर कटु खण्डनरूप चेटुवे भी लिये । जब पुत्रों का फोड़ा बढ़ आता है तब चतुर पिता उसे गोदी में भर डाक्टर के नश्तर के सामने कर देते हैं । बालक रोता है, गाली देता है । चतुर दयामूर्ति डाक्टर नश्तर से चीर कर ससमें कहुवा नीम वा आहोफार्मे भर देता है । दबा २ कर खूब सवाद गिकालता है । ऐसे ही स्वामी दयानन्द ने पालस्थ को संड खंड करने के लिये खण्डन किया । सत्य सनातनधर्म का उपदेश कर उपकार किया है ॥

१० सब मनुष्यों को ‘सर्वदा द्वोह छोड़कर’ सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और पृथक् सर्व हितकारी नियमों में सब स्वतंत्र हैं ॥

सभीका—जो सर्वहितकारी नियम हैं सो प्रति १ लेकर सर्व कहलाते हैं किर यह अब अचंभे की बात है कि पृथक् हितकारी नियम में स्वतंत्रता भीर

सर्व हितकारी में परतंत्रता क्या बात यह इन के नियम १० अशुद्ध हैं सर्व-हितकारी और पृथक् सर्वहितकारी में अन्तरही क्या है ऐसो तो लिखा छोता क्या सामाजिक सर्व हितकारी और पृथक् सर्व हितकारी में केवल समाज को छोड़कर और सब समृद्धि नहीं आगये, फिर परतंत्र स्वतंत्र कीवा सब के लिये एकसा ही करगाया ॥

इति श्रीस्वामीदयानन्दकृतियग्रहणं सम्पूर्णम्

उत्तर १०— यह दश नियम का खण्डन लिखते समय उवालाप्रसाद जी के भीतर का “ सर्वदा द्वोह ” आहर कळन पर आगया । इसी लिये यहां इसे लिख गये, फिर शामे आई तो “ छोड़ ” और जोड़ दिया । हम पं० उवात्र० प्र० जी से बूझते हैं कि आर्यसमाज के नियमों को द्वोह छोड़ पढ़ कर देखें । दशवें नियम में “ सर्वदा द्वोह छोड़ ” इतना शब्द नहीं है और न “ पृथक् ” शब्द है, यह कुप्रथा भी आप के ही चलटे भाव हैं । शुद्ध नियम इस प्रकार हैः—

“ सब सनुष्ठों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये । प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें ” ॥ १० ॥

तात्पर्य नियम का यह है कि समाजसम्बन्धी नियमपालन में परतन्त्र और अपने अक्षिगत नियम पालन में स्वतन्त्रता रहनी चाहिये । “ सर्वदा द्वोह छोड़ कर ” यह पाठ आपने बढ़ा लिया है ।

इति दशनियमसम्बन्धम् ॥

आगे पृष्ठ ४२ से ४४ पर्यन्त आपने भी स्वामी जी के स्वतन्त्रत्वाऽसन्तत्व के समान अपने ४० सन्तत्व लिखे हैं, जिन का प्रत्युत्तर पृथक् लिखने की इस लिये आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थमें हम सबका श्रीरेखार खण्डन हो चुका है ओं शान्त्रो मित्रः शं वरुणः शन्मो भवत्वर्यमा ॥

शन्न इन्द्रोवृहुस्पतिः शन्नुोविष्णुरुक्मः ॥ यजुः ३६ । ९ ॥

इति श्रीसत्स्वामि हजारीलाल शुनुना तुलसीरामस्वामिना कृते भास्करप्रकाशे, सत्यार्थप्रकाशस्य एकादशसुखासम्बन्ध नामकादशः सुखासः समाप्तः ॥ ११ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः





अर्तहरितीति ३), वेरापयशतक भाग ।)  
वृक्षों में जीवविचार ॥) विं पृष्ठ १०० शर्मा  
वर्णश्वस्यामीमांसा २) „  
अकरणमाणाद्यर्थिका ।) „  
मूलिंपूजामीमांसा ३) „  
होमपद्धति ४), यवनमतपरीक्षा ।)  
पुराणभेद ५)  
छ्योनिवचन्द्रिका ६)  
स्वर्ग में महासभा ।)  
आर्यमात्र क्या है ।=)  
ऐतिहासिकनिरीक्षण प्रथम भाग ७)  
„ द्विं भाग ८)

आर्यमात्रसंग्रह ।=)  
संगीतरबप्रकाश ५ भाग ॥८)  
ज्ञानभजनावली घारों भाग सजिल्द ॥९)  
भजन पचासा ।)  
आर्यमतमार्त्यं भाग ।)

### उपनिषद्-

द्विं ग्रन्थे उपनिषद् भाग १) सजिल्द १)  
पिङ्गलमूल संस्कृत भाष्य ॥)  
वैदिकधिवाहादर्थ १)

Abstract of Marsden's History as 6  
Oriental Astrology by P. Janardan Joshi B.A... Rs 9—।

अपने पुस्तकों पर ६) में १) और १०) में २) कमीशन छोड़ जायंगे। सर्वसाधारण  
को पारमार्थिक और लौकिक लुधार के पुस्तक लेने का अच्छा अवसर है ॥  
८५ सेरेजर—इवानिपुस्तकालय—मेरठ

The THESAURUS OF KNOWLEDGE  
Divine and Temporal  
OR  
THE VEDAS  
and their  
ANGAS AND UPANGAS  
Volume I.

BY  
Behari Lal B. A., Shastri M. R. A. S  
Price with binding Rs. 5

वेदमन्त्रार्थप्रकाश प्रथम ॥)  
„ द्वितीय ।)  
मरस्वती कीष सजिल्द १)

### वैदिक प्रेस के पुस्तक-

यजुर्वेदभाष्य १)  
मूलिका १) संस्कारविधि ॥)  
उणादिकोश ॥) निष्ठल ॥८)  
आर्योभिविनय ॥) पञ्चमायाप्यविधि ॥)  
चारोंवेद मूल ५) वेदों की मन्त्रमूल १)  
शतपथ ब्राह्मण मूल ४)  
दशोपनिषद् मूल ॥८)  
अष्टाष्यायो मूल मोटा अक्षर ।)  
धातुपाठ ।) गणपाठ ३)

आर्यमात्र के नियम नागरी ॥) १००  
„ अंयेजी मे ।) १०० चेकड़ा  
व्याख्यानका विज्ञापन—जो चार जगह  
ज्ञानापुरी करके एक उपदेशकोंके कान  
में आता है ॥) के १०० अंयेजी भी

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय  
*Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library*

# मसूरी

## MUSSOORIE

अवासि नं। 12089।  
Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

GL H 294 5926  
TUL



120891  
LBSNAA

H

294.5926

३.५१

अवाप्ति सं । +2726

ACC. No.....

वर्ग सं.

Class No..... Book No.....

लेखक लाल बहादुर शास्त्री

Author.....

शोधक भास्कर भृत्यानन्द शास्त्री

Title.....

294.5926

+2728

तुलसी LIBRARY  
LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration  
MUSSOORIE

Accession No.

120691

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.